

Published by Gyatputra Mahavira Jain Sangh,
Patandi (Panjab.)

Printed by Ramchandra Yasa Shedge, Nirnaya a.---a.---
26-28 Kolbhat Street, Bombay

समर्पण

जिनकी कृपासे मेरे मनकी चंचलता नष्ट हुई है, जिनके सदुपदेशसे मेरे अन्तःकरणमें शान्तिका सञ्चार हुआ, जिनके अद्भुत चरित्रयोगसे मुझे सम्प्रदायवादके बन्धन तोड़नेका निश्चय मिला, जिनके बोधवचनोंसे अखंड आत्मसुखका मार्ग प्राप्त हुआ तथा जिनकी आज्ञासे इस ग्रन्थके लिखनेका अवसर मिला, जिनके अपार अनुग्रह चात्सल्य एवं उत्साहदानद्वारा मेरी लेखन-कलाकी ओर प्रवृत्ति हुई है तथा जिनका आश्रय मेरे लिये कल्पवृक्षके समान अभीष्ट फलदायक होता रहा व उन अध्यात्म-शास्त्र प्रेमी, अप्रतिबद्ध विहारैकव्रती, निष्काम परोपकारी, शान्त-मुद्रा, महर्षिप्रवर, गुरुवर्य श्रीज्ञातपुत्र-महावीर जैन संघानुयायी श्री १०८ स्वर्गीय श्रीमज्जेनमुनि फकीरचंद्रजी महाराजाधिराजकी पवित्र स्मृतिमें अन्तःकरणकी विशुद्ध भक्तिपूर्वक वीरस्तुतिकी विवृति और हिन्दीभाषान्तर सादर समर्पित है। पुनश्च—

जिनके उदारहृदयमें अनन्य समता है, स्याद्वादसिद्धान्तका उज्ज्वल पाडित्य है, जिनकी वाणी चन्दनसे भी अधिक शीतल है और वह मानव संसारके मनस्तापको एक दम मिटाती है, जिन्हें इष्ट और अनिष्ट पुद्गल समूहमें कभी मानसिक विचार नहीं हो पाता, जिन्हें वाह्याडम्बरसे सोलहों आने घृणा रहती है, जिनमें अहमहमिका क्रियाका नितान्त अभाव है, परहितसाधनमें जिनकी शुभप्रवृत्ति सतत जागृत है, वाडावंदी-पक्षवाद-सम्प्रदायवाद-टोलावाद-गच्छवादकी दिवारोंको तोड़कर तथा स्व-परका भेदभाव मिटाकर जिन्होंने स्वतन्त्रताका अध्यात्म मार्ग पकड़ा है, जो देश समाज जाति और धर्म हित अपने प्राणोंकी बाजी लगा देते हैं, इसके अतिरिक्त जिनमें और भी गाम्भीर्य-शौर्यवैर्यादि अनेक गुण हैं। ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुके उन २००० साधु साध्वियोंके कर कमलोंमें वीरस्तुति प्रेम और भक्तिपूर्वक सादर समर्पित है।

ज्ञातपुत्र महावीर जैन संघका लघुतम—

पुष्प भिक्षु

प्रार्थना

शासनम्भन सिद्धार्थकुलकिरीट महावीर भगवान्‌के प्रतिपाद्य धर्मके ११ अंग इस समय भी विद्यमान हैं। इनमें सृष्टिकृताय नमः सृज ह्यस्य अंग सृज है, जिसके दो मुतस्कन्ध हैं और इसके पहले मुतस्कन्धका छठवाँ अध्याय इस ग्रन्थकी शैलिकवस्तु वह बीरस्तुति है।

बीर वह सृज अकिञ्चस्य है। इसका अन्वयार्थः ११ *अस्माभ्याम श्रम्य कर भिज और एतके पहले बीर बीरे पहरेने आभ्यास होता है। इस अध्यायका मूल पाठ्यो भव तव कई पुस्तकमें छपकर प्रसिद्ध हो चुका है एवं मूल कव्यार्थ और भाषाई संहित भी गत वर्षोंमें कई स्थानोंसे प्रकाशित हुये हैं। परन्तु मैंने बीरस्तुतिकी टीका और भाषा टीका अनेक मन्त्रोंका अनुवह

* अस्तीस अस्माभ्याम-भार संभा [प्रथम अक्ष १ अध्यायकाल २ संभाकाक ३ मध्यरात्रि ४] अनेक समय बार महोत्सव बार महा प्रतिप राने [वैश्व कृता १५, वरी १ आपाह कृता १५, वरी १ अतिविश्व कृता १५, वरी १ अतिविश्व कृता १५, वरी १ प्रतिपरा १२] औदारिक शरीर सम्पन्धी १ अस्माभ्याम [अस्ति-१३ मांस १४ अक्षिर १५, वरी हुई अक्षि १६ समीप अर्ति अन्वस्ति स्वराज १७ अक्ष महान १८ पूर्वमहान १९ अक्ष-कहल का राजा-सिवापति-द्वैतभावक-नगरसेठका मरण १ राज्य संभाम २१ धर्म-स्वाभमें मनुष्य २२ और तिर्नच पंचेतिनका कर्मेर २३] अक्षर सम्पन्धी १ अस्माभ्याम [तस्मात् १४ विद्याभोंके अक्ष होयेके समय २५, अक्षर धर्मका २६ विजयी वसकते समय २७ निर्धोत-मेव के समान धर्मका वैसी अक्षरकृत अमिनिसेव २८ मृपक-आपककी एकम-दोष और टीकके विषय साम्प्रसमय २९ अक्षरिष्ठ-अमुक अमुक विद्याभोंमें आन्तर आन्तर पर विजयी वैसा प्रकाश होते समय ३ धूमिक-धुर्वी वरसते समय ३१ अक्षर-गर्ममासमें पड़नेवाली बुध-कोहरा ३२] रबोक्ति-रव-सूक्तकी वर्ष तथा शरीरमेंसे अक्षिर और सृज निकलते समय सृजोंके शीतलके प्रतिबन्ध अक्षमें अस्माभ्याम जानना योग्य है। इन नियमोंके अंग करने वालेके लिये ईश प्रव विरा-आदि विद्या 'विशीयसूत्र'के कक्षीतमें अध्यासे आभया आदिने।

करके निर्माण की है। इस परिस्थिति में मेरे अन्तेवासी सुमित भिक्षु ने यथा सम्भव इस पुस्तकके मुफ़ देकर सहायता की है अतः इसका नाम लिखते समय मुझे प्रगल्भता होती है

इस पुस्तकमें अज्ञताके कारण यदि कहीं भूल होगई है तथा सूत्रसिद्धान्तसे विरुद्ध कुछसे कुछ लिख गया हूँ तो उसका निखालिस हृदयसे "मिथ्या दुष्कृतम्"

वीरस्तुतिके अभ्यासिभो ! इसे भावशुद्धि पूर्वक पढ़िये, पठन और मननके द्वारा ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुके समान बनिये, एवं अपने हृदयसे पुरानी रुढ़ियें एवं पक्षवाद-टोलावाद-सम्प्रदायवाद-गच्छवाद-पार्टीवाजी और मतभेदका कालापान निकाल डालिये, और समदृष्टि बनकर भारतके दासत्वको दूर कीजिये जगतको भूखेमरनेसे बचाइये, अपने धर्मगुरुओंको राग-द्वेष-ईर्ष्या एवं मत्सरताके कीचड़से निकालिये, समाजमें सचरित्रता और पारस्परिक सहानुभूति पैदा करनेका प्राण संचार कीजिये, मेरी अन्तिम भावना यही है।

भावार्थकस्य, प्रबोधार्थमत्यन्तमावश्यकत्वम् । अतोऽप्यस्य मूलशयं सम्प्रधार्य, बृहत्स्तुत्यमेतत्तथाऽध्यात्मपूर्णम् । शुभाऽध्यायजस्य यथा बुद्धिशक्तिः, समस्तं यथार्थानुभाव च ज्ञात्वा ॥ सुसंस्कारशब्देन वा भाषया च, समृद्ध कृतं तस्य मुख्यो-
 ऽस्ति हेतु । तथा मातृभाषानिवद्ध प्रसिद्ध, जनानामनेकार्थतत्त्वप्रदीपम् ॥ तथा ज्ञापनार्थं च भावस्य तस्य, ऋजुर्वा मृदुर्वाऽस्य भाषानुवाद । तदाऽऽवश्यकत्व च तस्यैव भावं, मृदुत्वं प्रगृह्य स्फुट भासते च ॥ गुर्जरे चानुवादोऽस्य कालीय-
 कत्तानिवासेन क्षेमेन्दुनाऽस्य प्रकाश । कृत श्रावकेणाथ तस्यैव तत्त्व, तथा सुप्रसिद्धोऽनुवाद स्वतन्त्र- ॥ कदाचिज्जैनानां त्रिपुटदलचन्द्रे च जनता, प्रसक्ता-
 नामेव यदि सदुपयोगश्च भवति । सदैतद्भावेन विबुधजनसेवासु निरतः, प्रकाशं सर्वत्राऽखिलविशदबोधाय कृतवान् ॥ पवित्रोऽय पाठो बहुरुचिकरो मेऽस्ति मनसा, करोमि स्वाध्याय मननपरिपूर्णेन सुखत । महानन्दस्वादो भवति कर-
 णाच्चास्य सततं, सुलब्ध सौभाग्य प्रतिदिनवितृष्णो विरमति ॥ सुमुक्षूणां चित्तं सुखरससुधान्ति वितनुते, मुहुर्जिज्ञासा नो बहुविधमल चास्य विवृति । तदा जाता भावाखिलमतिमुपूर्तिर्निगदिता, सदैव ज्ञातव्यं यतिमुनिगणैर्मुक्तिनिलयै ॥ यदाऽऽ-
 वश्यकत्वेन यस्याऽस्ति पूर्ति, प्रजाता च संस्कारतोऽनेकवारम् । समर्थश्च सर्वाङ्गतो लब्धमेतत्तदाऽस्योत्तर पत्रमेतद्ददातु ॥ अथो पाठकानां जनानां च व्यक्तं, तथा वाचकोपर्य्यतो मुक्तमेतत् । ममाऽस्य प्रलेखेन वा ज्ञापनेन, न वाऽऽवश्यकत्वं न वा कारणत्वम् ॥ यदा पीयते चामृत स्वादवद्भिस्तदा नोच्य-
 तेऽमर्त्यता मेऽस्ति कीदृक् । सुमिष्टं च तिष्ठ मदीयं कियद्वा, प्रसिद्धं हि लोके रस्यस्वादुकत्वम् ॥ मुदा वर्णनं तस्य जिह्वा करोति, स्वयं वर्णनम्यातिसेतुं विधत्ते । मया न्यायमार्गानुरोधेन चैव, स्वकीयायसी लेखनी स्थाप्यतेऽत्र ॥

भावार्थ—यह काव्य श्रीमत्सूत्रकृताङ्गसूत्रके छठवें अध्यायकी अनुपम और मौलिक वस्तु है और 'वीरस्तुति' या 'पुच्छिस्तुणं' के नामसे अतिप्रख्यात है । बहुतसे जैनबन्धुओंको तो यह मुखस्थ होती है, अनेक जिज्ञासु महानुभाव इसका प्रातःसाय व्यवधान रहित नित्य पाठ करते हैं, और जैन समाजमें यह पवित्र पाठ इतना अधिक प्रिय है कि इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं ।

प्रभुके अनन्तसामर्थ्यका वर्णन करना तो मानो छद्मग्रन्थ-मानुषी शक्तिके बाहर है, और इस विषयके वर्णनकरनेमें श्रीमान् 'मुघर्माचार्य' जैसे महान् ज्योतिर्धर और परम योगीको ही योग्य अधिकारी समझा गया है ।

अपने इसीसे आध्यात्मिकरूप पर पाठकोंको इस क्षणमें कई स्वतंत्रता कुछ पुनर्निर्माण भी प्रतीत होती परन्तु प्रत्येक क्षण और सम्पूर्ण-आत्मीयता पर वेबके वास्तविक तुलनात्मकदृष्टिसे मतभेद करनेपर तत्त्वका सम्पूर्ण और सर्वार्थ रहस्य इस प्रकार सरलतासे समझमें आता है कि गणधरमयवाचक मुख्य आशय प्रत्येक क्षण और अर्थमें निरुपेक्ष मित्र और एतद्वैत है।

इस क्षणमें मयवाचक गुणधर्मार्थ अपने अन्तेवासी सिद्ध अन्तर्को वह बताते हैं कि साधननामक-परमार्थी-हृद-अनुसंधारक-भीमहावीरयोगीन्द्रब्रह्मसिद्धि-ज्ञान-वर्धन और अतिशय आदि गुण किंचिद् प्रकारके वे उक्त गुणोंकी तुलना गणधरमयकी सर्वोत्तम धारमूल वस्तुओंके साथ करके प्रमुख महत्त्व बताता गया है।

आध्यात्मिकी महासुभाषोंके सम्मुख भीमवचनोंके परमसुन्दर और हितकर आशयके साथ मिलते जुलते भाव तथा अन्वय आध्यात्मिक आचार्य और कविकोशिकोंके आशयोंकी भी इस विधिमें समन्वय किया है और जिसमें केवल तथा केनेतर अर्थोंको स्थान देते समय किसी प्रकारका भेद नहीं रखा है।

यह निर्दिष्टाव और अपने आप सिद्ध है कि इस क्षणका मूल और सिद्ध होना ही आध्यात्मिकमें परिचित है क्योंकि गणधरमयविपश्चित महा-प्रभाववाली भीमवचनोंके मयवाचकी तो यह दृष्टि है, और मनुष्यमान-वचने अपने जीवनमें अपने आत्मके ऊपर आध्यात्मिकप्रदक प्रभाव आत्मके सिद्धे इस प्रकारके उत्तमोत्तम पाठोंको सर्वत्र बोझते रहनेका अन्वय रखनेकी तथा इसके उत्तममयवाचकी समझनेकी भी अत्यन्त आवश्यकता है, अतः इसी मूल आशयको लेकर इस महान् एवं शुद्ध आध्यात्मको ब्रह्मसिद्धि ब्रह्मसिद्धि एवं ब्रह्मसुभाष सर्वसुखसिद्धि तथा आशुभाषसे समुदाय किया है। इसका एक मुख्यकारण यह भी है कि हमें मयवाचक महावीर प्रमुख देव है और उसे सबके तत्त्वको धारण करने कीने तक पहुँचाकर ही पूरा किया जा सकता है। और मनुष्याचार्य सर्वधाराण जनताको उत्तमोत्तम और उत्तम अन्तर्मुख सम-दृष्टिकेसिद्धि के उत्तमोत्तम आध्यात्मिकी भी बड़ी आवश्यकता है। इसी कारणोंसे लेकर इसका शुद्ध-अनुवाद भी कलकत्ता निवासी श्रीसेमर्षक ध्यायके करवा है, और उन्होंने भी इसका शुद्धविषयमें सत्य अनुवाद किया है। यदि कहाविये वह विपुली वैभवमान तथा प्राणीमानके लिए हुए उपयोगी हो

सके इस भावसे प्रेरित होकर इसका प्रकाशन किया है। मुझे तो इसके प्रति-
 समयके स्वाध्याय और पाठसे भरपूर शातिसुवाधाराका अव्यवच्छिन्नरूपसे
 आस्वादन करनेका पूर्ण सौभाग्य मिल रहा है। अतः मुझे पूर्ण आशा है
 कि अन्यान्य मुमुक्षुमहानुभावोंको भी इसके निरन्तर पाठ तथा मननात्मक
 स्वाध्यायसे अवश्य शान्तरसकी प्राप्ति होगी। यद्यपि इसकी कई आगृतिएँ निक-
 लकर प्रकाशित हो चुकी हैं परन्तु यह संस्करण जिस आवश्यकताकी पूर्तिमें
 सर्वाङ्ग सफल हुआ है इसका उत्तर पाठकगणोंके ऊपर ही छोड़ दिया जाता है,
 कहने सुनने और लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। कारण यह है कि जिस
 समय अमृतका पान किया जाता है उस समय वह जनताको यह नहीं कहता
 है कि मेरा स्वाद कैसा है? उसका वर्णनतो जिह्वा स्वयं करने लगती है तथा
 उसकी प्रशंसाके पुल बाध देती है। अतः इस न्यायको लक्ष्यमें रखकर इस
 लेखलेखनीको विराम देता हूँ ॥

लघुतम—

‘पुष्प भिक्खु-

निदर्शन

उपासकके अन्तरमें भक्तिभावका ओष उछलने लगता है तब स्तोत्र या स्तुतिका साहित्य-सर्जन होता है, इस प्रकारकी भारतीमें कई बार अमूल्य रत्न बहकर निकल आते हैं। विवेचक इन रत्नोंका मूल्य आकने एवं समझनकेलिये लम्बे चौड़े भाष्य और टीकाएँ बनाते हैं। जैन साहित्यमें तीर्थंकर-भगवान्की स्तुतिओंका साहित्य पुष्कल प्रमाणमें पाया जाता है। यहा तक तो है कि अन्य कोई दर्शन उसकी बराबरी नहीं करसकता, यह कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। समर्थ नैयायिक और वैयाकरणी भी काव्यसाहित्यमे जो कुछ अपनी प्रतिभा उँढेलनेको उद्यत हुये हैं तो वह भी स्तुतिसाहित्यका ही प्रताप है। आमका वृक्ष फलोंसे लदा हो, मञ्जरी महकती हो और वसन्तका वायु चलता हो तो कोयल परवश होकर भला पचमस्वर निकाले विना क्योंकर रह सकेगी? इसी प्रकार न्याय-दर्शन-व्याकरण या अन्यान्य कठिनसे कठिन शास्त्रोंमें पार-गत समझे जानेवाले पुरुषोंके अन्तरमें किसी समर्थपुरुषके प्रति भक्तिभाव जागृति हो तो वे स्तुतिके साहित्यकी उपेक्षा कभी न कर सकेंगे। चन्द्रदर्शनसे उभरकर बढनेवाले महासागरकी भांति अन्तर भी भक्तिसे सक्षुब्ध बन जाता है। परन्तु परमपुरुषकी स्तुतिओंमें केवल काव्य अथवा साहित्यका ही अंश हो यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है। स्तुतिका रचयिता उस समय जब कि कविका आसन स्वीकार करता है परन्तु अपनी विशिष्टताको नहीं छोंडता। इसीलिये कि स्तुतिओंके साहित्यमें तत्त्वज्ञान अध्यात्म झलक और बुद्धिचातुर्यके अत्यद्भुत अंश उसे उस समय भी प्राप्त होते हैं।

समग्र आगम-सग्रहके उपोद्घातके समान गिने जानेवाले नन्दीसूत्रमें श्रीदेव वाचक क्षमाश्रमणने मङ्गलाचरणके रूपमें जो गाथाये ग्रथन की हैं उसमें मूलमें तो श्रमण भगवान् महावीर प्रभुकी स्तुतिका ही प्राधान्य है परन्तु उसमें इतना अधिक गम्भीर अर्थ है कि आचार्यमलयागिरि रचित संस्कृत टीकारूप तालिकाको समझे विना उस स्तुतिके गंभीर अर्थकी कल्पना शायद ही किसीकी समझमें आयगी।

श्रीमलयगिरिने स्तुतिके श्लोकोंकी व्याख्या करते समय आत्मवाद-स्याद्वाद-आत्मवाद-प्रमाणवाद जैसे तत्त्वज्ञान सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तोंको स्पष्ट कर दिखाया है।

इसी प्रकार महाकवि बनपाखे भी महावीर स्तुति संस्कृतमें रही है। परन्तु उसमें निरोधामासके अर्धश्लोका ऐसा संग्रह किया है कि कोई भी रसिक अथवा उसके रसाकाशमसे पुष्किल होने बिना न रहसकेय।

आद्यन वह है कि खोजके या खोजनेके साहित्यमें कवित्वक उपरान्त अलंकार और तत्त्वज्ञानके असंख्य विषयोंके समाविष्ट करनेका एक काव्यमें रीतिमाना। और जो भीष्टनृत्तावलीके छठे अध्यायमें समायोजी और स्तुतिविशेष निवारपूर्वक पढ़ना अवधारण करेगा उसे छठे छठमें छपासनाके रस-व्यञ्जनके उपरान्त प्रभु महावीरके यथार्थकल्पका भी निवार सहजमें आ सकेगा।

प्रकृतिके इस प्रवाहक सिद्धाचारान्तक विद्यमानुसार सुविधीने भी यथा-सम्भव हृदयपूर्वक संस्कृतवाणीमें टीका रचकर इस स्तुतिके मूलके साथ प्रकट किया है और वैयसाहिककी केनठपासकोंकी अमूल्य सेवा की है।

जैनोका अधिकार्य माता और स्तुतिविशेष प्रेमसे सम्पन्न करता है तथा मान्यके साथ मालुका पूर्वक पढ़नेका और प्रार्थना करता है। अमरान्त खोज खोज और स्तुतिविशेषी अथवा इसमें एक प्रकारकी निवेदना है जिसके कारण वह स्तुति सम्पन्न रहकर स्वामी कीर्ति और आदरके प्राप्त है। यह इसमें एक निवेदना है परन्तु यह निवेदना क्या है।

महावीरस्वामीके एक समय गणधर भीष्टनृत्तावली सर्व अपने अन्तेवासी बन्धुके सम्मुख मजिह्वीक पत्र होकर और प्रभुका प्रभाव और माता स्तुति वचन करते हैं। भीष्टनृत्तावलीने अपने जीवनकी वस्तु चिन्तनों को कुछ देखा गुना एवं अनुभव किया है उसीका वर्णन अपने शिष्यके सम्मुख किया है। स्तुतिविशेष पठने का प्रथम समय हमें भी पही प्रकट होता है कि सुकर्मस्वामी महावीर परमात्माकी महिमाका वर्णन करते समय प्रभु शिष्ये मानो पही कह रहे हैं कि "जमी बहुत कुछ सेव है अभी और बहुतसा अनिर्वचनीय है" वे प्रभुके लक्षणका कुछ भाग करादेकेविषे वचनकी वचनोत्तम सामग्रीकोके साथ वचनकी तुलना करते हैं। ये पवित्र मन्दिरन चरमा खड्गमूरमण सुप्र हनमेंसे सभी कुछ वाणी किसी भी सुन्दर वस्तुको वे नहीं मूके हैं। तथापि अन्तमें विधि-विधि कहकर मानो विराम पा रहे हैं। प्रभुके गुण अपार होनेसे वचन अन्त ही न आवना ऐसी लज्जा करकेका आभास भी हममेंसे मिल रहा है।

जिस वीरपरमात्माका शब्दचित्र इतना भव्य है तब उनके साक्षात् परिचयमें आनेवाले श्रीसुधर्मास्वामीके अन्तरमें इस स्तुतिकाव्यकी स्फुरणा हुई होगी तब उन्होंने कैसी रमणीय अन्यमनस्कताका अनुभव किया होगा । तीन-लोककी उत्तमोत्तम रससामग्री भी भगवान्‌के सत्य स्वरूपके सन्मुख उनको लुच्छ लगती होंगी । इतनेपर भी भगवान्‌की पहिचान करानेके लिये वे प्रयत्न करते हैं और एक अमर स्तुतिकाव्य रचकर जगत्‌को सौंप देते हैं ।

महावीरके भक्तोंके मनको महावीर भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपकी सुन्दर और गहरी ज्ञाकी हो उसकी अपेक्षा मूल्यवान्‌ उपादेय वस्तु और क्या हो सकती है । जैनसंघ इस स्तुतिके पठन पाठन और चिन्तनके प्रतापसे उनके सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेके लिये भाग्यशाली हो । इतनी ही प्रार्थना करना बस है ।

ज्ञातसेवक

॥ अभिप्रायाः ॥

हातुपुत्रमहावीरः, सर्वशुद्ध अगदुरु ।
 तस्य स्तुतेर्मनोरम्भा, सा टीका कस्य न मिया ॥
 निस्त्रिभुगमविज्ञेन, सिन्धुवह्विहारिणा ।
 निर्मिता पुष्पचन्द्रेण, सा टीका कस्य न मिया ॥
 गीर्वाणी ह्येवभीमाया, गुर्भरीया तथैव च ।
 त्रिमापासुज्जमो यत्र, सा टीका कस्य न मिया ॥
 मधवन्धापहर्त्री च, सुबोधस्व वीरिका ।
 धरण्या सर्वजीवानां, सा टीका कस्य न मिया ॥
 वाच्यवाचकमावस्तु, स्फुटो यत्र विधीयते ।
 स्रतिस्त्यादिगुणैराब्जा, सा टीका कस्य न मिया ॥
 विबुधेन्द्रमुनीन्द्राणां चरतां शास्त्रवर्त्मसु ।
 कठनूपपक माप्ति, सा टीका कस्य न मिया ॥
 निषापीठे तु संस्थाप्य, टीकां पाठ्यविधात्मका ।
 धर्मोत्पत्तिश्च कर्तव्या, हि पुष्करमुनेर्मतम् ॥

प्राकरण—कान्य—न्यामतीर्थ

पुष्करो मुनिः—

संसारार्णवसेतुतामुपगता सिद्धान्तचिन्तापरः,
 कल्याणायनवर्षिष्ठाऽस्मविरतं सप्राप्तिनां सर्वत ।
 द्विन्वी-संस्कृत-गुर्भरी प्रभृतिमिर्माणाभिरागृहिता,
 श्रीपुष्पेन्दुमुनीरिता विष्णुते वीरस्तुतेर्विभूतिः ॥ १ ॥

ता १-१-११
 विद्यामन्दिर
 कानपुर

पाण्डेय देवेन्द्रनाथ झाखी

मुनि सिरि उवज्झाय आचारामस्स सम्मइ

मए वीरत्थुइ नामा लहुवी पोत्थियं अवलोइया, सा युइ पोत्थिया भत्ति भावेण अलकिया, पोत्थिया भत्तिभावेण विज्झस्सा, अम्भुअरसस्स प्पयाण कत्ता-जहावि कइ चाहं विसएसु मयमेयोऽत्थि किन्तु कत्तुणा भत्तिभावं अणुवमे दसिता । मम मणो अईव प्ससन्नभूओ, कत्तुणो पुणो पुणो धनवाय देमि । जेण अइपरीसमेण भत्तिवसेण अईव सगगह कइ, जणयाए भत्तिमगं पदसिया । सत्थेवि उत्त, अरिहताइणां भत्तिभावेण जीवो तित्थयर नामगोय कम्मं निवंधइ । इयं रयणा छंदराऽत्थि, भव्वजणाण अवस्समेव भणणिज्जो, कत्तुणा जहाठाणे अईवउवओगी उद्धरणण पससणिज्जो सगगह कइ, तहा उत्तरज्झयणस्स तव-मगोऽवि उत्तं, 'गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ' एव वीरभत्ति वा वीरत्थुइ वि विणयरूवोऽत्थि, तहा उत्तराज्झयणस्स एगूणतीसाए अज्झयणं थूस्स एव फल वणिअ जहा—“थय युइमगलेण भंते जीवे कि जणयइ ? थ० नाणदसणचरित्तवोहिलाम जणयइ । नाणदसणचरित्तवोहिलामसपन्ने य ण जीवे अन्तकिरिय कप्पविमाणोववत्तिग आराहण आराहेइ ॥ १४ ॥ अओ वीरत्थुइ अवस्स भणणिज्जो ।

१९९६ सावणसुक्का एगादसी, सुक्कवारे,
छहियाणा णयरे, उवज्झाय जइणमुणि

आचारामो

देहली शहर महावीर जैनभवन

ता० २७ अगस्त १९३९ ई०

शान्तस्वभावी, वैराग्यमूर्ति, विद्वान् श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यश्री खूब-चन्द्रजी म० साहवकी सम्मति —

“वीरस्तुति.” नामक पुस्तक भाई पचमलालजी द्वारा पठनार्थ मिली, पुस्तक सरसरी नजरसे देखी, अहिंसाके अवतार भगवान् महावीर प्रभुकी स्तुति मूल गाथाओंके साथ हिन्दीभाषामे अच्छे ढंगसे लिखी है । वर्तमान समयमें ऐसे २ शुद्ध हिन्दीभाषायुक्त धार्मिक साहित्यकी विशेष आवश्यकता है ।

जैनधर्मोपदेष्टा विद्वान् मुनिश्री फूलचन्द्रजी ने वीरस्तुति लिखनेका स्तुत्य कार्य किया है । आशा है स्वाध्यायप्रेमी महानुभाव इस वीरस्तुति पुस्तकके स्वाध्यायसे आत्मकल्याणका लाभ अवश्य उठायगे । अस्तु ।

हस्ताक्षर—आर्य जैन सुखमुनि

द्वितीय श्रावण शु० १३, रविवार, सं० १९९६

पुस्तक दर्शनीय है, मूलमत भावोंको काफ़ी सरलताके साथ समझानेकी चेष्टा की गई है। यथा प्रसंग अन्ध प्रान्तोंके सदस्य होनेमें सुनिश्चित काम करते हैं वह अतिप्रायः न होती। यदि मैं कहूँ कि बीरस्तुतिका इतना लोक-प्रिय संस्करण अभी तक कहींसे भी प्रकाशित नहीं हुआ।—

कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहाँ केवल कतल होकर काम पड़ा है। बहुत तत्पर स्वर्गोपर केवल हमार "मत्" भेद है। परन्तु वे सब बातें "एक ही दोषो गुणसंनिपाते निमग्नतीत्योः किरणेष्विवाद्" की तदुक्तिके अनुसार अन्ध भेदभावोंमें छुट जाती हैं। स्वात्मकताही (वेग) समान्य भोरसे ऐसी सुन्दर छवि उपस्थित करने के उपकरणमें भीतुत पुष्पमिष्टु वालरमें बचाईके पात्र हैं।

जैनाचार्य-पूज्यभी पृथ्वीचन्द्रजी महाराज

ता २५ अगस्त सन् १९३९

पुस्तक काफ़ी सुन्दर लिखी गई है। बहुतसे स्वर्गोपर तो व्याख्या काफ़ी प्रभावोत्पादक हो गई है। संस्कृत हिन्दी और गुर्जर तीनों भाषाओंमें व्याख्या की जाकर केवलके नया विज्ञान तथा सर्वज्ञाचार्य सभीके लिये अप्रत्यक्ष मार्ग प्रकाश कर दिया है।

भीतुत पुष्पमिष्टुने अन्ध भी उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु प्रभु मह-बीरके चरणोंमें उनकी यह अज्ञातता तो अतीव कृतज्ञ भेदोपर पहुँच गई है। मैं आशा करता हूँ कि समान्य एक छविको अधिकसे अधिक अप्रत्यक्ष और प्रभु बीरके गुणमान द्वारा केवलके अन्धो उपलब्ध करता हुआ अपने जीवनको भी सफल बनायेगा।

व्याख्यान वाचस्पति पंडितजी मदनलालजी म०,

ता २५ अगस्त सन् १९३९

अन्ध परमोपयोगी है, इसमें कुछ सन्देह नहीं कि सुनिश्चित हर एक निश्चयसे बड़ी पम्प्रीत्य और साथ ही सरलतासे सुसज्जित किया है। यथा है कि ईश्वर संसारन प्रेमी संसार इस अन्धसे महान् काम सज्जयेगा। सुनिश्चित परितम और निश्चयबोध इस अन्धके अन्धत्वका करमेसे अतिप्रसन्नगीय प्रतीत होता है।

सम्पति प्रकाश—

“मुनि बालमिष्टु प्रेमेन्दुः”

वीरस्तुति नामकी पुस्तक देखी, लेखक मुनिश्रीने अत्यन्त परिश्रमसे तैयार कर जन समाजपर उपकार किया है। तीर्थंकरोंकी स्तुति करना आत्माको पवित्र बनाना है। तीर्थंकरोंकी स्तुतिकरते हुवे उच्चकोटिकी भावना आजाय तो तीर्थंकर जैसी आत्मा बनजाती है। अतः जन समाजको सम्मति देता हूँ कि वीर-प्रभुकी स्तुति हमेशा पढ़ा करें। जैनाचार्य पूज्यश्री खूबचन्द्रजी महाराजका सम्प्रदायानुयायी—**आर्य जैन मुनि हीरालाल २६-८-३९, अवाला शहर**

साहित्याकाशभ्रमणभानु पुष्पभिक्षु रचित संस्कृत और हिन्दी भाषामें वीरस्तुतिका दर्शन किया। आपने इस उन्नतिके युगमें इस प्रकार लेखनी उठाकर जैन ससार पर ही क्या बल्के भव्यसाक्षरसृष्टिका कल्याण कार्य किया है। यह रचना रोचक और हृदयङ्गम है, मानवके आन्तरिक विचार इसका स्वाध्याय करते करते भक्तिसागरमें लहरायमान होने लगते हैं।

वीरस्तुतिके विषयमें मेरा इतना ही कहना बस है कि इसका सम्पादन विज्ञानके युगमें वैज्ञानिक ढंगसे किया गया है, अतः स्थानकवासी जैनसमाजके लिये यह बड़े गौरवकी वस्तु है। जैन समाजके मुनि धार्मिक ग्रन्थ शास्त्र अथवा अन्यान्य ग्रन्थोंपर टीका रचना कुछ भूलसे गये थे। लोकाशाहके अनन्तर स्वतन्त्र साहित्य विक्रमका उत्सर्जन रुकसा गया था परन्तु पुष्प भिक्षुने वीरस्तुतिके प्रभावसे उस कमीकी पूर्ति कर दी। हे पुष्पभिक्षु! साधुवाद।

शासन प्रेमी—**धनचन्द्र भिक्षु** ता० २८-८-३९, इंदौर (मध्यभारत)
अयि, असीमशेमुषिमुषितदोषा। अजितविद्याकोषा। धियाधीताध्याताशेष-
जैनमुनिप्रवरा। विदितमस्तु अत्र भवता श्रीमता, यन्मुनि पुङ्गवेन श्रीफूल-
चन्द्रेण रचित ममा क्रन्दनक काव्य मया सम्यक्समवलोकितं, यन्निधित स्वस्वान्ते
यदेतत्काव्यं शिक्षयति जैनमुनीन् यदीदृशेन गुरुणा भाव्य तथेदृक्षेण च शिष्येण।
ये हि मुनयः पूर्वमपरीक्ष्यैव शिष्यान्दीक्षयन्ति तेऽचिरादेव विकृतिं प्रयान्ति। तान्
एषा मुनीन्द्ररचिता कृतिः सम्यगवबोधयति, ये च जिनधर्माचारप्रचरणे परित्य-
क्तनिजप्रयोजना सन्ति, तथा परस्परैर्ध्यामोहनिद्रया निद्रिता वर्तन्ते तेषु मातेव
जागृतभावमुत्पादयतीति, नाद्यावधि केनापि जैनमुनिना स्वसंप्रदायपोषकमीदृशं
संस्कृतकाव्यं विरचितं दृष्टिपथमवतरति। एतद्धि न्यूनतापूरकमिति मे मतिः।
अहो एतत्काव्यसुधारसं स्वाद सन्तुष्यमाणो मेऽन्तरात्मा नान्तर्माति, नूनं हि
एतस्य कवित्वतत्त्वमनुकरोति कालीदासादीनां कविपुङ्गवानां कविताम्। अस्मिन्स-
म्यगवबोधिता जैनसम्प्रदायानुसारं गुरुशिष्यव्यवस्था, तस्यामपि कवित्वसौष्टवेन
हेत्रि सौरभसन्दोह उत्पादितः। नूनमेषा कृतिर्जैनसम्प्रदायानुयायिभिर्मुनिभिः
समादरणीया तेषु बहुपकरिष्यतीति मनुते—

पण्डित—**हंसराजशास्त्री, व्याकरणरत्नः, साहित्याचार्यश्च,**
प्रधानाध्यापक, संस्कृतविद्यालय मल्लिकोटलराज्ये (पाञ्चाल)

प्राकथन

—

श्रीमत्सुब्रह्मण्यसूत्रके पंचम अध्यायमें 'मरकविभक्ति' का बहिष्कार प्रसिपादक किया गया है और वह हातपुत्र महावीर मगवान्ने स्तवं कहा है। इसके अनन्तर इनका ही चरित्र इस पुनर्जीवितवसिष्ठिरूप छठवें अध्यायमें वर्णन किया है।

छात्रोपदेशकके महापते साक्षर महात्मा हैं। इस सम्बन्धसे इस अध्यायके उपक्रमविचार अनुबोध होते हैं। उसमें भी उपक्रमके अन्तर्गत जो बर्णनविचार है वह महावीर प्रभुके पुनर्जन्मका कर्त्तव्यरूप है। अनुबोधका दूसरा भेद निक्षेप है, जिसके दो प्रकार हैं। ओषनिष्पन्न और नामनिष्पन्न। ओषनिष्पन्न निक्षेपके रूपमें वह अध्याय और नामनिष्पन्नके रूपमें महावीर सृष्टि। उसमें 'महत्' 'वीर' और 'सुख' के निक्षेप उल्लेखनीय हैं।

'जैसा उद्देश वैसे निर्वेश' इस व्यासके अनुसार प्रथम 'महत्' सम्बन्ध निर्वेश किया जाता है। वह 'महत्' सम्बन्ध बहुस्म है। जैसे कि 'महाजन' बड़ा अग्रणी है। 'महापोष' अतिरूप है। महामय-आशान्वय रूप है। महापुरुष स्वयं बड़ा पुरुष है। वे चार अर्थ महत् सम्बन्धके प्राधान्य अर्थोंमें प्रकाश हैं। यथा—

पाहणे महासहो वृत्ते केते य काळे भावैय ।

वीरस्त उ विचखेवो जडकरो होर जायप्यो ॥

महावीर स्वयं महत् सम्बन्ध आशान्वय अर्थ में है और वह माय-स्वापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल और माय इन भेदोंसे उ प्रकारका है। इस प्राधान्यमें नाम और स्वापनाके भेद तो सुपम ही हैं। इन्हीं प्राधान्य उ शरीर-मध्य शरीर और उ मध्य स्थितिरिक्त ये तीन भेद हैं। उ मध्य स्थितिरिक्तके सन्निवृत्ति और मित्र के तीन प्रकार हैं। उनमें सन्निवृत्ति भी द्विपद-चतुष्पद और अपरके भेदोंसे तीन तरहका है। तथा द्विपदमें तीर्थकर चक्रवर्ती आदि, चतुष्पदमें छद्मी भोका आदि और अपरमें अल्पज्ञ अथवा प्रसन्न रूप-रस-वर्ण और स्पर्शमें उत्कृष्ट पुनर्जीवित कमकादि परार्थोंका प्राधान्य है।

अन्तिमें कैर्त्तव्य आदि निमित्त प्राधान्यपुत्र मन्त्रिजोंका प्राधान्य है। मित्रमें निमित्त तीर्थकरादि।

क्षेत्रमें सिद्धक्षेत्रका प्राधान्य है। धर्म-चरित्रके आश्रयसे विदेहक्षेत्र प्रधान है और उपभोगकी अपेक्षा देवकुरु आदि क्षेत्रका प्राधान्य है। काल प्राधान्य-एकान्त सुषम आदि आरक अथवा धर्मचरणके स्वीकार करने योग्य काल विशेष।

भाव प्राधान्य क्षायिकभावमें है।

अब 'वीर' शब्दके द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव ये चार भेद निक्षेप शरीर भव्य शरीरको छोड़कर शरीर भव्य व्यतिरिक्तमें द्रव्यसे वीर द्रव्यकेलिये सङ्ग्रामादिमें अद्भुतकाम करनेसे शूर पुरुष अथवा जो कुछ वीर्यवत् हो।

क्षेत्र वीर-क्षेत्रमें अद्भुत काम करनेवाला वीर होता है। अथवा जहा उसके वीरत्वकी गाथायें गाई जाती हों वह। इसी प्रकार कालके आश्रयसे भी जानना चाहिये। भाव वीर वह है जिसका आत्मा क्रोध-मान-माया और लोभ परिषद् आदिसे विजित न हो। यथा—

पंचेंदियाणि कोहं, माणं मायं तद्देव लोहं च।

दुज्जयं चैव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिये जियं ॥

भावार्थ—पांच इन्द्रियें-क्रोध-मान-माया और लोभको आत्माके लिये जीतना दुष्कर है। यदि एक आत्मा जीत लिया तो सब कुछ जीतलिया समझना चाहिये।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जय जिणे।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥

भावार्थ—जो योद्धा लाखों सुभट युक्त दुर्जय सप्राप्तको जीत लेता है उसकी अपेक्षा आत्माको जीतनेवाला परम जय पानेवाला योद्धा है।

इसीप्रकार श्रीमन्महावीर प्रभु अनुकूल प्रतिकूल परिषद् और उपसर्गोंसे विचलित न हुये। इस अद्भुतकार्यको करसकनेके कारण वे गुणनिष्पक्ष भावसे महावीर कहलाये। या द्रव्यवीर व्यतिरिक्त भववाला।

क्षेत्रवीरकी अपेक्षा वह जहा होता है अथवा जहां उसके गुणोंका कीर्तन होता है। कालसे भी यही जानना चाहिये। भाववीर जो आगमसे वीर-नामगोत्रकर्मका अनुभव कर्ता।

“सबके सम्बन्धमें निक्षेपादि—

कम-सुख के नाम आदि बार निक्षेप हैं, जिसमें काम और स्वप्नको पूर्वोक्त जानना होता है। इसमें “काम” का शरीर सम्बन्धित व्यवस्था को पांच क्रियात्मक प्रयोग करके तीव्रकर मगधका उत्पन्न करना है और मात्र कबतों वहाँ शुभ विद्यमान हो जनक उपयोग पूर्वक प्रीति करना है।

कम प्रथम उनके संस्पर्श द्वारा सम्पूर्ण जन्मात्मक संवत्स प्रतीत्यम् करतेवाले व्यापक बनान करते हैं। यथा—

‘पुष्पिस्तु जंयु जामो मस्तुहम्मा तमो कहेसीय ।

एव महप्पा भीरो जयमाह तहा जयसादि ॥”

भावार्थ—जन्मात्माने कार्य सुवर्मात्मापीठे धीमन् अष्टवीर प्रभुके शुभके सम्बन्धमें प्रथम किया है। सुवर्मात्माने “मगधान् ऐसे शुभसे शुभ में” वह कहा और उस मगधान्ने इस प्रकार संसारके भीतनेके बोध दिये अतः अप भी मगधान्ने तरह संसार भीतनेका प्रथम की।

जबुना निक्षेपके पश्चात् सुवर्मात्मने अस्वर्गिकी शुभसुख एवं करने बोध्य है और वह यह है—

अहं स्रगडांगसुतस्स वीरथुहं नाम छठं अञ्जयणं ।



पुच्छिस्सुण समणा माइणाय, आगारिणो या परतित्थिआ य । से केइ नेगत हिंयं
धम्मसाहु, अणेलिस साहुसमिक्खयाए ॥ १ ॥ कहं च णाण कहं दसणं से, सीलं कहं
णायसुयस्स आसी ? जाणासि ण भिक्खु ! जहातहेण, अहमासुयं वूहिं जहां णिसंत ॥ २ ॥
खेयन्नए से कुसले महेसी, अणतनाणीयं अणतदसी । जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहिं
धम्मं च धिइ च पेहि ॥ ३ ॥ उद्धं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावरं जे य पाणा ।
से णिच्चणिच्चेहिं समिक्खं पत्ते, दीवेव धम्मं समियं उदाहु ॥ ४ ॥ से सव्वदस्सीं अभिभूयं
नाणी, गिरामगवे धिइमं ठियप्पा । अणुत्तरे सव्वजगसिं विज्जं, गया अतीते अभयं अणाऊ
॥ ५ ॥ से भूइपण्णे अणिए अयारी, ओइतरे धीरे अणतचक्खु । अणुत्तरे तप्पइं सूरियं
वा, वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥ ६ ॥ अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं, णेयां मुणीं कासवं
आसुपण्णे । इंदेव देवाणं महाणुभावे, सहस्सणेतां दिविणं विसिद्धे ॥ ७ ॥ से पण्णया
अक्खयसायरे वा, महोदही वा वि अणतपारे । अणाइले वा अकसायीं मुक्के, सक्केव देवाहिं वईं
जुइमं ॥ ८ ॥ से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए, सुदसणे वा णगसव्वसेद्धे । सुराल्लएवासिमुदा-
गरे से, विरायए णेगगुणोववेए ॥ ९ ॥ सयं सहस्साणं उ जोयणाणं, तिकइगे पडगवेज-
यते । से जोयणे णवणवतिं सहस्से, उद्धुस्सितो हेद्धं सहस्समेगं ॥ १० ॥ पुद्धे णमे चिट्ठइं
भूमिवट्ठिए, जं सूरियां अणुपरियट्ठयति । से हेमवण्णे बहुनदणे य, जसिं रंइ वेदयतीं
महिंदा ॥ ११ ॥ से पव्वए सइमइप्पगासे, विरायइं कचणमट्ठवण्णे । अणुत्तरे गिरिस्सु य
पव्वदुग्गे, गिरीवरे से जलियं व भोमे ॥ १२ ॥ महीइमज्झम्मिं ठिये णणिंदे, पण्णायते
सूरियमुद्धलेस्से । एव सिरिए उ स भूरिवण्णे, मणोरमे जोयइं अच्चिमाली ॥ १३ ॥ सुद-
सणस्सेव जसो गिरिस्सं, पवुच्चइं महतो पव्वयस्सं । एतोवमे समणे णायपुत्ते, जाइं जसो-
दसणनाणसीले ॥ १४ ॥ गिरीवरे वा निसहाययाणं, रुयं व सेद्धे वलयाययाणं । तओवमे
से जगभूइपण्णे, मुणीणं मज्जे तमुदाहु पण्णे ॥ १५ ॥ अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तरं
वज्जाणवरं जिहयाइ । सुसुक्कसुक्कं अपगइसुक्कं, संखिदएगतवदातसुक्कं ॥ १६ ॥ अणु-
त्तरगं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोइइत्ता । सिद्धिं गते साइमणतपत्ते, नाणेण सीलेण
य दसणेण ॥ १७ ॥ रुक्खेसु णायं जइं सामली वा, जस्सिं रतिं वेदयतीं सुवण्णा । वणेसु
वा नदणमाहु सेद्धं, नाणेण सीलेण य भूइपण्णे ॥ १८ ॥ थणियं व सहाणं अणुत्तरे उ, चदो
व ताराणं महाणुभावे । गवेसु वा चदणमाहु सेद्धं, एव मुणीणं अपडिण्णमाहु ॥ १९ ॥
जहां सयं भू उदहीणं सेद्धे, नागेसु वा थरणिंदमाहु सेद्धं । क्खोओदए वा, रसवेजयते,
तवोवहाणे मुणिं वेजयते ॥ २० ॥ इत्थीसु एरावणमाहु णायं, सीहो मिगाणं सल्लिआणं
गगां । पक्खीसु वा गरले वेणुदेवे, निव्वाणवादीणिहं णायपुत्ते ॥ २१ ॥ जोइेसु णायं जइं
वीससेणे, पुप्फेसु वा जइं अरविंदमाहु । क्खत्तीणं सेद्धे जइं दतक्के, इत्तीणं सेद्धे तइं वद्ध-
माणे ॥ २२ ॥ दाणाणं सेद्धं अमयप्पयाणं, सक्खेसु वा अणवज्जं वयति । तवेसु वा उत्तमं

विषयानुक्रमणिका ।



विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रथम गाथा-मंगलाचरण	१	ब्राह्मणके १० प्रकार, देव,	
संस्कृतटीका २-१६		द्विज, मुनि, नृप । ...	२३
दानधर्मकी विशेषता, शीलमें		वैश्य, शूद्र, विलाव, म्लेच्छ,	
दानधर्मका समावेश, तपमें		चाडाल, खर, अयोग्य	
दानधर्मका अन्तर्भाव ।	१७	ब्राह्मण, ब्राह्मण परम्परा ।	२४
भावधर्म दान ही है, क्या साधु		अब्राह्मण, ब्राह्मणोचित यज्ञ,	
भी दान देता है? धर्म-		ब्राह्मणोचित तीर्थज्ञान,	
रत्न, कर्मनाश करनेकी		गुजराती अनुवाद ।	२५
कसोटी । १८		द्वितीय गाथा-टीका ...	३३
वीरप्रभुकी स्तुति, उनकी		भाषा टीका ३६	
अनेक स्तुतिएँ और मेरा		ज्ञान ३७	
असामर्थ्य । १९		दर्शन ३८	
वीरप्रभुका गुणगान करते		चरित्र, ज्ञातपुत्र ३९	
समय गुरुशिष्यकी बातें,		गुजराती अनुवाद ४०	
आचार्य और उसकी पह-		तृतीय गाथा- .. . ४२	
चान । २०		सं० टीका, ४३	
आचार्यके ३६ गुण, आचा-		भाषा टीका, ४५	
र्यको चतुर ग्वालेकी ठपमा,		३४ अतिशय, ४६	
उन्हें नमस्कार करनेका		३५ वाणी गुण, ४७	
प्रयोजन, आचार्यकी विशेष-		खेदज्ञ-क्षेत्रज्ञ-कुशल-आशुप्रज्ञ-	
ता । २१		महर्षि, ४८	
जम्बू अन्तेवासीका सुधर्मा-		धर्म, गुजराती अनुवाद, .. ४९	
चार्यसे प्रश्न, ब्राह्मण,		चतुर्थ गाथा-सं० टीका- - ५३	
ब्राह्मणलक्षण । .. २२			

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
भीष्मपर्वार्चन और प्रभुके		वारहसी गाथा—	८१
गुणोंको प्रशंसा करते हैं		तेरहसी गाथा—	८४
उपयोगमय अमूर्त कर्ता		बीसहसी गाथा—	८९
उदेह परिमाण	५९	उपमेयका वर्णन ..	८७
भोक्ता संसारस्थ विद्व ..	५७	पन्त्रहसी गाथा— ..	८८
कर्मबामी ब्रह्म ..	५८	विषय पर्वत और हयकर्मवृत्ती	
स्वामर इन्द्रायन पुनरासी		उपमा ..	८९
अनुवाद	५९	सोहहसी गाथा—	८९
पृथ्वीकन अथकन ..	६२	केसाभोक्ता वर्णन ..	९
तेजस्कन वायुकन कन		कुलकेसा-नीलकेसा-अपोदी	
स्वस्तिकन	६१	केसा ..	९१
पञ्चम गाथा	६४	तेज्यकेसा पथकेसा-सुत-	
सं टीका	६५	केसा उदपर उदाहरण	९४
माताटीका	६६	सत्तरहसी गाथा—	९८
गुनरासी अनुवाद	६७	विश्विचरन ..	१
छठसी गाथा—	६७	अठारहसी गाथा—	११
सं टीका ..	६८	चात्मकी हृद और मन्दन-	
माताटीका	६९	वक्त्री उपमाका वर्णन	१२
सातसी गाथा—	७०	छठीसवी गाथा—	१३
आठसी गाथा—	७१	मेघपर्वना-वन्द और वन्द	
नवसी गाथा—	७२	वक्त्री उपमाका वर्णन	१४
मेरुकी उपमा	७६	बीससी गाथा—	१४
दशसी गाथा—	७७	महावीर प्रभुमें कर्मभूरमण	
मेरु पर्वतका वर्णन	७८	समुद्र, वरचैत्र हस्तारसे	
व्यारहसी गाथा—	७९	श्री कविक महत्ता	१५
सुमेरु पर्वत टीको ओछोमे		इक्कीससी गाथा—	-
व्याप्त है	८०		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
ऐरावत हाथी, सिंह, गंगा और वेणुदेवकी उपमा- सेभी बढकर उपमेयकी विशेषता,	१०७	गृहस्थके लिये त्याज्य असत्य क्या है?	१४०
चाईसवीं गाथा-	१०८	असत्यका बुरा परिणाम, .	१४१
कृष्ण कमल-चक्रवर्तीकी उप- माका वर्णन, .	११०	मौनसे कल्याण, .	१४३
तेईसवीं गाथा-	११०	तपोमें ब्रह्मचर्यकी उत्तमता, कुशीलताके दोष,	१४४
दानका लक्षण,	१३१	कदाचारका परिणाम, वात्स्या- यनका मत, मैथुन सेवनसे	१४७
दानके प्रकार, अभयदान सबसे बड़ा दान है,	१३१	कामज्वर नहीं घटता,	१४७
याज्ञवल्क्यका मत, यजुर्वेद, मनुका मत, दशधर्म, ...	१३३	ब्रह्मचर्यसे ही पूजा, ब्रह्म- चर्यका फल, महावीरप्रभु- के नाम, ज्ञातपुत्र शब्दकी उत्पत्ति, . .	१४८
नियमसारकामत, समन्तभद्रा- चार्यकामत, लोकोका मन्तव्य,	१३४	चौबीसवीं गाथा-लवस- त्तमदेव, सुधर्मसभा, सर्व- धर्मेकी उपमाका वर्णन,	१८२
राज्यसे भी अधिक प्राण प्रिय हैं-पीडा-मतलबकी हिंसा भी हानिकर, ...	१३५	पच्चीसवीं गाथा- ..	१८४
अहिंसाका माहात्म्य, अहिं- साका फल, लोकमत, परिणाम, . .	१३६	छब्बीसवीं गाथा- ...	१८६
अभयदानपर उदाहरण, ...	१३७	कपाय वर्णन, कपायसे हानि, इनके हटानेके साधन, कषाय त्यागका फल, वीत- रागताद्वारा अलग २ कपा- यके जीतनेका फल,	१९२
सबसे बड़ी सत्य भाषा, मनुका अभिप्राय, अस- त्यका खुलासा, ...	१३८	कपायकी आगको बुझाओ, सताइसवीं गाथा-	१९३
		मतोंका वर्णन, ...	१९६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
महाहमसी गाथा-	१९८	वठवायवाके भीजीबराज	
जीसेधर्माके होय	१९९	मुकल्लस हुत महावीर	
रात्रिमोजनके होय	२११	गुहनो गुमराठी काम्यासु	
पुरुषोके प्रकट,	२११	वास	२६१
रात्रिमोजन कथय	२११	महामोत्र विमाय	२६३
गुहोके आठ बपदेहोय रात्रि		संस्तुत कीवविमाय	२७२
मोजन वर्जित	२१३	हिन्दी कविता विमाय	२८३
रात्रिमोजनके प्रकट होय	२१४	कान्तरस पूर्ण कान्तिप्रकाश	२९
आधुर्देहमें रात्रिमोजन आख्य है,	२१५	वीरस्तु मयकान् कनम्	३१
रात्रिमोजन आबनेवालोके गुण	२१७	वीरयोगतरङ्ग	३४३
सनतीसवीं गाथा-	२२७	आलोचना पुष्पावलि	३५७
प्रशस्ति	२३७	मयकान् महावीरकी वैराग्य	
परिशिष्ट भाग-वैभवहरी		मयकान्	३७
हुत महावीर मयकान्की		मयकान्करणम्	३७७
स्तुति	२४२	मयकान्करणम्	३८१
आनन्दबद्धत वीरस्तुति	२५	मयकान्करणम्	३९६
कुमर विनयप्रकट वीरस्तुति	२५८	काव्यपुत्र महावीरके सिद्धान्त	४११
		हृदिपत्रम्	४१२

नमोऽस्तुभ्यं समणस्स भगवओ णायपुत्त महावीरस्स

वीरस्तुतिः ।



हिन्दी-गुर्जरभाषान्तरसमुल्लसितया
संस्कृतटीकया सनाथीकृता

मूल—

पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य,
आगारिणो या परतित्थिआ य ।
से केइ णेगंतहिंयं धम्ममाहु,
अणेलिसं साहुसमिक्खयाए ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

अप्राक्षु. श्रमणा ब्राह्मणाश्च, अगारिणश्च परतीर्थिकाश्च ।

स क इत्येकान्तहितं धर्ममाहु, अनीदृश साधुसमीक्षया ॥ १ ॥

अथ ज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसंघीया-संस्कृतटीकाकर्तुर्मंगलाचरणम् ।

ध्यायं ध्यायमशेषशक्रप्रमुखाऽमर्त्याऽर्चिताद्विद्वयं,

मोक्षश्रीपरिणीतिसम्भवमहानन्दोल्लसन्मानसम् ।

श्रीवीरप्रभुमीश्वरं तदनु च ज्ञानप्रदं श्रीगुरुं,

नामं नाममशेषभक्ष्यमहितं श्रीफूलचन्द्रो मुनिः १

श्रीमत्सूत्रकृताङ्गमप्यविलसत्सुशोकबीरस्तुते-
 र्भग्यानां भयबन्धमेवमनसामानन्दसंघर्दिनीम् ।
 कुर्वेऽह बिभृतिं तदर्थगतिकृन्नापान्तरोद्भासितां,
 तेन श्रीप्रियासात्मजाऽन्तिमजिनः प्रीयात्समाराधितः

टीका—इहापाराजसंसारयुग्मां परिभ्रमण कुर्वतां प्राप्तिं
 सुलुकादिवधमिर्वातिरतिदुष्कं मानुष्य, तत्राप्यार्यदेष्ट-कुम्भऽप्यु-रारो-
 म्भ-समप्रेन्द्रियानुकूलसामग्रीसंयोगो दुर्लभतरः, तत्राप्यतिदुर्लभतमा
 श्रीजिनधर्मप्रवृत्तिः । तत्रैह भगतीहसः श्रीसर्वहोक्तधर्मः परममङ्गलः
 समस्तक्षारीरमानसादिदुःखोच्छेदकव्याप्यति । धर्मव्याप्तौ चतुर्धा दान-
 क्षीलतपोमयमेव, तत्र चतुर्णां धर्ममेवानां मध्ये सर्वज्येष्ठो धर्मो दान-
 धर्मः, सर्वेष्वपि धर्ममेवेष्टव्यन्तव्यारित्वात् । उवाचि—शौकिके श्रेकोचरे
 च सर्वत्र दानप्रवृत्तिर्ज्येष्ठतरा, श्रीमन्तस्तीर्थकरा अपि प्रथमं वर्षमिवान्
 दत्त्वा पश्चाद्विलुप्तं गृह्णन्ति; पुनश्च क्षीणधर्मेऽपि दानधर्मोऽविच्छिन्न
 एव, यतो ब्रह्मचर्यमग्राहणेऽसंख्यहीनत्रियाणामसंख्यसम्पुष्टिर्नपञ्चे-
 न्द्रियाणां नवव्यगमिर्नपञ्चेन्द्रियाणां च कृते प्रतिदिनं ब्रह्मप्रतिपा-
 दयदानं दत्तम्, स्वजीवसाध्यमयदानमाप्त तेन गर्भोदितु-त्पन्नाश्चक-
 स्वाचेति व्यवच्छिन्नतया हि क्षीलेष्वपि दानस्य मुख्यता । तत्रैव तपो
 धर्मेऽपि दानमन्तर्भवति, यतो बह्वीवनिकयविराजनया च आहारो
 निष्पाद्यते, परन्तूपवासादितपसि कृते तु तेभ्योऽभयदानं प्रदत्त तस्मा-
 दपस्वपि दानमन्तर्भूतम् । मायधर्मे तु सुतरामेव, यत 'परमकरु-
 णया जीवाजीवाऽर्हिसगपरिणतिर्माया' तत्राऽप्यमयप्रदानद्वारा दानमेव
 पर्यवस्यति, जैनमुन्मोऽपि प्रतिदिनं देशनादानं ज्ञानद्विषादानं च
 ददति; अतो दानस्य त्रिष्वप्यन्तर्भावान्मुस्यतया प्रथमं दानस्योपादानं

कृतम् । परं तद्भावपूर्वकं हि सफलतामेति । दानादिरूपं हि धर्मरत्नं प्राप्य सुकुलोत्पत्तिसमस्तेन्द्रियसामग्र्याद्युपेतेनाऽनेकान्तवादरूपमार्हतदर्शनपरिज्ञाय चाशेषकर्मोच्छिद्येऽवश्यं प्रयतितव्यं भव्येनेति । परन्तु कर्मोच्छेदश्चापि सम्यग्विवेकसव्यपेक्षोऽसावपि ह्याप्तोपदेशमन्तरेण न सुलभः, आप्तश्चात्यन्तिकादोषक्षयात्, स चार्हन्नेव, स हि श्रीज्ञातृपुत्र-महावीरचरमतीर्थकरस्तस्य स्तुतौ कृतयत्नोऽस्मीति, कोविदमुख्यैरिह जगति तस्य गुणवर्णनं बहुधा कृतं परन्त्वहमपि तद्गुणवर्णनोत्कटेच्छया तरलीकृतः सम्यग्दर्शनबलेन क्षयोपशमबलेन च किञ्चिद्विवरीतुं यतिष्ये । किमनन्तमाकाशे पक्षिराजगतं सम्यगवगम्य तेनैव पथा शलभो गन्तुं न वाञ्छति ? वाञ्छत्येवैवमनया रीत्याऽहमप्यल्पज्ञप्रायः परं किञ्चिद्वि-श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रे यज्ज्ञातृपुत्रमहावीरस्तुतिनामाध्यायस्य व्याख्यां वितनोमि, तद्वीरकृपयैव, न ममाल्पज्ञस्य माहात्येनेति । अथ श्रीम-न्महावीरस्य प्रभोर्गुणा निगद्यन्तेऽतोऽत्र जम्बूनामधेयोऽन्तेवासी सुध-र्माणं धर्माचार्यं आ=मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्यते सेव्यन्ते जिनशासनोन्नत्यर्थोपदेशकतया तदाकाक्षिमिरित्याचार्यास्तमाचार्यम्; उक्तं च—

मुत्तत्थविज्ज लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेदिभूओ य,
गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं वाएह आयरिया ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

सूत्रार्थविलक्षणयुक्तो, गच्छस्यालम्बनभूतश्च ।

गणतत्तिविप्रमुक्तः सन्नर्थं वाचयन्त्याचार्या इति ॥

अथवा आचारो ज्ञानाचारादिः पंचधा, आ=मर्यादया वा चारो विहार आचारस्तत्र साधवः स्वयं करणात्मभाषणात्मदर्शनाच्चेत्याचार्याः ।
आह च—

पञ्चविहं आयारं, आयरमाणा तद्वा पयासंता,
आयारं वसता, आयरिया तेण बुधति ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

पञ्चविधमाचारमाचरमाणास्तथा प्रकाशमानाः ।

आचारं वर्धयन्त आचार्यास्तेनोप्यन्त इति ॥

इति च विशेषत्वस्यके—

जबवा आ=ईप्त् अपरिपूर्णा इत्यर्थ, चार हेरिका ये ते
आचार, चारकस्या इत्यर्थ, युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेश
अंतस्तेषु साधनो यथावच्छास्त्रार्थोपदेष्टकृत्या इत्याचार्याः । एषामा
चारोपदेष्टकृत्योपकारित्वात्, उमाचार्यम् । “ग्रन्थसाक्षरत्वाभ्याप-
नितारमित्यर्थ । “मन्त्रन्यास्याकुराचार्य इत्यमर” । मोक्षसा-
क्षोपदेष्टरि, श्रीकर्मगुरौ “इति सव्यार्थचिन्तामणि” । जबवा=

* समकर्मयोगसूत्रप्रसंगे आचार्याणां परिचयः संक्षिप्तान् उद्धृतः स वैद्यम् ।

आचार्याणां—आचार्येण समकर्म निम्नवार्थ आचार-मोक्ष-विचन-
विनय-अप-अमन-चक्रमन-पमाच-ओप-कुंठन-मारा-समिति-गुप्तिहेतो-
बहि-मत्त-वाच-उभय-उप्याय-एषणा-विशोद्धि-सुखासुखमाह-वन-निवम-
तनो-वहापुपसत्त्वमाहिअह X X X X पहले अंगे दो मुख्यपदों पर प-
चोपे अन्वयवा पंचाशी उद्देशकप्रत्यय पंचाशी उद्देशकप्रत्यय अन्तरपद-
सहस्यार्थ ।

आचार्यः—समकर्मयोगसूत्रप्रसंगे आचार्याणां परिचयः संक्षेपसे इस प्रकार
परिचय उद्धृत किया जाता है ।

आचार्याणां—आचार्याणां सूत्रमें इस प्रकार के विषयों का वर्णन किया
गया है तथा-अमन निम्नवार्थ सुप्रसंग आचार, मोक्ष (मिष्टादिभि) निमन
वैयमिक अयोत्सर्गादि सुन्दर और एकमन्त्र स्नात निहारमूल्यादि गमन चक्र-
मन अर्थात् इहलका वा धार्मिक धन पुट करने के लिए उपानयनमें वनसे
वति में गमन निम्न आचार्यादि तथा पैद वहापों वा अन्त साध्यादि

‘स्वयमाचरते शिष्यानांचारे स्थापयत्यपि । आचिनोति हि शास्त्रार्थ-
माचार्यस्तेन कथ्यते’ । इति कुलार्णवः । “आम्नायतत्त्वविज्ञाना-
ज्जराचरसमानतः । यमादियोगसिद्धत्वादोचार्य इति कथ्यते” ॥ १ ॥
इति शाकरे ॥ अतोऽत्र जिनधर्म एव मन्त्रस्तस्य व्याख्याकृत्, श्रीमान्
सुधर्माचार्य इति भावः । तं सुधर्माचार्यं प्रति श्रीमन्महावीरचरमतीर्थ-
ऋद्भुणान् पृष्ठवान्, विनयेनेति शेषः “सन्मतिर्महतिर्वीरो, महावीरो-

नियम, नियोग, भाषा समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्त, पान, उद्गमादि
(उद्गम, उत्पाद, एषणा) दोषोंकी, विशुद्धि, शुद्धाशुद्धग्रहण, व्रत, नियम,
‘तप और उपधान ।

प्रथम सूत्र आचाराग में दो श्रुतस्कन्ध, ८५ उद्देशनकाल, ८५ समु-
द्देशनकाल, तथा १८००० पद संख्या है ।

सूत्रकृतः—सूअगढे ण ससमया सूइज्जति, परसमया सूइज्जन्ति, स-
परसमया सूइज्जति, जीवा सूइज्जति’ अजीवा सूइज्जति, जीवाजीवा सूइज्जति, लोगे
सूइज्जति, अलोगे सूइज्जति, लोगालोगे सूइज्जति, सूअगढेण जीवाजीवे पुण्णपावा
सवसवरनिज्जराणवधमुक्खावसाणा पयत्था सूइज्जति । × × × × × असी-
इस्स किरियावाइयसयस्स, चउरासीए अकिरियवाईण, सत्तट्ठीए अण्णाणिय-
वाईण, वत्तीसाए वेणइअवाईण, तेतीस उद्देसणकाला, तेतीस समुद्देसणकाला,
छत्तीस पदसहस्साह ।

सूत्रकृतः—सूअगढाग (सूत्रकृताग) में प्ररूपित विषय इस प्रकार
हैं । स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त, स्व-परसिद्धान्त, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक,
अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वध और
मोक्ष तकके सब पदार्थ, इतर दर्शन मोहित नवीन संदिग्ध दीक्षितकी बुद्धिको
शुद्ध करनेके लिए १८० क्रियावादी के मत ८४ अक्रिया वादीके मत, ३२
विनयवादीके मत, अज्ञानवादीके ६७ मत, सब मिलकर ३६३ अन्यदृष्टिके
मतोंका परिद्वेष करके स्वसमय स्थापन,

सूत्रकृतांग सूत्रमें दो श्रुत-स्कन्ध हैं, २३ अध्याय हैं, ३३ उद्देशन काल
हैं, ३३ समुद्देशन काल हैं । ३६००० पद संख्या है ।

नितादेरिति यावज्जयं तिरस्क्रियां चकार । “विष्टपं भुवनं लोको जगदिति कोपः” । “परिभवः परामवस्तिरस्क्रियेति कोषः” । अतो

व्याख्याप्रशस्तिः—(भगवती) विआहेणं ससमया विआहिज्जन्ति, परस-
मया विआहिज्जति, ससमय-परसमया विआहिज्जन्ति, जीवा विआहिज्जति, अजी-
वा विआहिज्जति, जीवाजीवा विआहिज्जति, लोगे विआहिज्जन्ति, अलोगे विआहि-
ज्जति, लोगालोगे विआहिज्जति, विआहे ण नाणाविहसुरनरिंदरायरिसिविविहस-
सइअ पुच्छिआण, जिणेणं वित्थरे ण, भासिआण, दब्बगुण-वित्त-काल-
पज्जव-पदेस-परिणाम-जहत्थि अभाव अणुगम-निक्खेव-णय-प्पमाण सुनिठ-
णोवक्कम विविहप्पकारपगडपयासिआण ससारसमुद्दंउत्तरणसमत्थाण, सुरवइ-
सपूजिआण, भवियजणपयहिअयाभिनदिआणं, तमरयविद्धंसणाण, सुदिट्ठदीव
भूअइहामतिबुद्धिवद्धमाणाण छत्तीससहस्समणूया ण वागराणाणं दसणाओ,
सुअत्थवहुविहप्पगारा, सीसहिअत्था × × × × × पचमे अगे एगे सुअ-
क्खवे, एगे साइरेगे अज्झयणसये, दसउद्देसगसहस्साइ, दससमुद्देसगसहस्साइ,
छत्तीस वागरणसहस्साइ, चउरासीइ पयसहस्साइ ।

व्याख्याप्रशस्तिः—(भगवती) सूत्र में स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव,
जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक, इत्यादि कथनके अतिरिक्त, भिन्नभिन्न
प्रकारसे देव, राजा, राजर्षि, और अनेक प्रकारके सन्दिग्ध पुरुषोंके पूछे हुए
प्रश्नोंका जिनेन्द्रदेवने विस्तारपूर्वक जो उत्तर दिए हैं । और वे उत्तर द्रव्य,
गुण, क्षेत्र, काल, पर्यव, प्रदेश और परिणाम के अनुगम, निक्षेप, नय, प्रमाण
और विविध तथा सुनिपुण उपक्रम पूर्वक यथास्तिभावके प्रतिपादक हैं । जिससे
लोक और अलोक दोनों प्रकाशित हैं । जो विशाल ससार समुद्रसे पार कर
देनेमें समर्थ हैं । इन्द्रों द्वारा पूजित हैं, भव्य लोकोंके हृदयके अभिनन्दक हैं,
अन्धकार रूप मैलके नाशक हैं । सुन्दर और दर्शनीय हैं, दीपक की तरह
चस्तुका तथ्य निर्णय देने वाले हैं । ईहा, मति, और बुद्धिके बढ़ानेवाले हैं,
जिनकी सख्या ३६००० में पूर्ण होती है, और जो उत्तरोंके उपनिबन्धसे बहुत
प्रकारके श्रुतार्थोंके समुदायरूप शिष्योंके हितार्थ गुणहस्तरूप हैं । पचम अंग
(भगवती) सूत्रमें एक श्रुतस्कन्ध, साधिक अति उत्तम सौ १०० अध्याय
हैं । दशहजार उद्देशक, १०००० समुद्देशक, ३६००० प्रश्न और ८४०००
पद सख्या है ।

वीरः संसारं यथा जितवान्, वयमपि तथैव सज्जमाय प्रयत्नं कुर्मः ।
भगवन् ! बहुविधां भरकविमर्क्तिं च भुत्वा संसारमुद्विग्नमनसा 'किनेन
'भरकविमर्क्ति' प्रतिपादित' इति नाममाश्रुतिरिति, पुनश्चैवं भूतो धर्म

ज्ञाता-धर्मकथांगः—आना-बम्म-कहाणु नं प्यवाणं नवराहं, उब्बय्याहं,
इयय्यया रायाओ अम्मापिवरो समोसरणाहं, बम्मायरीया बम्मकहाओ
इहय्येइअ-गरओइअ-इहिविसेय्य भोय परिआया पवय्यओ सुवपरिग्गहा
तवोवहाआह, परिआया सेउेहयाओ मत्तपवककयाहं, पाओवपमआहं, वेवओ-
गयमआहं, सुक्कय्यया पुच बोदिअयो अंतकिरिआओ अ आचविमंति
× × × × × कट्टे अंगे हो सुवककांया एवूनत्तीसे अज्जयय्य ते समासओ
हुमिहा पवत्त तंवहा चरित्त अ कप्पिआ अ इत्त बम्म कहाण बम्मा
तत्थं एममेअए बम्म कहाए पंच पंच अक्कआइयासयाहं, एणमेअइ अक्कआह
आए पंच पंच उवक्कआइयासयाहं, एणमेअए उवक्कआइआए पंच पंच अक्कआ-
इअ उवक्कआइयासयाहं, एणमेअ सुप्पुम्मावररं अत्तुत्तए अक्कआइयासयाहं
मवंत्तीसेअक्कआओ एवूनत्तीसे उवक्कआइयासयाहं एवूनत्तीसे तत्तुरेअक्कआ
संनक्कआहं पवत्तइत्ताह, ।

ज्ञाताधर्मकथा—इस सूत्रमें उवाहरचमूत पुस्तों के समर उपाय
बनकर राया मत्त पिता समवसरण कर्मचार्य कर्मकथा ऐहिक और
पारलौकिक कष्टमिसेव भोगपरिहारा प्रवर्ज्या सुत परिग्रह, उप उपवान
एवां संनक्कआ मत्तप्रक्कआइया पावपोपमम वेवओकयमव फिर उत्तम
हुत में अवताह, पुवर्जम्म बोधिसत्त्व और अन्तकिआ इत्यादि अनेक विपत्तों-
का कथन विचारसे किया गया है । उठने ज्ञाता धर्मकथांगमें हो सुतस्कन्ध हैं
जिनमें १९ अम्माव हैं वे अम्माव चरित और कप्पिक मेरते हो घरहके
जताए हैं । धर्मकथाके १ वर्ग हैं । जिसकी एक-एक कथा के नाम ५ —
५ आक्कआमिअए हैं एक एक आक्कआमिअमें ५ —५ उपाक्कआमि-
अए हैं एक एक उपाक्कआमिअमें ५ —५ आक्कआमिअोपाक्कआमिअए
हैं और फिर इसी प्रकार से संपूर्णपर (उपविजजर) ताके तीन ओर आक्कआ-
मिअए हो जाती हैं । इसमें १९ उवक्कआइया, तथा १९ तत्तुरेअक्कआ हैं,
और संक्कआ तत्त ११ हैं, बानी ५ तत्त ७१ हजार पर हैं ।

संसारोत्तारणसमर्थ. केन प्रतिपादितः । इत्येतद्ब्रह्मवो मारिमिति भावः ।
ते के इत्याकाक्षायामाह श्रमणा = साधवो निर्ग्रन्थादयः । “तपस्वी

उपासकदशांगः—उवासगदसासु ण उवासगाणं नगराइ, उज्जाणाइ,
वणखडा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइ, धम्मायरियाइ, धम्मकहाओ,
इहलोअ, परलोअइइद्विविसेसा, उवासयाणं, सीलव्वय वेरमणगुणपच्चक्खाण,
पोसहोववासपडिवज्जिआओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइ, पडिमाओ, उवसग्गा,
सलेहणा, भत्तपच्चक्खाणाइ, पाओवगमणाइ, देवलोगगमणाइ, सुकुलपच्चाया, पुणो
वोहिलाओ, अतकिरिआओ, आघविज्जति, × × × × × सत्तमे अगे एगे
सुअक्खधे, दशअज्झयणा, दशउद्देशणकाला, दश समुद्देशणकाला, सखेज्जाइ
पयसहस्साइ ।

उपासकदशांगः—इसमें उपामकोंके (श्रावकोंके) नगर, उद्यान,
वनखड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, इसलोक और परलोककी
ऋद्धिविशेषका तथा श्रावकोंका शीलव्रत, विरमण, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौप-
वोपवास, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, प्रतिमा, उपसर्ग, सलेखना, भक्तप्रत्या-
ख्यान, पादपोषण, देवलोकगमन, श्रेष्ठकुलजन्म, बोधिलाभ और अन्त-
क्रियातत्त्वका वर्णन है × × सातवें उपासकदशांगमें एक श्रुतस्कन्ध, दश
अध्ययन, दश उद्देशनकाल, दश समुद्देशनकाल, और सख्यातलाखपद
अर्थात् ११५२००० पदोंकी सख्या है ।

अन्तर्दृष्टशांगः—अतगढदसासु णं अतगढा ण नगराइ, उज्जाण,
वणखड, राया, अम्मापिय, समोसरण, धम्मायरिय, धम्मकहा, इहलोअ,
परलोअ, इद्विविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहा-
णाइ, पडिमाओ, बहुविहाओ, खमा, अज्जव, मइवं, सोअ च सच्चसद्धिअं,
सत्तरस्सविहोसजमो, उत्तम च बभ, अकिंचण्या, तवो, किरियाओ, समिइगु-
त्तिओ चैव, तह अप्पमायजोगो, सज्झाय ज्ञाणेण य, उत्तमाण दोण्हपि, लक्ख-
णाइ, पत्ताणय सजम, जिअपरिसहाण, चउव्विहकम्मक्खवियम्मि, जइ केवलस्स
ल्लमो, परियाओ जत्तिओ य जइ पालिओ मुणिहिं, पाओवगओ अहिं, जतियाणि
अत्ताणि, छेअइत्ता, अतगढो मुणिवरो, तमरयोधविमुक्को, सुक्खसुहमणंतर, च
पत्ता ए ए अज्ञेय एवमाइत्थ वित्थरेण परूवेइ, × × × × × अठ्ठमे अगे

संयमी वर्णी, योगी साधुश्च तापसाः । ऋषिर्व्यतिर्मुनिर्मिक्षु संयतः
 भ्रमणो मतीति" धनस्य । "यतिमेवे, साधुमेवे वा, भिक्षाजीविनि,
 शरीरमेवे वेति घृण्यस्तोममहानिधि" । "तपसिनि, भ्रमण परिच्छेद,
 संन्यासीति पूज्यपाठा" । जैनभिक्षुके, निर्ग्रन्थे चापि, 'भ्राम्यतीति

इति पुष्पकचंदे एव अज्जयणा सप्तवग्गा एव उद्देश्यकश्च एव समुद्देश्य
 कश्च संवेष्टार्थं पदसहस्रार्थं,

अस्तकृद्दशांगः—अस्तमज्जदशांग एवमे अस्तकृद् (तीर्थकरि)
 पुष्पकचंदे नवर उपाय वनचंड उपा मातापिता समवसरण वन्द्यार्थं
 कर्मका हेतुके और परलौकिक भक्ति, मोक्षपरिणाम, प्रमत्तप्रवृत्ति सुतपस्वि,
 तप उपचार बहुविधप्रतिष्ठानक तथा कार्येण मार्गेण सप्त संहित शेष
 सतरह प्रचारक संवत् उत्तम ब्रह्मचर्य अक्षिपनका तप किंवा समिति सुति,
 अग्रमात्रवत् उत्तमसाध्याव ज्ञान और आगेतर्य का स्वरूप उत्तम संवत्
 प्रसिद्ध और परिबद्ध बीतनेवाले पुष्पकचंद आरम्भकरके वास्तविक कर्म इन होने से
 किंवाकर्मका अंत करवा (अस्त वस्तुवत् प्रतीति) इति पर्यवर्त्तने पक्ष
 करनेकी अवधि पादपोषणत पवित्र मुनिवर जितने मछो (भोवन समनो) को
 निताकर कहा अस्तकृद् हुए वह निवरण और सी मुनिपत्र किंवा सुचिते
 अचल पुष्पकचंद अंत हुए, इत्यादि धन वर्धन आर्त्थ (अंतपद) अंतमें एक
 सुतपस्वि के ही अन्तर है इसके दस अक्षयवत् हैं, सप्त वर्ष हैं दस उद्देश्य
 कर्म हैं दस समुद्देश्य कर्म हैं, और संख्यात कर्म पद हैं, अर्थात्
 २३ ४ पद संख्या है ।

अनुत्तरोपपासिकदशांगः—अनुत्तरोपपासिक दशांग अं अनुत्तरोप-
 पासिकार्थं नयार्थ, उपायार्थ, वनचंडा उपायो अस्तमज्जदशांग समोत्तरकृद्
 अस्तमज्जदशांग अस्तमज्जदशांग इत्युक्तोप-नरकोपस्त इतिविशेषा मोक्षपरिणाम
 पक्षमात्रो सुतपस्विपक्षमात्रो समोत्तरकृद्, परिणामो पक्षमात्रो संवेष्टार्थमात्रो
 अस्तमज्ज-पक्षमात्रकृद्, पक्षमात्रमज्ज, अनुत्तरोपपासिक ओ सुतप पक्षमा
 पुनोबोद्धिमात्रो अंतकिरिमात्रो आचक्षिर्जति + + + + + नवमे अंते एते
 सुतपस्वि एव अज्जयणा विविध वग्गा एव उद्देश्यकश्च एव समुद्देश्य-
 कश्च संवेष्टार्थं पदसहस्रार्थं,

श्रमणः ।' इति "शब्दार्थचिन्तामणि" श्राम्यति परदुःखं जाना-
तीत्यपि ।' च पुनर्ब्राह्मणाः ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः । "द्विजात्य-
ग्रजन्म, भूदेववाडवाः । विप्रश्च ब्राह्मण" इत्यमरः । ब्रह्म परमात्मानं

अनुत्तरोपपातिकः—इस सूत्रमें अनुत्तरोपपातिकोंके नगर, उद्यान, वनखड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इत्यादिकका वर्णन है, और ऐहिक तथा पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्या-ग्रहण, श्रुतपरिग्रह, तप, उपवास, पर्याय, प्रतिज्ञा, सलेखना, मक्षपान-प्रत्याख्यान, पादपोषगमन, श्रेष्ठकुलमें पुनर्जन्म, बोधिलाम, अन्तक्रिया, इत्यादि विषयोंका वर्णन है । × × नवम (अनुत्तरोपपातिक) अगमें एक श्रुतस्कन्ध, दश-अध्याय, तीन वर्ग, दश उद्देशनकाल, दशसमुद्देशनकाल, संह्यातलाख पद—अर्थात् ४६०८००० पद हैं ।

प्रश्नव्याकरण—पण्डितगणेषु अदुत्तर अपसिणसयं, अदुत्तरं पसि-
णापसिणसयं, विज्ञादसया, नागसुवण्णे हिं सिद्धिं दिव्वा सवाया आघविज्जति,
विम्हयकराणं अइसयमइ अकालदमसमतिथ्यकरुत्तमस्स ठिइकरणकारणाणं, दुर-
हिगमदुरवगाहस्स, सव्वसव्वणुसम्मअस्स, अयुहजणबोहकरस्स, पच्चक्खपच्च-
यकरण, पण्हाण, विविहगुणमहत्था, जिणवरप्पणीआ आघविज्जति, + + +
+ दसमे अगे एगे सुअक्खंधे, पणयालीसं उद्देशणकाला, पणयालीसं समुद्देशण-
काला, सक्खेज्जाणि पयसहस्साणि ।

प्रश्नव्याकरण—इस सूत्रमें एकसो आठ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८ प्रश्नाप्रश्न, विद्याओं का अतिशय, और नागकुमार तथा सुवर्णकुमारके साथ होने वाले दिव्य सवाद का वर्णन है । × × × दशम (प्रश्नव्याकरण) अगमें, एक श्रुतस्कन्ध, ४५ उद्देशनकाल, ४५ समुद्देशनकाल, और संह्यात लाख पद अर्थात् ९२१६००० पद संह्या है ।

विपाकश्रुत—विवागसुए णं सुक्ख-दुक्ख ण कम्माणं फलविवागे आघविज्जति, से समासओ, दुविहे पञ्चते तजहा; दुहविवागे सुहविवागे चैव, तत्थण दस दुहविवागाणि, दस सुहविवागाणि से किं तं दुहविवागाणि ? दुहवि-
वागे सु णं दुहविवागाण नगराईं, उज्जाणाइ, वणखंडा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइ, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, नगरगमणाईं, ससारपवधे, दुहपरंप-

‘कैश्चित् ब्राह्मणा दशधा प्रोक्तास्त एवम्’

यथा—देवो द्विजो मुनी राजा, वैश्यः शूद्रो विडालकः ।

खरो म्लेच्छश्च चाण्डालो, विप्रास्तु दशधा मताः ॥ १ ॥

देवः—एकाहारेण सन्तुष्टो, मद्यमासविवर्जितः ।

पारीणस्तत्त्वविज्ञाने, स विप्रो देव उच्यते ॥ १ ॥

द्विजः—यामिको नियमी चैव, संयमी सयतेन्द्रियः ।

समो दमक्षमायुक्तो द्विजो विप्रः स उच्यते ॥ १ ॥

मुनिः—रूक्षाऽऽहारी दिवाहारी, वनवासे रतः सदा ।

कुरुतेऽहर्निश ध्यानं, स विप्रो मुनिरुच्यते ॥ १ ॥

नृपः—अश्वादिवाहनेच्छुर्यो विग्रहे चातिवर्तते ।

आरंभः शासकः शूरः, स विप्रो हि नृपः स्मृतः ॥ १ ॥

वैश्यः—कृषिवाणिज्यगोरक्षा, न्याय सेवा करोति यः ।

धातूनां सग्रही नित्यं, स विप्रो वैश्य उच्यते ॥ १ ॥

सुखविपाकमे सुखविपाकवालोंके नगर, उद्यान, वनखड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इसलोक परलोक सम्बन्धी ऋद्धि विशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्याग्रहण, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, पर्याय, प्रतिज्ञा, सलेखना, आहारपानीका त्याग, पादपोषणमनसस्तारक, देवलोक-गमन, सुकुलवतार, योधिलाभ और अन्तक्रिया तकका अनुक्रमसे वर्णन है । इसमें २० अध्याय हैं । २० उद्देशनकाल हैं, २० समुद्देशनकाल हैं । और सख्यात लाख अर्थात् १, ८४, ३२००० पद सख्या है ।

दृष्टिवादः—दृष्टिवाएण, सम्बन्धभावपरूषणया, आधविज्जति से समासओ पंच विहे पण्णते, त जहा-परिकम्म, सुत्ताइ, पुब्बगय, अणुओगो, चूलिका, ।-

दृष्टिवाद—इसमें सब पदार्थों की प्ररूपणा है, और वह दृष्टिवाद परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, (पूर्व) अनुयोग और चूलिका इन भेदोंसे ५ प्रकारका कहा है ।

शूद्रः—अज्ञातैलक्यं यैव, विजय व्याजमद्रकः ।

विहेता मघमांशानां, स विम शूद्र उच्यते ॥ १ ॥

शिवालः—मह्यमह्य म जानाति, माख्य बाध करोति यः ।

परस्त्रीगमन कथा, शिवालः स हि प्रोच्यते ॥ १ ॥

श्लेष्ठः—वापीरूपतडागानामपूतमध्वरप्रहः ।

परतुल्य न जानाति, विमो श्लेष्ठः स कथ्यते ॥ १ ॥

वाण्डालः—अहिंसां नैव जानाति, सर्वदा माणिषातकः ।

वन दग्धा कृषिं कुर्यात्, विमवाण्डाल उच्यते ॥ १ ॥

सुरः—स्वाध्याययनश्रम्यादिकर्मवटुविवर्जितः ।

आतमुत्सुगृहे मोक्षी, सुरो विमः स उच्यते ॥ १ ॥

वर्ज्यः—आयुक्तवति परबोध, कुर्यात्सपापगोपनम् ।

धुन पुच्छमिव वर्ज्यं, आत्मकर्मविवर्जितः ॥ १ ॥

अन्मकाले मवेच्छूत्रो, बुद्धिकाले मवेद्भिजः ।

साम्नाम्नाते मवेद्भिमो, ब्रह्मविद्ब्रह्मणः स्तुतः ॥ १ ॥

स तत्राऽप्राप्तो यथा—

कोहो य माणो य बहो य जेसिं,

मोस अदत्त च परिग्गह च ।

ते माहणा जाहविआविहूणा,

ताहं तु सेत्ताहं सुपाययाहं ॥ १४ ॥

(संस्कृतच्छाया)

कोहो य माणो य बहो य जेसिं मूपाऽदत्तं च परिग्रहं च ।

ते माहणा जातिविद्याविहीनास्तामि तु सेवामि सुपाययामि ॥१४॥

[ब्राह्मणोचितश्रेष्ठयज्ञः]

सुसंवुडा पंचहिं संवरे हिं,
इह जीवियं अणवकंखमाणा ।
वोसट्टकाया सुइचत्तदेहा,
महाजयं जयइ जन्नसेट्ठं ॥ ४२ ॥

सुसंवृताः पंचभिः संवरैः, रिह जीवितमनवकांक्षमाणाः ।
व्युत्सृष्टकायाः शुचित्यक्तदेहाः, महाजयं यजन्ते श्रेष्ठयज्ञम् ॥ ४२ ॥

उत्तराध्ययन अ० १२

[ब्राह्मणोचितज्ञानतीर्थम्]

धम्मे हरए बम्भे संति तित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥ ४६ ॥
एयं सिणाणं कुसले हि दिट्ठं,
महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।
जहिं सिणाया विमला विसुद्धा,
महारिसि उत्तमं ठाणं पत्ते ॥ ४७ ॥

संस्कृतच्छाया

धर्मो हृदो ब्रह्म शान्तितीर्थं, अनाविल आत्मप्रसन्नलेख्ये ।
यस्मिन् छातो विमलो विशुद्धः सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम् ॥ ४६ ॥
एतत्तज्ज्ञानं कुशलैर्दृष्टं, महाज्ञानमृषीणां प्रशस्तम् ।
यस्मिन् छाता विमला विशुद्धा, महर्षय उत्तमं स्थानं प्राप्ताः ॥ ४७ ॥

तथाऽगारिणो=गृहवासिनः 'सदनं सप्त भवनं घिण्यं वेदमाऽथ
मन्दिरम्; गेहं निकेतनागारमिति' धनंजयः । आ-गृ, कर्मणि

अथ भागमुच्यतीति, प्राप्नोति वेति, भाग आनन्द गताय वेति
 आगारं, एवमस्यास्तीत्यागारी ते । आगारिणाः क्षत्रियादयश्चेति
 भावः । परतीर्थिकाः परमतावच्छिन्नः शाक्यादयश्चेति वा, ते
 सर्वेऽपि किं तदिति दर्शयति स को योऽसावेन धर्मम् । मामा
 रणागारविच्छिन्नमाहोक्तवान् । अथ चारणे घातो मन्, “स्यात्
 र्ममक्षियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृष” इत्यमरः । ‘वत्पुसहापो
 क्षम्नो’ ‘यतोऽभ्युदयो निःश्रेयसी स धर्मः’ दुर्गती प्रपततां प्राप्तिनां
 चारणाद्यर्थे रक्षकमैकान्तद्वितमाहोक्तवानिति । किंभूत धर्ममयी
 वशमतुलम् । कपोक्तवान् । साधुसमीक्षया समतपेति भावः ॥ १ ॥

अन्वयाद्यर्थ—(समता) मित्र (माहता) ब्रह्मन् (व) और (अय-
 र्थो) कदाह एहत्वं (व) तथा (परतिष्ठिता) और और वैतरमत्तावच्छन्नी
 (पुच्छिस्तु) पुत्रो नि-विन्नेने (साधुसमीक्षया) अन्वये तरह क्षाममिक
 स्ववशात् (वैपतक्षिर्न) सब प्रकारसे कम्पान और उदार करनेवाला (अवेक्षितं)
 उपमा रहित (धर्म) आत्म-धर्म (आहु) कहा है (से) वे (के)
 और वे ! ॥ १ ॥

मात्सर्य—अर्थ दुःखार्माचार्य मयकरसे उनके सर्वत्र समीपमें रहनेवाले
 आनुमान्य बन्धु मित्राये पुत्र नि-हे अर्थ । संसारसमुद्रसे पार करनेवाला
 एवमन्त द्वित्यपि एवं अनुपम आत्म-धर्म निधने प्रतिपादन किया है । मुझसे
 इस प्रकार अनेक मित्र-एहत्वं एवं अन्वयान्व-मतत्वात्वेन प्रम किया है ॥ १ ॥

मात्सर्यीक्य—इस संसारकी पहलु वधमें व्युत्पत्ति करते अन्विबोधि
 निह वक्ष्य दृष्टान्तोंसे अनुपमत्वमात्र सिद्धता अवलम्ब करित है इसके अतिरिक्त
 आर्त्यवेध [आर्त्य मोक्षण आर्त्य वृत्ति, आर्त्य वैतरयूष आर्त्य पशौष आर्त्य चह
 वात आर्त्य भाग्य] उत्तम ब्रह्म कम्पान आनु, आरोमन क्षीर, समस्त इन्द्रियोंकी
 इन्द्रियपुञ्ज साममिबोधि संयोग सिद्धता तो और भी बढ़ित है परन्तु भीरी-
 तरण मयकरके धर्ममें प्रवृत्त होना चाहते अन्विबोधि है, और वधके
 भीषणोंसे सर्वलोच धर्म ही कम्पान और मंगलकर करने शक्य है । इसी
 भय और वधके अनुपमसे क्षीर और घन सम्पन्नी कर्मी रोय नाश होते हैं,
 और वह धर्म अतुल्यमहावीर अनेके बार प्रकरण प्रतिपादन किया है ।
 , जो नि-दान हीन तत्र और ज्ञानसे प्रवृत्तता आप्त है ।

दान धर्म की विशेषता-

दानको सबसे प्रथम इसलिए कहा है कि यह दान धर्म पिछले तीन मेदोंमें भी समाया हुआ है, लोकोंमें इसलोक, तथा परलोककी अपेक्षासे दान देनेकी प्रणाली सबसे पुरानी है, श्रीमान् तीर्थंकर भगवान् सबसे पहले एक वर्ष दान देकर फिर दीक्षा लेते हैं ।

शीलमें भी दान धर्मका समावेश-

शील धर्ममें भी दानधर्म ज्योंका त्यों समाया हुआ है, क्योंकि ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करनेपर असख्य द्वीन्द्रिय, और असख्य सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीवोंको तथा नवलास्य गर्भजपचेन्द्रिय जीवोंको ब्रह्मचर्य पालन करनेसे प्रतिवार अभयदान मिलता है । इतर शास्त्रकारोंने भी इसका बड़ा माहात्म्य लिखा है ।*

शील व्रतको स्वीकार करके वीर्य (आत्मशक्ति) का रक्षण करता हुआ गर्मादिके जन्ममरण संबंधी कष्टोंसे मुक्त होजाता है, और मानो वह अपने को भी अभयदान देता है । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शीलमें भी दान ही गर्भित है ।

तपमें भी दानधर्मका अन्तर्भाव-

शीलकी तरह तपश्चरण करनेमें भी दानधर्मकी आराधना छुपी हुई है । यह सब जानते हैं कि—छ कायकी विराधना (हिंसा या आरंभ) के बिना भोजनका बनना असंभव है । परन्तु साधक उपवासादि तप करनेपर इच्छाओंको रोकतेहुए छ कायका आरंभ रोककर उस दिन अनन्त जीवोंको अभय दान देता है, अतः तप करनेसे भी दान धर्मका अनायासही पालन हो जाता है ।

* एकरात्रोपितस्यापि, या गतिर्ग्रहचारिण ।

न सा ऋतुसहस्रेण, प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर ! ॥

(मार्कण्ड, ऋषि.)

भावार्थ—एक रात भर ब्रह्मचर्य पालन करने से भी जो उत्तम गति तथा श्रेष्ठ फल उस ब्रह्मचारी को मिलता है वह है युधिष्ठिर ! हजार यज्ञोंसे भी अप्राप्य है ।

भावधर्म तो दान धर्म है ही—

भाव प्रकृति को रोक कर कल्याण पैदा करनेका काम है । तथा बीर और अवीरकी अममलसोपसे रक्षाकरना भाव है, वहाँ भी धर्मको अममल रीतिसे अममलान ही मिलता है । अतः अवीररक्षाका नाम ही भाव वा भावशक्ति है ।

क्या साधु भी दान देता है ?

कैन मुनि भी प्रविष्टिब उपदेशदान ज्ञानदान शिष्यादान स्विच्छेदक शिवा दान देकर मानव समाजपर महान् उपकार करते हैं । इसपर अनेक कभी यह भी कह देते हैं कि—साधुको अन्नदाता न कहकर दानी या दानाको ही अन्नदाता कहना चाहिए । साधु क्या कभी किसीको रोटी पानी दे सकता है ? मगर इतना तो अवश्य समस्त कैना चाहिए कि—क्या भोजन अन्न ही हो सकता है ? और कोई वस्तु नहीं क्या अन्नसे ही तृप्ति होती है ? यदि सब पूज्य ज्ञान तो आत्माकी छापक अन्न पानी नहीं है । वह तो परब्रह्म तथा सत्त्वको पोषण करनेवाली पौष्टिकवस्तु है । और आत्माकी निमी छापक तो बसका ज्ञान वर्धन चरित्र तप धर्म संवेद निर्देश अनुकम्पा आदिगुण ही है । इस वास्तविक छापकको ग्रह करनेपर आत्माकी सदाके लिए तृप्ति हो जाती है । अतः पूज्य मुनिकर्ण ज्ञान वर्धन चरित्रकी आत्मीय छापक केनेके नाते अन्नदाता भी हो सकते हैं । और इस दानके पुनरुत्पन्न धर्म धारके संश्लेषक मुनि ही होते हैं जोकि दोनों प्रकारसे निर्द्वन्द्व हैं ।

धीन तप बीर भाव जुग पीछेसे राजने ही छुपे हुए हैं । अत एव धर्मो बर्मेमें पहले दानको प्रमुखत्वात् आता है । परन्तु दान धीन तप भी मनुके सङ्ग्रामसे अर्थात् पवित्रमानसमी पुनरुत्पन्नरके आनेपर सम्पन्न हो सकते हैं अन्यथा नहीं ।

धर्मरक्षा—

चतुर्विध अमृत्युय नवीरज पाकर भेदभ्रमकीप्राप्ति समस्त 'हृत्त्रिनासिक' की अष्टभुज सामग्री शुद्ध वागवक्त्र कर्तव्य है कि—वह अनेकान्तधर्मकी सेवीको समझकर जिनके अमीत्यका आधन पाकर आत्मन्यैव पक्षोंको पोषनेका प्रकल करे ।

कर्म बाधा करनेकी कसौटी—

कर्मोंका बाध दान वैराग्य संन्यस नियम तपकी अगिमें जलाने ही है

प्रकार होता है जैसे अग्निमें सुवर्णका मल नाश होता है अतः उपरोक्त साध-
नोंको साधकका कर्तव्य है कि उन्हें समझनेकेलिए सर्वज्ञप्रभुका उपदेश सुनना
चाहिए। और आत्मका रहस्य जानना चाहिए। यह निस्संदेह है कि आत्म
अठारह दोषों से रहित होते हैं। वे चार घनघातिक कर्म क्षय करके अनन्त
चतुष्टय अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और वह अनन्तसुख
देहावस्थामें भी प्राप्त कर सकते हैं। वे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप
चार धर्मतीर्थ स्थापन करनेके नाते तीर्थकर कहलाते हैं। और धर्मका आद्य
प्रयत्न करनेसे तथा अनन्त विभूति प्राप्त करनेपर वे असंख्य देव और इन्द्रकी
सेवा के योग्य होते हैं अतः अर्हन् भी हैं। और इस वर्तमान अवसर्पिणी-
कालके चतुर्थ-आरकमें हमारे इस भारत वर्षमें २४ अर्हन् हो गए हैं।
जिनमें अन्तिम अर्हन् महावीर प्रभु हुए हैं।

वीर प्रभुकी स्तुति-

ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुका हमपर पूर्ण उपकार है। उनके उपकारों
का भूलजाना कृतघ्नता है। उन्हें निर्वाण हुए यद्यपि २४६५ वर्ष हो गए हैं
तथापि उनका अनुकरण करनेके लिए उनके गुणोंका स्मरण करना, तथा
उनकी स्तुति करना हमारा परम कर्तव्य है, अतः आज उनकी स्तुतिरूप
व्याख्या करनेकेलिए प्रयत्नशील हुआ हूँ।

उनकी अनेक स्तुतिपै और मेरा असामर्थ्य-

तत्त्वके अध्येताओंमें मुख्य विद्वानोंने उनके अनन्तगुणोंका अनेक
उत्तम शब्दोंमें वर्णन किया है, परन्तु मैं भी अपने सम्यग्दर्शनके बलसे
कुछ स्तुति करूँ मुझे ऐसी सृष्टि पैदा हुई है। यद्यपि मुझमें उन विद्वानों जैसी
प्रतिभा तो नहीं, मगर मेरा उत्साह और भक्तिकी निर्भरता मुझसे बलात्कार
प्रेरणा कर रही है। कारण जिस रास्तेसे गरुड अपनी चण्डगतिसे उड़कर
निकल गया हो क्या उसके पीछे एक छोटीसी तितलीको जानेकी इच्छा
नहीं होती? अवश्य होती है।

इसी प्रकार अल्पज्ञप्राय मैं भी मानसोत्पुक्ता से भरपूर होकर ज्ञातपुत्र
महावीर स्वामीकी स्तुति 'वीरस्तुति' सूत्रकृताग नामा सूत्रके छठवें अध्यायकी
व्याख्याके बहाने अवश्य करसकता हूँ। मुझे आशा है कि उसमें मुझे सफलता

अवश्य प्राप्त होगी। क्योंकि मयिमें जोरा पिरोने की अपेक्षा उसका वैध करना कठिन होता है। अतः सबकी स्तुति रूप कृति तो पहलेसे ही विराजमान है किन्तु मैं तो इनकी स्तुतिरूप मयिमें अपनी अवलुभित दूरी दूरी कोक मासके कोरमें ही पिरोनेका सतत प्रयत्न करूँगा। और यह मेरी दलालीवली मयिमें कारण अधिक कठिन नहीं है। परन्तु यह सब प्रभुकी कृपा ही है। मेरी इसमें कुछ निषेधता नहीं है। क्योंकि उन्होंने १५ वर्ष पहले आत्म-हत्याका मार्ग मन्त्राचार्यकेलिए परिभाषित कर दिया है। इसमें सुप्त सब अल्पमयिमें मन्त्रक यही कि—कुछ निषेधता पैदा कर सकूँ, यह सब प्रयत्न इनकी ही वचाई हुई तो है।

बीर प्रभु का गुण गान करते समय—

भारतमें शुद्ध बीर शिष्यकी बातें ।

अन्तिम तीर्थकर आत्मनन्दन—महावीर प्रभुके गुणोंको जाननेकेलिए शिष्याष्टकम्बू ने जोकि एक सुसुद्ध अन्तेवासी शिष्य के वे वस्तुका निबध करनेमें धैर्य धैर्य रहते थे वे उसको पाकर असीम अज्ञा और प्रदीप्ति के साथ मनन करनेवाके महापुरुषों में से एक थे।

आचार्य और उसकी पक्षिपान

वे मयवान् शुद्धार्थार्थकी सेवामें सदाशक्त उत्तर रहते थे। प्रभुमयी एक निषेध आचार्य तथा समस्तवार वैधसमाजके सचे नेता थे। वे बहुत समाजको हमेशा संपन्न और सचरित्री रहनेका पूज्यता प्रभावोत्पादक उपदेश निबध करते थे। वे कर्म की निवन्धीक और आचारकुल थे। क्योंकि जो कार्य परिष्कृत और शुद्धमन्त्रित होता है वही अतिशयशीली अन्तर्गत-बनोरण मास को पूर सकता है अतः वही आचार्य होनेका सर्वविधारी है। क्या भी है कि—“जो शुभ और नवीन जावनेका है, अन्तर्गतके आनन्दका जो मांसकर मिलते नमस्कील कर दिया है। अन्तेवासीके जो (पृथ्वी की भाँति) अवलुभित है, उसकी अन्तर्गतका बन्ध करेता है, अन्तः-उत्पन्न का उपदेशक है, वही आचार्य होता है”

यह वाच प्रभुके आचार्यका ज्ञान पावन करता है। आपसी सेवा ऐसी ही भी सदाशक्त अन्तर्गत करता है। इस प्रकारसे आचार्य मांसतन्त्र उपदेश आचार्यके द्वारा ही मिलता है। क्योंकि—

“जो पांच प्रकारके आचारोंका स्वयं समाचरण करता है, अध्यात्म-ज्ञानका प्रकाशक है, चरित्रको प्रगटमें पवित्र दृष्टिसे भावके रूपमें भर देता है, वही आचार्य होता है।”

आचार्य के छत्तीस गुण-

पांच इन्द्रियोंको वश करते हैं, नवबाहुविशुद्ध ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभको दूर करते हैं, पांच महाव्रतोंका पालन करते हैं, पांच आचारोंका समाचरण करते हैं, पांच समिति, तीनगुप्ति इन आठ प्रवचनोंको धारण करते हैं, ये छत्तीस-गुण उत्पन्न होनेपर आचार्यकी योग्यता आ सकती है अन्यथा नहीं।

आचार्य को चतुर गोपाल की उपमा-

चतुर ग्वाल सब पशुओंको अपनी विचारदृष्टिमें रखता है। उन्हें किसीके खेतमें नहीं घुसने देता। इसीप्रकार आचार्यभी अपने सघको अशान्ति, कुसम्प, कषाय, रुढिवाद और वैषम्यकी ओर नहीं जाने देता, समाजमें क्लेश होते ही आचार्य तुरन्त मिटा देते हैं। या भव्यात्माओंके जन्म जन्मान्तरोंके क्लेश मिटा देते हैं। उन्हें सन्मार्ग-सम्यग्दर्शनका राह सुझा देते हैं, युक्त, अयुक्त, ससार-मोक्ष, हित-अहित, धर्म-अधर्मका रहस्य भिन्न भिन्न करके समझा देनेका उपकार प्रस्तुत करते हैं।

उन्हें नमस्कार करने का प्रयोजन-

आचार विषयक उपदेश उन्हीं से प्राप्त होता है, इसलिए तीसरे पदमें उनकोभी नमस्कार किया है, क्योंकि उन्होंने चरित्रोपदेशकताद्वारा हम पर खूब प्रभाव डाला है, हम उन्हें उपकारकी दृष्टि से निरहंकार होकर नमस्कार करते हैं और द्वादशांगी-शास्त्र वाणीके पूर्णपाठी तथा औरोंको पढ़ानेका कार्य भी इन्हींके हाथ है।

आचार्य की विशेषता-

“ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप रूप गुप्त भद्रकी उत्तम शैली से ये ही व्याख्या करते हैं।”

“ये मोक्ष साधके उपदेशक हैं ।”

“शिक्षकों को सहाचारमें स्थापन करते हैं ।”

“विद्यार्थोंके पूर्ण-सामी होते हैं ।”

“अष्टमयोग-सिद्धिश्च मार्ग इन्हीं से मिलता है ।”

श्रीमान् सुबन्नी-आचार्य-आचार्यके समस्त गुणों से मण्डित हैं ।

जम्बू बन्तेबासी का सुबन्नीआचार्य से प्रश्न ।

जपाव गुणसमुद्रस्य सुबन्नीआचार्यसे विज्ञातुं क्षिप्य जम्बूने अंतिम-
तीर्णकर समस्त हातपुत्र-सहाधीरसागीके गुणोंका परिचय प्राप्त करनेके
लिए यह पूछा कि वे प्रभु कैसे थे । बन्नी-वर-बन्धसे संसारमें कल्पनेवाले
कर्मोंका जन्म उन्होंने किस प्रकार किया । विद्यार्थोंका अनुसरण उन्होंने
किया था यदि हम भी उसी मार्गका आश्रय करें तो हमारा प्रभुके साथ कैसे
सम्बन्ध हो सकता है ? वरकके दु-खोंको सुनकर विनय भग्न अक्षय्य उदात्त
हो गया है, स्वयं और वैराग्यसे जो समर्पण होना चाहते हैं, वे भगवान्
सुखसे पूछते हैं कि-संसारसे पार करनेवाला क्या विधान प्रतिपादित किया है ?
संसारमें विचरण करते समय बहुतसे भयभीत भी नहीं प्रश्न करेंगे । वे
भयभीत-साधु होते हैं । परिग्रह प्रणवीके करवैद्यक हैं । निष्काम तप करते हैं ।
वे सुखके दुःख सुखको अपनी तरह समझनेके कारण बेचक भी होते हैं ।

ब्राह्मण—

इसके अतिरिक्त सुखसे भी ब्राह्मण भी नहीं पूछेंगे । और वे ब्राह्मण
प्राप्त करने से हिन्द-परमात्मका ज्ञान-मार्ग सुननेसे परमात्मा अपने
परम ज्ञानसे ब्रह्मके नामसे प्रसिद्ध हैं ।

सुख पुरुषों के यत्नाय ब्राह्मण ब्रह्मण—

जिसमें सहजशीलता विरहितता अहिंसकता सदाचार्य सदा शीत पाँच
अनुष्ठान किया नियम सम्पन्नता है उस पुरुषमें ब्रह्मण्य ब्रह्म ब्रह्म है ।

जो शान्त है, इन्द्रियोंको अपने अधीन करता है पवित्र और दृढ
प्रज्ञावादी है । सब प्राणियोंके हित और कल्याणमें सदैव लगा रहता है ।
जो कभी भी क्रोधके आवेगमें नहीं आता । वह ब्रह्मण्य ब्रह्म ब्रह्म है ।

जो निर्लोभी है, अभिमानसे रहित है, सर्वथा पापको त्याग-चुका है, राग, द्वेष और मोहसे मुक्त है, यह तीसरा लक्षण है ।

मार्गमें, जंगलमें, या किसीके घरमें पर वस्तुको देख कर जिसका चोरी करनेको जी नहीं चाहता, चोरी करके परवस्तु नहीं लेता है वह ब्राह्मणका चतुर्थ लक्षण हैं ।

जो मास, मदिरा, मधुका कमी सेवन नहीं करता है; गूलर, अंजीर आदि गले सड़े कीड़ोंवाले फल नहीं खाता है, तथा रातको भोजन नहीं करता है, यह पांचवा लक्षण है ।

किसीने ब्राह्मण के १० प्रकार भी कहे हैं ।

देव, द्विज, मुनि, राजा, वैश्य, शूद्र, विलाव, गधा, म्लेच्छ, चाण्डाल, इन मेंदोंसे ब्राह्मण १० प्रकार के होते हैं ।

देव-

जो एक वक्त भोजन करता है, मास, मदिरा नहीं खाता पीता, तत्त्व ज्ञानके पारको पहुँच गया है, वह देव ब्राह्मण है ।

द्विज-

महाव्रती-नियमयुक्त-सयम पालक इन्द्रियविजेता-समतोलन वृत्ति वाला, आत्मा और मनका विजेता-क्षमा और सहिष्णु ब्राह्मण द्विज कहलाता है ।

मुनि-

जो रुखा, सूखा खाकर सन्तोष कर लेता है, दिन में भोजन करता है, सदैव वनमें रहता है, दिन, रात आत्म-ध्यान में लगा रहता है । योगाभ्यासके साधनमें सलम है, वह मुनि-ब्राह्मण है ।

नृप-

जो हाथी घोड़ोंपर चढ़नेकी इच्छा रखता है, समर भूमि में जाकर युद्ध करता है, अपने देशको दासत्व की शृंखला से मुक्त करके स्वतन्त्रता दिलाता है । जिसे अन्यायका नाश करते दया न आती हो, न्यायसे शासन चलाता हो, साम्यवादकी स्थितिपालकतामें शूर वीर हो, जिसमें कायरता का नाम तक नहीं है । वह ब्राह्मण राजाके समान होता है ।

बैश्य-

जो खेती करता है, व्याप भीतिसे व्यापार करता है, पशु पालन करता है, सबेरे स्नानका पक्ष केता है, जन समाज की सेवा में तत्पर है जो राजके कर्ष एवं प्रकरके चातुर्भोग अनुकूल-कार्य इति से संग्रह करने वाला है वह ब्राह्मण बैश्यके समान है ।

शूद्र-

जो कृष और ठेकका कम भिन्न करता है, स्नान खाता है, मंस मसिब बेचता है वह शूद्र ब्राह्मण है ।

विश्वाम-

विश्वे भस्वामस्वका ज्ञान नहीं है, जो पाने बचानेका काम करता है, परकी पत्नी है वह ब्राह्मण विश्वाम प्रकृति का है ।

म्लेच्छ-

बावरी कुंदा लाकवसे जो जनकता पापीका व्यवहार करता हो परके भस्वसेवगी कुशको न चानता हो वह म्लेच्छ ब्राह्मण है ।

चाण्डाल-

जो अंयधर्में जाग कया कर खेती करता है, जो इरेक अीनको मार हाकता है, बहैका वमी से जनमिह है, वह निम चाण्डाल है ।

खर-

खान्न अन्धवन और खप तप जाति अन्ध्यास्वीय पर कर्म करना नहीं जानता है सुतक के घर जाहार करता है, उसे खर-ब्राह्मण समझना चाहिए ।

अयोम्य ब्राह्मण-

जो अन्वके दोषोंको प्रपट करता है और अपने चान्को छुपा देता है, वह ब्राह्मण अयोम्य है, उद्यका जीवन कुते की पूँठ की तरह व्यर्थ है ।

ब्राह्मण-परम्परा-

अन्व कालमें वह शूद्र रहता है, शुभ इति पाकर दिन होता है, छासा म्याप करमेसे निम है, और वह अन्ध्यास्वीय तथा अज्ञान पाकर ब्राह्मण हो जाता है ।

अब्राह्मण-

जो क्रोध और मान तथा प्राणि-हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, परिग्रह-तृष्णा युक्त है। वह ब्राह्मण जाति और विद्यासे हीन तथा पतित है, वही अब्राह्मण और पाप क्षेत्र कहलाता है।

ब्राह्मणोचित-सर्वश्रेष्ठ यज्ञ-

जो पाच सवर भावोंसे आस्रवद्वारा आनेवाले पापको रोकता है, जिसे जीवित रहनेकी आकांक्षा नहीं होती, जो कायोत्सर्ग द्वारा आत्म-चित्तनमें लगा रहता है, मन, वाणी तथा कायके पापविकारोंसे अलग हटकर जो सर्व्वथा पवित्र हो गया है। जिसने देहका मोह त्याग दिया है, वह महाजय पानेका उत्तम अधिकारी है, यही श्रेष्ठ यज्ञ करता है।

ब्राह्मणोचित तीर्थज्ञान-

धर्मरूपी ब्रह्म है, ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ है, आत्माका प्रसन्न लेश्या रूप पवित्र जल है, इसीमें ज्ञान करनेसे कर्मरहित और निम्मल होकर जन्म मरणसे मुक्त होता है। उसमें सदाके लिए अपुनरावृत्तिरूप पवित्रता आ जाती है। अध्यात्म दोषोंका सर्व्वथा अभाव तब ही होता है ॥ ४६ ॥

यह ज्ञान आत्मज्ञानके मर्मज्ञाने देखा है, ऋषियोंका श्रेष्ठतम और महाज्ञान (महाव्रत) ही है। जिसमें ज्ञान करनेवाले, पवित्र और कर्मरहित, होनेवाले महर्षिगण उत्तम मोक्ष स्थानको प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त लक्षणवाले ब्राह्मणोंकी तरह गृहवासी, क्षत्रियादिक तथा परमताबलम्बी भी यही पूछेंगे कि साधु और गृहस्थके भेदसे जो धर्म दो प्रकार का है वह किसने बताया है? उसका प्रणेता कौन है? जो धर्म दुर्गतिमें पड़नेसे वारण करके आत्माको बचानेवाला है, समदृष्टिसे एकान्त कल्याण और हित करनेवाला है। जिसकी महिमा अतुल और अपार है। उसे किस प्रणेता ने समतापूर्वक कहा है? जिसमें विषमता और पूर्वापर विरोधका नाम तक भी नहीं है ॥ १ ॥

गुजराती अनुवाद—आ ससाररूपी गहन वनमा भ्रमण करता प्राणिओने माटे दश दृष्टान्ते दुर्लभ एवा मनुष्य जन्मनी प्राप्ति थवी अति कठण छे, तदुपरान्त आर्यदेश, [आर्यभोजन, आर्यवृत्ति, आर्यवेश, आर्यसहवास,

આર્તમાપા આર્તગીર્વાન] સત્તમ કુલ ધીર બાધુધ્વ આરોમ્ય સીર, સમસ્ત
શુભિચોને હ્વષ્ટાશુક્ર સામગ્રીનો સંચોન બને અપ્પાશ્મિકગીર્વાન પાત્રધર
સાણુપુરુષોનો સત્સંગ એ તેનાથી વધુ કઠણ છે । પણ શીતરાય પ્રખીત ચર્મમાં
પ્રયત્નશીલ થનનું, એ સૌથી વધુ કઠણ છે । જ્યારણ ધીરોને કમ્પાનકર
સર્વેજ કવિત ચર્મજ છે આ માત્ર બૌદ્ધિક ધીરવશી શારીરિક તેમજ
માનસિક સર્વે રોગો નાશ પામે છે તે ધર્મ હ્રસ્વપુત્ર શીયહાસીર પ્રમુદ રાજ
શીલ-તપ-માત્ર એ ચાર પ્રકારે વ્યવહેર છે.

દાન ધર્મની વિશેષતા—દાનને સૌથી પ્રથમ દૃઢતા મળે કહેવામાં
આવેલ છે કે દાન ચર્મનો પાત્રધર્મા ગ્રંથે પ્રકારોમાં પણ સમ્પ્રદાય વર્ણવે છે
જનતામાં આ એક તથા પરબોક્ષી આપર રાજ રેણી પ્રખ્યત્તે સૌથી પુરાણી છે ।
શીતીર્વકર મનઘનુ સૌથી મહેલ્ય વરણીદાન આપીને પછી શીશા અંપીકર કરે છે ।

શીલમાં દાન ધર્મનો સમાવેશ—શીલ ચર્મમાં પણ દાનચર્મનો
સમાવેશ થાય છે મહાધર્મ પાત્રધર્મી દૈરક વપરે અસંખ્ય બેશુભિત અસંખ્ય
સમ્પૂર્ણિર્વધેશ્વિત તથા થવ ધ્યાત ધર્મજ પથેશ્વિત ધીરોને અમનદાન મળે છે ।
અન્ન કાત્રધરોએ પણ આ મતનું વધુ જ માહાત્મ્ય રજાવેલ છે ।

વદ્યગોપિતસ્યાપિ થા મતિર્મહાચારિણઃ ।

ન સા વ્યસહસ્રેણ પ્રાપ્તુ શક્યા પુષિષ્ટિર ॥

[માર્કેન્ડ ન્દિ]

માધાર્ય—એક શુભિચા પણ મહાધર્મ પાત્રધર્મી જે હ્રસ્વ મતિ તથા મિહ
પ્રત મહાચારીને મળે છે તે હે પુષિષ્ટિર । હવાર થજોથી પણ મહત્ત્વ થયી ।

શીલમતનું પાત્રધર્મ કરીને શીર્વ (આત્મસાધિ) નું રક્ષણ કરવાર ધર્મ જગમ
મરનારિ નુ સોચી મુલ્ય થાય છે । દરકે કે તે પોતાને પણ અમનદાન બપે
છે । આથી શીલમાં પણ દાન ધર્મિત હોવાનું તાત્ત્વ જણાય છે ।

તપમાં પણ દાનધર્મનો અગ્રત્માય—શીલથી માત્ર તપચર્મમાં પણ
દાનચર્મની આપવા પુરાવેલી છે । આ વાત તર્ક કોઈ બાપે છે કે તપચર્મની
મિષ્ટતા [હિંસા થા આરમ્ભ] વગર મોજન તેવાર નહીં થકનું થયી । પરન્તુ

इच्छानिरोधरूप उपवासादि तप करवाथी छकायनो आरम्भ बंध यतां ते दिवसे अनन्त जीवोने अभयदान मले छे, तेथी तप करवाथी पण दानधर्मनु अनायासे पालन थई जाय छे ।

भाव धर्म तो दानधर्म छेज-

प्रवृत्तिने रोकી करुणा राखवी तथा अप्रमत्तयोगથી जीव तथा अजीवनी रक्षा करवी, तेनु नाम भाव छे, त्या पण भावनी दृष्टिए वधाने अभयदान मले छे, तेथी प्राणीरक्षानું नामज भाव अथवा भावशुद्धि छे ।

शु साधु पण दान दे छे ?

हा, जैन मुनि पण हमेशा उपदेशदान, ज्ञानदान, शिक्षादान, रुढि-च्छेदक दान दे छे, अने तेथी मानवसमाजपर महान् उपकार करे छे, कोई वस्तुते लोको एम पण कहे छे, के साधुने नहि पण दानी अथवा राजानेज अन्नदाता कहेवा जोइए, साधु शु कोईने भोजन पाणी आपी शके छे ? पण एटलु तो जरूर समजी लेवु जोइए के शु अनाज मात्र भोजन कहेवाय छे ? बीजी कोई वस्तु नहि, तृप्ति शु मात्र अनाजथीज थाय छे ? खरी रीते आत्मानो खोराक अन्न पण नथी, ए तो पर वस्तु तथा मात्र देहनुंज पोषण करनारी पौद्गलिक वस्तु छे पण आत्मानो पोतानो खोराकतो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, शम, सवेद, निर्वेद, अनुकपा, आस्तिक्य छे । ते वास्तविक खोराकनी प्राप्तिथी आत्मानી हमेशेने माटे तृप्तिज थई जाय छे । तेथी पूज्य मुनिवर ज्ञान, दर्शन चरित्ररूपी आत्मीय खोराक आपता होवाथी तेओने अन्नदाता पण कही शकाय, अने आ दानरूपी सुन्दर कार्यना संचालक मुनिज होय छे, के जे बने प्रकारे निर्द्वन्द्व होय छे ।

शील तप तेमज भाव गुप्तरीते दानमां समायेला छे तेथी चारे धर्ममां दानने प्रथम स्थान आपवामा आवेल छे, परन्तु दान, शील, तप पण भावन सद्भावथी एटले के पवित्र भावरूपी सुदर लहर आववाथी सफल बनी शके छे, बीजी रीते नहि ।

धर्मरत्न-

चतुर्विध अमूल्य धर्मरत्न मेलवीने श्रेष्ठकुल तेमज इन्द्रियादिकनी अनुकूल सामग्री प्राप्त थयेल, मनुष्यनु कर्तव्य छे के अनेकान्तवादनी शैलीने समजीने

शिनेन्द्र कथित ब्रह्मैतत्त्वज्ञो आत्मन कश्चिन्नात्मज्ञोऽस्मीत्युक्त्वा
अवतर प्रवत्य करसो बोद्धे ।

कर्मनाशानो कपायः—

जेवी रीते अमिषी सुवर्णो मेक बाध पामे छे तेवीर रीते छाप
बैराम्न सेवम निवम छपस्सी अमिषी कर्मोको बाध बई बाध छे । सावच्छुं
ए कर्तव्य छे के उपरोक्त सावगोये समजबामे पावे तेने सर्वह प्रभुवी शशीरूप
उपरोक्त सावगोको बोद्धे छने आद्य [सर्वह] कोने कहेबाव से समजहुं बोद्धे ।

आद्य अक्षर दोष रहित छे चार बबसाटी कर्मोको छन करी अवन्त
बहुवचन [अवन्तब्रह्म अवन्त सर्वत्र अवन्त सुख अवन्त सति] मे बरोअ छे
छाहु, सामी आनक अमिषा ए चार तीर्थका स्थापक होवाची तीर्थकर कहेबाव
छे । ब्रह्मैतत्त्व आदि करवाची सेवक अवन्त निमृषिमव होवाची तेमो अर्चक
देव तेवक इन्द्रोवी सेवका बोध्य छे । तेवी अर्हत्—पञ्च कहेबाव छे । सर्वमात्र
अवच्छिन्नी आत्मा होवा आत्मा या मारुतर्कमा २४ तीर्थकर, एउके आद्य
पुस्तो बई बएअ छे । जेवाका अन्तिम तीर्थकर कस्तुपुत्र महावीर प्रभु छे ।

बीरप्रभुनी स्तुति—

कस्तुपुत्र महावीर प्रभुको आज्ञापर अस्मत्त उपकार छे । तेवका उपकार
रोने मूखे जयमय कृतज्ञता छे । तेवी जोके तेमहुं निर्वाच बवा १४६५ वर्ष
बई बवा कथा सेवका गुणोनु स्मरण करहुं तथा तेवकी स्तुति करवी ए
आपसु परम कर्तव्य छे । तेवी आदि हुं तेमकी स्तुतिस्व अस्मा करवा
प्रवक्तृकीक बन्यो छुं ।

तेमकी अनेक स्तुति अने मार्क असामर्थ्य—

तत्त्वज्ञोमा मुख्य विद्याभोए अनेक गुणोनु अनेक उत्तम अवधोमा कनेन करेछुं
छे परन्तु हुं पञ्च पोछाना सम्भववर्तनना बळवी बाँझ स्तुति करूं, एही उच अने
पवित्र अमिषाका प्रयत्न बई । जो के मारामा से विद्यामे जेवी प्रतिभा बची,
कथा मार अछाह अने मक्ति मने बळस्थारे धैर्य करी रहैछ छे, करव के जे
रहो बरह पोछामी प्रबंज धृतिवी लचीमे पसर बई पनेक होव छे । ते रहो तेवी
पाछक एक मात्र पहीने बळवी इच्छा हुं बची बटी । अस्त, वाच्य छे ।

એ રીતે અલ્પજ્ઞ પ્રાય હુ પળ માનવોચિત ઉત્સુકતાથી ભરપૂર વનીને 'વીરસ્તુતિ' નામે શ્રીસૂત્ર કૃતાજ્ઞના પૃથ્વિ અધ્યાયની વ્યાખ્યારૂપે જ્ઞાતૃપુત્ર શ્રીમહાવીર પ્રભુની સ્તુતિ કરુ છુ મને આશા છે કે તેમા મારી પ્રસન્ન ભક્તિરૂપ સફલતા જરૂર થશે ।

મણિમા દોરો પરોવવા કરતા તેને વીંધવુ વધુ કઠણ છે, તેમની સ્તુતિરૂપ કૃતિ તો પ્રથમથી જ છે પણ હું તો તેમની સ્તુતિરૂપ મણિમા મારી વીનઅનુભવી તૂટીફૂટી બાલભાષારૂપી દોરો પરોવવાનો સતત પ્રયત્ન કરીશ, અને તે મારી અત્યલ્પ ભક્તિના કારણે અધિક મુશ્કેલ નથી । પણ તે વધી પ્રભુની કૃપાજ છે । ત્રેમા મારી કશી વિશેષતા નથી । કારણ કે તેઓશ્રીએ ૨૫૦૦ વર્ષ પહેલા અવ્યાત્માઓ માટે આત્મજ્ઞાનનો માર્ગ સરલ કરી દીધેલો છે તેમા વિશેષતા ઉત્પન્ન કરવાની મારી અલ્પજ્ઞની કશી શક્તિ નથી । આ સર્વ પ્રક્રિયા તેમનીજ વતાવેલી છે ।

વીરપ્રભુના ગુણગાન કરતીવચ્ચે પ્રારંભમાં ગુરુશિષ્ય સંવાદ-

જિજ્ઞાસુ જહુસ્વામી મુમુક્ષુ તેમજ મુખ્ય અન્તેવાસી શિષ્ય હતા, તેઓ વસ્તુનો નિર્ણય કરવામા સદા તત્પર રહેતા હતા । તેઓ તત્ત્વને પ્રાપ્ત કરીને અસીમ શ્રદ્ધા તેમજ પ્રતીતિ સાથે મનન કરવાવાળા મહાપુરુષોમાના એક હતા, તેઓ ભગવાન્ સુધર્માઽઽચાર્યની સેવામા સદા તત્પર રહેતા હતા ।

આચાર્યની ઓલસ-

તે વચ્ચે સુધર્મા એક વિશેષ આચાર્ય તેમજ સમજદાર જૈનસમાજના સાચા નેતા હતા તેઓ ચતુરસમાજને સંગઠિત તથા સચ્ચરિત્રવાન્ બનાવવાનો પૂર્ણ પ્રમાવશાળી ઉપદેશ આપ્યા કરતા હતા । તેઓ પોતે પણ વિનયશીલ અને આચારયુક્ત હતા, કારણ કે જે પોતે વિશુદ્ધ તેમજ ગુણી હોય છે તેજ યીજાઓ માટે ચારિત્રાકાદીની અધ્યાત્મ મનોરથમાલા ગુથી શકે છે, તેથી આચાર્યપણામાટે પૂર્ણ અધિકારી છે । કહ્યુ પણ છે કે “જે સૂત્ર તેમજ અર્થના જાણકાર છે, આત્માના જ્ઞાનલક્ષણને નિર્મલ બનાવીને જેમણે પ્રકાશિત કરેલ છે, ચારે પ્રકારના સઘને જેઓ પૃથ્વીની પેઠે આધારભૂત છે । સઘની અગાન્તિનો નાશ કરે છે, આત્મતત્ત્વનુ ઉપદેશ છે, તે આચાર્ય હોઈ શકે” ।

તેઓ પાંચ પ્રકારના આચારોનુ પોતે પાલન કરે છે, તેમની દેખાદેખીથી સંઘ પણ સદાચારનુ અનુકરણ કરે છે, આ રીતે આચારનો યથાતથ્ય ઉપદેશ આચાર્ય દ્વારાજ મળી શકે છે । કારણકે તેઓ અધ્યાત્મજ્ઞાનના પ્રકાશક છે ।

આચાર્યના છત્રીસ ગુણ-

પાંચ દક્ષિણેને વસ કરે છે. વન શાક વિહુર આચાર્યનું પાત્ર કરે છે ।
કોપ-માન-માયા-ભ્રેમ શૂર કરે છે । પાંચ મહાપ્રત્યેનું પાત્ર કરે છે । પાંચ આચાર્ય-
રોનું સમાવરણ કરે છે । પાંચ સમિતિ-ત્રયગુણિ એ આઠ દર્શા માતાના પ્રવચનને
વારણ કરે છે । એ છત્રીસ ગુણવાળા આચાર્ય વહી સંધ્ય નીચા મળે ।

આચાર્યને જાતુર ગોપાલની ઉપમા-

જાતુર ગોપાલ જણાવજીઓ પર પોતાની દૃષ્ટિ રાખે છે તેમને કોઈના ચેતરમાં
જાણ્ય જણાવે તેથી તેથીજ રીતે આચાર્યદેવ પણ પોતાના સંજ્ઞાને જણાવિ-
જીવમ્મ-કપાલ-સ્મિતાલ-વિષમત્ત-તરલ જણાવેલા જણી દેવ જાણે તેમજ આચાર્ય
સરત તેને જણાવી દે છે । મધ્યાહ્નમોગા જન્મ જન્માન્તરોના દેવને મદ્યવી દે છે
તેમને સન્માર્ગ-સન્મર્ચનગો સરલ રહ્યો જણાવે છે । ચોમ્મ-અમાન્મ સંચાર
મોહ દ્વિત-અદ્વિત જ્યે-અયમે-વિગેરેની સમજણ આપે છે । એક આચાર્યપ્રમુ
જાણ્ય ચોમ્મ છે ।

આચાર્યને નમસ્કાર કરવાનું પ્રયોજન-

આચાર્ય સન્મન્વી ઉપદેશ લેઓની પાછેથી મળે છે તેથી તેમને જીજ્ઞા પદમાં
નમન કરેલે છે । કારણકે જનિત્રોપદેશનો આપણ પર તેઓ પ્રમાણ પાડે છે । આપણે
તેમને જનકારની દૃષ્ટિથી નિરમિમાષી જણીને નમસ્કાર કરીએ છીએ । શ્રાવણાપી-
[જાણ-] જાણીના તેઓ પૂર્ણપાત્રી છે । તેમજ જીજ્ઞાસાને મધ્યસ્થાનું કાર્ય પણ
તેમને જાણ છે ।

આચાર્યની વિશેષતા-

જાણ-વર્ણન-જનિત્ર-તપ-સ્વ-ગુણ ગંગાની ઉત્તમ કૈલી થી તેઓ પ્રવાહના કરે છે
તેઓ મોહ જાણવા ઉપદેશક છે । જિજ્ઞોષે સદાચારમાં સ્થિર કરે છે । વિદ્યાના
પૂર્ણ જ્ઞાની છે । જાણ-યોગ-ધિજિનો માર્ગ તેમની પાછેથી પ્રાપ્ત થાય છે । શીમ્મ-
મુષર્ચાચાર્ય આચાર્યના જણાવજીઓની નિરુદ્ધમત્ત હતા ।

મન્તેષાસ્તી ઝંજૂનો મુખ્યમાચાર્યને પ્રશ્ન-

જાણ્ય ગુણ સમુદ્ધરુપ મુષર્ચાચાર્યને વિદ્યાપ્રાપ્ત બંધુ એ અન્તિમ તૈર્વજ્ઞ મુષર્ચ-
કમ્પુત્ર મહાશીર જાણીના કુષ્ઠેનો પરિચય પ્રાપ્ત કરવાને માટે પ્રશ્ન કર્યો છે
'તેઓ કેમ હતા !' એ જ્યેવર જનકમર્તીય પોતાના જ્યેવજીઓ સંચારમાં રહ્યા-

વનારા કર્મોનો અન્ત તેઓએ કહી રીતે કર્યો ? જે માર્ગનું અનુસરણ તેઓએ કર્યું, તે માર્ગનો આશ્રય જો અમે લઈએ તો પ્રભુ સાથે અમારું સામ્ય કેવી રીતે થઈ શકે ? નરકના દુઃખો સામઠીને જેમનું મન અત્યન્ત ઉદાસ થઈ ગયું છે, ત્યાગ અને વૈરાગ્યથી જેઓ અલકૃત બનવા ઇચ્છે છે, તે શ્રમણાદિ મને પૂછે છે કે “સંસાર રૂપ સમુદ્રથી પાર ઉતારનાર ધર્મનું પ્રતિપાદન કોણે કરેલું છે ?” સસારમા વિચરતા ઘણા શ્રમણો આ પ્રશ્ન પૂછશે, તે શ્રમણ-સાધુ છે, પરિગ્રહ ગ્રન્થીને કાપનારા છે, નિષ્કામ તપ કરે છે, તેઓ પોતાની માફક વીજાઓના સુખ દુઃખ સમજે છે, તેથી તે સ્વેદન પળ હોય છે ।

બ્રાહ્મણ-

તદુપરાત મને કોઈ બ્રાહ્મણો પળ પૂછશે, બ્રહ્મચર્યનું પાલન કરતા હોવાથી, સિદ્ધ-પરમાત્માના જ્ઞાન-માર્ગનું શ્રવણ કરતા હોવાથી, અન્ય-આત્માઓને પોતાના સમાન જાણતા હોવાથી, તે બ્રાહ્મણ નામથી પ્રસિદ્ધ છે ।

વૃદ્ધ પુરુષોષ વતાવેલા બ્રાહ્મણના લક્ષણો-

જેનામા સહનશીલતા, નિરાસક્તિ, અર્હિસક્તા, ઉદારતા, સત્ય, શૌચ, પાત્ર અણુવ્રત, સાત શિક્ષાવ્રત, વિદ્યા વિનયસમ્પન્નતા હોય છે, તેમા બ્રાહ્મણનું પહેલું લક્ષણ છે । જે શાન્ત હોય છે, ઇન્દ્રિયોનું દમન કરે છે, પવિત્ર અને દૃઢ બ્રહ્મ-ચારી છે, વધા પ્રાણિઓના કલ્યાણ-કાર્યોમા જે હમેશા તત્પર રહે છે, જે ક્રોધ કરતા નથી, તે બ્રાહ્મણનું બીજું લક્ષણ છે । જે નિર્લોભી છે, નિરભિમાની છે, સર્વથા પાપના ત્યાગી છે, રાગ-દ્વેષ અને મોહજાઠથી મુક્ત છે, તે ત્રીજું લક્ષણ છે । માર્ગમા, જગલમા, અથવા કોઈના ઘરમા પર વસ્તુને જોઈને ચોરી કરવાની ઇચ્છા સરખી જેમને નથી થતી, તેમજ ચોરી કરીને પર વસ્તુનું ગ્રહણ જેઓ કરતા નથી, તે બ્રાહ્મણનું ચોથું લક્ષણ છે । જે માસ, મદિરા, મધુનું ક્યારે પળ સેવન કરતા નથી, ગુલર-અજીર વિગેરે અમદ્યફલ તથા ગલેલા-સલેલા ફલ ખાતા નથી, તથા રાત્રિમોજનના ત્યાગી હોય છે, તે પાંચમું લક્ષણ છે ।

કોઈએ ૧૦ પ્રકારના બ્રાહ્મણ કહેલા છે-

દેવ, દ્વિજ, મુનિ, રાજા, વૈદ્ય, શૂદ્ર, બિલાવ, ગધા, મ્લેચ્છ, ચાળ્ડાલ એ સેદોથી બ્રાહ્મણ દશ પ્રકારના હોઈ શકે છે

દેવ બ્રાહ્મણ—જે એક વખત મોજન કરે છે, માસ, મદિરાનું સેવન કરતા નથી, તત્વજ્ઞાનના પારને પહોંચી ગયા છે, તે દેવ બ્રાહ્મણ છે ।

શિવ બ્રાહ્મણ—મહાગતી નિયમયુક્ત સંવત્સરક કૃત્તિવિગ્રેહ સ્મ-
તોક્તકૃતિયામ આત્મા અને યવત્ત મિત્રેત્ત શમાત્મ અને સદ્વિષ્ણુ છે તે શિવ
બ્રાહ્મણ છે ।

મુનિબ્રાહ્મણ—જે કુલો મુખે આહાર લઈને પથ સન્તોષ મારે છે માત્ર
શિવેત્ત મોક્ષ કરે છે હમેશાં વર્મા વરી છે શિવરૂપ જાપ્યમ્વાનમાં મમ રહે છે,
યોગામ્વાત્તની સાક્ષ્ય કરે છે તે મુનિબ્રાહ્મણ છે ।

સુપ્રબ્રાહ્મણ—

જે હાથી ચોદ પર કારી કરવાથી રૂપ્ય રાહે છે રથ મુમિર્મ જરી કુદ
કરે છે સ્ત્રેત્તને પ્રમ્મયોની વેગીરથી મુક્ત કરી તેને કર્ત્તવ્ય વ્યવે છે અમ્માત્તનો
જાણ કરવાને છે પ્રવચ્ચીત્ત છે મ્યાત્તથી સાત્તન વચ્ચે છે સમ્મચ્ચત્તની સ્વિ-
પચ્ચત્તમાં શુભીર છે અમ્માત્તનો જંમમાત્ત જૈનાત્ત નથી તે સુપ્રબ્રાહ્મણ હોવ છે ।

વૈશ્ય બ્રાહ્મણ—જે શેત્તી કરે છે મ્યાત્તનીતિથી વેપાર કરે છે પદ્ધત્ત
પાત્તન કરે છે હમેશાં મ્યાત્તનો પદ્ધત્ત રહે છે જનસમાત્તની સેવામાં ઇત્તર રહે છે
જે જાન વૈશ્ય અને સર્વ પ્રવચ્ચની માત્તુઓનો આર્થકૃતિથી સંપદ કરવાત્ત વાવે છે
તે વૈશ્ય બ્રાહ્મણ છે ।

શૂદ્ર બ્રાહ્મણ—જે કાલ તેમજ તેઓ વેપાર કરે છે મ્યાત્ત રાજ છે
માંવ મલિત વેચે છે તે શૂદ્ર બ્રાહ્મણ છે ।

વિભ્રમ બ્રાહ્મણ—જેને મત્તમાત્તનું જાણ નથી જે વાત વચાત્તવાત્ત
કર્ત્ત કરે છે પરજીતાની છે તે બ્રાહ્મણ વિભ્રમ પ્રકૃતિનો છે ।

મ્લેચ્છ બ્રાહ્મણ—જાણ-કુદ-તદ્ધત્તમાંથી જે અમ્માત્ત પાત્તીનો સપનોત્ત
કરે છે પરજી કુપોત્તે જે નિવાર કરતો નથી તે મ્લેચ્છ બ્રાહ્મણ છે ।

વાચક બ્રાહ્મણ—જે જંગલમાં વ્યાપ અમ્માત્તને શેત્તી કરે છે જે
શરેક શીકને મારી પાત્તે છે અહિંતા વર્માથી અહિંત છે તે વાચક બ્રાહ્મણ છે ।

શર બ્રાહ્મણ—જાણ પુ અમ્માત્ત કરતાં છતાં અમ્માત્ત-વદ્ધત્ત કરવાત્ત
જે જાણતા નથી પ્રિત્તમોક્ષ કરે છે તે શર બ્રાહ્મણ છે ।

અયોગ્ય બ્રાહ્મણ—જે અમ્માત્ત હોત્તે પ્રવચ્ચ કરે છે અને પેત્તનાં પાત્તોને
કુપાયે છે તે બ્રાહ્મણ જરી માટે અયોગ્ય છે તેપુ જીવન કુદરાથી પૂઞ્ચી માત્તક
મ્યર્થ છે ।

બ્રાહ્મણ પરમ્પરા-

જન્મકાલમા તે શૂદ્ર હોય છે, ગુણ શુદ્ધિ પામીને દ્વિજ વને છે, શાસ્ત્રાભ્યાસ કરવાથી વિપ્ર થાય છે, અને અધ્યાત્મયોગ તેમજ બ્રહ્મજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરીને તે બ્રાહ્મણ થાય છે ।

અબ્રાહ્મણ—જે ક્રોધ-માન-પ્રાણી હિંસા-કરે છે, અસત્ય વોળે છે, ચોરી કરે છે, પરિગ્રહ રાખે છે, તૃષ્ણા યુક્ત છે, તે બ્રાહ્મણ જાતિ અને વિદ્યાથી હીન તથા પતિત છે । અને તે પાપક્ષેત્ર કહેવાય છે ।

બ્રાહ્મણોચિત શ્રેષ્ઠ યજ્ઞ—પાંચ ઇન્દ્રિયોનુ નિયમન કરનારા, જીવિતવ્યની પળ પરવા નહિ કરનારા, કાર્યોત્સર્ગ દ્વારા આત્મચિન્તન કરનારા, મન, વાણી, તથા કાયના પાપ વિકારોથી દૂર રહેનારા, અને કાયની આસક્તિથી રહિત, એવા મહાપુરુષો વહારની શુદ્ધિની દરકાર ન કરતા ઉત્તમ અને મહાવિજયી ભાવ્યજ્ઞને જ આદરે છે ।

બ્રાહ્મણોચિત તીર્થસ્નાન—ધર્મરૂપી કુડ છે, બ્રહ્મચર્યરૂપી પુણ્યતીર્થ છે, આત્માની પ્રસન્નલેશ્યારૂપ પવિત્ર જલ છે, તેમા સ્નાન કરવાથી કર્મરહિત અને જન્મમરણથી મુક્ત થાય છે, હમેશને માટે અપુનરાવૃત્તિરૂપ પવિત્રતા આવી જાય છે, દોષોનો સર્વથા અભાવ ત્યારેજ થાય છે ।

એવુ જ્ઞાન આત્મ કુશલ પુરુષોએ કર્યું છે, અને ઋષિઓએ તેજ મહાજ્ઞાનને વચ્ચાણ્યુ છે, જેમા જ્ઞાનકરેલા પવિત્ર મહર્ષિઓ નિર્મલ થઈને [કર્મરહિત થઈને] ઉત્તમસ્થાન (મુક્તિ) ને પામ્યા છે ।

ઉપરોક્ત લક્ષણવાળા બ્રાહ્મણોની પેટે ગૃહસ્થો, ક્ષત્રિયો, અને પરધર્મિઓ પણ મને પૂછે છે કે એકાત હિતકારી અને અનન્ય ધર્મ યથાસ્થિત કોણે કહ્યો છે ? તે ધર્મ દુર્ગતિમા પડતા જીવોને થરી રાખે છે, વધાનુ એકાન્ત કલ્યાણ કરે છે, તે અપાર મહિમામય છે ॥ ૧ ॥

મૂલ

કહં ચ ણાણં કહં દંસણં સે,
સીલં કહં ણાયસુયસ્સ આસી ?
જાણાસિ ણં ભિક્ખુ ! જહાત્તહેણં,
અહાસુયં વૂહિ જહા ણિસંતં ॥ ૨ ॥

संस्कृतच्छाया

कथञ्च ज्ञान कथं वर्णनं तस्य शीलं कथं वातस्तुतस्याऽऽसीत् ?
आसीदे मित्रो ! याथातथ्येन यथाश्रुतं ब्रूहि यथाविधान्तम् ॥२॥

सं० टीका—तथैव सत्यं भगवतो श्रावस्तुतस्य महावीरत्वान्वितम-
तीर्थं सत्यं सम्यक्ज्ञानादिगुणावाप्तये प्रकाशनाह—कथं केन प्रकारेण
॥ वीरो “वि=विशिष्टां, ई=इहमी, राति=इवासीति स” । अथवा
विशेषेण ईते=सकृन् पदार्थान् ज्ञानातीति वीरः, यद्वा वि=विशिष्टा
इरा=कामादिव्यञ्जनिरूपा, इरा=शृङ्गी-ईपत्याम्भारा सकृपाऽस्ति
मत्तासौ वीरः, अथवा वीरयति, वीर इवाचरतीति वा वीरः । वीरः
संपूर्णतानासाध कामराज-ममराज-मोहराजान् निराकरोतीति वीरः
यद्वा वि=विशिष्टा इरा गगनगमनं अपुनरावृत्तिरूपं मत्तासौ वीरः ।”

सत्यं भगवतो, ज्ञानं “विद्याद्विषयाधिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो
ज्ञानमेव तत्” “तस्मिन्वात्मकं समारोपविरुद्धत्वाद्बुद्ध्यनुमानवत्”

अथवा—

“त्रिकालगोचरानन्त-गुणपर्यायसंयुता,
यत्र भावा स्फुरन्त्युपैक्ष्यज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ।
श्रीश्यादिकृत्तितैर्मायेनिर्मरं कस्मिन् भगवत्,
स्मिन्निष्ठ युगपद्यत्र, तज्ज्ञानं योगिस्तेष्वनम् ॥”

पुनश्च—

“भनेकपद्मार्थगुणैरुपेतं, निरूप्यते येन समस्ततत्त्वम् ।
तदिन्द्रियानिन्द्रियमेवमित्तं, ज्ञानं जिनेन्द्रियदित्तं हित्तम् ॥
रत्नत्रयी रक्षति येन जीवो, विरज्यतेऽत्यन्तद्वरीरसौस्मात्
स्मादि पापं कुरुते विगुह्य, ज्ञानं तदिह सकलापवन्ति ॥

क्रोध धुनीते, विदधाति शान्तिं, तनोति मैत्र्यं, विहिनस्ति मोहम् ।
पुनाति चित्तं, मदनं लुनीते, येनेह बोधं तमुशन्ति सन्तः ॥”

तथाच—

“आत्मानमात्मसंभूतं, रागादिमलवर्जितम् ।

यो जानाति भवेत्तस्य, ज्ञानं निश्चयहेतुजम् ॥”

अथवा ज्ञायते सदसदनेनेति ज्ञानम् । “मोक्षे धीर्ज्ञानमित्यमरः” ।
अवासवान्, किंभूतं भगवतो ज्ञानम् । विशेषावबोधकम्, लोका-
लोकावबोधक-सर्वभावग्राहकं लोकालोकविषयं, नात परं ज्ञानमस्ति ।
न च केवलज्ञानविषयात्परं किञ्चिदन्यज्ज्ञेयमस्ति । तत्केवलज्ञानं,
केवलं परिपूर्णं समग्रमसाधारणं निरपेक्षं विशुद्धं सर्वभावज्ञापकं लोका-
लोकविषयमनन्तपर्य्यायमित्यर्थः । शुद्धात्मोत्थसहजपरमानन्दरूपमती-
न्द्रियसुखं च केवलज्ञानादेवावाप्नोति । अनेन केवलज्ञानचेतनामयत्वेन
केवलं ज्ञातृत्वादन्येषां कर्मबन्धं वाथवा कर्मफलं च शुभाशुभं केवलं
ज्ञानेनैव ज्ञायते, सूक्ष्मवादरं चराचरं वा पूर्णसर्वज्ञत्वमिति भावः ।
किंभूतं तस्य दर्शनं, सामान्यार्थपरिच्छेदकं दर्शनावरणरहितं चेति ।
“निर्वर्णनं तु निर्घ्यानं, दर्शनालोकनेक्षणमित्यमरः ।” अथवा दृशेर-
व्यभिचारिणीं सर्वेन्द्रियानिन्द्रियार्थप्राप्तिस्तत्सम्यग्दर्शनमिति । प्रशस्तं
दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । सगतं वा दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । वाथवा जीवादीनि
तत्त्वानि त एवार्थास्तेषां श्रद्धान् तेषु प्रत्यवधारणं, तदेवं प्रशमसंवेद-
निर्वेदानुक्म्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यग्दर्शनम् । यस्य मोहनीय-
सप्तकक्षयेन दर्शनं विशुद्धं तदेव सावरणं केवलं दर्शनं भवसम्भूत-
क्लेशप्राग्भारभेषजमनेन चरणज्ञानयोर्वीजं महाव्रतविशुद्धभावजीवितं
भवति । एतत्सद्दर्शनरत्नं मुक्तिदं विश्वलोकैकभूपामणिसदृशं । एवमेव

सञ्जीव चरित्र यमनियमरूपं “शुची तु चरिते क्षीरमित्यमर” ।
 अतस्तत् स्वात्मभावेऽपि, यथाह मेदनी कोवे,—“क्षीर स्वभावे
 सङ्गते योगान्तरे सिते” इति । “क्षीर स्वभावे सङ्गते” इत्यमरोऽपि ।
 वत्कीदृक् । ज्ञाता क्षत्रियस्तेषां पुत्रो ज्ञातपुत्र । “राजन्मः क्षत्रियो
 ज्ञात इति कोव” । “आमपुत्रे तिसोमे” “गच्छति जामपुत्रे असप्ताए”
 “इत्याषात्तसूत्रे मयमाध्याये” । ज्ञातपुत्रो भगवान् महावीरममुरिति ।
 तत्सासीदिति । मवेत्तन्मया पृष्टं तच्च हे मित्रो ! “मित्रं परिगृह्य
 कर्मन्वीत्यमर” । शुचर्मस्वामिन् ! याचातथ्येन सम्यक्प्रकारेण ज्ञान-
 स्ववगच्छसि । उक्तञ्च त्वया यथा सुत कर्मगोचरी [यथा मर्मा
 तथा] कृत, यथा निश्चान्त नितरामस्तिष्ठयेन शान्तं ब्रूयाच्चयेति भाव
 “निश्चान्तमित्यवधारितं यथा दृष्टं तथेति केचित् ।”

अन्वयाद्यै—(से) उस (जामपुत्रस्य) ज्ञातपुत्र—महावीर भगवान्
 (याम्) क्षत्र (यम्) कैसा वा (रसम्) रसम् (यम्) कैसा वा वीर (सीव
 चरित्र (यम्) कैसा वा [मित्रम् !] हे शुचर्मस्वामिन् ! आप [महाप्रेम
 अथवा प्रभार [जामपुत्र] जानते हो जय एव [महाद्वय] जाम्ने कैसा सुना है
 एवं [महाविस्तृत] कैसा निर्धारण किया है उसी प्रकार [वृद्धि] फर्माकर ।

भाषार्थ—आप जम् नामक विज्ञातु-विषयने निवेदन किया कि-
 शुचर्मस्वामिन् ! शुचर्म्य ! आप सब कुछ अच्छीतरह जानते हैं जय एव कृत
 करिए वीर यह फर्माकर कि-मयवान् ज्ञातपुत्र महावीरका ज्ञान कैसा था ।
 समझे उस सम्मन्वयको जिस प्रकार प्राप्त किया है और जवना बचप सामान्य
 प्रतिभास तथा सम-विक्रम वीर संस्मारी क्षीर-चरित्र जिसभांति के थे । ॥ १ ॥

भाषाटीका—मोक्ष रूपीके प्रज्ञाता सर्वव्यापक ज्ञाता जिसमें कभी
 विकल्प और अमोघ है, जो अष्टम पृष्ठी [मोक्ष] को प्राप्त कर शुद्ध वीर
 रस पूर्ण है, वीरता पूर्ण जिसने कामराज मयुराज वीर मोहणको
 पीत किया है जिसका अविरल ज्ञानमें विशेष यमन अर्थपूर्ण प्रवेश है वह वीर

फहलाता है । भगवान् महावीर चरमतीर्थङ्कर नाम और गुण से महावीर ही थे ।
उनमें ये सब उपमाएँ पाई जाती थीं ।

ज्ञान—उनका ज्ञान कैसा था ? क्योंकि प्रमाण ही हितकी प्राप्ति और
अहितका परिहार करनेमें समर्थ है, अतः ज्ञानही सबसे दृढ और पुष्ट
प्रमाणयुक्त होता है ।

इसके अतिरिक्त ज्ञान ही वस्तुतत्त्व का निर्णय करता है, इसीसे परमोप-
कारी ज्ञानही है, यथा—

जिसमें तीन कालके गोचर अनन्त गुण पर्याय से संयुक्त पदार्थ अतिशयके
साथ प्रतिभासित होते हैं । उसको ज्ञानी जनों ने ज्ञान कहा है । यह सामान्यरूप
से पूर्ण-ज्ञानका स्वरूप है । आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेशी है, उसके मध्यमें असं-
ख्यात प्रदेशी लोकाकाश है, उसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये अनन्त
द्रव्य हैं, उनके तीन काल सम्बन्धी भिन्न भिन्न अनन्त-अनन्त पर्याय हैं । उन
सबको युगपत् (एक समयमें) जाननेवाला पूर्णज्ञान आत्माका निश्चयस्वभाव है ।
यद्यपि कर्मके निमित्तसे उसके पांच भेद हो गए हैं तथापि वह स्वभावस्थित है ।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वभाववाले पदार्थों से यह जगत् अतिशय भरा पड़ा
है, जिसके ज्ञान में यह एक दम प्रतिबिम्बित हो वह ज्ञान परमयोगीश्वरों के
लिए तो नेत्र के समान है । क्योंकि अन्य मतों में योगीप्रत्यक्ष ज्ञान को माना है,
वह यथार्थ न हो कर उक्त ज्ञानही सत्यार्थ है ।

इसके अतिरिक्त यहभी कहा है कि—जिसके द्वारा समस्त तत्वों को विचार
सरणी से आत्मा स्फुट रूपमें देखता है, जिस तत्वमें अनन्त पर्याय गुण की
सत्ता है, इसे सम्यक्तया जाननेके लिए ज्ञान ही हितकर और पहला साधन
है । इसी ज्ञानसे आत्माको जड़ ससार से अलग कर डालता है ।

आत्मकल्याण करनेवालोंकेलिए ज्ञानका सर्व प्रथम आराधन इसलिए
अभीष्ट है कि इसके द्वारा जीव पौद्गलिक तथा शारीरिक सुखसे विरक्त हो जाता
है । अपने आत्मीय गुण रत्नकी रक्षा इसीकी छत्र छायामें होती है । फिर
उससे प्रवृत्ति-पाप द्वारको रोक कर आत्म शोधनमें लगजाता है ।

ज्ञानकी पूर्ण मात्राके प्रभावसे क्रोधको शान्त करता है, इससे आत्मामें
अपूर्व सम भावकी स्थापना होती है । शान्तिके कारण सब प्राणिओंमें अमेद

इससे मैत्री मान पैदा करनेका सामान हो जाता है। इसके अनन्तर मोह, अवि-
वेक विल मिथ्याके पूर्वें टोड़ गलता है। मोहका सर्वथा न्यस्त होनेपर विल
निर्मल और पवित्र हो कर स्थिर होता है, पवित्र विलका कामकाज
साध करता है। जिसके ज्ञान-आत्माका स्वयं होगया हो उसमें इतनी विद्याओं-
का भी मगनात्मक उदय हो जाता है, इससे ज्ञानी अद्वय मुक्तके फलको पानेका
पूर्व साधक बन जाता है।”

“जो आत्माको राग द्वेषसे विद्यामकर नियम हेतु बन जाता है बुद्धि-
मालोमें उसे भी ज्ञान कहा है।

“जिससे सत् अर्थात् उत्साह, स्वयं शीघ्रका और असदका विवेक हो
उठता है, उसे भी ज्ञान ही कहा है।

ज्ञान विशेष वस्तुका बोध कराता है, लोक और अलोकके परदे टुल जाते
हैं। इसेही पर रखके हुए आत्मसेही भांति संसारका सब स्वरूप और फलदात्मक
भाव जानने लगता है। वह संपूर्ण ज्ञान केवलज्ञान या ब्रह्मज्ञान है। इससे
बढ़कर ज्ञानकी और कोई भूमिका नहीं है। केवल नाम भी पूर्णताका है, वह
ज्ञान अमाचारक है विरपेक्ष और परमसुख है सब पक्षाओं और भावोंका
स्वरूप है। इससे लोक और परलोक अलगम्प हैं। ज्ञानसे सहज और उत्कृष्ट
अनन्त आनन्द मिलता है। वही ज्ञान प्राणिमूर्ति कर्मकण्ठका समय तथा उसके
छुनाछुम फलका बोध कराता है। तथा सुख-बन्धन, बर-अबराही पूरी
राज्य रखने वाला सर्वज्ञ ब्रह्मता है।

वचन-

जिमने किसी प्रकारका व्यभिचार नहीं पाया जाता संघन विपर्यय
विप्राय-या अनप्यवनाय आदि बातों से रहित हो मित्र और मरके विपय
भूत समान पक्षोंकी दृष्टि-व्यवस्था प्रतिभो अथवा संवत् बुद्धिसे ठिक ब्रह्मको
सम्बन्धका करते हैं। तथा जीव आदि नष्ट पक्षाओंके भावों पर ध्यान पूर्वक
व्यपानुसंग जाय जाना जिमने हि-समस्त मान औरपर वस्तुओंसे विरक्ति
रिमानेवाला विराज्य कभी बन्धने मुक्त होने की निरन्तर अनिच्छाता अनु-
मिश्रके अहित वचनो ब्रह्मकर अमरद रूप अनुरम्प और अन्याय कर्मोंका उदय
होने पर ही मुक्त हुए होय है इन ऐतिहासिक आदिवासी तथाभीय समुदाय

होता है। त्याग, वैराग्य तथा विवेक शुद्ध होनेसे वही मुक्तिका अंग है। ससारके क्लेशरूपी रोगोंके भारको मिटानेमें औषध रूप सम्यग्दर्शन ही है। जोकि ज्ञान और चरित्रका बीज रूप है। इसीसे महाव्रतोंको पालन करते २ परम आत्मामें स्थिर रहनेकी भावना जागृत होती है। ज्ञानात्माओंका विश्वमें सर्वोपरि भूषण रूप है। इस श्रेष्ठ सम्यग्दर्शनसे नि सङ्ग मोक्ष पाता है जिसके निशकसे लगाकर प्रभावना तक आठ अंग है।

चरित्र-

उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्यायमें वीरप्रभुने स्वयं प्रतिपादन किया है कि मिथ्यात्व, अव्रत, कपाय, प्रमाद और मन वचन कायके अशुद्ध विचारोंसे जो पाप कर्म बाधे गए हैं, जिनका कि शुभाशुभ फल परिवर्तन करना अपने अधिकारमें अब न रह गया है उन कर्मोंको जिस पुरुषार्थ-बलसे नष्टकरके आत्माको कपायात्मा, योगात्मासे रिक्त करदेना चरित्र कहलाता है, चरित्रसे भविष्यके लिए प्रवृत्ति मार्गका अवरोध करके तपसे उसे अभिमे सुवर्णकी भाँति मल शोधन करता है। जिससे जन्मान्तरके कर्मोंका क्षय होनेसे सर्व दुःखोंसे रहित हो जाता है।

और यह चरित्र अणुव्रत और महाव्रतके भेदसे दो प्रकारका है। जिससे अपने भावोंको कषाय रहित करनेपर मूलगुण और उत्तरगुणरूप चरित्र एक देश या सर्वथा सयम गुण प्राप्त करता है।

अतः भगवान् ज्ञातनन्दन महावीरका चरित्र कैसा था ?

ज्ञातपुत्र-

वे ज्ञात-वृक्षके क्षत्रियोंके कुलमें उत्पन्न होनेसे ज्ञातपुत्र कहलाते थे। मुनि बनकर ज्ञातपुत्र कभी किसी वस्तु की वियोग दशामें शोक प्रगट न करते। ज्ञातपुत्र किसीके शरण नहीं जाते, तथा सदैव स्वावलम्बी रहते थे। उनकी भावना राग और द्वेषसे रहित-मध्यस्थ थी। वे अनुकूल, प्रतिकूल प्रसङ्गों पर लक्ष्य न देकर सयम मार्गमें स्थिर बुद्धिसे अपनी धर्मप्रतिज्ञाओंमें सदा प्रवृत्त एवं दृढ रहते थे।

अतः गुरु^१ मैंने उनके ज्ञान, दर्शन और चरित्रके विषयमें जो कुछ पूछा है। उसका आपने यथानुरूप अनुभव कर लिया है, अतः जो कुछ सुना देखा है, वह शान्त चित्त होकर मुझसे कहिएगा^२।

ગુજરાતી મનુષાદ—વીરમગવાનનાં રક્ષણ સમ્બંધી પ્રશ્નો—

મોહનમ્મીયા શતા સર્વે પદાર્થોના જ્ઞાતા જેમની વાણી બમ્બોબ અને નિષ્ક્રમ છે તે અત્યંત દુષ્ટી મોહને પ્રાપ્ત કરીજુના છે વીર રસ મરપૂર છે વીરતાથી જેમને અમરાજ પુષ્પરાજ અને મોહરાજને ખીલી ભીખેલ છે તે વીર કહેવાય છે મહાવીર પ્રમુ મહાવીરજ હતા તેમજમાં આ વધી ગયો હતી ।

જ્ઞાન—

તેમજ જ્ઞાન વૈરું જ્ઞાન ! વારણે પ્રમાણ જિતી પ્રતિ અને અજિતો જ્ઞાન કરવામાં સમર્થ છે તેથી જ્ઞાન પ્રમાણ હોઈ શકે છે ।

વડી જ્ઞાન વસ્તુ તપનો નિર્ભય કરાવે છે તેથી જ્ઞાન પરમ ઉપદ્રવ છે ।

પુન વડું છે કે—જેનાં ગ્રંથે જ્ઞાન ચોર અનન્તગુણ પર્યંત સંપુલ્લ પદાર્થ અતિષય સાધ પ્રતિમા છે તેને જ્ઞાનીઓ એ જ્ઞાન કહેછું છે આ સામાન્યને પૂર્ણ જ્ઞાનું સ્વરૂપ છે આશ્ચર્યસ્વ અનન્તપ્રવેશી છે તેના મધ્યમાં અસંખ્યાત પ્રવેશી ભોલાશ્ચ છે તેમાં ધીવ-મગીવ-ગુજ્જ-અર્થાશિષ્ય-અર્થાશિષ્ય અને કન્થ એ અનન્તદ્રવ્ય છે । તેના ગ્રંથ વાલ સમ્બંધી નિશ્ચયિત અનન્ત પદ્ય છે તે વચને ગુણપદ [એક સમસ્ય] આશ્ચર્યો પૂર્ણજ્ઞાન અસંખ્યો નિયમ સમાવ છે ।

અનન્ત-અનન્ત-ગ્રીવ સામાન્યજ્ઞાન પદાર્થોની આ ગુણ અતિષય મર્ત્ય પદ્મ છે જે જ્ઞાનમાં આ વડું એકરમ પ્રતિનિધિત્વ વાય છે તે જ્ઞાન પરમ શોધીપરોને માટે ભો વેત્ત ઉમાન છે ।

તુલ્યતા પત્ર વડું છે કે—“જેની દ્વારા વર્ષા તપોને વિચાર બેસિથી આપ્ત સ્વરૂપે જુદ છે તે જ્ઞાનમાં અનન્ત વચ્ચ-ગુણથી સત્તા છે અને સમ્યક્ પ્રધારે આશ્ચર્યને માટે જ્ઞાન જિતકર અને પ્રથમ સાધન છે તેનાથી આપ્ત જટ સંભારથી અમ્બ વર્ષે શકે છે ।”

આપ્તનો અર્થ કરવાવાદ્યથી માટે જ્ઞાનું આશ્ચર્ય સીધી પ્રથમ એટ માટે હૃદ છે કે તેનાથી ઝીવ વીજ્ઞાન તેમજ ધારીતિક દુરાથી નિરપ્ત વધી આવડે । તેનામાં આશ્ચર્ય ગુજરણથી રક્ષા થતી હવે જ્ઞાનમાં વર્ષે શકે છે । વડી તેમજ પ્રતિ-પાશ્ચર્ય વે સોદીને આશ્ચર્યમાં આવી આવ છે ।

જ્ઞાનથી પૂર્વે યાજ્ઞના પ્રમાણથી અપ જ્ઞાન વર્ષે જાય છે । તેનાથી આપ્તમાં અર્થ સમાવથી જ્ઞાની વાય છે । આશ્ચર્ય કરમે નવૈત્ત-વિજ્ઞેમાં અમેદરૂપે

મૈત્રીભાવ પેદા કરવાનો સ્વભાવ થઈ જાય છે । મોહ અવિવેક અને ચિત્ત વિકારનો પડદો તૂટી જાય છે । મોહનો સર્વથા નાશ થઈ જવાથી ચિત્ત નિર્મલ અને પવિત્ર વનીને સ્થિરતા પ્રાપ્ત કરે છે । પવિત્ર ચિત્તવાળો કામદેવનો નાશ કરે છે । જેનામા જ્ઞાનાત્માનો ઉદય ચાલે છે, તેનામા આટલી ક્રિયાઓનો ઉદય થઈ જાય છે, તેનાથી અટલ સુખના પદને પ્રાપ્ત કરાવવાનું તે સાધન વની જાય છે ।

જે આત્માને રાગ-દ્વેષ અને મોહમાથી વહાર કાઢવામા નિશ્ચય હેતુરૂપ છે તેને પણ બુદ્ધિમાનોઈ જ્ઞાન કહેલું છે ।

જ્ઞાન વિશેષ વસ્તુનું વૌધક છે, લોકાલોકનું પ્રગટ સ્વરૂપ સમજાય છે હસ્તામલકવત્ સસારના સર્વ સ્વરૂપનું તથા ઘટનાત્મક ભાવનું જાણપણ થાય છે । તે સમ્પૂર્ણ જ્ઞાન કેવલજ્ઞાન અથવા બ્રહ્મજ્ઞાન છે । તેનાથી અધિક જ્ઞાનની વીજી કોઈ ભૂમિકા નથી । કેવલ એટલે પૂર્ણતા, તે જ્ઞાન અસાધારણ, નિરપેક્ષ અને પરમ શુદ્ધ છે, સર્વ પર્યાય તેમજ ભાવોનું જાયક છે । તેનાથી લોકાલોકનું જ્ઞાન થાય છે । તેનાથી સહજ તેમજ ઉત્કૃષ્ટ અનન્ત આનન્દ મળે છે । તે જ્ઞાન પ્રાણિઓના કર્મબન્ધનો સમય તથા તેના શુભાશુભ પરિણામોનો વૌધ કરાવે છે । સૂક્ષ્મ-વાદર-ચરાચરનું પૂર્ણજ્ઞાન સર્વજ્ઞને હોય છે ।

દર્શન-

જેમા કોઈ પ્રકારનો વ્યભિચાર નથી હોતો, સગય, વિપર્યય, મિથ્યાત્વ અથવા અનધ્યવસાય આદિ દોષોથી જે રહિત છે, ઇન્દ્રિય અને મનના વિષયભૂત સર્વ પદાર્થોની દૃષ્ટિ-શ્રદ્ધારૂપ પ્રાપ્તિને સમ્યગ્દર્શન કહે છે, જીવાદિ નવતત્ત્વના ભાવોપર શ્રદ્ધાનપૂર્વક તેનું ચયાનુરૂપ ધારણ કરવું, જેનાથી સમતા ભાવ અસ્થિર વસ્તુઓની વિરક્તિ રૂપ વૈરાગ્ય, કર્મ બંધથી મુક્ત હોવાની નિરન્તર અભિલાષા, શશ્ત્રુ મિત્ર પર અમેદરૂપે અનુકમ્પા, આત્મીય કર્મોનો ઉદય થવાથીજ સુખ દુઃખ થાય છે, તે જાતના આસ્તિક્યાદિ લક્ષણોનો ઉદય થાય છે, ત્યાગ-વૈરાગ્ય તથા વિવેક શુદ્ધ થવાથી જે મુક્તિનું અગ છે, સસારના ક્લેશ રૂપી રોગોના સમૂહને મટાડવામા જે ઔપધરૂપ છે, તે સમ્યગ્દર્શન છે, જ્ઞાન અને ચરિત્રના વીજરૂપ છે, તેનાથી મહાવ્રતોનું પાલન કરતા કરતા સ્થિરતાની ભાવના જાગૃત થાય છે, જ્ઞાનીઓનું વિશ્વમા તે સર્વોપરિ ભૂષણ છે, તે શ્રેષ્ઠ સમ્યગ્દર્શનથી નિઃસય મોક્ષની પ્રાપ્તિ થાય છે, તેના નિદગકથી માલીને પ્રભાવના સુધીના આઠ અગ છે ।

चरित्र-

उत्तराध्वनना २८ मां अभ्यासमां धीवीरप्रभुए सर्व प्रतिपादन करेछं छे के सिध्यस्त अत्रत कपाय प्रमाद अने मन-वचन-अयना अमुन जीमबी जे पापकर्म बंधाएछं छे के जेनां सुभाष्टम फलमां परिवर्तन करबानी सदा आपन हावमां नबी रही ते कमौनो पुण्यावैकली ग्रास करीने आरमाने अपानमा अने नोनाप्रमाबी अक्य करी देबो तेनुं यम चरित्र छे चरित्रबी भविष्यनी प्रवृत्तिमार्तनो अचरोच करीने जैम अमिबी सुवर्णनो मेळ हू बान छे तम तपबी जन्मान्तरना कमौनो ग्रास करीने आरमा सब हु खोबी रहित बाय छ ।

आ चरित्रन्य अमुनत तथा महाजत एम बे मेद छे पोतना मात्रौने कपा बरहित करबाबी मूल गुण तथा उत्तराध्वन अप चरित्र एक देस अक्या सबैक संवम गुण प्राप्त करे छे ।

वन्धुमुनि सुवर्माचार्यने पूछे छे के भयवान् हातपुत्र-महावीरुं रजप्रव केनुं ह्यं ?

हातपुत्र-

तेजो हस्त बंजरा हरिज कुम्हार कल्पाए हस्तबी हातपुत्र कहेवाटा हवा मुनि बनीने हातपुत्र कोई वस्तुनी विनोय रसामां सोक नहोछं करछं हातपुत्र कोईने वध न बता एव सबैक आचर्यबी रहैछ तेमबी मावना रागद्वेष रहित बन्धुत्व हटी । तेजो अमुन प्रसिद्ध प्रसंगो पर पाल आजा बगर संवम मार्गमां स्थिर रहौने पोतानी बर्मप्रतिस्वभोमां हमेसां प्रवृत्त रहैछ हवा ।

तेबी हे आचार्य मगवन् । मै तेमनां ज्ञान-वृद्धन अने चरित्र सम्बन्धी जे प्रश्न कमौं छे तनो आवे नवाकुसम अनुगम प्राप्त कमौं छे ते जैम तम सामर्थ्य होव अने धार्य हाय ते शान्त चिते मने कहो ।

मूल

खेयसए से कुसछे महेसी,

अणतनानीय अणतवसी ।

जसंसिणो चक्षुपहे ठियस्म,

जाणाहि धम्म च विह च पेहि ॥ ६ ॥

संस्कृतच्छाया

खेदज्ञः [क्षेत्रज्ञः] स कुशलो महर्षिः,
अनन्तज्ञानी च अनन्तदर्शी ।
यशस्विनः चक्षुःपथे स्थितस्य,
जानीहि धर्मं च धृतिं च प्रेक्षस्व ॥ ३ ॥

सं० टीका—स ज्ञातनन्दन-महावीरो भगवान् चतुर्विंशदतिशय-

समेतः, पचत्रिंशद्वाणीगुणोपपेत “उप अप इत ‘शकन्ध्वादिषु पर-
रूपं वाच्यमिति वार्तिकेन’ पररूपत्वे उपपेत इति” । खेद ससारान्त-
वर्तिजीवाना कृतकर्म्मविपाकज शारीरिक मानसिक च दुःख क्लेशं,
आत्मीयज्ञानेन जानातीति खेदज्ञः—सदयः । “खेदज्ञः सदयो वीर-
इति कोष” । त परकीयात्मदुःख विजाय समस्तप्राण-भूत-जीव-
सत्त्वानां दुःखापनोदनसमर्थोपदेशदानादियुक्त इति । अथवा ‘खेयन्नए’
इत्यस्य ‘क्षेत्रज्ञ’=इतिच्छाया तत्रायमर्थः क्षेत्रमाकाशं तल्लक्षणया तन्म-
ध्यवर्ती धर्माधर्मात्मकालुपद्रवसमूहस्तज्जनातीति क्षेत्रज्ञः । लोकालोक-
स्वरूपपरिज्ञानवृत्तादिति । पुनश्च वा यथाऽवस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानादनुभ-
वनादात्मज्ञ इत्यपि साधुरेव । अथवा क्षेत्र=शरीरं तदसारतया जाना-
तीति (दर्शयतीति) वा, क्षेत्र स्त्रीविषयदोष तद्रमणानुरक्तज तज्जाना-
तीति क्षेत्रज्ञः । “क्षेत्र नारीशरीरयो” रित्यमरः । कुशलो=निपुणः,
सदसज्ज्ञानप्ररूपकत्वात् । “प्रवीणे निपुणामिजविज्ञनिष्णातशिक्षितः ।
वैज्ञानिक कृतमुख कृती कुशल” इत्यमरः । अथवा तानष्टकर्मकुशान्
लुनातीति कुशलः । प्राणिना कर्मोच्छित्तये निर्जरार्थाय निपुण समर्थः ।
“पर्यासिक्षेमपुण्येषु कुशल शिक्षिते त्रिष्वित्यमरः” । अथवा प्राणिना
भावुको भद्रकारको भङ्गलप्रदः । “अथ श्रेयस शिव भद्र कल्याण
मगलं शुभम् । भावुक भाविक भव्य कुशलं” इत्यमरः । ‘आसुपन्ने’

इति पाठान्तरं तस्याऽयमर्थः । आसुपणे=भानु धीम प्रज्ञा यस्यासावा-
 शुप्रश्नः, सर्वत्र सदोपयोगत्वात् [म धु छधम्वां शाठ्योऽस्यश्च इव
 विचिन्त्य जानातीति ग्राबः । छधनि शाठ्येऽस्यश्चत्वे तिष्ठतीति
 छधम्वा । “कपटोऽस्मीम्याबद्धम्भोपपन्नश्छधकैतवे, कुसृतिर्निहृति
 शाठ्यमित्यमरः ।” छापते स्वरूपमनेनेति छध, कपटे, छले, व्यागे,
 अपदेशे, स्वल्पाच्छावने, रक्ते, नवनीते, शुद्धे, अक्षिरोगभेदे च,]
 महर्षिः=महौष्मात्पुत्रिणेति महर्षिरित्यस्यन्तोऽप्रतपश्चरणलुप्यमित्यावनु-
 कूल्यमिति कूलपरिवहोपस्मार्गादिमहास्तितिक्षासहनायेति वा, याथातथ्येन
 सत्त्वानां प्रकाशकत्वात्सत्यवाकत्वान्महर्षिः । “अपय सत्यवचस इत्य-
 मरः” । अनन्तज्ञानी=अनन्तमवसानरहितमविनाश्यनन्तपदावपरिच्छे-
 दक वा विशेषार्थमाहक ज्ञानमस्यास्तीति अनन्तज्ञानी । एव सामान्य-
 र्थपरिच्छेदकत्वादनन्तदर्शीत्ययवा विशेषार्थज्ञानमनन्तमनवधिक्रमपरि-
 च्छिन्नमित्यर्थः सर्वज्ञतेति ग्राबः । सामान्यार्थमाहकदर्शनं ते द्वे अपि
 यस्मान्ते । “अनन्तोऽनवधाभित्यमरः” तदेवं भूतस्य भुक्तस्य, अनन्त-
 गुणसहितस्य मगक्तो बभूव सुरासुरनरपतिषाण्यतुल्यं प्रमाणरहितं चास्ति
 यस्य स यशस्वी=तस्य यशस्विनो, लोकस्य=जगत्स्य पये=नयनमार्गे
 मयनस्य केवलावस्थायां विद्यमानस्य लोका सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्मे-
 बनेन च दृग्भूतस्य स्थितस्य आनीयवगच्छ । धर्म संसारोद्धरणत्वमा-
 बलवावच्छिन्न भुक्तधारित्ररूपः । समसातपस्तुष्टियगार्थबोधमहादिधि-
 हितात्मपुरुषार्थः वा । “श्रुतिः क्षमा दमोऽस्तेष्व शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
 नीर्विषा सत्यमक्रोध दशक धर्मलक्षणमिति” स्मृतिः ।

तथा च—

धारजाद्धर्ममित्याह, धर्मो धारयते प्रजा,
 धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः ॥

देशकालवयोवस्थाबुद्धिशक्त्यनुरूपतः

धर्मोपदेशमैषज्यं, वक्तव्य धर्मपारंगैः ॥ इति वृद्धा ।

निष्प्रकम्पा चारित्राचलनस्वभाव धृतिं संयमे धैर्य्यं, अथ वा प्रति-
ज्ञायाः पालने दृढत्व धैर्य्यम् । “धृतिर्धारण-धैर्य्ययोरित्यमरः ।” संयमे
धृतिं रतिमेतीति, तत्प्रणीता प्रेक्षस्व सम्यगवबुध्य पर्यालोचयेति
भावः । यदि श्रमणैस्तैः सुधर्मस्वामिभिः कथितस्तत्त्व भगवतो यशस्वि-
नश्चक्षु पथे स्थितस्य धर्मं धृतिं चावबुध्यसे तथैव रीत्यास्माकं कथयेति
संगतिः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—[से] भगवान् महावीर [देखे] खेद अथवा क्षेत्र-
आत्माके जानने वालोंमें [कुसले] प्रवीण [महेसी] महर्षि [अणतनाणी]
अनन्त-ज्ञानयुक्त [अणतदंसी] अनन्त-दर्शनसमन्वित [य] और [जससिणो]
यशस्वी थे, अतः अर्हन्द्शामें ही भगवान्को [चक्षुपहे] आखोंके विषयरूपसे
[ठियस्स] स्थित [जाणाहि] जान ! (च) और (धम्म) भगवान्के प्रतिपा-
दित धर्मको (च) और (धिह) समयकी दृढताको देख !

भावार्थ—आर्य्य-सुधर्मने आर्य्यजम्बूसे प्रभुके ज्ञान-दर्शन-चरित्रके
तथा यश कीर्तिके सम्बन्धमें यह वर्णन किया कि-वीरप्रभु जगत्के दुःखोंको
कर्मोंके फलसे पैदा होना मानते थे, क्योंकि उनको आत्मासे अलग करनेका उप-
देश करते थे । आत्माके सत्-चित्-सुखात्मक स्वरूपके ज्ञाता थे । कर्मरूपी
कुशाको उखाड़नेमें उद्यमशील थे, महान् ऋषि थे, अनन्त-पदार्थोंको एक सम-
यमें जाननेके कारण अनन्तज्ञानी थे, अनन्तदर्शन-केवलदर्शनसमन्वित थे, तथा
अखण्डकीर्तियुक्त थे, इसलिए भगवान्को अर्हन्द्शामें आखोंके समान सूक्ष्म-
पदार्थ देखते थे, अतः उनके कहे हुए धर्मको तथा चरित्र सम्बन्धी स्थिरताका
श्रद्धायुक्त दृढविचार करो ॥ ३ ॥

भाषाटीका—ज्ञातनन्दन महावीर प्रभु शासनके पति ३४ अतिशय
युक्त और ३५ वाणीके गुणोंसे अलंकृत एवं गोभित थे ।

३४ अतिशय-

(१) केस तथा दाढ़ी मूढ़ के बाह्य बहते नहीं या असुन्दर रीति से नहीं बहते । (२) सरीर मोह्य रहता है । (३) उनके सरीरका अधिर तथा मांस दुग्धकी तरह सुन्दर और सच्छ होना है, आरोग्य होता है, विमोहा नहीं समेत । (४) मुसमें कमकमी ही सुगंधि रहती है अस्वस्थ अवस्था दुर्गन्ध नहीं होती । (५) आहार और बीहारको धर्मश्रुतवाके नहीं देखते क्योंकि वे किनारे पुन भी जाती हैं । (६) आकाश मत कत्र रहता है अर्थात् सिद्धों का अरुण अमेरु रूपसे करते रहते हैं । (७) आकाश मत चमर कुम्भ कुठ चरित्र रूप बने कंचा रहता है । (८) आकाश मत सृष्टिकर्मस सिद्धासन समस्त १२ वां शुक्लस्थान घोमित है । (९) पापपीठिका सहित ज्वररुम चौबैकर नाम कर्मकी कीर्ति आकाशमें गूँबती रहती है । (१०) प्रभु जलोकमय कन्यामें रहते हैं वहाँ अपनेसे आरोग्य शोक निवारण करते हैं । (११) मार्गमें चलते समस्त शत्रुकी तरह पीरुष और पीने इच्छापी विधीत हो जाते हैं । (१२) मनु जर्जान समस्त अमुकक तथा कर्मकाल हो जाता है । (१३) १२ बोजन तक शान्तिव्य शत्रु बक्या है । (१४) ज्ञान बाण प्रचलित होनेसे कर्म रजस अमय हो जाता है । (१५) समस्त के समस्तसकमे समस्तवशा सामान्य छ जाता है । (१६) शत्रु रूप रस रस रस रसमें अमुकक और प्रतिशुक्त्य रूप प्रशति विज्ञति मान जाता रहता है । (१७) निधन और ध्वजहार कम रपी चरैर कुम्भे रहते हैं । (१८) प्रमा या अनन्तज्ञानप्रतिमा रूप भर्मरुत पीठ आसन या आत्माकी घोमा मुख हैं । (१९) जगदी मधुर मया एक बोजन तक सुनाई पड़ती है । (२०) श्री पुरुष पद्म पञ्जी जगदी सांकेतिक अर्थ मामधी मायाको अपधी मायामें समझते हैं । (२१) यन्त्र केकर जादेष्टके श्रेष्ठ प्रभुकी कणीसे न्याय केकर निरहंधार होजाते हैं । (२२) प्रभु जहाँ विचरते हैं वहाँसे १२५ बोजन चारों ओर सात ईतिगोमिसे कोईभी ईति (मन) नहीं जाती । (२३) मनुष्य और शिष्य आपसना ज्ञातीय द्विष आप तथा पैर निरोध छाड देते हैं । (२४) जनता में किसी प्रकार का भय नहीं होता । (२५) मारि आरिह रोम नहीं होता । (२६) अनिष्टि नहीं होती । (२७) अवाप्टि नहीं होती । (२८) दुर्मिष्ट नहीं होने पाता । (२९) लक्षक-अपने राज्य का जगम नमोच उपरन नहीं होता । (३०) पर लक्ष-पर राज्य का पुत्र प्रबंध

विग्रहादि उपद्रव नहीं उठता । (३१) पहलेका फैला हुआ व्याधि रोगादिक नष्ट होजाता है । (३२) बलवान् दुर्बलको नहीं सताता । (३३) पुराण रोगकी उपशान्ति होजाती है । (३४) नवीन रोगका सवरण होजाता है ।

३५ वाणी गुण-

(१) सुन्दर सस्कारित भाषा होती है । (२) स्वर उच्च होता है । (३) भाषा प्रामीण और सादी होती है । (४) स्वर और भाषोच्चारणमें गभीरता होती है । (५) बोलते समय ध्वनि निकलती है । (६) वाणी सरस होती है । (७) राग युक्त भाषा होती है । (८) सूत्र थोडा और अर्थ अधिक होता है । (९) वाणीमें पूर्वापर विरोध नहीं होता । (१०) सन्देह रहित मित्र २ अर्थ प्रकाशन होता है । (११) निश्शक्ति गुण दाता है । (१२) वाणी अकाव्य युक्ति युक्त होती है । (१३) चित्त अन्यथा न होकर स्थिर होजाता है, अत वाणी आकर्षक होती है । (१४) वाणी देश और कालसे उचित सचव रखती है । (१५) अधिक विस्तृत होकर भी अनमेल या अरुचिकर नहीं होती । (१६) जीवादि वस्तु विचारका ज्ञान कराने वाली भाषा होती है । (१७) उपदेश करते समय किसीका मन प्रकाश नहीं करते । (१८) भाषा पूर्वापर सापेक्ष होती है । (१९) आख्यायिकाकी तरह वाणी मनको प्रेमास्पद बना देती है । (२०) भाषा मधुर और अनादिकालकी भूख मिटाने वाली होती है । (२१) मनकी श्रेष्ठ भाषा स्वयं सिद्ध होती है । (२२) वस्तुका वास्तविक ज्ञान प्रकट कराती है । (२३) परनिन्दा रूप और अपनी प्रशंसा रूप भाषा नहीं होती । (२४) प्रशंसनीय भाषा होती है । (२५) बोलते समय अधिक कालक्षेप नहीं करते । (२६) चित्तको सन्तोष होता है । (२७) व्याख्यान मध्यम गतिका होता है । (२८) श्रोता कर्म रोगसे मुक्त हो जाता है परन्तु मनन करने पर । (२९) वाणी अनादि कालकी भ्रमणा मिटाती है । (३०) जिसका वर्णन करते हैं उसका सक्रमण उसी विशेष रूपसे करते हैं । (३१) उनकी भाषा वचनान्तर नहीं होती । (३२) पद, अर्थ अलग २ करके बोलते हैं । (३३) मत्व और साहस श्रोताओंका बढ़ जाता है । (३४) धर्मश्रवण करते हुए लोक अघाते नहीं । (३५) जीवादिक की अविच्छिन्न प्ररूपणा करते हैं ।

बेदक-

संसारके प्राप्तिमें द्वारा अर्थन किए हुए मार्मिक दुःखनिपादको जानते हैं । कर्म निपादमें उत्पन्न शारीरिक मानसिक द्वेषोंको प्रभु सदा होकर जानते तथा देखते हैं । उनमें दुःखोंका ज्ञान करनेके अनन्तर प्राण भूत जीव और सत्त्वही मर्यादित हुए करनेके लिए अहिंसा तथा मित्रता आदि उपदेश करके संसारमें सामंतिही स्थिति-स्थापना करते हैं । अतः बेदक हैं ।

क्षेत्रज्ञ-

आत्मज्ञके अनन्त प्रवेशोंमें कर्म अर्थन जीव काष्ठ और पुत्रके अनन्त समुद्रको जाननेके कारण प्रभु क्षेत्रज्ञ भी हैं । क्योंकि क्षेत्र और क्षेत्रके पुत्र और प्रजाद सब भावों और विषयोंके ज्ञाता हैं । नवात्मन स-सर्व और परस्पर आत्मनेसे आत्मज्ञ हैं । तथा इस प्रकार सरीर क्षेत्र में आत्मा का कर्म रूप सार आत्मनेसे तथा जीवके विषय शेष और उसके रूप और अक्षर रहमें जो शेष हैं उसे जाननेके कारण क्षेत्रज्ञ हैं ।

कुशल-

सर्व और असर्वको अर्थन करके बता देते हैं, काष्ठ प्रकारके कर्मस्वी तीक्ष्ण कुशलको करनेमें कुशल हैं । निर्बलपण तथा गणनेमें समर्थ हैं । अर्थपदेश देनेमें संगतप्रद हैं अतः कुशल भी हैं ।

आशुप्रज्ञ-

आपका उपयोग अनन्त होवेसे आशुप्रज्ञ हैं, परन्तु वह उपयोग छद्मस्वी-कृत नहीं है । [बहुते कुछ देर सोच विचार करनेके पश्चात् आशु है । कर्मात् कर्मभाषाद्वारा आत्म-सत्त्व पर पर्व पद जाने के कारण उस कर्म महिष संतारी आत्मा की छद्म संज्ञा है । परन्तु मपक्षान्तो "मिदं उज्ज्वल" इस शेषमें निहित है]

महर्षि-

अनन्त उम सपक्षी अनुज्ञान करनेसे अनुज्ञा प्रतिज्ञा परिषद् और उपसर्ग सहन करनेसे ज्ञाना विविधानों को सहनेसे तथा बलुका शालिक रूपमें प्रकाश करनेसे सदा आशीषा वचनारण करनेसे महर्षि वे ।

अतीत अनागत कर्तमानरा अनन्त स्वरूप जाननेकी दृष्टिसे अनन्तज्ञापी, तथा सामान्य अर्थका ज्ञान करनेसे अनन्तज्ञापी वे ।

उनके अक्षय और अर्तुल यश का गायन मनुष्य-असुर और देव सब मिल कर करते थे । ससारकी दो आखों द्वारा प्रत्यक्षतया सूक्ष्म और वादर पदा-र्थोंका ज्ञान भलिभाति करा देनेसे उनके प्रतिपादित धर्मको तथा उनकी धीरताको देख !

धर्म-

ससारके प्राणिओंका दु खोंसे उद्धार करना उसका स्वभाव है अत वह धर्म है तथा ज्ञान और क्रियाके भेदसे धर्म दो तरहका है ।

“समता, तप, सन्तोष, सरलता, उत्तम क्षमा, आदिक विहित पुरुषार्थको भी धर्म कहा है ।”

“मनुने धैर्य रखना, शान्ति करना, अकिंचनवृत्ति रखना, इन्द्रिय दमन करना, आत्माको बुरे विचारोंसे हटा कर पवित्र करना, आत्मदोषका निग्रह करना, बुद्धि द्वारा सत्, असत् युक्त अयुक्तका निर्णय करना, निष्पाप तथा निस्पृह सत्य बोलना, आए हुए क्रोधको निष्फल करना, यह १० प्रकारका धर्म बताया है ।”

धर्मके पारको पानेवाले पुरुषोंने देश काल, अवस्था, बुद्धि, शक्ति, आदि के अनुरूपसे धर्मोपदेशको ही औषध रूप कहा है ।

इसके अतिरिक्त उनकी चरित्रमें निश्चलता धीरता देख ! क्योंकि वे अपनी प्रतिज्ञामें सदैव दृढ रहते थे । समय के अतिरिक्त वे किसीमें अनुरक्त न थे ॥ ३ ॥

गुजराती अनुवाद—ज्ञातानन्दन शामनपति महावीर प्रभु ३४ अतिशय तथा ३५ प्रकारना वाणी गुणे करी अलंकृत होता ।

३४ अतिशय—(१) माथाना केश-दाढीमूळ तथा शरीरना वाळ अने नख मर्यादित होय । (२) नीरोगी अने मेल, रज आदिशी निर्लेप शरीर होय । (३) मास अने लोही गायना दूध जेवा उज्ज्वल अने मीठा होय । (४) श्वासो-श्वास कमल जेवा सुगन्धित होय । (५) प्रभुना आहार अने निहार चर्मचक्षु-ओथी अदृश्य होय, कारणके ते क्रियाओ गुप्त करवामा आवे छे । (६) आकाशमा धर्म चक्र चाले । (७) आकाशमा लत्र रहे । (८) आकाशमा श्वेतवर चामरो विंशाय । (९) आकाशमा अत्यन्त स्वच्छ स्फटिक सिंहासन पादपीठ सहित थई आवे । (१०) आकाशमा लेखुपताकाओथी परिमडित रमणीय इन्द्र

अथ प्रभुनी आगत बाहे । (११) अष्टोक्तस्य यई आये सा पचावी बीज-
 ओना ओक्तनु निवारण बाव । (१२) अथ पाठस्य भाष्यमा मन्त्रक प्रवेष्टे
 तेजोर्मन्त्रक यई आये ते ह्यो विद्याओना अर्थधारणे वृत्त करे । (१३) पृथ्वी
 बहु सगद अने रमणीय बनी जाव । (१४) कांडा छंधा यई आथ ठपी
 मापक बहु हठगती निनीत यई जाव । (१५) निपरीत अथ सुखस्पर्श यई
 जाव समान अनुभूत तथा बने माटे योग्य यई जाव । (१६) सीतल-सुखकर
 सुख बहुपुण्यासु एक ओजस क्षेत्रमा बहे । अने सर्व प्रधारणी अष्टुषि दूर करे ।
 (१७) सुगमि वृष्टि बाय ठेपी आकाशवी रज अने भूमि स्पर्शवी रेणु छंधाई
 जाय ज्ञानपाठ वरसवावी कमी रज वृत्त यई जाय । (१८) रमणीय पंचकन्ये
 पुण्य प्रपदे । (१९) अमनोह (अष्टुम) अष्ट-स्पर्श-रस-रूप-गन्ध उपसमे
 अर्थात् नाव पावे । (२०) मनोह अष्ट-स्पर्श-रस-रूप-गन्ध उत्पन्न जाव ।
 (२१) चारे वस्तुपर बैठेई परिपक्व भयवान्मो बीजनास्तिकनी सर वरुण
 भवन करी छके अने ते अष्टो ओताओने प्रिय लग्ने । (२२) प्रभु अर्चनामयी
 मापस्य अर्चिकता आपे । (२३) अर्च अर्चार्थ हेतुस्य प्रभुओ-पद्मओ-मयीओ
 निगरेने आ भाषा पोतनी भाषामा परिचमे ते द्वितकर-सुखकर-आलम्बकर अने
 मोक्षदायी लग्ने । (२४) अमनोह आतिवैर, शान्त बाव । (२५) मयकान्ते
 हेतुता अम्य दर्शन-प्रयामिमाणी हठ ओपी वन बने है । (२६) प्रतिचारी
 निस्तर वदे । (२७) प्रभु निचरे के कांडी १५ योजन चारे विद्यामा दुष्प्रक-
 षंहर-छिन्न नियेरेओ उपपन्न रहे वदि । (२८) महाप्राप्ति सरसी छेप न होव ।
 (२९) अमनो मय नहीं जाव । (३०) पर कर्करनो मय न होय । (३१)
 अति वृष्टि न जाय । (३२) अनावृष्टि न जाय । (३३) दुष्प्रक न पडे ।
 (३४) उत्पत्ति अने व्यापिओ गुरत समी जाव ।

सत्यवापीन्य ३५ शुभ-

(१) सपचावनी वाणी धीरधार—कल्प्य शुभ होव । (२) कुर्व
 अचाव वाकी वाणी । (३) चाणी । (४) योगीर । (५) पञ्चम्य शुभ ।
 (६) सरव । (७) उपनीत रावण-ओताओ चारे के भगवान् मने चोहीनेत्र
 उपवेश आपे है । (८) महार्च—सुख बोधो अर्थ वनो । (९) पूर्वापर वापसी
 अनिरोपी । (१०) विद्व । (११) अस्तित्व (१२) वाणीमा—अर्चमा रूप
 रह्य । (१३) हवनगती (१४) हेतु अने अनुभूत । (१५) उत्पत्ति

યથાર્થ સ્વરૂપ દર્શક । (૧૬) જે સમ્બન્ધ ચાલતો હોય તેની સિદ્ધિ પુરતુજ કહેવું તે । (૧૭) પદ વાક્યનું પરસ્પર સાપેક્ષ પણું । (૧૮) દૃષ્ટ રીતિએ તત્ત્વનું કહેવું । (૧૯) અલ્યન્ત મધુર-સુસકર । (૨૦) પરના રહસ્ય વિગેરેને પ્રકટ નહિ કરનારી । (૨૧) વસ્તુના અર્થ તથા ધર્મે સહિત । (૨૨) અર્થનો ક્ષલકાટ ઊઠે એવા પદો સહિત । (૨૩) પર નિન્દા અને આત્મપ્રશંસા રહિત । (૨૪) કહેલા ગુણોના યોગથી પ્રશંસા કરવા લાયક । (૨૫) વ્યાકરણના દોષ રહિત । (૨૬) શ્રોતાઓને પોતાના વિષયનો જવાબ મળવાથી આશ્ચર્ય અને વૈરાગ્ય ઉત્પન્ન કરનારી । (૨૭) અદ્ભુત । (૨૮) અલ્યન્ત વિલમ્બ રહિત । (૨૯) મનની ભ્રાન્તિ તથા વાક્ય બોલવાની અશક્તિ વિગેરે દોષ રહિત । (૩૦) સર્વ સુર-અસુર-નર-અને તિર્યચ પોતાની ભાપામા સમજે તેવી । (૩૧) વીજા પુરુષોની અપેક્ષાએ શિષ્યોને વિષે વિશેષ બુદ્ધિને પેદા કરનારી । (૩૨) પદો, વાક્યો સ્પષ્ટ રીતે સમજાય તેવી ચોક્કસી । (૩૩) પરાક્રમવાળી અનાયાસે વાણી પ્રકાશે જાય । (૩૪) કહેવા ધારેલા અર્થોની સારી રીતે સિદ્ધિ થાય ત્યાં સુધી અવિચ્છિન્ન વાચ્યારાએ બોલ્યા જવાય તેવી ।

સેદઙ્ગ-

સસારના પ્રાણિઓએ સચય કરેલા માર્મિક કર્મનાં દુઃખવિપાકને તેઓ જાણે છે । કર્મના પરિણામે ઉત્પન્ન શારીરિક તથા માનસિક ક્લેશોને પ્રભુ દયાર્દ્ર બનીને જાણે છે તેમજ દેહે છે । તેમનાં દુઃખોનું જ્ઞાન કરાવવાને તથા પ્રાણ-ભૂત-જીવ-સત્ત્વની અશાન્તિ દૂર કરવાને તેઓ અર્હિસા-સત્ય-નિસ્તૃણ વિગેરેનો ઉપદેશકરીને સસારમાં શાન્તિની સ્થાપના કરે છે । તેથી મગવાનું સેદઙ્ગ છે ।

ક્ષેત્રજ્ઞ-

આકાશના અનન્ત પ્રદેશોમાં ધર્મ-અધર્મ-જીવ-કાલ અને પુદ્ગલના અનન્ત સમૂહને તેઓ જાણે છે । તેથી ક્ષેત્રજ્ઞ પણ છે । અથવા લોક-અલોકના ગુપ્ત અને પ્રગટ સર્વ માવ અને વિષયના જ્ઞાતા છે । યથાતથ્ય સ્વસ્વરૂપ તથા પરસ્વરૂપના જ્ઞાતા હોવાથી આત્મજ્ઞ છે । આ નશ્વર શરીર ક્ષેત્રમાં તેમના આત્માના અથવા ધર્મરૂપ સારના જાણકાર હોવાથી, તેમજ સ્ત્રીના વિષય દોષ અને તેમાં રમણ કરવાથી જે દોષો ઉત્પન્ન થાય છે, તેના પણ જાણકાર હોવાથી તેઓ ક્ષેત્રજ્ઞ છે ।

કુશલ-

સત્-અસત્ને મિલ મિલ કરીને વર્તાવે છે । આઠ પ્રકારના કર્મરૂપી તીક્ષ્ણ

કુદરે કાવવામાં કુશલ છે । નિર્ભયનો માર્ગ કઠાવવામાં । સમર્થ છે ધર્મોપદેશ
રેવામાં મંગલપ્રદ છે ।

આનુમત્ત-

તેમોનો તપચૈવ અમત્ત હોવાથી આનુમત્ત છે । પરમ્તુ તે તપચૈવ તપ-
સ્વોદ્યા જેવો હતો વધી । [કપસ્ય તો વોહો સમન વિચારમ્ત્ય કર્ય વાદ બાધે છે ।
કર્મ્યન કર્મનાથી દ્વારા આત્મ સત્ત્વ પર પદ્મો પદ્મી કર્મ સદ્વિત સંસારી આત્માને
તપસ્ય કહે છે । પરમ્તુ મયવાન તો 'નિપદ ક્ષતમાર્ગ' એ શોધ થી મુક્ત છે ।

મહર્ષિ-

અક્ષત્ત કપ તપચર્ચા કરવાથી અનુકૂળ પ્રતિકૂળ પરિણામ તથા તપચર્ચા
સાધન કરવાથી વાચ્ય પ્રચારના હુ-ઓ સાધવાથી તપસ્વિનું આસાનિક સ્વ પ્રપન્ન
કરવાથી સદ્ગુણથી વોમ્મટાં હોવાથી તેમો મહર્ષિ હતા ।

મૂઠ-અભિષ્ય અને કર્તવ્યના અનન્ત કસ્ય કાવવાની અપેક્ષા તેમો
અનન્તજ્ઞાની તથા સામાન્ન અર્થેનું મિત્રકરણ કરવાથી અનન્તરર્થી હતા ।

તેમના અણ્ય અને અનુક વક્ત્રું વાન મનુષ્ય-સુર-અસુર ત્રિવેદે સર્વે મઠ્યેને
કરતા હતા ।

એકને વક્ત્રુમૂલ પણ ધીમાદ્યાનીરવેન્ન પદ્મોદ્ય કર્યેને તથા તેમથી ધીર
એ વાન અને રેવ ।

ધર્મ-

સંસારના આભિજોને કુશલમાંથી સદ્ગુરુ કરવાનો તેનો જમાવ છે । જ્ઞાન
અને ક્રિયા એ બે પ્રકારનો ધર્મ છે । સમતપ-તપ-સન્તોષ-સરજત્ત-સત્ત્વ સ્વા-
ત્રિવેદે પદ્ય કર્યે કહેકમાં આવે છે । ધીરજ રાજવી-સાન્તિવારણ કરવી-અર્ધ-
અનુદિત મનથી-દ્વિવિ રમક-અણ્યાને ધરાવ વિચારોથી, દ્વિવિવે પુનિત્રનાવધે-
અઠાશોધનિપદ-સુદિ દ્વારા સત્-અસત્-સુખ-અનુકનો વિદ્યય મિષ્ઠાન-વિસુદ્ધ-અસ
એવ નિષ્કલ કરવી-કમ દત્ત પ્રકારનો ધર્મ મનુષ્ય પણ વાતવ્યેએ છે ।

ધર્મ વરંગત પુરુષોર્ રેવ-અથ અવસ્થ-સુદિવ્યક્તિને અનુરૂપ ધર્મોપદેશ
આવો છે ।

મહાધીરપ્રભુથી આરિત્રમાં મિત્રજ્ઞતા ધીરજ દ્વારે તેમો પોતાની પ્રતિકૂળમાં
દેપેદ સદ રહ્યા હતા સદૈવ સંપર્મમાં તેમો મમ રહ્યા ।

मूल

उहं अहेयं तिरियं द्विसासु,
तसा य जे थावर जेय पाणा ।
से णिचणिचेहि समिक्ख पन्ने,
दीवेव धम्मं समियं उदाहु ॥ ४ ॥

संस्कृतच्छाया

ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु दिक्षु,
ब्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणिनः ।
स नित्यानित्याभ्यां समीक्ष्य प्राज्ञः
दीप [द्वीप] इव धर्मं समितमुदाह ॥ ४ ॥

सं० टीका—अधुना सुधर्माचार्यस्तद्गुणान् स्फुटं प्रकटनचिकी-
र्षुराह—ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु दिक्ष्वथवा चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके ये जीवाः
“शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यावसानवर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरुपाधि-
शुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवन्ति, तथाप्यशुद्धनिश्चय-
नयेनानादिकर्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीवन्तीति जीवाः । ‘उप-
योगमया’ शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि सकलविमलकेवलज्ञानदर्श-
नोपयोगमयास्तथाप्यशुद्धनयेन क्षायोपशमिकज्ञानदर्शननिवृत्तत्वाज्ज्ञा-
नदर्शनोपयोगमया भवति । “अमूर्तय” यद्यपि व्यवहारेण मूर्त-
कर्माधीनत्वेन स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या सहितत्वान्मूर्तास्तथापि
परमार्थेनामूर्तातीन्द्रियशुद्धबुद्धैकस्वभावत्वादमूर्ता । “कर्तार” यद्यपि
मूतार्थनयेन निष्क्रियटकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावोऽय तथाऽप्यमूतार्थ-
नयेन मनोवचनकायव्यापारोत्पादककर्मबीजसहितत्वेन शुभाशुभकर्म-
कर्तृत्वात् कर्तार । “सदेहपरिमाणा” यद्यपि निश्चयनयेन सहजशुद्ध-
लोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशास्तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धाधीन-

त्वेन क्षरीरममकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटादिमात्र-
स्वप्रदीपकत्वं सदेहपरिमाणा । “मोक्षार” यद्यपि शुद्धद्रव्याधि-
कनयेन रागादिविकल्पोपाभिरहितत्वात्सोत्पत्तिसामृतमोक्षारस्तथाऽप्य-
शुद्धनयेन क्माविषसुखामृताभावाच्छुभाशुभकर्मजनितसुखदुःखमोक्ष-
त्वाद्मोक्षारः । “संसारत्वा” यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन निस्संसारनि-
त्पानन्दैक्यमावास्तवाप्यशुद्धनयेन द्रव्यक्षेत्रकालमात्रमवयवमकारसं-
सारे तिष्ठन्तीति संसारत्वा । “सिद्धा” व्यवहारेण स्वात्मोपलब्धि-
कक्षणसिद्धत्वप्रतिपक्षभूतकर्मोदयेन यद्यप्यसिद्धास्तथापि निश्चयनयेन-
नन्तज्ञानानन्त्युपलभ्यमावत्वात् सिद्धा । त एवगुणविवक्षितं बीजा ।
“वित्तसोर्गुगतिकाः ।” यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गतिव्यक्तकर्मोदय-
वशेनोर्गुचक्षिर्भगवत्स्वभावस्तथापि निश्चयेन केवञ्ज्ञानापनन्त्यु-
पावाप्तिकक्षणमोक्षगमनकाले वित्तसा लभ्यवेनोर्गुगतिकाभ्येति । एव
शुद्धाशुद्धमयद्वयविभागेन नमार्वा अप्युक्ताः । अगमार्थं पुन-
“मत्स्यात्माऽनादिकश्च” इत्यादिप्रतिद्वय एव शुद्धमयमितं बीवत्स-
कृष्णपादेयं शेषं च हेयम् । एवमिषा बीजास्तस्यन्त्युद्वेगं मय प्राप्तु-
वन्ति यदा परन्ति चैतत्ततो गच्छन्तीति व्रसा । “चरिण्यु भगम
चरं व्रसमिग चरचरमित्यमर ।” ते व्रसास्तु द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिय-
मेवाच्छुर्वा । तथा ये च स्वावराः प्रविज्यन्तेतेषां वायुबनस्पतिमेवा-
त्यपचा । तिष्ठन्तीति स्वावरा मृताः सत्त्वाभ्यापि, यथा च—

“प्राप्ता द्वित्रिचतुःशोका मृतास्तु सरणः स्मृता ।

बीजा पञ्चेन्द्रिया शोका शेषा सत्त्वा उदीरिता ॥”

“स्वावरो अगमेतर इत्यमर ।” एते प्राणानां धारकत्वाज्वाप्तिनो
भवन्ति । प्राप्तास्तु वक्ष्यमा यथा—“पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं वक्ष-

च, ह्युच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः, प्राणा दशैते भगवद्विरुक्तास्तेषां वियोगीकरण हि हिंसा ।” एते विद्यन्ते यस्य ते प्राणिनो, जीवस्याधुना तु बाह्यप्राणधनपराक्रमत्वात् “शक्तिः प्राण पराक्रम इत्यमरः ।” चार्वाकशाक्यादिमतनिराकरणेन पृथ्व्याद्येकेन्द्रियाणामपि जीवत्वमित्यावेदितम् । तान् जीवान्नित्यानित्याभ्या ध्रुवव्ययाभ्यां समीक्ष्य—ज्ञात्वा केवलज्ञानित्वात्मकर्षेण जानातीति प्राज्ञः । द्रव्यार्थिक—पर्यायार्थिकनयाश्रयणादावेद्येति भावः । स ज्ञातृपुत्रो महावीरो भगवान् तत्त्व—पदार्थ—स्वरूपाणां ज्ञापकतया दीपवदीप प्रकाशकत्वात् यथार्थधर्ममाह—उक्तवान् । सम्यक्तया समतया श्रुतचरित्रात्मक धर्म वीतरागभावेन रागद्वेषरहितत्वेन सद्नुष्ठानितया चेति । परमकारुणिको हि भगवान् लोकाननुग्रहीतुमेव धर्ममावेदितवान्नतु निजोत्कर्षप्रकाशनार्थमपीति सहृदयैर्ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—[से] उस [पक्षे] आत्मप्रज्ञ केवलज्ञानी प्रभुने [उद्ध] ऊपर [अहेय] नीचे और [तिरिय] तिरछी [दिमासु] दिशाओंमें [जे] जो [तसा] त्रस-हिलने सरकनेवाले (य) और [थावर] स्थावर [पाणा] प्राणी हैं, उनको [णिच्चणिवेहि] नित्य और अनित्यदृष्टिसे [समिक्ख] जान कर [दीवे व] दीवेकी सदृश अथवा विश्वसागरमें डूबते जीवोंकेलिए टापूकी तरह (धम्म) धर्मको [समिय] समानभावसे [उदाहु] बताया ॥ ४ ॥

भावार्थ—आर्य्य सुधर्म फिर्यों बोले कि-भगवान् महावीर त्रम और स्थावर जीवोंको जोकि-ऊपर-नीचे और डधर उधर भरे पडे हैं, सब जगह विद्यमान हैं, और जीवोंको उन्होंने पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य और द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य बताया है । और उनके उत्तम धर्मका उपदेश जगत्-नागरमें डूबते हुए प्राणिओंको टापूके समान सहारा देते है, और अज्ञानताके अधेरेको मिटानेके लिए दीवेके समान है । इस प्रवचनसे अनात्मवादका खण्डन हो जाता है

एवं बह-बहु-गुणी आदिमें जीव है वह विद्य किया है, और वैभवधनके सम्पन्न स्वच्छन्द-विद्यामयका सम्बन्ध निगूढरूप कर दिखाया है ॥ ४ ॥

श्रीसुधर्माचार्य बीर प्रभुके गुणों को प्रकट करते हैं !

भाषा-टीका—उर्ब-बीर मगधन्ते ऊर्ध्वशोक, मानसशोक, बन्धो-शोक कं सन बीर्षोका सकम् इति आश्रित कर्मेण करके बताया है कि—“जीव” यद्यपि जीवसमूह कुछ निश्चयमयसे आदि मध्य और अन्त से रहित, अपने और परके गुणोंपर प्रभुत्व, उपविष्टरहित और कुछ वैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्रत्यक्ष ही जीवित है, तथापि अमृत निश्चयमयसे अन्ति कर्मसम्ब के वस्तुसे जो अमृत इत्यत्रात् और भाव प्रत्यक्ष हैं उसी जीवित रहने के कारण यह जीव है ।

उपयोगमन्त्र—

यद्यपि हृदयस्थार्थिकमयसे परिपूर्ण तथा निरीक ज्ञान और वर्तन ही उपभोग हैं इसी से जीवसंज्ञा है, तब भी अमृत-मयसे आचोपक्रमिकमय और वर्तनसे मन्त्र हुआ है, इस लिए ज्ञानवर्धनोपभोगमय है ।

अमूर्त—

यद्यपि व्यवहारमयसे वह जीव मूर्त कर्मों के अधीन होने से स्पष्ट उस मन्त्र कर्मसम्ब मूर्तिके द्वारा उचित रहनेके कारण मूर्त है तथापि निश्चय मयसे अमूर्त इन्द्रियोंसे अचोपर, हृदयस्थ सामान्य कारण होने से अमूर्त है ।

कर्म—

यद्यपि जीव निश्चयमयकी दृष्टिसे किया रहित उपविष्टरहित धामनके सामान्य कारण है । तथापि व्यवहारमयसे मन्त्र कर्म तथा धर्मके व्यापारको उत्पन्न करनेको कर्मोंसे कुछ होनेके कारण कुछ और अमृत कर्मोंपर करनेवाला है, अन्त कर्म है ।

उर्बेह परिमाण—

यद्यपि जीव निश्चयमयपूर्वक सामान्यसे उत्पन्न हृदयस्थधर्मसके समान है और अर्धमन्त्र प्रवेष्टोपर कारण है, तथापि सहीर नाम कर्मोंके उर्बसे उत्पन्न-संश्लेष तथा विस्तारक अधीन होने से बड़े आदि पात्रोंमें रही हुए जीवकी उत्पन्न अपने वेदके परिमाण जितना है ।

भोक्ता-

यद्यपि जीव शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे रागादिविकल्परूप उपाधियोंसे शून्य है, और अपने आत्मासे उत्पन्न हुए अमृतको भोगनेवाला है, तथापि अशुद्ध-नयसे उस सुखरूप अमृतपदार्थके अभावसे शुभ कर्मसे उत्पन्न सुख और अशुभ कर्मसे उत्पन्न दुःखोंको भोगता है अतः भोक्ता भी है ।

संसारस्थ-

ससारमें स्थित रह कर अनेक पर्याय बदलता रहने के कारण संसारी है । यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनयसे संसार रहित है और नित्य आनन्दघन रूप एक स्वभावका धारक है तथापि अशुद्ध निश्चय नयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव इन भेदोंसे पांच प्रकारके संसारमें रहता है अतः यह आत्मा-जीव संसारस्थ भी है ।

सिद्ध-

यह आत्मा सिद्ध भी है । यथाह प्रज्ञापनायाम्—सितं वद्धं—
अष्टप्रकारं कर्मेन्धनम्, ध्मात् दग्धं जाज्वल्यमानशुक्लध्यानानलेन यैस्ते
निरुक्तविधिना सिद्धा । अथवा 'षिधु गतौ' इति वचनात् सेधन्ति
स अपुनरावृत्त्या निवृत्तिपुरीमगच्छन्, अथवा 'षिधु सराद्धौ' इति
वचनात् सिद्ध्यन्ति स निष्ठितार्था भवन्ति स । अथवा "षिधून्
शस्त्रे मागल्ये च" इति वचनात् सेधन्ति स शास्त्रारोऽभूवन्, मागल्य-
रूपता चानुभवन्ति स्मेति सिद्धा । अथवा सिद्धा नित्या अपर्यवसान-
स्थितिकत्वात्, प्रख्याता वा मन्वैरुपलब्धगुणसन्दोहत्वात्, आह च,

“ध्मातं सितं येन पुराणकर्म, यो वा गतो निर्धृतिः सौधमूर्ध्नि;

ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, य सोऽस्तु सिद्धः कृतमगलो मे”

अतः स सिद्धो नमस्करणीयश्चैषामविप्रणाशिज्ञान-दर्शन-सुख-
शक्त्यादिगुणयुक्ततया स्वविषयप्रमोदप्रकर्षोत्पादनेन भव्यानामतीवो-
पकारहेतुत्वादिति ।

मायार्थ—“जाठ प्रकारके कार्यरूपईश्वरको सुदृष्ट्यान्वी जाणने विस्मये बन्ध दिया हो वह सिद्ध होता है, अथवा कस्यर्थाक ‘विशु’ वातुसे सिद्ध अथवा अपुनरावृत्ति की अपेक्षा को निर्गुणितपुरीमें पहुँच गए हैं वह सिद्ध है; अथवा निष्कर्मार्थाक ‘विशु’ वातु द्वारा ‘सिद्ध’ बानी विस्मये अपने अपने अपने निष्कर्म किया है, और जो इच्छात्मक होगया हो वह सिद्ध है; अथवा साक्षात्कार और मांगस्यार्थाक ‘विशु’ वातुसे ‘सिद्ध’ बानी को स्रष्टव्यार्थ हो अथवा जो संगमरमरके असक्त अनुमते चला हो या जो कार्य संगमरमर हो वह ‘सिद्ध’ है; अथवा निष्कर्म कारण विनोदी स्थिति कनिष्ठादी है, अथवा मध्य जीवोंको विनोदे कुलसमुद्र उपस्थित होने से प्रसिद्धि प्राप्त हैं या विनोदि बांध हुआ पुण्या कर्म बन्ध दिया है, जो निर्गुणितम महत्त्व सिद्धारके ऊपर या पहुँच है, जो प्रसिद्ध है, अनुसृत करनेवाला है कृत्रिम है वह सिद्ध प्रभु हमारे लिए कृत संगम है समरसर करने योग्य है इसीलिए कि—वे कनिष्ठादी—मम दर्शन मुक्त सक्ति, आधिक्यसे युक्त हैं और कनिष्ठा आत्मन्तोत्कर्ष के उत्साह होनेसे मध्य जीवोंके ऊपर अप्रतिम उपहार करने से वे मध्य करने योग्य हैं। यद्यपि जीव व्यवहार कर्मके कारण कपटी साक्षात्कारी प्राप्ति रूप उपरोक्त सिद्धता युक्त है, और उसके प्रतिष्ठा कीजोके उदयसे अविद्ध है, तथापि निष्कर्म मयसे अचान्तज्ञान और अनन्तगुण समानता चारक होनेसे सिद्ध है

ऊर्ध्वगामी—

इस कहे हुए उर्ध्वोच्च चारक जीव समानसे ऊर्ध्वगमनकरनेवाला है, यानी व्यवहारसे चार पक्षियोंको पैदा करनेवाले क्योंकि उदयसे ऊँचा नीचा तथा सिद्ध गमन करनेवाला है, तथापि निष्कर्ममयसे केवलज्ञान आदि अनन्त-उर्ध्वोच्च प्राप्ति कसम मोक्षमें बन्ध जानेके कारण समानसे ऊर्ध्वगमन करने वाला है, इस प्रकार जीवका कसम झुझ और बाहुल्य बन्धी दृष्टिसे समस्तवा पनाही। और कन्दवि चरके कर्मोद्धार आत्मा कार्य बंधन संसारमें रह रहा है इसादि आयमका कर्म तो प्रसिद्ध ही है। और झुझ मय के अतिवृत्त जीवका कसम उपादेय बानी ग्रहण करने योग्य है और बाकी सम हेन है तथा कन्दके मय और स्थावर ये दो भेद हैं।

बस—

मस प्राणी वे हैं जो किसी के द्वारा मय जाध और उद्वेग प्रकर, य

सताया जाकर अपने बचनेके लिए जो इधर उधर भाग फिर सकते हैं, जिनके दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पांच इन्द्रिय, ये चार प्रकार हैं ।

स्थावर-

पृथिवी, पानी, आग, हवा, वनस्पतिके मेदसे पांच स्थावर हैं । ये अपने ऊपर आए हुए सकट से बचनेके लिए उद्यम करनेमें सर्वथा अशक्त हैं, बहुत थोड़ी समझ है, और जन्म मरण भी अधिक करते रहते हैं, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु के जीव ४८ मिनिट में १२८२४ बार मर कर जन्म लेते हैं, वनस्पतिमें निगोदजीवकी अपेक्षा ६५५३६ बार जन्मते मरते हैं । हमारा एक श्वास सुखसे आता है और वे १७ बार जन्म कर मरते हैं । अतः ये सब स्थावर कहलाते हैं । इन्हीं में भूत सत्व भी हैं यथा-

२-३-४ इन्द्रियवालोंको प्राणी सज्ञक जानना चाहिए । वनस्पतिकी भूत सज्ञा है । पांच इन्द्रिय वालोंको जीव सज्ञक माना है । पृथ्वी, पानी, आग, हवाको सत्व सज्ञासे पहचानते हैं । इन सब जीवोंमें १० द्रव्य प्राण होते हैं । जिनकी गणना इस भांति है ।

१० द्रव्य प्राण—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, मन, वचन, कार्य, आयुके प्रमाण, श्वास उच्छ्वासका लेना छोड़ना, इत्यादि १० प्राण हैं । यह प्राण धन सब जीवोंको अत्यन्त प्रिय है । जब इन पर मुसीबतका कुल्हाड़ा बजता है तब उस धनसे मोह एक दम हटा देता है । स्थावरोंमें जीव सिद्धि होनेसे चार्वाकादि का खण्डन हो जाता है । भगवान् ने इन सब जीवोंको द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य और पर्याय की दृष्टिसे अनित्य फर्माया है । इसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयके आश्रयसे भी समझाया है । प्रभु स्वयं टापू की तरह डूबते हुए संसारी जीवोंको सहायक भूत हैं, और उनका ज्ञान तत्व-पदार्थ का पृथक् ज्ञान करानेके कारण दीपकके समान हैं । दीपककी तरह स्व-पर रूपका ज्ञान प्रकट हो जाता है । यही भगवान् का धर्म है, जिसे उन्होंने और तीर्थकरोंकी भांति समता अर्थात् तुलनात्मक दृष्टिसे कहा है । इनका धर्मोपदेश करनेका आशय लोकोंको समभाव-उपशमभाव-अहिंसाभाव तथा सत्यका स्वरूप समझाकर संसारमें परोपकारिता फैलाना या कुछ अपना उत्कर्ष प्रकट करनेका उद्देश नहीं ॥ ४ ॥

गुजराती अनुवाद—सुधर्माचार्य वीरप्रभना गुणोज वर्णन करे छे ।

છઠ્ઠા પ્રમુ ખીલીરમવાને કર્મસેક બનેસોડ અને ત્રિહત્તોકના સમય
ચીપોર્તુ સક્ષ્મ જા પીતે વળેતેલું છે ।

જીવ-

જો કે જીવ સમૂહ છુદ્ધ નિશ્ચય નવની આદિ-મધ્ય અને અન્ત રહિત, જ
ત્વા પર શુભ પ્રશ્નરુદ્ધ, સપાધિ રહિત અને છુદ્ધ નૈત્ય (જ્ઞાન) સ્વ નિશ્ચય
પ્રાપ્તી ઝીમિત છે । છો પળ અહુદ્ધ નિશ્ચય મયે અન્યદિ કમી વંચના કરાને જો
અહુદ્ધ દ્વ્ય પ્રાપ્ત અને પ્રાપ્ત પ્રાપ્ત છે તેમજી ઝીમિત રહેવાને કરાને જીવ છે ।

અપયોગમય-

જો કે છુદ્ધ દ્વ્યાર્થિક મયે જીવ પરિપૂર્ણ ત્વા વિચીક દ્વ્ય ર્થન મવ છે
છો પળ અહુદ્ધ મયે જ્ઞાનોપસાધિક દ્વ્ય ર્થન શુદ્ધ છે । તેવી જીવ દ્વ્યાર્થનોન-
ચોમમની છે ।

અમૂર્ત-

અવહારત્વની જા જીવ મૂર્તિ કયોમિ વજ્જ હોવા થી સ્વર્ગ-રસ-વંચ-વર્ણ
કલ્પી મૂર્તિની રચિત હોવાના કરાને મૂર્તિ છે । પળ નિશ્ચય મયે અમૂર્ત દ્વિત્રવોની
અવોચર દ્વ્યસ્વ સમાવનો ચારક હોવાની અમૂર્તિ છે ।

કર્તા-

જીવ નિશ્ચયને કિન્ના રહિત, અપાધિરહિત અવ્યક્તનો અમાત્તનો ચારક છે;
પળ અવહાર મયે મન-જ્ઞાન-ક્રમવા આપારને અત્તવ કરવાવર્ણ્ય કયોની સહિત
હોવાના કરાને હુમાહુમ કમીયો કર્તા છે ।

સત્વેહ પરિમાણ—જીવ નિશ્ચય પૂર્વિક સમાવની અત્તવ છુદ્ધ એકામત
અમ્પન છે તેમજ અસક્ષ પ્રદેહોનો ચારક છે । પળ સરીર યામકમીવા વરને વજા
નિગેરે પાત્રમાં રહેલ સીન્ધની મ્પાક સંકોચ નિચોક્કમ્ય હોવાના કરાને સેહમ્પાન
રહે છે ।

મોક્ષા—છુદ્ધ દ્વ્યાર્થિક મયે જીવ અપાધિ નિશ્ચયસ્વ અપાધિની રહિત
છે તેમજ નિશ્ચયની અત્તવ અમૂર્તનો મોક્ષા છે । પળ અહુદ્ધને તે શુદ્ધસ્વ અમૂર્ત
પરર્થોવા અમાલે હુમકમીની અત્તવ શુદ્ધ અને અમુમ કમીની અત્તવ શુદ્ધને
મોક્ષ છે ।

સંસારસ્થ—સંસારમાં રહીને પર્યાય વદલતા રહેવાને કારણે સસારી છે, જો કે શુદ્ધ નિશ્ચય દૃષ્ટિએ જીવ સસાર રહિત છે, તેમજ નિત્ય આનંદધનરૂપ સ્વભાવનો ધારક છે, તો પણ અશુદ્ધ નિશ્ચય નયે દ્રવ્ય-ક્ષેત્ર-કાલ-ભાવ-ભવ એ પાંચ પ્રકારે સસારમા રહે છે, તેથી આત્મા-જીવ સસારસ્થ પણ છે ।

સિદ્ધ—આઠ પ્રકારના કર્મરૂપ દૃઢધનને શુક્લધ્યાનની આગ વડે જેને વાઢી વીધા હોય, તે સિદ્ધ છે, અથવા ગત્યર્થક “પિધ્” ધાતુ થી સિદ્ધ અર્થાત્ અપુનરા-વૃત્તિની અપેક્ષા જે નિવૃત્તિ પુરિમા પહોંચી ગયા છે, તે સિદ્ધ છે, અથવા નિષ્પત્ત્યર્થક “પિધુ” ધાતુ થી સિદ્ધ એટલે જેને પોતાના અર્થ નિષ્પન્ન કર્યા છે, અને જે કૃતકૃત્ય થઈ ગયા છે, તે સિદ્ધ છે, અથવા શાસ્ત્રાર્થક તેમજ માગત્યાર્થક ‘પિધુન્’ ધાતુથી સિદ્ધ અર્થાત્ જે શાસન કર્તા છે, અથવા જે મંગલત્વના સ્વરૂપના અનુભવ કર્તા છે, અથવા જે સ્વયં મંગલરૂપ છે, તે સિદ્ધ છે, અથવા નિત્ય હોવાના કારણે જેની સ્થિતિ અવિનાશી છે, અથવા ભવ્ય જીવોમા જે ગુણસમૂહ ઉપલબ્ધ હોવાના કારણે પ્રસિદ્ધિ પામેલા છે, અથવા જેને પૂર્વે ધાધેલા જુના કર્મો વાઢી નાર્યા છે, જે નિવૃત્તિ મહેલના શિખર પર વિરાજે છે, જે પ્રસિદ્ધ છે, શાસન કર્તા છે, કૃતાર્થ છે, તે સિદ્ધ પ્રભુ ઉદાસીન રૂપેણ આપણા મંગલના કરનાર છે, નમસ્કાર કરવા યોગ્ય છે, એટલા માટે કે તેઓ અવિનાશી જ્ઞાન, દર્શન, સુખ, શક્તિ આદિ થી યુક્ત છે, અને સ્વવિપય આનન્દોત્કર્ષ ઉત્પાદક હોવાથી ભવ્ય જીવો પર અપ્રતિમ ઉપકાર કરવાને લીધે નમન કરવા યોગ્ય છે, જો કે જીવ વ્યવહાર નયે પોતાના આત્માની પ્રાપ્તિરૂપ ઉપરોક્ત સિદ્ધત્વ ગુણવાળો છે, ને તેના પ્રતિપક્ષી કર્મોના ઉદયે અસિદ્ધ છે, તો પણ નિશ્ચય નયે અનન્તજ્ઞાન અને અનન્તગુણ સ્વભાવનો ધારક હોવાથી તે સિદ્ધ છે ।

ઉર્ધ્વગામી—ઉપરોક્ત ગુણો ધારણ કરનાર જીવ સ્વભાવથી ઉર્ધ્વગમન કરવા વાળો છે, અને વ્યવહારે ચતુર્ગતિમા રચઢાવનાર કર્મોના ઉદયથી ઝૂંચી, નીચી તથા તિરછી દિશામા ગમન કરવાવાળો છે, તો પણ નિશ્ચય નયે કેવલજ્ઞાન નાદિ અનન્ત ગુણોની પ્રાપ્તિ સ્વરૂપ મોક્ષમા જવાના કારણે સ્વભાવથી ઉર્ધ્વગમન કરવાવાળો છે, આ રીતે શુદ્ધ અને અશુદ્ધ નયે જીવનું સ્વરૂપ સમજાવેલું છે, અનાદિકાલથી કર્મવધથી વધાણેલો આત્મા સસારમા રચઢીજ રહ્યો છે, ઇત્યાદિ, આગમથી પ્રસિદ્ધ છે, શુદ્ધ નયે જીવનું સ્વરૂપ ઉપાદેય અર્થાત્ પ્રહ્ણ કરવા યોગ્ય છે, અને વાકી વીજુ વધુ હેય છે, તેના ત્રસ અને સ્થાવર એવા વે મેદ છે ।

अस-धौरे बी मय प्राय, खीग पाभीने मयका सत्प्राप्ती पमत्त पोतका
बकाय जयें जे मही ठही हरी फरी के मयी चाके छे ते अस छे तेना बेरिय
ट्रैंग्रिय बीरियिज बने पंचेदिय एका बार मेर छे;

स्यावर-पृष्णी-पाणी-अग्नि-वासु अये कमस्ति ए पांच स्यावरना मेर छे ।
तेको पोतका पर मयी पडेका सैकठोमांकी बचकाको प्रसन्न करकाया सदैवा जसक
छे पचीन जोड़ी समजकाय छे जसमभरक बर्षा करे छे- पृष्णी-पाणी-अग्नि
अने वासुद जीको ४८ क्रिमिड्यां १२८१४ बार जन्मे छे ते मरे छे कमस्तिमां
निबोदका बीको १५५३९ बार जन्मे मरे छे एक साठोभातमां ते दृढ
भव करे छे आनी का बका स्यावर कहेबाव छे । का बरेकमां जीव छे अने
ते केव जसके छे ते बीचेनी हरीकते समबाधे ते कामने धरि छे अने
तेका धरिने मनुष्यका धरि खाके छुटी छुटी रीते घरकाबनामां आवे छे ।

पृष्णीकाय-जैम मनुष्यने काह बालेहुं होय अने का पडेक होय ते
रखत घीमे घीमे भराव जाय छे तेम कोरेकी खानो पच लव मरुद
जाय छे जैम बकाकाको काकावर मनुष्यका पचनुं लज्जिक जसक छे तेम बचनुं
जाय छे तेकीन रीते मज्जको-मज्जपणी तथा काहनोनी जायबाव बकाबी पृष्णी पच
रोज पचय छे ते रोज बचका फाये छे जैम बालक बने छे तेम पचैत पच घीमे
घीमे निझ बने छे मज्जकने कोनुं पकड़नुं होयतो मज्जकने कोका फसे बनुं पडे छे
ह्यारे कोह नुबड मज्जको फवर पोतकने स्यावे रहीवे पोतकी कैतन्य राखि बी
मोदने पोतकी पडे लेकी छे छे मज्जकन देठमां पचरीको रोम जाय छे ते
सबत फवर होबाकी निझ बने छे मज्जकीन देठमां रहेन मोदी पच एक
जातको फवर छे अने ते पच निझ बने छे जैम मज्जकन धरि रमांका हाक-
कांजी जीव होय छे तेम पचरमां पच जीव होय छे ।

अपकाय-जैम पचीन्य ह्दमां रहेक प्रकाही पचावै पंचेदिय पचीन्य
विड रूपे छे तेम पाचीन्य जीको पच तं पंचेदिय बीबोन्य विड रूपे छे
मनुष्य तथा दिव्य बर्म जकस्यमां ककभ्यातमां प्रकाही पाणी रूपे होय छे तेम
पाणीमां पच जीव समजक जैम बिबातमां मनुष्यका मुखमांकी बउछ नीकछे
छे तेम कुआना पाणीमांकी पच बउछ नीकछे छे जैम बिबातमां मनुष्यनुं धरि
करय होय छे तेम बिबातमां कुआनुं पाणी पच गरम होय छे जैम घरनीमां
मनुष्यनुं धरि पीतछ होय छे तेम बकाकां कुआनुं पाणी पच पीत होय छे,

જેમ મનુષ્યની પ્રકૃતિમા પળ શરદી તથા ગરમી હોય છે, તેમ પાણી ની પ્રકૃતિમા પળ શરદી તથા ગરમી હોય છે, જેમ મનુષ્યનુ શરીર શિયાળામા અકઢાઈ જાય છે, તેમ શિયાળામા તઢાવનુ પાણી પળ અકઢાઈ જઈને વરફ વને છે, જેમ મનુષ્ય વાલ્યાવસ્થા, યુવાવસ્થાને વૃદ્ધાવસ્થા જેવા નવાં રૂપ ધારણ કરે છે, તેમ પાણી પળ વરાઢ-વરફ ને વરસાદ આદિ રૂપ વારણ કરે છે, જેમ મનુષ્યનો દેહ માતાના ગર્ભમા પાકે છે, તેમ પાણી પળ છ માસ વાદઢામા ગર્ભ રૂપે પાકીને વર્ષાનું રૂપ ધારણ કરે છે, જેમ મનુષ્યનો કાચો ગર્ભ કોઈક વાર ગઢી જાય છે, તેમ પાણીનો પળ કાચો ગર્ભ ગઢી જાય છે, જેને કરા પઢ્યા કહેવાય છે,

તેજસ્કાય—જેમ મનુષ્ય શ્વાસોશ્વાસ સિવાય જીવી ન શકે, તેમ અમિ પળ શ્વાસોશ્વાસ સિવાય જીવી શકતો નથી, જેમ તાવમાં મનુષ્યનુ શરીર ગરમ રહે છે, તેમ અમિના જીવો પળ ગરમ હોય છે, મરણ પામવાથી મનુષ્યનુ શરીર ઠઢુ પઢી જાય છે, તેમ અમિના જીવો પળ મરી જવા થી ઠઢા પઢી જાય છે, જેમ આગીયાના શરીરમા પ્રકાશ હોય છે, તેમ અમિના જીવોમા પળ પ્રકાશ હોય છે, જેમ માણસ ચાલે છે, તેમ અમિ પળ ચાલે છે, ંટલે અમિ ફેલાઈને તે આગઢ વધતો જાય છે, જેમ મનુષ્ય ઌકસીજન [પ્રાણવાયુ] હવા લે છે, ને કાર્બન [વિષવાયુ] વહાર કાઢે છે, તેમ અમિ પળ ઌકસીજન હવા લઈને કાર્બન હવા વહાર કાઢે છે ।

વાયુકાય—હવા હજારો ગાઢ સુધી સ્વતન્ત્ર રીતે ચાલી શકે છે, હવા પોતાના ચૈતન્ય વઢથી મોટા વિશાઢ વૃક્ષ તથા મોટા મહેલોને પાઢી નાખે છે, હવા પોતાનુ શરીર નાનામાથી મોટુ બનાવે છે, વર્તમાનકાઢમા વિજ્ઞાનિઓ શોધ કરી છે, કે હવામા થેક્સસ નામના સૂક્ષ્મ જતુઓ ઉઢે છે ને તે ંટલા સૂક્ષ્મ છે કે, સોયની ંળી જેટલા માગમા ંક લાખ જતુઓ સુલેથી આરામ પૂર્વક વેસી શકે છે ।

વનસ્પતિ કાય—મનુષ્યનો જન્મ માતાના ગર્ભમા રહ્યા પછી થાય છે, તેમ વનસ્પતિના જીવો પળ પૃથ્વીમાતાના ગર્ભમા અમુક સમય રહ્યા પછી વહાર નીકઢે છે, જેમ મનુષ્યનુ શરીર નિત્ય વધે છે, તેમ વનસ્પતિનુ શરીર પળ નિત્ય વધે છે, જેમ મનુષ્ય વાલાવમ્થા-નુવાવમ્થા ને વૃદ્ધાવસ્થા મોગવે છે, તેમ ત્રણે અવસ્થા વનસ્પતિ પળ મોગવે છે, જેમ મનુષ્યના શરીરને કાપવાથી લોહી નીકઢે છે, તેમ વનસ્પતિના શરીરને કાપવાથી તેમાંથી પ્રવાહી પદાર્થ વિવિધ રગના નીકઢે છે,

એમ જોરાક મઠવાથી મનુષ્યનું સરીર પુરૂ જાય છે અને ન મઠવાથી મુઝઈ જાય છે તેમ વનસ્પતિ પણ જાતર તથા પાણીનો જોરાક મઠવાથી તે વિકસત પડે છે, અને તેના જમાવે તે મુઝઈ જાય છે એમ મનુષ્ય ધાતુ છે છે તેમ વનસ્પતિ પણ ધાતુ છે છે વિકસે કાર્બન હવા કાઢેને તાજે વનસ્પતિ ઓઝોનીઝમ હવા બહાર કાઢે છે એમ કેટલાક મનુષ્યો માંસાહારી હોય છે તેમ વનસ્પતિ પણ માલી-પર્ણ જારિ મધ્ય બીજોના તત્ત્વને પોતાના પાંદડા વધી પુષ્ટી છે છે આ જાતર અને હવા દ્વારા માંસાહાર કરે છે જનસુક્ષી પુણ્ય જનમધ્યથી છાને વૈ સૂર્યસુષી પુણ્ય સૂર્યની છાને જીવે છે અને તેમના જસ વચથી બીજાઈ જાય છે ।

તેમાં મૂલ-કલ્પ પણ છે એમકે વૈ-જન-જાર હિન્દિયજાત્ય બીજો પ્રકારી કરે જાય છે વનસ્પતિને મૂલ પાંચ હિન્દિયજાત્યને 'ગ્રીષ્મ' અને રૂષ્ટી-શર્મી-અગ્નિ-શુક્રને 'સત્ત્વ' કહે છે એ વચા બીજોમાં ૧ રૂપ્ય પ્રાપ્ત હોય છે એવી વનસ્પતિ બીજે મુજબ ની છે ।

પાંચ હિન્દિય મમ જનન જન આપુણ્ય રજાજોરાસત્ત્વ એ રજ પ્રાપ્ત છે, આ પ્રાપ્તન સર્વ બીજોને અસન્ત પ્રિય છે ।

સ્થાવરોમાં ગ્રીષ્મ હોવાનું સ્થિતિ વચના પુરૂ કારણે જાત્ક-ગદિયક ગદિયું રાંડન થઈ જાય છે આ સર્વ બીજો રૂપ્ય રાંડિય મિસ અને વદાય રાંડિય અવિસ છે એમ મહાબીર મયજાને કરમાવેલું છે પ્રમુ પોત વેદ જમાલ રૂપ્ય સંસારી બીજાને સ્થાવર છે તેમજ સમસ્ત જ્ઞાન તત્ત્વનો નિર્ભય કરાવવાને કારણે રીપક જમાલ છે રીપક જમાલ સ્થાવ-વરજાતું જ્ઞાન પ્રવદ થઈ જાય છે આ મગજરજો થને છે કે જે રેમોએ જુમ્માત્મક રાંડિ બી કહેતો છે । જર્વેતરેસ કરવાનો તેમજો રોષ મોજોને સમમાલ-શામિત-મદ્દિસ-કર્ણનું સ્થાવ જમાવથીને પતોપધાર કર વખો હતો પણ પોતાનો રત્તર્ક પ્રગટ કરવાનો ન હતો ॥ ૪ ॥

મૂલ

સે મધવસી અભિમૂય નાળી,
ગિરામગધે ધિદ્મ ઠિયપ્પા;
અણુતરે સઘજગસિ ધિઝ,
ઘયા અર્તીતે અમળ અળાઝ ॥ ૫ ॥

संस्कृतच्छाया

स सर्वदर्शी अभिभूय धानी, निरामगन्धो धृतिमान् स्थितात्मा ।
अनुत्तरः सर्वजगति विद्वान्, ग्रन्थादतीतोऽभयोऽनायुः ॥ ५ ॥

सं० टीका—स जातृपुत्रमहावीरो भगवान् सर्वदर्शी समासीत्,
किं कृत्वा, अभिभूय=यावद्वाविंशतिपरिपहान् तिरस्कृत्य पराजयं
कृत्वेति । पुनः केवलाख्यं ज्ञानमस्यास्तीति सः । “अत इनिठनौ ।”
परतीर्थाधिपाधिकत्वमावेदितमित्यनेन ॥ अथ ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष इति
तस्य भगवतो ज्ञानं प्रदर्श्य क्रियां दर्शयितुमाह ॥ निर्गतोऽपगत आमो
विशोधिकोटिरूपो गन्धो यस्मात् सोऽस्ति निरामगन्धो=मूलोत्तरगुणस-
मन्वितां चरित्रक्रिया कृतवान् इति । धृतिमान् स्थैर्यसम्पन्नो निश्चलतया
चरित्राराधकः । स्थितात्मा=निर्मलात्मा शुक्लध्यानीति, यावदथवा
स्थित्यात्मा मर्यादान्वितात्मा, यथा “सस्यातुं मर्यादा धारणा स्थिति-
रित्यमर ।” अशेषकर्मविगमात्स्थितो व्यवस्थित आत्मा यस्य स
स्थितात्मा । परिणामद्वारेण विशेषणं ज्ञानक्रिययोरेतच्चेति भावः ।
अनुत्तर=उत्कृष्टः श्रेष्ठो नास्मादुत्तरं प्रधान सर्वसिन्नपि जगति विद्यते
सोऽनुत्तरः । “अनुत्तर एषा विपर्यये श्रेष्ठ इत्यमरः” । विद्वान्=
सर्वहेयोपादेयज्ञेयपदार्थवेत्ता, सकलद्रव्याणां करतलमलकवत्प्रत्यक्षद-
र्शीति भावः । “विद्वान् विपश्चिदोपज्ञ सन्सुधी कोविदो बुधः, धीरो
मनीषी ज्ञः प्राज्ञः, इत्यमरः” । ग्रन्थादतीतो=ऽन्तर्वाह्यपरिग्रहग्रन्था-
दतीतो रहितः, अथवा कर्मरूपाद्ग्रन्थादतिक्रान्तो रहितो निर्ग्रन्थ
इत्यर्थः । प्रवृत्तिभावेऽथवा कर्मपर्वणोऽतीत इत्याशयः । “अन्थिर्ना
पर्वपरुषी इत्यमरः” । अभयः=सप्त प्रकारक भयं न विद्यते यस्या-
सावभयो भीतिरहितः । “दरस्त्रासो भीतिर्भी साध्वसं भयमित्यमरः” ।
अनायुः=नारकतिर्यङ्मनुसुरायुरहितत्वात् । दग्धकर्मबीजत्वेन पुनरु-
वीर ५

त्पादस्यामावाचेत्यर्थः । “दग्धे भीमे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः ।
कर्मभीमे तथा दग्धे, नारोहति भवांकुर इति” ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—[ये] वह [सम्पदेंसी] सब कुछ देखनेवाले मनकर
[अभिमुख] छात्रोपसमिक ज्ञानोको पीतकर [गानी] केवलज्ञान संतुष्ट,
[विष्णुमय] निर्दोष चरित्र पाप्मेवाले [विष्णु] भीरव सम्निवृत्त [छिन्ना]
अपने आत्म-सत्यमें स्थिर-रूप [सम्पदेंसी] अखिल विधमें [अन्तरे]
सम्पत्ते उत्कृष्ट [विश्व] पदार्थोंके ज्ञानवेष्टाके सर्वज्ञ-सर्वविषयज्ञ [गंगा] परिग्रह
प्रवीणसे [असीधे] रक्षित [अमर] सत्त मनोंसे रक्षित [अमर] और
अमर रक्षित वे ॥ ५ ॥

भावार्थः—महावीर स्वामी सामान्यरूपसे पदार्थोंके ज्ञानवेष्टाके
तथा मति-शुद्धि-अवधि और मन-पूर्वक इन सब छात्रोपसमजन्य ज्ञानोंको अंक
कर केवलज्ञानसमुत्पन्न थे, और उन्होंने वह भी बताया कि ज्ञान और चरित्रसे
ही मोक्ष होता है अतः प्रमुक्त ज्ञानज्ञ वर्णन करके चरित्रज्ञ वर्णन करते हैं । मय
अपने मूढगुण और उत्तरगुणोंका पूर्णतासे पक्कन किया तथा अनेक विध व्यास
और परिग्रह पढ़नेपर भी अचरित्रमें निश्चल रहे । अमररूप हीनों ओरमें सम्पत्ते भेद
निदान परिग्रह रक्षित निर्मल्य और सत्तमनोंसे रक्षित तथा सब कर्मोंसे मुक्त थे ॥५॥

भावार्थ-टीका—अनु २९ परिग्रह और शारीरिक आनन्दिक कष्ट तथा उप-
श्रित एवं ज्ञानस्वरणीवाहिक आन्तरिक अनुभूतियोंके पीत कर केवल ज्ञानी हो गए ।
आपने ज्ञानको प्रमुख पद लेकर संसारको कियाका भी त्याग कर दिया । और
वह सिद्ध कर दिया कि ज्ञान और किया ही दोनोंका आश्रय देनेसे मोक्ष
है । अतः वे सर्व आनन्द-मूढ गुण और उत्तर गुणकारी दोनोंसे रक्षित
थे । आपने भीरवसे चरित्रका पक्कन किया । आपका ही अन्तःस्वभावमें स्थिर किया ।
कर्मोंका सर्वथा त्याग करनेके लिए निश्चयपूर्वक होकर स्थिर रहे, स्थिरता बरका
प्रवाद गुणवा । और अज्ञान-पाकर ज्ञान पर बने आत्मके ही तरह सब बुरा
चरको त्याग किया । क्योंकि अन्तर और बाह्य परिग्रहसे रक्षित होकर कर्म
प्रशिक्षण सर्वथा भेदनकर मुक्त थे अतः आप निर्मल्य थे । वही कारण है कि
बौद्धिक आपको अब तक भी शिष्यरूपके नामसे स्मरणमें रहते हैं । आप
कर्म अमर रहकर जीवोंके निर्मल बनावेके अर्थ उपदेश देते और ओरोंसे

सच्चा वीर रस पैदा करते । देव, मनुष्य, पशु और नरकके आयुके लम्बे तारोंको तोड़ फोड़ कर नष्ट कर दिया । क्योंकि जब बीजको सैक भून दिया जाता है तब उसे बोया भी जाय तब भी वह अकुर नहीं देता अर्थात् उसकी सृष्टि अगाधी नहीं बढती, इसी प्रकार कर्मबीज नष्ट होने पर ससारका अकुर अर्थात् जन्म और मरण नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

गुजराती अनुवाद—२२ परिग्रह, शारीरिक तथा मानसिक कष्ट, रोगादिक तथा ज्ञानावरणीयादिक आन्तरिक शत्रुओंने जीतीने प्रभु केवलज्ञानी यथा, अने ज्ञानने प्रसुप्त पद आपीने ससारने क्रियानुपण भान कराव्यु, अने सिद्ध करी बताव्यु के ज्ञान अने क्रियाधी मोक्ष छे, मूल तथा उत्तरगुणे दोष रहित सयमना पाळनारा, धैर्यवान्, सर्व कर्म नाश करवाधी स्थित आत्मवान्, सर्व जगत्ने विषे प्रधान ज्ञानवान्, बाह्य अने अभ्यन्तर परिग्रह रहित तेमज कर्म-ग्रन्थीनो सर्वथा नाश करवाधी निर्ग्रन्थ यथा आ कारणे बौद्धादिक आपनु 'निर्गण्ठ' (निर्ग्रन्थ) एवा नामधी स्मरण करे छे, आप सात भय रहित यथा, अने बीजाओंने निर्मय बनाववाने माटे उपदेश देता, अने लोकोसा साचो वीर रस पैदा करता, चार गतिना आयुध्य रहित ज्ञातृपुत्र श्रीमहावीर देव हुता, कारणके ज्यारे बीजने शेकी नाखवामा आवे त्यारे तेने वाववामा आवे तो पण ते 'लगतु नथी, आ रीते कर्मबीजनो नाश थई जवाधी ससारना अकुर जन्म-मरण नाश पामी जाय छे ।

मूल

से भूइपन्ने अणिए अचारी,
ओहंतरे धीरे अणंतचक्रु ।
अणुत्तरे तप्पइ सूरिए वा,
वइरोइणिंदे व तमं पगासे ॥ ६ ॥

संस्कृतच्छाया

स भूतिप्रक्षोऽनियतचारी, ओघंतरो धीरोऽनन्तचक्रुः ।
अनुत्तरं तपति सूर्य इव, वैरोचनेन्द्र इव तमः प्रकाशः ॥ ६ ॥

सं० टीका—‘से इति’ । श्रुति शब्दो ब्रह्मै, सम्पदि, ऐश्वर्ये, भस्मनि वर्तते, श्रुतिप्रज्ञायाः प्रवृत्त्यर्थान्नोऽनन्तज्ञानवानिति, तथा च श्रुतौ भस्मनि कर्मणां भस्मसात्करण इत्यर्थः कर्मक्षय इति यावत् प्रज्ञा यस्य स श्रुतिप्रज्ञः, तथा समयात्मैश्वर्योदयवान् च । “श्रुतिर्भस्मनि सम्पदि, इत्यमरः” । पुनस्तथा श्रुतिप्रज्ञो जगद्रक्षाधिपमको श्रुतिप्रज्ञः । सर्वमगच्छश्रुतिप्रज्ञ इत्यपि, । अनियतचारी=अप्रतिबन्ध-विहरमाणत्वात्, वायुरिवेति यावत् । ओष संसारं खरीतुं क्षीकृत्येति ओषधरः । उत्पद्यमानयोः ओष परम्परां तरतीति सा । “ओषो वेगे जलस्य च । ब्रुन्दे परम्परायां च, ब्रुतनृत्योपवेशयोरिति” मेदिनी । अथवा कर्मणामोषं समूहस्तु तरतीति ॥ । “ओषो ब्रुन्देऽम्मतां रय इत्यमरः” । वीरुद्विस्तया राजत इति वीरः,=परिपहोपसर्गेऽश्वोभ्यो ब्रुवो वेति वीरः । “वीरोमनीपी श्च प्राज्ञ इत्यमरः” । अनन्तत्वा-च्छुर्मान् तत्केवलज्ञानमेव तदेव कश्चुमूतः सोऽनन्तचक्षुरिति । यथाक्-सूर्योऽनुचरमुत्कृष्टं सज्जतोऽधिकं तपति न तस्मादपि कस्यापे कश्च-नास्ति, तथैव भगवानपि ज्ञानेन सम्पूर्णकृष्टः । पुन कश्चमूतो हि सूर्यो, विशेषेण रोचनो दीप्तिमान्, प्रकाशकपिकत्वात्, इन्द्रोऽसौ यथा तमोऽपनीय-वूरीकृत्य प्रकाशयति, एवमसावपि भगवानज्ञानत-मोऽपहृत्य यथावस्थितपद्मार्थान्यकाशयतीत्यर्थः । ‘विरोचन इत्यत्र तार्क-ऽपि, वैरोचन सूर्योऽयवागिरिष कर्मोन्मथनं ण्वात्त्वित्वा अकर्मकः परिशुद्धो जात इत्यपि । “विरोचन प्रस्तादस्य तनयेऽर्केऽग्निचन्द्र योरिति मेदिनी ।” विरोचनो रविरेवेति बहुमतम्, यथा—“तरसि द्यपनो मानुर्बद्धः पूषाम्पमा रविः, तिग्माः पतंगो शुमणिर्मार्तण्णेऽर्को महापिप इमः सूर्यस्तमोष्वात्तस्मिरारिर्विरोचनः । इति धनञ्जयमा-

ममालायाम्” । “द्युमणिस्तारणिर्मित्रश्चित्रभानुर्विरोचन इत्यमरः” विरोचन एव वैरोचनः सूर्य । स इव प्रकाशोऽतिप्रसिद्धो, जगद्विख्यातो ज्ञातपुत्र—महावीरप्रभुरित्यर्थः । “प्रकाशोऽतिप्रसिद्धोऽपीत्यमरः” । अथवा स. प्रभुर्ज्ञानात्पने महान् इति । “प्रकाशोद्योत आतप इत्यमरः ।” ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—[से] वे भगवान् [भूदृषण्णे] अत्यन्त बुद्धिमान् [अणि ए अचारी] विचरते नमय प्रतिबन्ध रहित [ओहतरे] समार समुद्रसे पार होने-वाले [धीरे] धैर्यवान् [अणतचक्खु] अनन्तज्ञानवान् [अणुत्तर] सबसे अधिक पवित्र-श्रेष्ठ [तप्पति] तपश्चरण करनेवाले [सूरिए वा] सूर्यके समान तथा [वड्ढोयणिंटे व] वैरोचन नामक अग्नि के सदृश [तम] अज्ञानान्धकारको नष्ट करके [पणासे] ज्ञानद्वारा तत्त्वोंको प्रकाशित करते थे ॥ ६ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीरकी प्रज्ञा ससारका मगल कल्याण एव रक्षा करनेवाली थी, उनका भ्रमण अप्रतिबद्ध था, क्योंकि वे सर्वथा परिग्रहसे रहित थे, उनका चरित्र ससार समुद्रसे पार करनेवाला था, परिग्रह-शत्रुओंका आक्रमण समान भावसे सहन करते थे, इसीसे धीर एव धी-बुद्धिसे राजित शोभित थे, अनन्त ज्ञेय पदार्थोंके ज्ञाता थे, इसीकारण अनन्त ज्ञान सहित थे, विश्वमें सबसे अधिक तप करते थे, और जिसप्रकार सूर्य अन्धकारको नष्ट करता है अथवा वैरोचन नामक अग्निके जलनेसे अन्धकार या काष्ठका नाश होता है उसी प्रकार महावीर भगवान् भी अज्ञान अन्धकार या कर्मकाष्ठके नाशक थे ॥ ६ ॥

भाषा-टीका—वीर भगवान्का ज्ञान चौथी भूमिकासे बढकर अनन्त-बुद्धिको प्राप्त होगया । यह अत्यन्तज्ञानमय ऐश्वर्य सर्व्वथा प्राप्तिया कर्मक्षयकरनेपर ही मिला । तब ससारके लिए आप मगलभूत और रक्षक बने तथा आपका वायुकी समान अप्रतिबद्ध विचरणथा । आपने ससारके समुद्रको पार किया । उपदेश दान देकर औरोंको भी जन्म मरणसे मुक्त कर दिया, जिससे कहा जा सकता है कि—कर्मके समौघसे आप पार हुए । परिग्रह और उपसर्ग सहते समय किसी प्रकारका शोभ न होनेसे आप धीर थे । इसीके बाद आप अनन्त चक्षुवाले कहलाए । जिस तरह सूर्य चन्द्र तापसे तपता है

सही तरह महावीर मगधरानी ज्ञानकी अनन्तताकी अपेक्षा सम्बोधित थे । उस ज्ञानसे मगधान् जनताके लक्षणानुसारके अपहरण करके बचाने कीसिसे ज्ञानसे आत्मिक-प्रकट करनेवालोंमेंसे थे । प्रभुने अग्निकी तरह कर्म रूप ईश्वरको भी बलकर अनन्त संसारकी अज्ञान आत्माओंको प्रकट कीसिसे परिशुद्ध किया । जोम सूर्यकी तरह मगधान् महावीर प्रभु अद्विष्ट विधर्म अद्विष्टीय प्रसिद्धि प्राप्त महापुरुष थे । अधिकतर संसारमें जनमनों प्रभुकी हान-कान्ति ही सब ओर चमक रही थी ॥ ६ ॥

शुद्धयसी अनुवाक—बीर परमात्मानु ज्ञान जोभी भूमिकाकी वशीने अनन्ततासे प्राप्त बल, कर्मोंको कर्म बचावी सम्पन्न अनन्तज्ञानवाला बचाने संसारता मध्य संसार सेमक रहक सेमो बचाने समान अप्रतिबंध सिद्धांत संसार समुद्रमें तारकर मगधर हठा बीजाओंने उपदेश दान करीने जन्म मरणकी मुक्त कालवार हठा परिषद सेमक उपसर्ग सहटी बचसे आपने कोई पक्ष प्रचारको जोम न बचाना करके बीरबचान् अनन्तज्ञानरूप अनुवाक तथा सूर्य जेम सूर्यकी अद्विष्ट तपे है सेम प्रभु ज्ञाने करी सर्वोत्तम है निरोधन अग्नि जेम सुदृढवाची प्रकट करे तथा इन्द्रजी पेटे अ-बचरके दूर करी प्रकट करे है सेम भीमहावीर जेम पक्ष अज्ञानरूप अन्धकार दूर करी प्रकट करे है अग्निकी माफक कर्मरूप ईश्वरने वाली अनन्त संसारता अज्ञान आत्माओंने प्रकट कीसे परिशुद्ध कर्मा अये सूर्यकी पेटे प्रभु अद्विष्ट विधर्मा अद्विष्टीय प्रसिद्धिने पानेक महापुरुष हठा से निरोधमा प्रभुकी हान-कान्ति अधिकतर प्रकटकी हटी ॥ ६ ॥

मूळ

अणुत्तर धम्ममिण जिणाण,
णेया मुणी कासव आसुपण्णे,
इवेण देवाण महानुमावे,
सहस्सणेता विवि ण विसिद्धे ॥ ७ ॥

संस्कृतच्छाया

अणुत्तरं धम्ममिर्म जिनाणां, मेता मुनिः काश्यप आनुमसः ।
इन्द्र इव देवानां महानुभावः सहस्रमेता विवि विविष्टः ॥ ७ ॥

सं० टीका—अनुत्तरं० इति—अनुत्तरमुक्तं प्रधान धर्म
जिनानामृषभादितीर्थकृतां सम्बन्धय 'मुनि', 'मनेरुचैत्युणादिमूत्रेणे
प्रत्यये कृते चोपधोत्वे जाते 'मुनि'रिति सिद्ध, परन्त्वत्र लघूपधगुणा-
देश प्राप्तस्तथापि तपरोच्चारणासामर्थ्यात् किदित्यनुवर्तनाच्च न भव-
तीति भावः । “वाच यमो मुनिरित्यमरः” । “मुनिभिश्चुश्च सयमीति,
कोपः” । श्रीजातृपुत्रमहावीराख्य मुमुनि, काश्यपो=गोत्रेण, आशु-
प्रज=केवलजानी उत्पन्नदिव्यज्ञान इत्यर्थः । नेता,=प्रणेता चतुर्विधस्य
संघस्य धर्मप्रणेता, चतुप्रकाशमोपदेष्टा दानशीलतपोभावमेदाद्वा ।
अथवा साधुसाध्वीश्राद्धश्राविकारूपचतुर्विधसंघस्य प्रभुत्वादपि नेता=
नायकः । ताच्छीलिकस्तृन् । “अधिभूर्नायको नेता प्रभु परिवृद्धोऽ-
धिपः” इत्यमरः । धर्ममित्यत्र कर्मणि द्वितीयैव । ताच्छीलिकस्तृन्
तद्योगे 'न लोकाव्ययनिष्ठेत्यादिना पृष्ठीप्रतिषेधात् । यथेन्द्रो दिवि=देव-
लोके=स्वर्गे महानुभावो महाप्रभावः । एवमेव याथातथ्येन सम्यक्प्रकारेण
अखिलद्रव्यपदार्थनिश्चयकर्ता महावीर इति । “अनुभावः प्रभावे च
सतां च मतिनिश्चय इत्यमरः” । प्राकृतशैल्या णमिति वाक्यालकारार्थः ।
सहस्रनेत्रो=विलक्षणसहस्रनयनयुक्तोऽसाविन्द्रः । विशिष्टो रूपबलव-
र्णादिकैर्विशिष्टो युक्तो हि प्रधानस्तथैव भगवानपि सर्वेभ्योऽपि विशिष्टः
प्रणायको महानुभावश्चेति सर्वं पूर्ववृत्तान्तं सयोज्यमिति भावः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—[जिणाय] जिन भगवान्के [इण] इम [अनुत्तर]
सर्वं श्रेष्ठ [धम्म] धर्मके [जेया] नेता [मुणि] मुनि [कासव] काश्यप-
गोत्रीय [महाणुभावे] महाप्रभावशाली भगवान् महावीर [दिवि] स्वर्गमें
[सहस्म] हजारों [देवाण] देव समूहके [इदे व] इन्द्रके समान [विसिद्धे]
रूप और गुण आदिमें सबसे उत्तम और प्रधान [जेता] नेता अर्थात् सपूर्ण
ज्ञानयुक्त ईश्वर थे ॥ ७-॥ -

भाषार्थ—असप्रधार कार्यके समस्त देवोंमें इन्द्र, रुद्र-गुण और ऐश्वर्यके गुणोंमें प्रधान होता है उसी प्रकार महावीर महाबल सब लोकोंमें उत्तम और प्रधान थे आदिजिन प्रमुख पहले २१ तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित बर्मके नेता-प्रचारक थे इस बचनसे उपकी प्रमत्ता दूर होजाती है जो महावीर प्रमुखों ही केनधर्मके संस्थापक मानते हैं परन्तु श्रीमहावीरदेव तो केनधर्मके आप संस्थापक न होकर उनके पूर्व होजाते २१ तीर्थंकरोंद्वारा कथित बर्मके प्रचारकमात्र थे और उस प्रमुख पौत्र कश्यप था ॥ ७ ॥

भाषा-टीका—ये तरुण उपकी मुनि उत्कृष्ट और प्रधान बर्मके धारक और आत्माके लिए उन्नत धर्म बतानेवाले थे। वह बर्म कश्यपादि २१ तीर्थंकरके बताए हुए धर्मसे भिन्न न था। हाँ कुछ वैश्वामित्रके जतुसार संशोक अवश्य किया था परन्तु आप केन धर्मके आप प्रवर्तक न थे [इससे वीर प्रभु के धर्मको फिरसे प्रचार करने वाले भिन्न होते हैं इनसे पूर्व २१ तीर्थंकर और होए हैं] प्रभु कश्यप गोत्रकी विमल विभूति थे। दिव्य ज्ञानको पाकर बहुत भिन्न संघके लिए धर्मपथ बतानेके लिये आप नेता भी थे। क्योंकि संघको आपने ही तो ज्ञान दान करिष्य अर्थात् आप संघ आदिमें प्रवृत्त किया था। अपनी मज्जा और संसार की मज्जा का कल्याणके अर्थ संघको दान दीक्षा उप आप के धर्मके बार में बताने। तथा साधु, साध्वी आनन्द, आनन्दरूप बार प्रचारके संघको स्थापन करके आपने उनके संयुक्तकी परम्परा का उत्तर बताना था। इन्द्र का कार्यके देवों पर उसके महान् होनेके कारण महाप्रमाण है इसी प्रकार पद्मार्थ विज्ञानका विचार प्रगट करने वाले तत्त्वविदोंमें महावीर प्रभु ऐश्वर्य काशी थे। संसार और मोक्ष की गुत्तीको सुखानेमें और धारभूत तत्वोंको प्रगट करनेमें प्रचारप्रवर्तक थे। सात तत्व-वच पद्मार्थ-आदि महान् तथा बर्मीर पद्मार्थ का धारक जातीय जगतमें आपने ही विप्रकृतसे प्रगट किया। तथा उनके ५ प्रचारों की वृत्ति सभीकी और सभी है वित्त और इन्द्र की वृत्ति होती है। इसी तरह विष्वक् जगत्पुत्र पद्म पर आपकी वृत्ति सभी की संसारने सभी पद्म का लक्षण किया इस अपेक्षासे आपके भी उद्देश्य है। इस वचन के शीर्ष आदिमें आप धर्म प्रदान थे, मुनिगणकी शिखरों में आप मुनिगणकी ईश्वर थे ॥ ७ ॥

शुद्धयती अनुवाक—आ तरुण मुनिजगत्पुत्र बर्मको धारक देव

आत्माने माटे उन्नत मार्ग बतावनार हता, ते धर्म ऋषिमादि २३ तीर्थकरोए
बतावेल धर्मशी भिन्न न हतो, देश कालने अनुसार सशोधन अवश्य करेल्ल
हेतु, पण तेओ जैनधर्मना आदि प्रवर्तक न हता, ते प्रभु कादयप गोत्रीय
क्षत्रियोमांनी विमल विभूति हता, दिव्य ज्ञान प्राप्त करीने चतुर्विध सधने धर्म
पथ बतावनार होवाशी तेओ नेता पण हता, कारणके सधने तेओएज ज्ञान—
दर्शन-चरित्र-अहिंसा-सत्य-तप-त्याग-सयमादिमा प्रवृत्त कर्यो हतो, ससारना
कल्याणार्थे तेओए सधने दान-शील-तप भाव एम धर्मना चार भेद बताव्या,
साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप सधनी स्थापना करीने तेओए तेमने सगठननी
परम शक्तिनु तत्व बताव्यु हतु, देवलोकने विषे इन्द्र जेम देवोमा महाप्रभावान्,
हजारो देवोनो नायक अने सर्वोत्तम छे, तेम पदार्थ विज्ञाननो निश्चय प्रगट
करवावाळा तत्ववेत्ताओमा महावीरप्रभु ऐश्वर्यशाली हता, ससार अने मोक्ष
तेमज सारभूत तत्वोने प्रगट करवामा प्रखर प्रकाशक हता । सात तत्व—नव
पदार्थ आदि महान् तेमज गभीर पदार्थोनो सरळ आशय निपुणताशी जनतामां
तेओए प्रगट कर्यो हतो । जे तरफ इन्द्रनी दृष्टि रहे छे, तेज तरफ तेना ५००
प्रधानोनो नजर पण रहे छे, तेज रीते अनेकान्त पर तेओनी दृष्टि हती । तेज
मार्गनु ससारे पण अनुसरण कर्युं । जेथी तेओ पण सहस्रनेत्र गणाया । रूप-
बल-वर्ण-वीर्य विगेरेमां तेओ सर्वोत्तम हता । मुनिगणरूपी ताराओमा तेओ
मुनिचन्द्ररूप ईश्वर हता ॥ ७ ॥

मूल

से प्रज्ञया अक्षयसागरे वा,
महोदही वा वि अणंतपारे ।
अणाहले वा अकसायी मुक्के,
सक्केव देवाहिवई ज्जुईमं ॥ ८ ॥

संस्कृतच्छाया

स प्रज्ञयाऽक्षयसागरो वा, महोदधिरिव अनन्तपारः ।

अनाविलो वा अकषायी मुक्तः, शक्त इव देवाधिपतिर्द्युतिमान् ॥ ८ ॥

सं० टीका—स इति, पुनरसौ भगवान् प्रज्ञयाऽक्षयोऽक्षीणज्ञानः,
प्रज्ञायत अनयेति प्रज्ञा तयाऽक्षयो, ज्ञातव्येऽर्थे तस्य बुद्धिर्न प्रक्षीयते

न प्रतिहन्यते चेति, “बुद्धिर्मनीषा विपणा वी महेत्यमर” । अथवा
 तस्य बुद्धि केवलज्ञानास्या सा साधनन्ता—साधनार्थवसाना काव्यो,
 ब्रह्मक्षेत्रमात्रापेक्षयाऽप्यनन्ता स्याऽप्यय, यथा सागरो महोदधि-
 स्त्वनमूरमण समुद्र स इवानन्तपार । यथासौ विस्तीर्णो गभीरज-
 लोऽहोम्यस्तथैव सस्य भगवतो विस्तीर्णो मन्त्राऽनन्तप्रज्ञा, स्वनमूरमण
 समुद्रादनन्तगुप्तो गभीरोऽहोम्यस्य, अनाविलोऽकलपबल, “कलु-
 योऽनच्छ आविल इत्यमर” । नाविलोऽनाविलो निर्मलस्तथैव कर्म
 लेखामावादकलपज्ञानो निर्मलज्ञान इति । न कपायी-अकपायी
 ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धनविमुक्तत्वात् । मुक्तकर्मरहितोऽपुनरावृत्ति
 प्राप्त । सर्वलोके पूज्यत्वेऽपि, निश्शेषान्तरात्मकत्वेऽपि निरवयवविज्ञा
 मात्रोपजीवित्वादिषु । पुनश्च स शत्रुपुत्रीमो महावीरो भगवान्
 दीप्तिमान्, एक इव देवाधिपतिरिव कान्तिमानिति, “सक इन्द्र सुना-
 सीर शत्रुकुत्तरिति वनजय” । “विष्णुर्लेख्यम स्रज इत्यमर” ॥ ८ ॥

अन्यार्थ—[८] वे भगवान् महावीर [एकता] बुद्धिसे अनेका
 अनन्तपारवाके तथा [अनाविलो] पवित्र अलसे भरपूर [महोदधीशमि] स्व
 नमूरमण समुद्रकी तरह [अकलपबल] अक्षीय समुद्र के तथा [अकपाय]
 अथ कपायके रहित [मुक्त] आठ कर्मोंके रहित [देवाधिपति] अर्धकर्म देवोंके
 अधिपति [सर्वे] इन्द्रकी तरह [सुनासीर] वीरिमान्-भगवन्के वे ॥ ८ ॥

भावार्थ—भगवान्को किसी अन्य पदार्थसे अपमान ही या लज्जेके
 कारण समुद्रके ही एक वैशिष्ट्य उपमा दी गई है । अर्थात् जिसप्रकार सर्वमूर
 अथवा समुद्र अनन्तपार पुष्ट है वही प्रकार भगवान् भी इन्द्र क्षेत्र-याक और
 मात्रकी अपेक्षा अनन्त ज्ञानवान् वे समुद्रके निर्मल अलके समान स्वयं स्वयं
 भी तरह और अजरण रहित या इसी प्रकार कपायके रहित तथा आठ कर्मोंके
 र्धरहित पुष्ट वे ऐसे इन्द्रका भगवान् देवोंपर होताही वही प्रकार प्रमुख प्रमुख
 भी प्राणीमात्र पर वा ॥ ८ ॥

भाषा-टीका—प्रभुका ज्ञान कोप अक्षय था, क्योंकि उनकी बुद्धि भी केवलज्ञानरूपा थी । जो कि आदि-अनन्त थी । जिसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी पूर्ण अनन्तता थी । विस्तीर्ण और स्वच्छ तथा गभीर स्वयम्भूरमण समुद्र की सदृश प्रभु गभीर तथा अक्षोभ्य और पवित्र गुणोंमें उससे भी अनन्तगुण अधिक थे । आपका अनुभव, विचार तथा ज्ञान जल अनाविल-यानी कालुष्यता-पूर्वापर विरोधरहित था, जिसमें कर्म मलका लेश कोई खोजेसे भी न पा सके । ज्ञानावरणीयादिक आठ कर्म-बन्धनसे रहित होनेके कारण आपमें कषाय कहा हो । इसीसे आप जीवन मुक्त थे । आप तीनों लोकोंके पूज्य होने पर भी निरवय भिक्षा लेते । आप शूरवीर शक्रेन्द्रकी तरह द्युतिमान् और प्रतापी-महापुरुष थे । और यह बात विश्व विख्यात थी ॥ ८ ॥

गुजराती अनुवाद—प्रभुनो ज्ञान भण्डार अखूट हतो, कारणके तेमनीं बुद्धि पण केवलज्ञान रूपे हती, जे सादि-अनन्त हती । जेम स्वयंभूरमण नामे मोटो समुद्र अनन्त-अपार अने निर्मल जलवाळो छे, तेमज प्रभु गभीर-अक्षोभ्य-अने पवित्र गुणोमा तेनाथी पण अनन्तगणा अधिक हता । तेओनुं अनुभव-विचार तथा ज्ञान जल अत्यन्त निर्मल हतु । शोववा छता पण कर्म-रूप मेल तेमा मळी शके नहि । ज्ञानावरणीयादिक कर्मबन्धनथी रहित यवाने कारणे तेओ अकषायी=कषाय रहित हता । तेथी आप जीवन्मुक्त हता, त्रिलोक पूज्य होवा छता आप निरवय भिक्षाए आजीविका करनार हता । देवोना स्वामी शक्रेन्द्रनी पेठे तेओ तेजस्वी तथा अनन्त प्रतापी अने महापुरुष हता ॥ ८ ॥

मूल

से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए,

सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे ।

सुरालएवासि मुदागरे से,

विरायए णेगगुणोववेए ॥ ९ ॥

संस्कृतच्छाया

स वीर्येण प्रतिपूर्णवीर्यः, सुदर्शन इव नगसर्व्वश्रेष्ठः ।

सुरालयवासिमुदाकरः स, विराजतेऽनेकगुणोपपेतः ॥ ९ ॥

प्रतिष्ठाशालियों में भगवान् अद्वितीय प्रभाववाले थे । जहा जीवोंको केवलज्ञान प्राप्त होता है उस जम्बूद्वीपके मध्यमें जिस प्रकार सुमेरु पर्वत दृढ, अचल, और श्रेष्ठ है इसी प्रकार प्रभुकी वाणी भी अनेकान्त रूप सकल श्रेष्ठ है तथा वे स्वयं भी पर्वतकी तरह दृढ थे । सुमेरुपर्वत स्वर्गवासियोंको बड़ा सुहावना लगता है और हर्ष पैदा करता है इसी भांति प्रभु भी ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति आदिक अनन्त गुणोंसे युक्त और भव्य आत्माओंके लिए अनुपम आनन्ददायक थे ॥ ९ ॥

गुजराती अनुवाद—वीर्यान्तरायनो सर्वथा नाथ थवाथी भगवान् अनन्त-शक्तिमान् होता, तेमज धैर्य-शौर्य-सहिष्णुतादि शारीरिक बलें करी प्रतिपूर्ण बलवान् होता । प्रतिष्ठा शालियोंमां भगवान् अद्वितीय प्रभाव वाला होता, ज्या जीवोंने केवलज्ञान प्राप्त थाय छे ते जवूद्वीपमा मेरु पर्वत जेम दृढ-अचल-अने श्रेष्ठ छे, तेम भगवान् पण वीर्यादिक गुणे करी श्रेष्ठ तथा दृढ होता । मेरु पर्वत जेम स्वर्गवासी देवोंने हर्ष उत्पन्न करे छे तथा अनेक गुणोए करी शोभित छे, तेमज प्रभु पण ज्ञान-दर्शन-सुख अने शक्ति आदिक अनन्त गुणोए करी शोभे छे, तेमज भव्यात्माओने आनन्द प्रद छे ॥ ९ ॥

मूल

सयं सहस्राण उ जोयणाणं,
तिकंडगे पंडगवेजयंते ।
से जोयणे णवणवति सहस्से,
उडुस्सितो हेट्ठ सहस्समेगं ॥ १० ॥

संस्कृतच्छाया

शतं सहस्राणां तु योजनानाम्, त्रिकण्डकः पण्डकवैजयन्तः ।
स योजने नवनवतिसहस्रे ऊर्ध्वोच्छ्रितोऽधः सहस्रमेकम् ॥१०॥

सं० टीका—पुनश्चापि मेरुवर्णनायाह, 'सयं इति,' स सुमेरुर्यो-
जनसहस्राणां शतमुच्छ्रितोऽस्ति "मेरु. सुमेरुर्हेमाद्रि रत्नसानु. सुरालयः
इत्यमरः ।" तथा त्रीणि कण्डकानि यस्य स त्रिकण्डक । मौमं—

आम्बूनद-वैदूर्य चेति मेवात् । स किं मूत, पण्डकवैजयन्त, = पण्डकवन शिरसि व्यवस्थित, वैजयन्तीकस्य पताकामूत यस्य स तत्रोक्तः । “पताका वैजयन्ती स्यात्केतन, अजयमन्त्रियामित्यमरः” । असौ मेरुर्नवनवतिसहस्रे योजने ऊर्ध्वोच्छिन्नः = मूतकादुपरि प्रबद्ध उन्नतो वा “उच्छिन्नांशुस्तोदप्रोच्छिप्तास्तु” इति, “आतोन्नद्ध प्रबद्धा स्फुरच्छिप्ता इति चामरः” । अयः = मूमेरुप्रस्तादेशे एक सहस्र योजन-मवगाह इत्यर्थः । एकसहस्रोन्नतयोजन पृथिवीत ऊर्ध्वं, सहस्रमेकं च योजन मूमाविति भावः ॥ १० ॥

अम्बुयार्ध—[छे] यह छुमेद पर्वत [सर्व सहस्राप] एक जल [जोयार्ध] योजनका है, [सिक्कणे] उसके तीन भाग हैं [पद्मगदेवर्धवे] पाण्डुक वन जिसकी जगहों समान है, तथा [नववनवे] ९९ सिक्कणों [सहस्रे] हजार [जोयने] योजन [वस्तुस्थिते] ऊँचा है, और [एवं] एक [सहस्रं] हजार योजन [हेतुं] इतिवचने भीका है ॥ १ ॥

मायार्ध—इस मायामें मगवान्त्री उपमा मूत छुमेदमिरिक वर्तन निज है, छुमेद एक जल योजन ऊँचा है, सिक्कणों हजार योजन जमीनसे ऊपर तथा एक हजार योजन जमीनमें है इसका तीन ऊँचा-भाग है, वन तीन वनिकाओंमें सबसे ऊपरकी वनिका पर पाण्डुक वन है । और मायो वह जगहों तरह जान पड़ता है, जिसप्रकार यह छुमेद पर्वत तीनों स्तरोंमें व्याप्त है वही भाँति मगवान्त्री की जगह-वृक्ष-वर्तिकादि शुभ समस्त स्तरोंमें व्याप्त है ॥ १ ॥

मापा-डीक—यह छुमेद पर्वत ऊँचाईमें एक पाँच योजन है जिसके तीन ऊँचा-भाग हैं । जिसके कमसे नीम-आम्बूनद-वैदूर्य नाम हैं । उस पर पण्डकवप ऊँचाईमें सबसे अधिक होनेके कारण छुमेद जगहों तरह उसकी गुप्तीमायो और भी बढ़कर मानो बार बार जगा रहा है । जिस मरुटी जगह जमीनमें १ योजन तक पाई जाती है । और वह ९९ योजन पृथ्वीके ऊपरी भागमें जाकाछड़ी बोटीकी तरह घोलित है । उसके तीनों भाग तीनों स्तरोंमें अवच्छिन्न पाए हुए हैं । इसी तरह प्रभुके कवन किहू हुए तीनों राज

सुमेरु की भाति विशाल और महान् हैं, तथा तीनों लोकके भव्यप्राणिओंके मन-वचन-काय योगमें समाविष्ट-ओत-प्रोत हैं ॥ १० ॥

गुजराती अनुवाद—ते मेरु पर्वत उचाहमा एक लाख योजननो छे, तेना एक भूमिमय, बीजो सुवर्ण मय अने त्रीजो वैदूर्य रत्न मय एवा त्रण काठ (भाग) छे, तथा ते मेरु पर्वतनी टोच ऊपर पंडग वन ध्वजानी माफक शोभी रह्युं छे । ते मेरु पर्वत नवाणु हजार योजन ऊचो अने एक हजार योजन नीचे जमीनमा छे । तेना त्रणे भाग-त्रणे लोकमा अवकाश प्राप्त छे । तेबीज रीते प्रभुना वतावेला ज्ञान-दर्शन-चरित्र रूपी त्रणे रत्न सुमेरुनी पेठे विशाल छे, अने त्रणे लोकना भव्योना मन-वचन-काय मा सम्पूर्ण रीतिथी समाविष्ट छे ॥ १० ॥

मूल

पुट्टे णमे चिद्वद् भूमिवद्विष्ट,
जं सूरिया अणुपरिवद्वयन्ति ।
से हेमवन्ने बहुनन्दणे य,
जंसि रहं वेदयती महिंदा ॥ ११ ॥

संस्कृतच्छाया

स्पृष्टो नभसि तिष्ठति भूम्यवस्थितः,
यं सूर्याः अनुपरिवर्तयन्ति ।
स हेमवर्णो बहुनन्दनश्च,
यस्मिन् रतिं वेदयन्ति महेन्द्राः ॥ ११ ॥

सं० टीका—स्पृष्ट सलग्नो नभस्याकाशेऽथवा नमो व्याप्य तिष्ठति स मेरु, “स्पृष्टि पृक्तावित्यमर” । तथैव भूमिं पृथिवीं चावगाह्य स्थितः । ऊर्ध्वाधस्तिर्यक् सस्पर्शीति भाव । यथा च य मेरुं सूर्यादयो ज्योतिष्का अगारकादिग्रहा अप्यनुवर्तयन्ति यस्य पार्श्वतः परिभ्रमन्तीत्यर्थ । हेमवर्णो वा कनकामो निष्टप्तकाञ्चनसदृशस्तथा बहूनि चत्वारि नन्दनवनानि यस्य स बहुनन्दनवन । भूमौ तु भद्र-शालवन ततः पञ्चयोजनशतान्यारुह्यातिक्रम्योल्लघ्य मेखलाया शैल-

नितम्बदेशो मध्यभाग इत्यर्थः । “भैरवस्य सङ्गबन्धे स्वात्मप्राप्ती सैल-
नितम्बयोरिति मेदिनीकोशः” । नन्दनवनमाप्नोति । तथा क्षिप्रं
शोभनसहस्राप्यधिकान्यतिक्रम्य सीमनसबन्धम् । एतत् पदं त्रिषुत्सह-
स्राप्यास्तुष्टोष्टप्य क्षिप्रं पण्डित्यनमिति मेरोर्यत्वारि वनानि । अस्मिन्
मेरौ महेन्द्रा त्रिदशास्म्यात् स्वर्गात्समागत्य रमणीयतमस्रष्टादिगुणेन
रतिं रमणक्रीडां वेदयन्त्यनुभवन्ति । अतस्तुर्नन्दनवनपुष्पो विचि-
त्रक्रीडात्मकसमन्वितः स मेरुः ॥ ११ ॥

अन्वपार्य—[छे] वह सुमेरु [पमे] आकाश को [पुछे] हूँ
[चिह्न] छतर हुआ है तथा [भूमिचिह्न] भूमि को हूँ स्मृत है, [च] विचरी [छरी] चर्च [अनुपरिचरति] प्रक्षिप्त करते हैं, और को [हेम-
बन्धे] सोने के समान परम कामि युक्त है चिममें [च] बहुत बर्षत बार
[मरने] मरनादि कम हैं [पंती] तथा जिसमें [महिषा] महेन्द्र आकर
[रति] सुपथ [वेदयते] अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

आचार्य—वह सुमेरु पर्वत ऊपर के भागमें आकाश को छू करके
उक्त नीचे भूमि को छू करके स्थित है । इसलिए वह ऊर्ध्वलोचन-अधोलोचन और
तिर्यक् लोचनो लोचन करता है । जोतिष्य विमान उसको प्रक्षिप्त करते हैं ।
उसका रंग सुवर्ण की तरह पीला है । उसके ऊपर चार वन हैं; समान भूमिमें
मध्यम वन है उसके पाँचसौ शोभन ऊपर मन्द वन है, उसके बाऊठ
हजार शोभन ऊपर सामान्य वन है उससे छत्तिन हजार शोभन ऊपर पाण्डु
वन है इस मध्य वह अनेक कीड़ाखलोसे युक्त है, और उसमें देव तथा
देवैन्द्र आकर रति-क्रीडा का अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

भाषा-टीका—उक्त सुमेरु पर्वतने ऊर्ध्व लोच-अधोलोच और तिर्यक्
लोच इस प्रकार तीनों लोचों के आकाश को छू लिया है । जिसकी तपस्वी
जगह सूर्य चाँद तथा महर्षि चारों ओर परिभ्रम करते रहते हैं । वह वह तपे
हुए लोचों की तरह चमकमाक करते करता है । उसके चारों ओर के बहुतसे
वनोमें चार सुवर्ण सुन्दर वन हैं । और प्रथम समस्त भूमि पर मध्यम
वन है । उस जगहसे ५ शोभन ऊपर जानेसे धानी उसकी तपस्वी

जगह नन्दन वन आता है । उससे ६२००० योजन ऊपर सौमनस वन है । उससे ३६००० योजन ऊपर शिखरके पास पंडकवन है । ये सुमेरुके चार सघन वन हैं । यहां पर बड़े २ महेन्द्र और देव गण आकर मनोहर खेल कूद करते हैं । उसका सौन्दर्य निहारनेके लिए स्वर्गसे चल कर आते हैं । इसी भांति भगवान् भी सुवर्णके रंग जैसे सुन्दर हैं । इनके पास ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप तथा तत्व, पदार्थ, नय, निक्षेपादि चार सुन्दर विचार स्थल हैं, जिनमें आत्माका अनुपम आनन्द आता है । और इस क्रीडास्थली पर भव्य जन खावलम्बी होकर सहजानन्द लट्टते हैं ॥ ११ ॥

गुजराती अनुवाद—ते मेरु पर्वत ऊर्ध्व दिशामा आकाशने स्पर्शी रह्यो छे, एटले ऊर्ध्वलोक-अधोलोक अने मनुष्यलोकने स्पर्शी रह्यो छे, जे मेरु पर्वतनी आसपास सूर्यप्रमुख ज्योतिषी-देवो प्रदक्षिणा करी रह्यो छे । ते मेरु-पर्वत सुवर्णना जेवी कान्तिवालो छे । तेनी चारे बाजुए घणा वनोमां चार मुख्य सुंदर वन छे । समतल भूमिपर भद्रशाल वन छे, त्याथी ५०० योजन ऊपर जता नन्दनवन आवे छे, त्यांथी ६२००० योजन ऊंचे सौमनस वन छे । त्याथी ३६००० योजन ऊंचे शिखरनी पासे पडकवन छे । मेरु पर्वतना आ चार नन्दनवनमा मोटा इन्द्रो पण आवीने इच्छानुसार मनोहर क्रीडा करे छे । तेनु मनोमोहक सौन्दर्य जोवाने स्वर्गमा थी आवे छे । ते रीते भगवान् महावीर प्रभु पण सुवर्ण समान सुंदर छे । तेमनी पासे ज्ञान-दर्शन-चरित्र तथा तप तेमज तत्व-पदार्थ-नय-निक्षेपादि चार सुन्दर विचार स्थल छे । जेमा आत्माने आनन्द आवे छे । तेमज ते क्रीडा स्थल पर भव्य जनो खावलम्बी वनीने सहजानन्द लट्टे छे ॥ ११ ॥

मूल

से पवए सदमहप्पगासे,
विरायई कंचणमट्टवन्ने ।
अणुत्तरे गिरिसु य पच्चदुग्गे,
गिरिवरे से जलिण्व ओमे ॥ १० ॥

संस्कृतच्छाया

स पर्वतः शम्भुमहाप्रकाशो, विराजते कञ्चनसूदृशः ।

अनुत्तरे पिरिपु स पर्वतुर्गो, गिरिवरः स अखिल इव मौमः ॥ ११ ॥

स० टीका—स मेरुनामापर्वतः सुदर्शनः शोभनदर्शनः सुमिरि-
भेन्दरो हेमाद्रिरित्यादिभिः शब्दैः पर्यायवाचकैर्महान् प्रकाशः प्रसिद्धि-
मानीतः । “प्रकाशोऽतिप्रसिद्धेऽतीत्यमरः” । यः, स शब्दमहा-
प्रकाशो विराजते=शोभते, वा सुरासुरकिमरादिगन्धर्वगायनशब्दै-
र्महाप्रकाशो दीप्यमानः । काञ्चनस्येव सूर्यः शुद्धो, “निर्मलः शोभितं
सूर्य निश्चोध्यमनवस्करमित्यमरः” । वर्णो यस्य स काञ्चनसूदृशः ।
अनुत्तरः प्रधानस्तथा गिरिपु पर्वतेषु मध्ये पर्वभिर्मल्लादिभिः सन्धि-
भिर्वा “पर्व इति महे प्रन्धौ, प्रस्तावे लक्षणान्तरे, इति प्रतिषेधो
‘सन्धाविति मेदिनी कोषः’ । अथवा च यद्वापर्वतैर्वा दुर्गो दुर्गमः,
“दुर्गो मानिष्यो स्त्री दुर्गमे त्रिविति मेदिनी” । सामान्यमाभिर्वा
शुभरोहो गिरिरिति भावः । स गिरिवरः पर्वतप्रधानो मणिमिरौपधिमिथ
अखिलो दीप्यमानो मौम इव मगलस्य इवाववा मूलेख इवेति भावः ।
“मौमः कुले च नरके पुंसि मृगिमवे त्रिविति मेदिनी” ॥ १२ ॥

भाष्यार्थः—[से] वह [पर्वत] सुन्दर वर्ण [शम्भुमहाप्रकाशे] अनेक
शुभपर्वतों से गूँथला है तथा [कञ्चनसूदृशे] सोनेकी तरह पीले वर्णसे [गिरि-
वर] शोभा प्राप्त है, [गिरिपु] सब पर्वतोंमें वह [अनुत्तरे] सर्वोच्च है,
[पर्वतुर्गो] वह पर्वत वैतल्ला आदिभिः कारण दुर्गम है, और [से] वह [गिरि-
वरे] सबमें प्रधान सुन्दर [मौमे च] मगल ग्रह तथा कुप्येयी तरह [अखिले]
अखिलपुच्छ है ॥ १२ ॥

भाष्यार्थः—शम्भुश शम्भुश मूलेखदे है छोटे पर्वत और शुभरोहि
आशय करके यह शब्दों प्रविष्टि हो पड़ती है और वह पर्वत अश्वमेधे भी

अधिक गमीर होती है, इसीप्रकार सुमेरु पर्वत देवोंका क्रीडास्थल है और वह भी उनकी प्रतिध्वनिओंसे गूंज उठता है तथा वह गूज सबसे प्रबल है, इसी प्रकार महावीर-परमात्माकी दिव्यध्वनि सबसे प्रबल और जोरदार है, यही कारण है कि—भगवान्‌के सदुपदेशका प्रभाव अमिट और शीघ्र होता है। पर्वतके सुनहरी रंगके समान प्रभुका पीतवर्ण युक्त शरीर दर्शनीय और मनोहर था। जिसप्रकार सुमेरुपर चढ़ना कठिन है उसीप्रकार भगवान्‌की सर्वज्ञताको जीतना भी दुष्कर है ॥ १२ ॥

भाषा-टीका—वह सुमेरु पर्वत अधिराज है, दर्शनमें सौन्दर्यशाली है। बुद्धिमान् अच्छी २ शब्दोपमाएँ देकर प्रख्यात कर चुके हैं। जिसपर गान्धर्वोंका मनोमोहक गायन होता है, सोनेसे लीप पोत कर मानो अभी शुद्ध किया गया है इसीसे सब पर्वतों में उसे प्रधानता दी गई है, उसकी उचाई और अधिक सन्धियोंके कारण उसपर मनुष्योंको पैरोंसे चढ़ना सांस तोड़ने जैसा है। अतः सामान्य प्राणी उसे चढ़ कर पार नहीं पासकते। इसी लिए उसे प्रधानता दी गई है। उस पर मणिमाणिक्य जैसे बहुमूल्य रत्न और कई अलौकिक जड़ी बूटियाँ मंगलग्रह की तरह चमकती हैं। इसी भाँति वीर भगवान्‌का दर्शन अनेकान्त है, परम सुन्दर है। जिसकी अकाव्य तर्कमयता प्रसिद्ध है। जिसकी गौतम जैसे दार्शनिकोंने प्रशंसा की है। उस दर्शनका सुन्दर वर्ण अर्थात् शब्दों में निर्माण हुआ है। तथा वह सब दर्शनोंमें प्रधान है। साधारण तथा अनुभव शून्य मानवोंके लिए अगम्य और दुरारोह है। जिनकी २८ लब्धिरूप औषधियोंकी चमक विलक्षण है। जो धर्मकी प्रभावनारूप आरोप्यता प्रदानकरनेके अर्थ काममें लाई जाती हैं। इसीसे दुराग्रहरूपी रोग शान्त होते हैं ॥ १२ ॥

गुजराती अनुवाद—वली ते मेरु पर्वत मदर १, मेरु २, मनोरम ३, सुदर्शन ४, स्वयंप्रभ ५, गिरिराज ६, रत्नोष्ण ७, तिलकोपम ८, लोकमध्य ९, लोकनालि १०, राज ११, सूर्यावर्त १२, सूर्यवरण १३, उत्तम १४, दिशादि १५ और अवतम १६, ए सोळ नामे करी महा प्रकाश (प्रसिद्ध) वान् यई शोभे छे। तेना पर गान्धर्वोंना मनोमोहक गायनो थाय छे। सुवर्णनी पेटे शुद्ध वर्णवाळो सवे पर्वतोमा प्रधान छे। तेनी उचाई अने अधिक संधियोंने सीधे मनुष्योंने माटे तेना पर चढ़वुं पण अशक्य छे। वली ते गिरिराज मणि

જને બીપવિજોઈ કરી દેવીપ્યમાન છે તેજ રીતે બીર મમદાવતું જનેકન્ટ
 વર્ણવ વરમ સુધર જને મનોહર છે । જેની જાણજી તર્કમવદા પ્રસિદ્ધ
 છે । જેની નીતમ જેવા વર્ણવિજોઈ પણ પ્રસંસા કરેછી છે । તે વર્ણવતું સુધર
 કરી જર્ણવ જાણેમાં વિર્માજ વણસું છે । તથા તે સર્વ વર્ણવોમાં પ્રધાન જાયે
 જર્ણવોત્તમ છે । સાચારજ તથા જહુમજ શરૂજ મહુવ્યોને માટે જાણ્ય તથા જાણિ
 દુરોરોહ છે । જેથી ૧૮ જાણિરૂપ બીપવિજોની જમજ સજીવી નિષ્કાજ છે ।
 કે જે જર્ણની પ્રમાણજ કરવામાં સપવોષમાં જાણમાં જાયે છે । દેવગી દુરોમજ
 રોમ જહુમજી વજ જર્ણવે સાચા જર્ણ વજ છે ॥ ૧૧ ॥

મૂલ

મહીઈ મજ્જામિ ઠિતે જાગિંદે,
 પજાપતે સૂરિપસુદ્ધેસ્સે;
 એજ સિરીય ડ સ મૂરિવણ્ણે,
 મજોરમે જોયઈ અચિમાલી ॥ ૧૨ ॥

સંસ્કૃતચ્છાયા

મહ્યાં મધ્યે સ્થિતો મગેન્દ્રઃ પ્રજાપતે સૂર્યવંશજુદ્ધેશ્વરઃ ।
 એવં પ્રિયા હુ સ મૂરિવર્ણઃ, મજોરમો યોતયત્સર્વિમાલી ॥૧૨॥

સં• ટીકા—મહ્યાં મધ્યદેશેન્તર્મર્ગે ચો અષ્ટાગ્રીપસુસ્થાપિ જહુ-
 મધ્યપ્રદેશે સ મગેન્દ્ર સ્થિતઃ । પુત્રજ સૌમનસ, વિકુત્રમ, ગન્ધમા-
 બન, માસ્મક્તવંશપર્વતજસુદ્ધયોપસોમિત સમમૂમાગે વજસહસ્રબોજન-
 વિસ્તીર્ણ, શિરસિ સહસ્રમેકમપજાતપિ વજસહસ્રાણિ મજ્જતિ ચોમન્યાનિ
 બોજનેકદેશમાર્ગૈર્વજમિર્મગૈરભિકાનિ વિસ્તીર્ણસ્થતારિણયોજનોપિષ્-
 ઠજહુપસોમિતો મગેન્દ્રઃ પર્યતપ્રજાનો મેરુઃ । પ્રકર્વવત્સ્યા જગતિ સૂર્ય
 વંશજુદ્ધેશ્વરો નિર્મલ્લકાન્તિઃ સૂર્યસમપ્રમ ઇતિ । એજમનંતરોક્તયા પ્રિયા
 હુ સમ્યાદિવિષ્ણવરયા કાન્ત્યા સમેર્મૂરિવર્ણોઞ્જેકવર્ણોઞ્જેકરંગાપુષેતઃ

“वर्णो द्विजादौ शुक्लादावित्यमरः” वीरपक्षे भूरि=प्रभूतं बहुलं “प्रचुरं प्रभूतं प्राज्यं मदन्न बहुलं बहु, पुरुहः पुरुभूयिष्ठं, स्फारं भूयश्च भूरि चेत्यमरः” । वर्णं परिस्तोमो यस्य स भूरिवर्णं, दीर्घसिंहासनस्य प्रवेणीति । “प्रवेण्यास्तरणं वर्णं परिस्तोमः कुथो द्वयोरित्यमरः” । अथवा भूरिः स्वर्णं काञ्चनं तस्येव वर्णो (कान्तिः) यस्य स तथा । “स्वर्णेऽपि भूरित्यमरः” । अथवा भूरिर्बहुलो, वर्णःस्तुतिर्यस्य स तथा । “स्तुतिर्वर्णं तु वाऽक्षर इत्यमरः” । “वर्णः स्तुतौ ना इति मेदिनी” । अथ किं भूतः स मेरुर्मनोरमश्चारुशोभनः, “सुन्दरं रुचिरं चारु, सुषम साधुशोभनम्, कान्तं मनोरममित्यमरः” । एवमेव वीरोऽप्येवं विधो जगति मनोरमः । पुनश्च=अर्चिःकिरणस्तस्य माला विद्यते यस्य सोऽर्चिमाली सूर्य इव द्योतयति दिश इति शेष । “दीधितिर्मानुस्त्रोऽशुर्गभस्तिः किरणः करः । पादो रुचिर्मरीचिर्मा तेजोर्चिरिति घनं-जयः” ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—[महीइ] पृथ्वीके [मज्झमि] बीचमें [ठिये] स्थित [णगिदे] पर्वतोंमें प्रधान सुमेरु [पनायते] लोकमें उत्कृष्ट रूपसे जाना जाता है, तथा [सुरियमुदयेस्से] सूर्यके सदृश शुद्ध तेजवाला [एव] इसी भातिकी [विरीए] लक्ष्मीसे [उ] अधिकाधिक [भूरिवक्खे] विचित्र रत्नोंसे शोभित रहनेके कारण नानावर्ण युक्त और [मणोरमे] मनको मोहित करने वाले [अच्चिमाली] सूर्यकी तरह [जोयइ] दर्शो दिशाओंको प्रकाशित करता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—रत्नप्रभा पृथ्वीके मध्यभागमें जम्बू द्वीप है, और इसके बीचमें सब पर्वतोंमें प्रधान सुमेरु पर्वत है, यद्यपि सुमेरु पर्वत दोनों घातु खड और दोनों पुष्करार्द्र द्वीपमें भी है, किन्तु उनकी उचाई ८५ हजार योजन ही है, और जम्बूद्वीपके मध्यभागमें सुमेरु एक लाख योजन ऊँचा है, अतः यह सबमें प्रधान गिनाजाता है । इसी प्रकार ऋषि-मुनि और महात्माओंमें महावीर प्रधान थे, सुमेरु पर सूर्यकी कान्ति पड़ने पर जैसे वह चमकने लगता है वैसे ही

भयवान्श्च कटीरे भी प्रभासाली वा वै अहानान्धकारके शङ्क वे मयान्ध
कटीर सत्य प्रकाशित वा तथा भीरोन्धे ज्ञान च प्रकाश भी देख वा ॥ १३ ॥

माया-टीका—पृथ्वीके निचले प्रदेशमें बम्बूहीनके मध्यस्थमें वह मेह
पर्वत समस्त पहाड़ोंके शिखरों तरह स्थित है । सीमवध निपुत्रप्रम मन्ध-
मादन आत्मबन्ध इन चार बाधापर्वतोंसे वह बड़ा मजबूत बनता है, वह
पृथ्वीके सम-मात्र में बराबरको बोजन बिखीरने है, म्यारह २ हजार बोजन
पर एक २ हजार बोजन बट कर शिखर पर एक हजार बोजन रह जाता है ।
वह जगत्में सूर्यकी तरह छद्म कश्मि और निम्नीक आकृति पुष्ट है । और
जिसमें अनेक बहुत न्यून बहुत और उत्तमरत्न पाए जाते हैं ।

वीर पक्षमें—सोनेकी तरह शिखरों कटीरकी चमक समक है । शिखरों पुन
बान्धकी तरह लच्छ है । शिखरों सुनिर्णयवाली हैं । जिन्हें अपुनराकृति
रूप बहर-मोह प्राप्त है । शिखर उत्तम अगन्त पुष्ट राजा है । सुमेरुकी
तरह मजबूत हैं जो सूर्यकी किरणोंकी तरह देखली हैं ॥ १३ ॥

शुद्धराशी अनुबाह—पृथ्वीका मध्य मापमा सब पर्वतोंको इन्द्र वि-
पर्वत सूर्यकी पेठे छद्म कश्मि अने निर्मित आकृतिवाले है । सीमवध निपु-
त्रप्रम मन्धमादन आत्मबन्ध इन चार बाधापर्वतोंसे पर्वत बहुत सुन्दर देखा
है । वे पृथ्वीका सममात्रमा १ बोजन पहाड़ोंके है । अन्धकार अन्धकार
हजार बोजन पर एक एक हजार बोजन बटता शिखर पर एक हजार बोजन
पहाड़ोंके है । तैसा अनेक बहुत न्यून बहुत और उत्तमरत्न पाए जाते हैं । वीर पक्षमें—

शुद्धतममात्र जेना कटीरकी छोभा है जेना पुनो चन्द्रमाकी पेठे लच्छ है ।
जेने अपुनराकृतिरूप बहर-मोह प्राप्त करैके है, जैसा उत्तम अगन्त पुष्ट राजा
है । सुमेरु की पेठे जे मजबूत है वे सूर्यकी किरण जगत् देखली है ॥ १३ ॥

मूल

सुवसणस्तेव जसो गिरिस्स,
पयुषई महतो पवयस्स ।
एतोवमे समणे नायपुत्ते,
जाईजसोवसणनाणसीछे ॥ १४ ॥

संस्कृतच्छाया

सुदर्शनस्येव यशो गिरेः, प्रोच्यते महतः पर्वतस्य ।

एतदुपमः श्रमणो ज्ञातपुत्रो, जातियशोदर्शनज्ञानशीलः ॥ १४ ॥

सं० टीका—भगवतो वीरस्यैतद्यशः, कीर्तनं महतः पर्वतस्य सुदर्शनस्य मेरोगिरिरिव प्रोच्यते, महतः पर्वतस्यैतदुपम एतत्तुल्यः । साम्प्रतमेतदेव भगवति दार्ष्टान्तिके योज्यते । एषः=अनन्तरोक्तमेरु-गिरिरित्यर्थः, उपमा=उपमानं सादृश्यप्रतियोगी यस्य स एतदुपमः । कः । श्राम्यति=तपस्यतीति श्रमणः । तपोनिष्ठसदेहो ज्ञातपुत्रः श्रीम-हावीरप्रभुर्जात्या=“जातिर्जातं च सामान्यमित्यमरः ।” यशसा=कीर्त्या “यशः कीर्तिः समज्ञाचेत्यमरः ।” सकलदर्शनज्ञानचरित्रवतां-मध्ये श्रेष्ठः प्रधानः । जात्यादीनां कृतद्वन्द्वानामतिशायने ‘अर्श आदि-त्वादच्’ प्रत्ययविधानेनाक्षरघटना विधेयेति भावः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—[महतो] महान् [पर्वतस्य] पर्वत [सुदर्शनस्येव] सुदर्शन [गिरिस्त] मेरु पर्वतका [जसो] यश कीर्ति जैसे प्रतिपादित है उसीप्रकार [पबुच्छइ] भगवान्की कीर्ति करते हैं [एतोवमे] पूर्वकथित उपमासे अलङ्कृत [समणे] श्रमण [नायपुत्ते] ज्ञातपुत्र-महावीर भगवान् [जाइजसोदसणनाण-सीले] जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शीलमे सर्वश्रेष्ठ थे ॥ १४ ॥

भावार्थ—भगवान्की एक देशीय-उपमा तो सुमेरु पर्वतसे दी गई, और इसी प्रसङ्गको लेकर सुमेरुका यशोगायन किया है, और अब फिर उपमेयका—भगवान् महावीरका वर्णन करते हैं । वे ज्ञात वशके क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न भगवान् समस्त जातिवालोंमें और अखिल यशस्त्रियोंमें, समस्त ज्ञानियोंमें तथा दर्शनवालोंमें और सब चरित्रनिष्ठोंमें श्रेष्ठ थे ॥ १४ ॥

भाषा-टीका—भगवान् वीरका यश सुमेरुकी सदृश महान् था, यह उपमा उनके ही ऊपर मलि माति घटती है । वे श्रमण थे, तपसे शरीरको सोनेकी तरह तपा डाला था, ज्ञात वशके क्षत्रिय पुत्र थे । जिनकी जाति-यश कीर्ति-समस्त ज्ञान, दर्शन और चरित्र सम्पन्नित है । श्रेष्ठतर तथा प्रधानतर है ॥ १४ ॥

शुद्धतटी अनुवात्—मन्त्राय स्वतन्त्राय वीरप्रभुयो वसुधाम वसु-
धुमेव पर्वत समान महान् ॥ ए पूर्वेवत् उपमाए अमय मन्त्राय महावीरदेव
व्यतिरेक-वर्धने-ज्ञाने-मने व्याचारे सर्वोत्तम ॥

मूढ

गिरिवरे वा निसहाययाणं,
रुच्यं च सेष्टे बलयायताण ।
तज्जोवमे से जगमूहपणे,
मुणीण मज्जे तमुवाहु पण्णे ॥ १५ ॥

संस्कृतच्छाया

गिरिवरो वा विपद्य आयतानां रुचको वा सेष्टो बलयायतानाम् ।
तदुपमः स जगद्भूतिप्रज्ञः मुनीनां मध्ये तमुवाहुः प्रज्ञाः ॥ १५ ॥

सं० टीका—दृष्टान्तद्वारेण पुनरप्याह, निपद्यः—तज्जामा पर्वतो
यथा गिरिवराणामायतानां—दीर्घाणां, “दीर्घमायतमित्यमरः” । मध्ये,
अन्वृद्धीपेऽन्येषु वा द्वीपेष्वप्येकया वैभ्येण श्रेष्ठ उत्तम । पुनश्च वज्र्या-
यतानां कटकस्थानां मध्ये “आवापकः पारिहृष्यः कटको बल्योऽ-
स्त्रियाम्” इत्यमरः । रुचकः पर्वतः श्रेष्ठोऽन्येभ्यो बल्यकारत्वेनेति
शब्दः । हि रुचको द्वीपान्तर्वर्तिमानुपोत्तरगिरिवर इत्येतत्तु बर्तुल्लभ्यत,
“बर्तुल्ल निस्तुल्ल इत्यमरः” । असंख्येययोग्यनपरिक्षेपेण परिधि-
नेति । तथा स वीरोऽपि तदुपमः । यथा वायत्तवृत्तत्वाभ्यां प्रधानमेति ।
तथैव मगवानपि जगति संसारे श्रुतिप्रज्ञः प्रमूढकावपरिहृष्या श्रेष्ठ
इत्यर्थः । परमुनीनामपेक्षया मकर्येण जानातीति प्रज्ञः सर्वज्ञमेति ।
उपेव स्वरूपविद्—आहुः उदाहृतवन्तः कथितवन्तः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—[वा] जले [निष्ठः] विपद्य पर्वत [आयवाच] लब्धे
पर्वतोऽपि [गिरिवरे] श्रेष्ठ पर्वत इति, तथा [व] जले [स्वरः] रुचक पर्वत
[वज्रयायताय] गोव्याघार वर्णितोऽपि [सेष्टे] श्रेष्ठ इति, [तज्जोवमे] इत्यपि तद्वत्

[से] भगवान् महावीर मी [जगभूईपक्षे] ससारमें प्रभूतप्रज्ञा-अनन्त ज्ञान-युक्त हैं। अत [पक्षे] प्रकृष्ट ज्ञानवालोंने [त] उन्हें [मुणीण] सब मुनिराजोंके [मज्जे] बीचमें [उदाहु] उत्कृष्ट कहा है ॥ १५ ॥

भावार्थ—हरिवर्षे क्षेत्रके पर्वतका नाम निषध पर्वत है, वह लम्बाईमें सबसे बड़ा है, तथा रुचक नामका पर्वत गोलईमें अद्वितीय है जिसके समान अन्य दूसरा नहीं है। उसी प्रकार भगवान् महावीर भी ज्ञानमें अद्वितीय थे, उनके समान पूर्णज्ञानी उस समय कोई और नहीं था, अत एव बुद्धिमान् अन्य दार्शनिकोंने उनको उत्कृष्ट कहा है ॥ १५ ॥

भाषा-टीका—निषध पर्वत सब लम्बे पहाड़ोंमें श्रेष्ठ है, चूड़ीकी तरह गोल पहाड़ोंमें रुचक पर्वत सर्वाधिक सुन्दर है, इसी तरह वीरप्रभु मी जगत्में भूतिप्रज्ञ-अध्यात्म विद्यामें अद्वितीय है। और वह अन्य मुनिओंकी अपेक्षासे है। उनके स्वरूपको जाननेवालोंने यथार्थतया कहा है कि वह सर्वज्ञ हैं ॥ १५ ॥

गुजराती अनुवाद—लावा पर्वतोमा निषध नामक पर्वत मोटो छे। गोलका पर्वतोमा रुचक पर्वत श्रेष्ठ छे। ते उपमाए श्रीमहावीर शासनदेव जगत्मा प्रज्ञाए करी श्रेष्ठ कथा छे, अध्यात्म विद्यामा अद्वितीय अने सर्वमान्य छे। तथा सर्व मुनिओने विषे प्रज्ञावन्त कथा छे। तेमना स्वरूपने जाणवावाळा-ओए यथार्थज कथ्यु छे के तेमो सर्वज्ञ छे ॥ १५ ॥

मूल

अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता,
अणुत्तरं ज्ञाणवरं क्षियाई ।
सुसुक्कसुक्कं अपगण्डसुक्कं,
संखिंदुएगंतवदातसुक्कं ॥ १६ ॥

संस्कृतच्छाया

अनुत्तरं धर्ममुदीर्य, अनुत्तर ध्यानवरं ध्यायति ।

सुशुक्लशुक्लमपगण्डशुक्लं, शखेन्द्रेकान्तावदातशुक्लम् ॥ १६ ॥

सं० टीका—अनुत्तरं प्रधानमुत्कृष्ट धर्ममुत्प्रावर्त्येनेरयित्वा= कथयित्वा प्रकाश्य च, “प्रोक्ते प्रेरिते, क्षिप्त इति शब्दार्थचिन्ता-

मपि ।” यथानुत्तरमस्यन्तमुत्तम ध्यामवरं भेदध्यानं च ध्यायति,
उत्पन्नकेवल्यानो मगवान् मनोबाह्ययोगनिरोधकाले सूक्ष्म क्षमयोग
निरुपमन् शुद्धध्यानस्य तृतीयं मेव सूक्ष्मक्रियामप्रतिपातयन् तथा च
चतुर्थं निरुद्धयोग शुद्धध्यानमेव न्युपरतक्रियमनिवृत्तास्य च ध्यायत्य-
सस्तदेव दर्शयति, सुष्ठु मधस्त शुद्धनञ्शुद्ध ध्यान विशुद्धतेऽस्य शुद्ध-
तेऽस्य सबाष्पगत गहमपद्रव्य दोषजनकद्रव्य यस्य तदपगतमह, यदि

* किम्प्राप्समीश्वरोत्पत्तयः पुष्पपात्रे यथा क्वम् । सा केऽनेषु पुष्पतं छत्रिर्दिशि वा
द्रव्यमावृतः ॥ प्रवृत्तिर्दीपिनी केऽसा कयायोरवरचितः । मावत्येद्रव्यतो देहधर्मैः
कोद्येमयी यता ॥ इत्या वीर्यज्ज कपोली पीता पद्मा विद्य स्वरः । केऽसा वसुभिः
सदा तामिर्वायते कम्पे जन्मसि ॥ योषाविठिमिध्यातकज्जवज्जिरोऽपिचम् ।
संस्कारो भावकेऽसादि-कम्पावासावधारणम् । कपोली कचित् पीतो नील टीक्ष्णरो
विषैः कृष्ण टीक्ष्णो केऽसा परिष्कृतं वरीरिचम् । पीता निवेदित मन्त्रः पद्मा
मन्त्रतरो दुर्गैः । कृष्ण मन्त्रतमसात् वृद्धिः तत्स्वतन्त्रादिभिः ॥ त्रिदंष्ट्रज्जवो-
क्तेषु मया साधोपसाधवो । सन्धे परिष्कृत्ये मावकेऽसा फलवर्धनम् ॥ यद्
यद् कर्तुं विवेकचित्तचित्तः । इत्यादिषु, इत्यादिषु पदकेषु केऽसा विवेकम-
न्त्रिणम् ॥ राखेपपद्मनिधो दुर्गो दुष्मान्तः । कोषमानवैमिस्त्रीर्वसोऽवन्त-
सुचिनिभिः ॥ निर्दो विरज्येको मयमांसादिभ्यः । सन्धेवा कर्तव्यः
कुप्यालेदमन्त्रितो जन । कोपी मावी मावी कोपी रापी देवी मोही सोपी
दिवा कूरवन्धवोर्गो मूर्खं दध्यै तर्प्यवरी । निरुद्धः कर्तुमे मन्त्र इत्य-
कम्पाविधारकः । महारम्भो महागुणैर्धीरुल्लेख्यो निरुद्धे ॥ योऽनीमत्पराध्व-
परमिन्तपराध्वः प्रवृत्ति सध्वानं कृत्यमाणा प्रवृत्ति । वृद्धिद्वयो न व्यापति न
गुणः कर्तव्यतम, कर्तव्यतमः समस्तं कृत्ये कियम् । अवि गो निरुद्धं रते
रवे मर्तुमपीहते । परकीरवकोर्णो दुष्क कपोललेख्यः ॥ स्यटिरिनिदेको
विद्यविनिवैचकः वरान्ध सरो वसः पीतलेख्यो महामन्त्रः । इतिर्वालो
यतो निनीत्यया प्रवृत्तः सध्वानोपतः सध्व पद्मलेख्यो वरकिन् । विनिव-
योऽनर्ध्वः पद्मवतोऽनर्ध्वः राखेपपराध्वः शुद्धलेख्यः विरज्यः ।
सेवः पद्मा तथा इत्य केऽसादिताः प्रवृत्तिः । संवेगमुत्तमं प्रायः कमेज प्रतिपद्यते ॥

वा *गंडमुदकफेनं बुद्बुदं तद्वन्निर्मलं चेति, निर्दोषार्जुनसुवर्ण-
च्छुक्लम्, तथा च शंखेन्दुवदेकान्तावदातं शुभ्रं शुक्लं शुक्लध्यानोत्तरं
मेदद्वयं ध्यायतीति भावः । “गण्डः कपोले, पिटके, दोषजनके, जल-
बुद्बुदे, इति शब्दार्थचिन्तामणिः” ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—[अणुत्तर] सबसे उत्तम [धम्म] धर्मको [उईरइत्ता] कहकर भगवान् [अणुत्तर] प्रधान [ज्ञाणवर] व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति नामक ध्यानको [क्षियाइ] चिन्तन करते हैं, अर्थात् [सुसुक्कसुक्क] उत्तम श्वेतवर्णकी तरह शुक्लनामक श्रेष्ठ और पवित्र ध्यान जोकि—[अपगडसुक्क] अर्जुन संज्ञक सुवर्णकी तरह अथवा जलके फेनकी तरह या [सखिंदु एगंतऽवदातसुक्क] शंख और चन्द्रमाकी तरह एकान्त सफेद है उसका भगवान्ने ध्यान किया ॥ १६ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीरने ऐसे धर्मका पूर्ण उपदेश किया है, जोकि समस्त धर्मोंमें प्रधान है तथा शुक्लध्यानको धारण किया, वह शुक्लध्यान अर्जुन नामक सुवर्णके समान और जलके फेनकी तरह तथा शंखकी तरह और चन्द्रमाके समान स्वच्छ है । भगवान् सूक्ष्मक्रययोगका निरोध करते हुए शुक्लध्यानके तीसरा भेद-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक ध्यानका विषय चिन्तन करते हैं, तथा फिर जब योगका निरोध करते हैं तब व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यानके विषयको धारण करते हैं ॥ १६ ॥

अत्रोदाहरण यथा—

वैरिग्रामविधाताय, केपि पट्पुरुषा पुरा । चलिता समुदायेन, तेष्वेक इदम-
ब्रवीत् ॥ १ ॥ सर्व्वं हन्तव्यमेवात्र, द्विपद वा चतुष्पदम् ॥ अन्य प्राह मनुष्याणां
वधोऽस्तु पशुभिः किमु^१—॥ २ ॥ तृतीय प्राह हन्तव्या नरा एव नहि स्त्रियः ॥
तूर्य्येणामाणि हन्यता, पुरुषेष्वपि सायुधा ॥ ३ ॥ पद्ममोऽप्याह ये घ्नन्ति ते
वध्या मायुधेष्वपि, पट्टस्त्वाह विना शत्रून्, घात क्युर्य्यो न कस्यचित् ॥ ४ ॥ इति
मिश्र मनस्तेषामभूत्तदेयाविशेषतः । ता कृष्णनीलकण्ठपोत, तेज पद्मसिताभिधाः
॥ ५ ॥ तदेव तारतम्येन, विशुद्धपरिणामतः । येन सर्व्वे रिपुभ्योऽन्ये, रक्षिताः स
हि सत्तम ॥ ६ ॥

* गडो फोटे कपोलस्य” इत्यभिधानपदीपिका ।

भाषा-टीका—जिसमें राग द्वैतज्ञ साध हो वीर ज्ञान पूर्वक ध्येय
 चैतन्य संकम साक्षिमान साक्ष्यशुद्धि जाति शुभ पाए जायें तथा मन्त्रबोधनको
 उचित करनेकेलिए वीर संस्कारमें सङ्कष्ट धर्मीको प्रकट करनेके लिए प्रभुदे उपदेश
 दिया जो कि—जैसेद रूपमें वह वीर वह बड़े प्राणी मात्रके लिए कहा था । इसमें
 आत्मैव विदित्वेति सङ्कष्ट आत्मज्ञ आत्मन स्थित; उस आत्मनके प्रकट प्रकटते
 उस पावन पुरुषको प्रकट करके केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ । इसके अनन्तर मी मन्त्र
 बचन, कर्मके योगोद्योग विरोधन करनेके आत्ममें सुप्तप्रयोगको रोझकर
 सङ्कष्टप्रदानके तीवरे पक्षों प्राप्त करना आत्मन स्थित; जिस स्थितिमें मन्त्र वीर
 बचनके व्यापारको रुक दिया जाता है तथा आत्मयोगधर्म भी आत्म मन्त्र रूप
 जाय है । वह सङ्कष्टप्रदान तीव्रतम चरण तेराहने शुक्लस्थानपर वीर्यात्म सुप्त
 स्थिति रूप होजाय है ।

वीर जिस स्थितिमें मन्त्र, बचन आत्मकी अप्रतिपत्ति रूप निवृत्ति होती
 है वह सङ्कष्टप्रदान बीजा साध है । क्योंकि वीरस्थित केवलज्ञानस्पी ध्वनि
 प्रकटोद्योग प्रकट करनेवाले सर्वज्ञ मन्त्रज्ञ वह अनन्तरसुद्धित प्रभाव प्राप्त
 जाति रह जाता है तब सुप्तप्रतिभा अप्रतिपत्ति नामक सङ्कष्टप्रदानके योग्य बन
 जाते हैं उस समकक्षी चेष्टा व्यभिक्त होती है, आत्मबोधनमें स्थिति करके
 आत्मबोधनयोग वीर आत्मनोबोधनको वे सुप्तप्रदान करते हैं पुनः मन्त्रज्ञ आत्म-
 नोबोधनके अतिरिक्त बचनयोग मनोबोधनकी स्थिति करके आत्मबोधनयोगसुप्त
 करते हैं उत्पन्नतः सुप्तप्रदानयोगमें स्थिति करके आत्मज्ञानमें उठी समन बचनबोध
 वीर मनोबोधन इन दोनोंका समन्वय प्रकटते निपट करते हैं, तब वह सुप्त
 स्थिति आत्मको सङ्कष्ट प्रदानके करके योग्य बना जाती है, वीर वे कष्ट एक
 सुप्त आत्मबोधनमें स्थित होकर उत्तम ज्ञान करते हैं । इस तरह प्रभुधर्म वह
 सुप्तप्रतिभा अप्रतिपत्ति ज्ञान है ।

वीर असौग मुक्तस्थानके उपानयन क्योंकि जंत समकक्षे प्रथम आत्ममें वेद-
 धिरेवके शुद्धिद्वयी धर्मीकी प्रतिबन्धक धर्मीकी प्रकृतिई हीप्रत्येक नष्ट होजाती
 हैं । मन्त्रज्ञ असौगी परमेश्वरीको उठी असौगमुक्तस्थानके ज्ञानज्ञ समकक्षे सङ्कष्ट
 रूप वीर शिखर "समुपस्थित स्थिति" नामक बीजा सङ्कष्ट प्रदान प्रकट हो जाता है ।

मन्त्रज्ञान वह प्रकट वीर सङ्कष्टे भी अधिक सङ्कष्टप्रदान है । केवलकी
 ध्वनिसे महान् सङ्कष्टे हैं । जिसका कारणमें पुनः प्रकट स्थिति करके वह ज्ञान

जैसा वनालेती है अतः उसे लेश्या कहते हैं," वह दो तरहकी है। प्रवृत्ति और यौगिकी ये दो भेद हैं। प्रवृत्ति कषायके रंगमें रंग लेती है। भावसे असत् परिणति या परपरिणति रूपा है। योग, अविरति, मिथ्यात्व, कषाय, जन्म, कर्म, संस्कारोंसे भावलेश्या होती है। जोकि पाप और आस्रवका कारण हैं।"

कापोती तीव्र भाव है, नीला तीव्रतर और कृष्णा तीव्रतम भाव है, यह अशुद्ध विचारोंका क्रम है। पीता उस पापकी मन्दताका नाम है, पद्मा मन्दतर है, शुक्ला मन्दतमको कहते हैं, अशुभ भावलेश्या निर्म्मलताका नाश करती है, शुभभावलेश्या कर्म कालिमाको प्रध्वंस कर देती है। अन्तिम लेश्या सहजानन्द निर्लेश्य पद देनेमें निमित्त भूत है।

कृष्णलेश्या-

आत्मा इस दुर्भावके फटमें पड़ कर राग, द्वेषके ग्रहसे ग्रसा जाता है, परपरिणति और जड पूजाका दुराग्रह इसीसे आता है, मन दुष्ट और म्लान रहता है, अनन्तानुबन्धीके तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ कषायसे ग्रसित होता है, सदैव भावोंमें निर्दयता बनी रहती है निकल नहीं जाती, यह पापका समाचरण करके उसका कभी पछतावा नहीं करता, यह मांस मदिराका लम्पट होता है, कुत्सित कर्ममें आसक्ति बनी रहती है। इन लक्षणोंसे समन्वित मनुष्य कृष्णलेश्यायुक्त समझना चाहिए।

नीललेश्या-

जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, शोक हो। नृशंसता, क्रूरता, हिंसकता रहती हो, चाण्डाल वृत्ति हो, चोर, मूर्ख, स्वब्ध, औरोंका तिरस्कार करता हो, नीन्दकी अधिकता, कामुकता, मन्दबुद्धि, जडता तथा सदा-असत्में अविवेकी हो, महा आरम्भ, महामूर्च्छा-मोह हो तो समझो कि-इसमें नीललेश्या है।

कापोतीलेश्या-

शोक, भय, ईर्ष्या, मत्सरभाव, औरोंकी निन्दा, अपनी प्रशंसा करना, कोई अपनी स्तुति करे तो प्रसन्न होना, हानिलभको न जानना स्व और परमें विपर्यय विवेचना हो, अहंकार-ग्रह प्रसन्न हो, अच्छी, बुरी सब प्रकारकी क्रियाएँ कर डालता हो, अपनी प्रशंसा सुनकर अन्यको सर्वस्व तक अर्पण कर डालता हो, लडाईमें मरनेकी इच्छा रखता हो, अन्यकी यश. कीर्तिका नाश कर डालता हो, इन लक्षणोंसे कापोतीलेश्या समझनी चाहिए।

तेजोदेव्या-

वह पुत्र सम्पत्ति होता है, अभिप्रायार्थों इस माँ रत्न को भोले के सम्मुख और अक्षित हो जाता है, अपने बुद्धि बल से कुछ और अनुपम रूप कर देता है, किसी अन्य की शोचनीय दशा पर उसे दया आ जाती है, कालुर्मय रूप और अनित्य व्यवहार है, ये पीतदेव्या के लक्षण हैं ।

पद्मदेव्या

कर्मों की निर्मल करने पवित्र होने की प्रवृत्ति इसका हो सुश्रुतों में उत्तम शून निरुप करके सहजान्त सदा हो विरक्त अन्तर और ब्रह्म अस्तन्त पद और सदा हो आत्म में सर्व निग्न और पमत्त रहती हो अनुमोद प्रेम्ते आदर करती हो आत्म शब्दों उपर्ये आया ही विरक्त प्रेम्ते सार्वत्र पमत्त सदा हो तो समझो कि इसमें नीति कुछ निग्न है, वह पद्मदेव्या के लक्षण है ।

शुक्रदेव्या

अभिप्रायार्थ कैसे तक न हो अपने चरित्र का फल माँ देने की अभिप्राय निरुप न करता हो पहापतका अस्तन्त अभाव हो सम्पत्ति की पूर्ण हो शब्दों का अस्तन्तभाव हो सम्पत्ति और अप्पास्मिन्तार्थों स्वामी भाव हो अक्षि-वन्त हो ये लक्षण शुक्रदेव्या के हैं ।

तेजोदेव्या पद्म और शुक्र के तीन प्रवृत्ति देखा है, कर्मों सर्वपद्म उत्तम पीतों के बल में सहायिनी है,

इन्हें उदाहरण से समझाते हैं

चोरों का एक समुदाय किसी ग्राम को लूट कर भाग गया जब उस वहाँ के खेती की जमीन जल से बहता केने की इच्छा से अपने समुदाय के संगठित बनाकर वहाँ का रोने से जमीन का आरम्भ कर २ का प्रवृत्ति के थे । रक्षकों को २ पक्षों में बाँट दिया कि—

[१] हम सब वहाँ काकर धारे ग्राम के बीचों को मार देंगे जमीन पक्षी हुई विविधा लक्ष्यों में न छोड़ेंगे ।

[२] दूसरे पक्ष हम उनके पक्ष लक्षियों को लूट न करेंगे ।

[३] जमीन लक्ष्यों को लूटनी पक्ष न देंगे । क्योंकि बीचों में बहुत खेती करने वाली ही होती है ।

[४] पुष्पोंमें सी उनको मारना चाहिए जिनके हाथोंमें शस्त्रहों, निश्शस्त्र शत्रुका मारना नीतिविरुद्ध है ।

[५] उसी शस्त्र-वारीको मारा जायगा जो हम पर आक्रमण करेगा,

[६] शत्रुको छोड़कर भूलकर भी किसी निरपराधके ऊपर हाथ न डाला जाय ।

इस प्रकार मित्र २ विचार मित्र २ लेख्याओंके द्वारा होते हैं, अनुक्रमसे पवित्रविचारों द्वारा जो कर्मरूपी शत्रुके अतिरिक्त अन्य सबकी रक्षाकरता हो वही नरपुंगव सबमें प्रधान और उत्तम है ।

इसी प्रकार भगवान् वीर प्रभुका सी शुरुलेख्या युक्त ध्यान है, जिसमें निर्दोष आत्म द्रव्य अर्थात् आत्माका अन्तरंग भाव स्वच्छ है । जिनका पवित्रध्यान चन्द्रमा और शस्त्रकी तरह उज्ज्वलवर्ण है, इस प्रकारके शुरुध्यानका उपदेश ससारकी आत्माओंके हितार्थ प्रभुने स्वयं किया है ॥ १६ ॥

गुजराती अनुवाद-जैमां राग द्वेपनो त्याग होय, एवा ज्ञानपूर्वक त्याग, वैराग्य, सयम, स्वामिमान, सहानुभूति विगेरे गुणो होय, एवो धर्म मानव जीवनने उन्नत बनाववा माटे ससारमा सर्वोत्कृष्ट गणाय छे ते धर्मने प्रगट करवाने माटे प्रभुए उपदेश आप्यो के जे अमेद रूपे हतो । वळी ते धर्म प्राणिमात्रने माटे कहेलो हतो । तेनी सिद्धिने माटे तेओए उत्कृष्ट ध्याननो आश्रय लीधो । तेना फल स्वरूपे तेमने केवलज्ञान प्राप्त थयु । ते पछी पण मन, वचन, कयना योगोलुं निरुधन करवाना समये सूक्ष्म काय योगने रोकीने शुरुध्याननो ग्रीजो पायो प्राप्त करवानो आरम्भ कर्यो, जे स्थितिमा मन-वचनना व्यापारोने रोकी देवामा आवेछे, तथा काय योगनो पण अर्धो भाग रोकाई जाय छे । आ शुरुध्याननो ग्रीजो पायो क्षेत्रमे गुणस्थाने वर्तता जीवोने होय छे । अने जे स्थितिमा मन वचन कायनी अप्रतिपातिरूप निवृत्तिथई जाय छे ते शुरुध्याननो चोधो पायो छे ।

कर्मरहित केवलज्ञानरूपी सूर्यशी पदार्थोंनो प्रकाश करवावाला सर्वज्ञ भगवान् ज्यारे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयुष्य वाकी रही जाय छे, ल्यारे सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामे शुरु ध्यानने तेओ योग्य बनी जाय छे ते समयनी स्थिति अचिन्त्य होय छे । वादरकाय योगमां स्थिति करीने वादर वचनयोग अने वादर मनोयोगने ते सूक्ष्मतम करे छे । वळी भगवान् काययोग सिवाय वचनयोग, मनोयोगनी स्थिति सूक्ष्म करीने वादर काययोग पण सूक्ष्म करे छे । ते पछी सूक्ष्मकाययोगमा स्थिति करीने क्षणमात्रमा तेज समये वचनयोग अने मनोयोग

ए मनेबो एम्बक् प्रहारे निग्रह करे छे । एहारे ते सुख किवा ध्यान सञ्चार
ध्यान करवा योग्य बनानी छे छे । अने ते ह्या एक सुख कायनेयमा स्थिति
करीये तेहु ध्यान करे छे । आ रीते प्रभुर्ज भव “सुखकिवाभप्रतिपत्ति” ध्यान छे ।

अयोग गुणस्थानस्य उपान्तस्य कर्मात् अन्तस्समवसा प्रथम समये देवविदेवस्य मुक्तिरपी क्षम्यते प्रविशन्वत् कर्माणी प्रकृतीनां स्त्रीषु स्यात् सानी व्याव छे भय-
वान् अयोगी परमेष्टिने ते जगोय वाया गुणस्थानगा उपान्तस्य समये स्यात् स्म
वने निर्यत "समुत्पिच्छकिना" नामे पुत्रपुत्रानयो बोधो पायो प्रयत्न वाव ।

ऐ मयकान् प्रथम की प्रकाशीने प्रथम-उज्ज्वली सञ्जल शेष रहित सञ्जल शंख मने मन्त्रमाणी पैठे एवमन्त निर्विक सविभ्यामणी सर्वोत्तम एतुं छात्र-प्राप्त प्राप्त है :

સેવ્યાની ઇચ્છા પણ તેમની મહાત્મા પ્રત્યક્ષ છે ।

આત્મામાં પુણ્ય પાપને ક્ષિપ્ત કરીને પોતાના બેઈ બળથી-એ તેને કેવળા કહે છે તે બે બાપથી હોય છે । તે પ્રકૃતિ અને ચૌધિથી હોય છે । પ્રકૃતિ કયાનના રીધમાં રંગી ત્યે છે । માનવી અક્ષત્ પરિણતિ તથા પર પરિવર્તિત્ત્વ છે । ચોપ-નર્મિ-રતિ-સિધ્ધાન્ત-કયાન-અમાન-અમાન્ય કમીર્ણત્વપોથી માનવેલા હોય છે । કે જે પાપ અને અશરૂં કારણ છે ।

અપોતી હીઠ માથ છે. ધીરજ હીઠતર અને કુચ્છ હીઠમ માથ છે. જ
જાણ્ય વિશ્વરોનો કમ છે. પીઠા પાપની મન્દચાતુ માથ છે. પદ્મ મન્દર અને
સુદ્ધ મન્દરમને કહે છે. જાણ્ય માથ-કેવા આત્માની વિવેકપ્રતો ઘણ કરે છે.
હુય માથ-કેવા કમીમેશ્વરો નાશ કરે છે. અનિત્ય હીઠા સદ્ગુણમન્દ-પીઠેશીપત્ર
અપાલકમાં વિમિત્તમ્ છે.

इष्टलेखा-

આ કુર્મચનાથ પંથમાં પાસીને બીજને રાખ-રૂપના પ્રજ્ઞી પ્રદાન છે પર પરીચ્છી અને પુરુષપૂજા-અનુપૂજાનો દુરાપ્ત છેના બી બધે છે. મન શુદ્ધ અને પ્રજ્ઞાન રહે છે. અનુપૂજાપુરુષનીય તીર્થ જોષ-શાન્ત-માતા-જોમની વેરવેચ્છો હોય છે. માત્રોમાં બી ચિર્વિદ્યા કાઠી મળી પાપ કાર્ય કાઠીને તેઓ કાઠી પદાઓ પડે મળી. મન યથિરુપ્તો મોખી હોય છે. કુર્મમીમાં જાતણ હોય છે. આ કહ્યો પાઠો મનુષ્ય 'કુર્મચેન્દ્ર' વાળો જાણ્યો. ।

નીલલેશ્યા-

જેનામા ક્રોધ-માન-માયા-લોભ-રાગ-દ્વેષ-મોહ-શોક-ભય-જુગુપ્સા હોય, નૃશ-સતા ક્રૂરતા-હિંસકતા હોય, ચાણ્ડાલવૃત્તિ હોય, ચોર-મૂર્ખ-સ્તબ્ધ હોય, વીજાઓનો તિરસ્કાર કરતો હોય, નિદ્રાની અધિકતા-કામાસક્તિ-મદ બુદ્ધિ-જડતા હોય, સત્-અસત્મા અવિવેકી હોય, મહાઆરમ્ભ-મહામૂર્છા-મોહ હોય, આ લક્ષણો વાળો જીવ નીલલેશ્યા વાળો જાણવો ।

કાપોતી લેશ્યા-

શોક-ભય-ઈર્ષા-મત્સર-અન્યની નિન્દા, પોતાની પ્રશંસા તથા પોતાની કોઈ પ્રશંસા કરે તો પ્રસન્ન થવું, આત્માના હાનિ લાભને ન સમજે, સ્વ પરમા વિપર્યય બુદ્ધિ હોય, અહંકારમત્સ-સારી નરસી સર્વ પ્રકારની ક્રિયાઓ કરી વેસે, પોતાની સ્તુતિ સામઠીને સર્વસ્વ પળ આપી દે, લડાઈમા મરવાની ઇચ્છા રાખે । આ લક્ષણો વાળો જીવ કાપોતી લેશ્યા વાળો સમજવો ।

તેજોલેશ્યા-

આ લેશ્યાવાળો સમદૃષ્ટિ હોય છે, અધિક માત્રામા દ્વેષ નથી કરતો, અન્યના કલ્યાણ અકલ્યાણનો વિચાર કરે છે । પોતાના બુદ્ધિવલ્લી યુક્ત અયુક્તનું જ્ઞાન વિચારે છે । કોઈ અન્યની શોચનીય દગા પર તેને દયા આવે છે । ચાતુર્ય-તાપૂર્ણ તેમજ અનિશ્ચ વ્યાપાર હોય છે । આ પીતલેશ્યાના લક્ષણ છે ।

પદ્મલેશ્યા-

કર્મની નિર્જરા કરીને પવિત્ર તથા કર્મરહિત વનવાની ઇચ્છા હોય । સુપાત્રે દાન દર્શને સહજાનન્દ લટે । આન્તર તેમજ વાહ્ય વ્યવહાર જેનો અલ્યન્ત મૃદુ અને સરલ હોય । આત્મામા હમેશા વિનય અને નમ્રતા હોય । શત્રુપર પળ પ્રેમ રાખે । આત્મજ્ઞાન પ્રાપ્તિનો જેનો ધ્યેય હોય । સશ્ચરિત્ર પાલક સાધક હોય, નીતિ યુક્ત ક્રિયાવન્ત હોય । આ પદ્મલેશ્યા વાળાના લક્ષણો છે ।

શુક્લલેશ્યા-

અમિમાન લેશમાત્ર પળ ન હોય, પોતાના ચરિત્રનું ફલ માગવાની અભિલાષારૂપ નિદાન ન કરે, નિષ્પક્ષપાતી હોય, સમ્યક્ જ્ઞાનની પૂર્ણતા હોય, રાગ દ્વેષનો અલ્યન્ત અભાવ હોય, સમાધિ તેમજ અધ્યાત્મિકતામા સ્થિર હોય, આસ્તિક્ય હોય, આ લક્ષણો શુક્લલેશ્યાના જાણવા ।

तेजो पद्या जने छद्म ए वचन प्रचला केसा छे जने करिने संविपने उत्त-
मरीते वभारवाम्नी सहायक्य छे ।

लेख्यामोमे कदाहरणची समजावे छे—

बोरोमे एक समुदाय कोई गामने छंदीने चासो मयो स्यारे ते वामना
ज्योको तेजो बहस्ये केवानी इच्छाए संमठित बनीने चास्य प्राप्त छे । ते मां छ
मामलो सुरी सुरी छ प्रकृति ना ह्य रक्षामां चास्य चामस्य पहेबाए कहुं के—

(१) आपने बचा सां जईने माका वामन्य बीषाजो मास करी पासीछे,
तेमबा पाजेकां पक्षिमोमे पन यहि छोवीछुं

(२) बीबाए कहुंके आपने तेमबा पनु पक्षिमोने की ईबा बहि करिए ।

(३) श्रीबाए कहुं के आपने तेमनी बीबोने कोई पन चातनुं बह बहि
आपिए । करबके जन्मनी बहु बीकरीजो आपणी बहु बीकरीजो जेवी छे ।

(४) बोबाए कहुंके पुस्योमां पन बोबा इकमां राज होय तेनेज मारण
बोबाए, निरकल राजुने मारणा नीति निरुद्ध छे ।

(५) पांचमाए कहुं के राजचारिजोमां पन जेजो आपन्य पा आक्रमण
करे तेनेज मारणा ।

(६) छठ्ठाए कहुंके कनु सिद्धय मूखी पन कोई निरपराधीदे न मरज ।
जब रीते कुरु कुरु मिचारे सुरी सुरी केसाजो हार वच छे । कनुजने
पक्षि मिचारे हार जं बमीरपी कनु सिबाब बीबा बपावी रखा करे ते बरुं
मय सर्वमां प्रचन जने उत्तम छे ।

जब रीते मयकम् वीरप्रमुनं पन छद्ममेवम पुन प्राप्त छे । जेसां जानाज
जन्तरम भाव सच्छ होय छे तेमय पक्षि पक्ष संरानी येठे उम्भक बनेमुं छे ।
जब रीत जम् जीरोम सिद्धये शुक्रप्याजो उपदेस पन वीर प्रमुभीए करेज छे १६

मुख

अणुत्तरग परम महेसी,

असेसकम्म स यिसोदइता ।

सिद्धि गते साइमणतपसे,

माणेण सीछेण य दसणेण ॥ १७ ॥

(संस्कृतच्छाया)

अनुत्तराग्र्यां परमां महर्षिः, अशेषकर्म स विशोध्य ।

सिद्धिगतः साधनन्तप्राप्तः, ज्ञानेन शीलेन च दर्शनेन ॥ १७ ॥

सं० टीका—तथा चासौ भगवान् शैलेश्यवस्थाऽऽपादितशुद्ध-
ध्यानस्य चतुर्थभेदानन्तरं साधपर्यवसाना सिद्धि मोक्षं । “योग्यभे-
दैऽन्तर्धाने मोक्ष इति शब्दस्तोममहानिधिः” । “मोक्षो, निरोधो,
निष्ठा, दीयो, तण्हक्खयो, परं, । ताण, लेणं, अरूवं च, सन्तं, सच्च,
अनालय । असखत, सिव, अमत, सुदुद्दस्सं, परायण, सरण, अनी-
तिक, तथा । अनासव, धुव, अनिदस्सना, कता, अपलोकित, निपुण,
अनन्त, अक्खरं, दुक्खक्खयो अव्यापज्झ च, विवट्ट, खेम, केवल, ।
अपवग्गो, विरागो, च, पणीत, अञ्चुत, पद । योगक्खेमो, पार पि,
मुत्ति, सन्ति, विसुद्धि, यो । विमुत्त्य,ऽसंखताधातु, सुद्धि, निब्बुतियो
(सियु)” इत्यभिधानप्पदीपिका । “मोक्षस्तु मुक्तिपाटलिमोचने”
इति भेदिनी” । गतिं मोक्षगतिं या पञ्चमी ता प्राप्त । सिद्धिगति-
मेव विशिनष्टि, अनुत्तरा चासौ सर्वोत्तमत्वात्, अग्र्या च लोकाग्र-
भागे व्यवस्थितत्वादनुत्तराऽग्र्या ता परमा प्रधाना गतिं चेति ।
महर्षिः=रसावत्यन्तोऽग्रतपो विशेषो वा सर्वज्ञ । “महर्षिः सर्वज्ञेषु,
विद्यासम्प्रदायप्रवर्तकेषु चेति, शब्दार्थचिन्तामणिः” । “महेसी, च
विनायको, समन्तचक्खु, सबन्नु, इत्यभिधानप्पदीपिका” । निष्पदेह-
त्वादशेष कर्म ज्ञानावरणादिक विशोभ्यापनीय दूरीकृत्य च विशिष्टेन
ज्ञानेन दर्शनेन शीलेन क्षायिकेण ता सिद्धिं गतिं प्राप्त इति, ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—[स] वे [महेसी] महर्षि भगवान् [अशेषकर्म] सब
कर्मोको [विसोहइत्ता] भलिभाति क्षय करके [अनुत्तरग] सब प्रकारसे प्रधान

श्लोकके अग्रभागमें [यते] या विराजे [साहमणत] और आदि-अनन्त तथा [परम] उत्कृष्ट [सिद्धि] मोक्षको [वाच्येन] ज्ञान [सीकेन] चरित्र [य] और [रंजने] वर्णनके द्वारा प्राप्त हुए ॥ १७ ॥

भाष्यार्थ—मयवाचने आत्मिकज्ञान आधिक्यसंबंध और आत्मिकचरित्र द्वारा सर्वोत्तम श्लेषप्रमाणमें बारण करनेवाली सुष्ठिको सफल कर्तव्य अन्त करके सचे पत्रा वह सुष्ठि सति अनन्त है कई श्लोक मोक्षसे अपिच आत्मा मानते हैं किन्तु वह सुष्ठि संगत नहीं है, क्योंकि संसारमें हममेंसेको राय-द्रव्य-श्लेष-मान-भ्रमादि विचार हैं, बहोतक ये विचार हैं बहोतक मोक्ष नहीं और सुखरूपमें कोई विचार नहीं है । अतः विचार रहित आत्मा संसारमें कबोकर पुनरावर्तन कर सकत है ? यदि उसमें रागादिच सद्भाव मान्यताय तो वह मोक्ष नहीं यदि मोक्ष होनेपर पुष्प अस्तवित होते हों तो वहभी ठीक नहीं क्योंकि विचारोंको विचारही पैदा कर सकते हैं जब सुखरूप निर्निवार है तो विचारकी उत्पत्ति कबोकर हो सकती है ॥ १७ ॥

भाषा-टीका—मयवाचनसेकेही अवस्थासे हृदयमानके अतुल्य मेरुको पानेके अनन्तर आदि अनन्त मोक्षरूप अपुनरावृत्ति भागमें या विराजे । श्लोकके अग्रभा-गमें अवस्थित होनेसे वह परमप्रभाव है उसे उस सर्वज्ञ-महर्षि ने देखके तन्त्रे तथा कर हृदयवरणीयादि बाँठ कर्मोंका निषेधन करके (वह भी अपने निजी पुरुषार्थ से) फिर ज्ञान वर्णन चरित्र के द्वारा सिद्ध पति-मेरुको पत्रा ।

आज्ञात सबमें अनन्त है उस पूर्व श्लेषान्धकाराद्यमें सिद्ध परमात्मज्ञान बनीमूल होकर भरा पत्रा है । उस सिद्धात्म्याके होने पर वे सिद्धा तन्त्रा अन भ्रान्ति राय द्वेष पीडा संशयके रहित हो जात हैं । तथा शोक मोह, बल, धन्य मरण आदि भी नहीं रहते हैं । कुषा तृणा शेष भव उन्माद, मूर्च्छा मन्त्र का भी अस्मत्प्रभाव है । इनके आत्मामें अब परावर्ती भी नहीं है, इनका आत्म वैभव अस्मत्प्रतीय है । सिद्ध मयवाचन क्षीर रहित है, दग्ध रहित है निष्कल्प संकल्प नहीं हैं, अन्तर्धीरत्व प्राप्त हैं, अपने लम्बकते धमी एतन्मि नहीं होते । साहज और निरा आत्मयते आत्मत्व रूप हैं । जिनके मुँहमें कभी निष्कल्प नहीं होता है । परमरूप में विराजित हैं ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित हैं । परीपूनी अत्यन्त संसारकी उत्पत्तके रहित हैं एवं जिनको अब कुछ भी करना बरदा नहीं है अथवा स्थिति है, अथवा प्रवेशों की कितासे रहित हैं । अतः है,

तृष्णा रहित हैं, सदा तीन लोकके शिखर पर विराजित हैं । अनुपमेय हैं, आकाश और काल कि तरह प्रभु अनन्त हैं, और वचन अगोचर हैं ॥ १७ ॥

गुजराती अनुवाद—भगवान् शैलेशी अवस्थायी शुक्लध्यानना चोथा मेदने प्राप्त कर्या पछी आदि अनन्त मोक्षरूप अपुनरावृत्ति स्थानमा जड विराज्या, ते मोटा ऋषीश्वर [महावीर देव] समस्त कर्म खपावीने पोतानाज पुरुषार्थयी ज्ञान, दर्शन, चरित्रे करी, सर्वोत्तम लोकने अय भागे उत्कृष्ट सिद्धगतिने पाम्या ।

आकाश अनन्त छे, ते पूर्ण लोकालोक-आकाशमा सिद्ध-परमात्मानु ज्ञान भयुं पव्यु छे, ते सिद्धावस्थामा निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीडा, सशय नथी, शोक-मोह-जन्म-जरा-मरणादि पण नथी, क्षुधा-तृषा-स्वेद-मद-उन्माद-मूर्छा-मत्सरनो अत्यन्त अभाव छे, तेमनो आत्मा अगुरु लघुत्व गुणने प्राप्त थयो छे, तेमनो आत्मवैभव कल्पनातीत छे, सिद्ध भगवान् शरीर-इन्द्रिय-सकल विकल्पयी रहित छे, अनन्त वीर्यवान् छे, स्व-स्वभावयी कबी पण स्वलित यता नथी, सहजानन्द प्राप्त छे, निराबाध सुखवाळा छे, परम पदमा विराजमान छे, ज्ञान-प्रकाशयी प्रकाशित छे, सदैव नित्य-परिपूर्ण छे, सनातन छे, ससारना प्रपचोयी रहित छे, कृतकृत्य छे, अचल छे, अरुज छे, अक्षय छे, आत्मप्रदेशोनी क्रियायी रहित छे, सन्तुष्ट छे, तृष्णा रहित छे, त्रणलोकना अप्रभागे विराजे छे, अनुपमेय छे, आकाश अने कालनी पेटे प्रभु अनन्त छे, तेमज वचनातीत छे ॥ १७ ॥

मूल

रुक्खेसु णाते जह सामली वा,

जसिस रइं वेययंती सुवण्णा ।

वणेसु वा णंदणमाहु सेइं,

नाणेण सीलेण य भूतिपत्ते ॥ १८ ॥

संस्कृतच्छाया

वृक्षेषु ज्ञातो यथा शाल्मली वा, यस्मिन् रतिं वेदयन्ति सुपर्णाः ।

चनेषु वा नन्दनमाहुः श्रेष्ठं, ज्ञानेन शीलेन च भूतिप्रदः ॥ १८ ॥

सं० टीका—पुनरपि वीरस्य स्तुतिं दृष्टान्तद्वारेणाह, वृक्षेषु मध्ये यथा ज्ञातः प्रसिद्धो देवकुरुज्यवस्थितः शाल्मलीवृक्षः, स च सुवच-

पतिदेवानां क्रीडास्थानम्, “शास्मले शास्मलीवृक्ष इति हेम” ।
 मस्मिन् वृक्षे व्यवस्थिता अन्यतथागत्य सुपणा=भुवनपतिविशेषा देवा
 रति=रममाणा रति रमण क्रीडां वेदयन्त्यनुभवन्तीति । वनेषु मध्ये
 नन्दन=देवानां क्रीडास्थान भेष्टम् प्रधानं “नन्दन, मिस्तक, निचल्य,
 फारुसकं, बना इत्यभिधानप्यदीपिका” । एव मगवान् वीरोऽपि केव
 कस्येन ज्ञानेन समस्तपदार्थविर्भावकेन स्त्रीलेन=चारित्र्येण महात्मातेन
 स्वभावेन सहस्रधर्मविशेषेण सद्गुणेन साधुचरित्रेण प्रधानस्तथा मूर्ति-
 मयः=महद्वैशानोऽनन्तज्ञानो मगवान् इति भाव ॥ १८ ॥

अन्यार्थः—[वर] वैसे [कस्मै] वृक्षों [शास्मली] शास्मली वृक्ष
 [व] तथा [कस्मै] वनों [वेदने] नन्दनम् [वेष्ट] भेष्ट [एव] एव
 वात है [अस्ति] जिसमें कि—[सुपणा] सुपदै-कुमार नामक मुक्तावली देव
 [रति] आराम क्रीडाया [वेदयती] अनुभव करते हैं उसी प्रकार अन्य
 [वनेषु] वनमें [न] और [स्त्रीकेन] चरित्रसे भेष्ट तथा [मूर्तिमये] प्रमूर्त
 स्तनवाली [वाहु] कस्मै से ॥ १८ ॥

भावार्थः—वृक्षों में ऐमलीवृक्ष सुंदर वन का मुख्य वृक्ष होता है, वह वृक्ष
 वृक्षीयवृक्ष और वृक्ष है । तथा संसारके समस्त वनोंमें नन्दनम् वृक्षरत है,
 क्योंकि अधिक शोभा देनेवाले रहनेवाले तथा बाहरसे ब्यानेवाले सुपदैकुमार
 वासिके भुवनवासी देव आनन्दमें आनन्दप्रमोदसे बदेकप्रकारसे निश्चय करते हैं,
 पक्षीप्रकार मगवान् महावीर प्रभु भी अपने उत्तम से कारण इस समस्त प्रभुके
 सुवाचकेमें उसके ज्ञान और चरित्रकी वरावरी करनेवाला कोई भी व्यक्ति न वा
 इसीलिए ऐमली और नन्दनवृक्षों के समान देव महावाल्मीकि स्तुति की गई है ॥ १८ ॥

भावार्थ टीका—शास्मली वृक्षकी वीरता कावा हीनेसे यह एक वृक्षोंमें
 भेष्ट है, और वह भुवनवासी वीरोंका वीरता स्वरूप है, । वनोंमें जिसप्रकार
 नन्दनवृक्ष वन है इसी प्रकार मगवान् महावीर प्रभु भी केवलज्ञानके
 कारण भेष्ट हैं, जिससे सभीपदार्थोंका उन्हें प्रकाश आविर्भाव है । ज्ञानके साथ
 साथ परमेश्वर महात्म्यतः चरित्रमें भी पूर्णभेष्टता प्राप्त है । जोकि कल्पित सहस्र
 धर्मयुक्तवृक्षों का मुख्य वृक्ष है ॥ १८ ॥

गुजराती अनुवाद—शीतल छाया होवाने लीधे शात्मली वृक्ष सर्व वृक्षोथी श्रेष्ठ छे, ते भुवनवासी देवोनु क्रीडा स्थान छे, वनोमा जेम नन्दनवन श्रेष्ठ छे, तेमज भगवान् महावीर पण केवलज्ञाने करी सर्वोत्तम छे, जेनाथी सर्व पदार्थोनो प्रत्यक्ष आविर्भाव तेमने थाय छे, ज्ञाननी साथे यथारूपात चरित्रमा पण तेवो श्रेष्ठ छे के जे आत्मानो सहज स्वभाव छे ॥ १८ ॥

मूल

यणियं च सद्भाण अणुत्तरे उ,
चंदो व ताराण महाणुभावे ।
गंधेषु वा चंदणमाहु सेट्ठं,
एवं मुणीणं अपडिन्नमाहु ॥ १९ ॥

संस्कृतच्छाया

स्तनितं वा शब्दानामनुत्तरं तु, चन्द्रो वा ताराणां महानुभावः ।
गन्धेषु वा चन्दनमाहुः श्रेष्ठम्, एवं मुनीनामप्रतिष्ठामाहुः ॥ १९ ॥

सं० टीका—यथा च शब्दानां मध्ये स्तनितं मेघगर्जितं
“स्तनितं गर्जितं मेघनिर्घोषो रसितादि चेत्यमरः” । तदनुत्तरं प्रधानं
तु शब्दो विशेषणार्थः, आहं च, “समुच्चयेऽवधारणे, नियोगे, प्रशं-
साया, उक्तशकानिवृत्तौ, पादपूरणे, विशेषणार्थे चेति कोषः” । तथा च
तारकाणां=नक्षत्रगणानां मध्ये चन्द्रो महानुभावः, “नक्षत्रं, जोतिः,
मं, तारा, (अपुमे) तारको इत्यभिधानप्यदीपिका” । सकलरजो-
निवृत्तिकारिण्या कान्त्या मनोरमः श्रेष्ठः । गन्धेषु चेति गुणगुणिनोरभे-
दान्मतुल्योपाद्धा, गन्धवत्सु मध्ये यथा चन्दनं मलयजं गोशीर्षकार्ख्यं
“चन्नं (निस्थियं) गन्धसारो मलयजो (प्यथ)” “गोसीसं तलप्य-
णिक, (पुमे वा) हरिचन्दनं” “इत्यभिधानप्यदीपिका” । मलयजं
मलयपर्वतादौ-जायते तद् वा तज्ज्ञाः श्रेष्ठमाहुः । एवं मुनीनां महर्षीणां
च मध्ये भगवन्तः । पुनश्च नास्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकानां शशिनी

विषय इत्यपत्तिश्च, इहलोकपरलोकादिसारहितप्रतिज्ञासमेवमूढ महा-
वीरम् भेष्टमाहुरिति ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—[व] कैसे [वसिष्ठ] मेकधी बर्बना [ताराण] सबसभ्योम
[बलुगरे व] प्रधान है—सबसे बड़कर है, और [व] कैसे [वंरो] बम्बन
[ताराण] सब तारोंमें [महाबुभाषे] उज्जब और मनोहर है, [व] इसीप्रकार
[मयेष्ट] सब सुगन्धित पदार्थोंमें [वंर्ण] बन्दकको [ऐठ] अष्ट [आहु]
कहा है [एष] इसी प्रकार मयबान्धो भी [मुनीर्ण] सब मुनिभोंमें [अपविर्ण]
इस लोक और परलोककी प्रतिज्ञा—कामनासे निरप [आहु] कहा है ॥ १९ ॥

भावार्थ—कैसे सब सभ्योमें मेकधी बर्बनाका सम्ब बड़ा प्रबल होत है,
सबके सब सम्ब उससे नीची कहामें हैं। तथा सब मन्त्र मन्त्रको और सबमें
उज्जब और पुन्दर है, और समस्त सुगन्धित पदार्थोंमें सम्बन्ध बन्दक मुनि
और सत्तम है, उसी प्रकार समस्त मुनिभोंमें मयबान् महावीर उस सम्ब
सबमें प्रधान के बर्बोकि उनमें कामनासे निरप इसलोक और परलोक सर्वथी
किन्ती नी विपकी कामना न थी ॥ १९ ॥

भाषा-टीका—सभ्योमें मेकधी बर्बनाका सम्ब सबसे बड़ा होत है
असंख्य तारों और नक्षत्रोंमें ब्रह्मा सेवधी धीतक और महाबुभाव है सुगन्ध
बस्तुओंमें मत्तबनका योहीपे बन्दक भेष्ट होत है । इसी प्रकार मुनि महर्षि-
गणोंमें मयबान् सबमें ब्रह्मसम्ब भेष्टतापूर्वक है । उनकी सब प्रतिज्ञाएँ इस लोक
और परलोक सम्बन्धी विपनाशकाभीसे रहित थी ॥ १९ ॥

शुद्धरस्ती अनुवाद—सभ्योमां जेम मेकधी बर्बनाको सम्ब, ताराओंमें
विषे जेम बम्बना मने मुनीधीओमां जेम योहीपे बन्दक भेष्ट के तेम मुनि
महर्षिगणोंमां मयबान् भीमहावीर भेष्ट के तेमनी सर्व प्रतिज्ञाओ आ लोक मने
परलोक सम्बन्धीनी बाँकत रहित के ॥ १९ ॥

मूक

जहा सयम् उवहीण सेहे,
नागेसु वा परणिवमाहु सेहे ।

मोओवए वा रसं वेजयंते,

तयोवहाणे मुनि वेजयंते ॥ २० ॥

संस्कृतच्छाया

यथा स्वयम्भूरुदधीनां श्रेष्ठः, नागेषु वा धरणेन्द्रमाहु श्रेष्ठम् ।
क्षोदोदकं वा रसं वैजयन्तः, तप उपधानेन मुनिर्वैजयन्तः ॥ २० ॥

सं० टीका—यथा स्वयं भवतीति स्वयमुवो देवास्तत्रागत्य रमन्त
इति, स्वयम्भूरमणस्तदेवोदधि समुद्राणा मध्ये यथा स्वयम्भूरमण समुद्र
समस्तद्वीपसागरपर्यन्तवर्ती श्रेष्ठ प्रधानो महत्तरः । नागेषु च भुवन-
पतिविशेषेषु मध्ये धरणेन्द्र नागानामिन्द्र यथा श्रेष्ठमाहुः । तथेक्षुरस
इवोदक जल यस्य स इक्षुरसोदक, स यथा रसमाश्रित्येति वृद्धा,
वैजयन्त प्रधान । स्वगुणै समुद्राणा पताकेवोपरि स्वयम्भूर्धरणेन्द्रो
रसश्च प्रधान समन्वितस्तथैव तप उपधानेन विशिष्टतपोविशेषेण मनुते
जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिर्भगवान् वैजयन्त प्रधान समस्तलोकस्य
महातपसा वैजयन्तीव सर्वोपरिव्यवस्थितः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—[जहा] जैसे [स्वयम्भू] स्वयम्भूरमण समुद्र [उदहीन] सब
समुद्रोंमें [सेठे] श्रेष्ठ है [वा] तथा [धरणिन्द] धरणेन्द्र [नागेषु] नागकुमार
जातिके भवनवासी देवोंमें [सेठ] अच्छे हैं [वा] और [खो ओदए] इक्षुरस
[रसवैजयते] सब रसोंमें मुख्य है, उसी प्रकार [तवोवहाणे] उत्तम तपके तपने-
वालोंमें [मुनि] भगवान्को [वैजयते] उत्तम [आहु] कहते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—सब समुद्रोंमें स्वयम्भूरमण प्रधान है, क्योंकि वहा अनेक प्रका-
रके देव आकर क्रीडा करते हैं, तथा अपने वित्तको प्रसन्न करते हैं, उसी प्रकार
सब ऋषि-मुनिओंमें भगवान् सर्वोत्तम थे, क्योंकि वे अज्ञात विषयोंका विशेष
ज्ञान कराकर लोगोंका चित्त सन्तुष्ट करते थे । तथा नागकुमार-भुवनपतिओंमें
धरणेन्द्र प्रधान है अथवा समस्त रसोंमें इक्षुरस अच्छा है उसी प्रकार भगवान्
भी सबमें अच्छे थे ॥ २० ॥

भाषा-टीका—ससार भरके समुद्रोंमें स्वयम्भूरमण समुद्र सबमें
प्रधान है, जिसके तटपर देवगण वायुसेवन करने आते हैं । भुवनपति
देवोंमें, धरणेन्द्र देवराज प्रधान है । मीठे और सरस पदार्थोंमें इक्षुका रस

काम्पितकर और कापिह वस्तु है इसी प्रकार निक्षेप तपसे जयतुषी तीनों अस्त्रों
अवस्थामोक्षे निक्ष और परिवर्तन चीत मान्मेच्छाधर्मों सुवि-भगवान् महावीर
प्रभु भीष्मबाही तरह समस्त लोकमें महान् तपसे तप कर निकले हुए कुन्दवर्षी
तरह सुशोभित थे ॥ १ ॥

गुञ्जराती अनुबाह—तबै समुद्रमें सर्वमूरमण समुद्र मोयी है तेन
अंश पर देवतमो वासुदेवन करवाये बाध है भुवनपति देवोमा बरमेन्द्र देवराज
अबान है मौठर अने सरस पर्वार्योंमा सेरबीना रस काम्पितकर तेमन यीह तथा
सुमिह है तेबीन सीते तप उपधानवी जयतुषी तब काछवी अवस्थामोने निक्ष
तेमन परिवर्तनचीत मान्धारणोमा सुवीर भी मयकान् महावीर प्रभु समस्त
लोकमा हृद कुन्दवर्षी माफक सुशोभित है ॥ १ ॥

मूक

इत्थीसु परावणमाहु पाए,
सीहो मिगाण सखिलाण गगा ।
पक्खीसु वा गरुळे वेणुदेवो,
णिवाणवादीणिह पायपुत्ते ॥ २१ ॥

(संस्कृतच्छाया)

इत्थिपैरावणमाहुर्वातं सिंहो सुगाणां सखिछायां गगा ।
पक्षिषु वा मरुमान् वेणुदेवो निर्वाणवादिनामिहवातपुत्रः ॥ २१ ॥

सं० टीका—इत्थिपु=हरिवरेषु मध्ये, यदैरावत=शक्रवाहनं शतं
प्रतिह “पैरावतोऽजमातगैरावणाप्रमुवत्तमा इत्यमरः” । “कुञ्जरो,
वारणो इत्थीत्यभिधानपदीपिका” । इयान्तभूत वा प्रनाममाहुस्तच्छायाः,
अथवा हस्त रक्ष रक्षणय तदस्यास्तीति इत्थी तेषु इत्थिपु, “हरवो
पाणिमिह, रतने, गणे, सोण्याय, मन्तरे, इति अभिधानपदीपिका” ।
पैरावतो नागरंगस्तद्वज्रोमनीय । अथवा इत्थो नागस्तोयदस्तन्मध्य
पैरावत इवेति । अथवा वृत्तवस्तुइत्थिपु हि पैरावतो नागरंगो नागरंगस्तद्वज्र-

सुगन्धितरससमन्वितत्वात् । “ऐरावतो नागरंगो नादेयी भूमिजम्बुका
इत्यमरः” । तथा मृगाणा हरिणादिवन्यजन्तूना मध्ये यथा सिंहः
केसरी, तथा भरतापेक्षया । सलिलाना नदीना यथा गंगाजल प्रधानभाव-
मनुभवति नैर्मल्यत्वात् । पक्षिषु=पतत्रिषु यथा गरुत्मान् वेणुदेवाऽपर-
नामाप्राधान्येन व्यवस्थितः कथितः । एव निर्वाणं सिद्धक्षेत्राख्यं कर्म-
णामत्यन्ताभावलक्षणं वा स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिर्हेतुतो वा वादितु शीलं
येषा ते तथा, तेषां मध्ये ज्ञाताः क्षत्रियास्तत्पुत्रोऽपत्य ज्ञातपुत्रः श्रीम-
न्महावीरप्रभुरेव प्रधान इति, यथावस्थितनिर्वाणत्वादिति भावः ॥२१॥

अन्वयार्थ—जैसे [हत्थीसु] सब हाथियोंमें [ऐरावत] ऐरावत
हाथी [णाय] प्रधान है [मिगाण] पशुओंमें [सीहो] सिंह जैसे प्रधान हैं,
[सलिलाण] पानीकी जातिमें [गगा] महागगाका पानी निर्मलतामें प्रधान है
[वा] और [पक्खीसु] उड़नेवाले पक्षियोंमें [वेणुदेवे] वेणुदेव नामक
[गरुळे] गरुड पक्षी प्रधान है, उसी प्रकार [इह] समस्त ससारमें [निव्वा-
णवादीण] मोक्षके माननेवालोंके अन्तर्गत [णायपुत्ते] ज्ञातपुत्रमहावीरस्वामीको
प्रधान [आहु] कहते थे ॥ २१ ॥

भावार्थ—ऐरावत हाथी सब हाथियोंमें प्रधान है, उसका सुन्दर श्वेतरंग
है, श्रीवृद्धि करता है, जब भगवान् गर्भमें आये थे तबसे ही महाराजा सिद्धार्थके
घर श्रीवृद्धि हुई थी जिससे प्रभुका नाम वर्धमान रक्खा गया था, अतः सब
हाथियोंमें ऐरावत हाथीके समान, पशुओंमें सिंहके सदृश, जलोंमें महागगाके
पानीकी तरह और पक्षियोंमें गरुड पक्षीकी भाँति भगवान् समस्त मोक्षवादीओंमें
प्रमुख थे, क्योंकि भगवान्ने ही मोक्षका यथार्थ स्वरूप और उसका उपाय तथा
मार्ग बताया था ॥ २१ ॥

भाषा-टीका—जैसे ऊँचे तथा सुन्दर हाथियोंमें ऐरावत हाथी निष्कलंक
और अच्छा होता है, और वह इन्द्रकी सवारीके काम आनेवाली सुन्दर वस्तु
है । इसी प्रकार प्रभु भी ज्ञान दर्शन, चरित्ररूप जो तीन रत्न हैं उनमें हाथीकी
तरह ऊँचे हैं । या वे तीनों रत्न आत्माको नरगीकी तरह मनोहर और उपादेय
हैं, अथवा हस्ती नाम बादलका भी है, अथवा जिनकी अमोघ वाणीकी वर्षा

संस्कृतच्छाया

योधेषु ज्ञातो यथा विश्वसेनः,
पुष्पेषु वा यथाऽरविन्दमाहुः ।
क्षत्रियाणां श्रेष्ठो यथा दान्तवाक्यः,
ऋषीणां श्रेष्ठस्तथा वर्द्धमानः ॥ २२ ॥

सं० टीका—योद्धेषु वीरपुरुषेषु भट्टेषु मध्ये ज्ञातो विदितो
दृष्टान्तभूतो वा विश्वा—सेना हस्त्यश्वरथपदातिप्रभृतिचतुरंगबलसमेता
(इति वृद्धा) यस्य स विश्वसेनश्चार्द्धचक्रवर्ती तथाऽसौ प्रधानः ।
“विष्वक्शेनो जनार्दन” इत्यमरः इत्यनेन विश्वसेनशब्दः विष्वक्से-
नस्यापभ्रंशोऽपि भवितुमर्हतीत्याधुनीका मता । पुष्पेषु च “स्त्रियः
सुमनसः पुष्पः प्रसूनः कुसुमः सुममित्यमरः ।” तन्मध्ये यथाऽरविन्दं
महोत्पलकमल “वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलमित्यमरः ।”
प्रधानमाहुस्तथा क्षतात् रिपुकृतखण्डानष्टकर्मणस्त्रायन्त इति क्षत्रिया
“राजन्नो, खत्तियो, खत्तं, मुद्धामिसित्तं, बाहुजा इत्यभिधानप्पदी-
पिका ।” “राजा तु खत्तिये वुत्तो नरनाहे पभुम्हि च” इत्यभि-
धानप्पदीपिका । राजानोऽपि तेषां मध्ये दान्ता उपशान्ता यस्य
वाक्येनैव शत्रवस्स दान्तवाक्यश्चक्रवर्ती “सब्बमुम्मो चक्कवत्ती
इत्यभिधानप्पदीपिका ।” यथा चासौ श्रेष्ठ प्रधानस्तदेवममुना
प्रकारेण बहून् दृष्टान्तान् प्रशस्तान् अनुकूलान् प्रदर्शयित्वा भगवन्तं
महावीरजिनवरेन्द्रं दार्ष्टान्तिकं खनामग्राहमाह । तथैव ऋषीणां,
“तापसो तु इसी (रितो) इत्यभिधानप्पदीपिका ।” मध्ये श्रीमद्वर्ध-
मानोऽन्तिमतीर्थकरो महावीरस्वामी श्रेष्ठः ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—[जह] जैसे [जोहेसु] योद्धाओंमें [वीससेने] कृष्ण-वासुदेव
[णाए] प्रधान है [वा] और [पुष्पेसु] फूलोंमें [अरविन्द] सहस्रदलकमल
सुगन्धित होता है तथा [जह] जैसे [खत्तीण] क्षत्रियोंमें [दतवक्के] चक्रवर्ती
[सेठ्ठे] प्रधान है [तह] उसी प्रकार [इसीण] ऋषियोंमें [वद्धमाणे] भगवान्
वर्द्धमान [सेठ्ठे] प्रधान [आहु] कहलाते थे ॥ २२ ॥

मातार्थ—इन्द्र-वासुदेवके बहुर अन्व कोई मोटा नहीं है, बरबस पूरमें कमल भण्ड होता है, समस्त भूमिके क्षत्रियोंमें बरबस सुख बरबस है, सही मांति मयदान-महावीर उस समयके सब क्षत्रि-मुनिओंमें सर्वश्रेष्ठ थे ॥ २१ ॥

माया-टीका—अशके वीरोंमें पुष्कल हथी चोरे रथ पैरुछ आदि अनु रपीकक क्षत्रियस भोछ अर्धकली वासुदेव इन्द्र प्रधान होता है । पूरमें हजार पंचविशोत्तम अरविद नामक कमल भेष्ट है । सताए गए वे मधुस विरुद्धे म-सुभोवे इन्द्रके सैन्यों दुकडे कर जाके हैं । तथा सब (कर्म स्त्री) शत्रुओंसे जो सुरक्षित रहनेवाला हो ली क्षत्रिय होता है । उन्हींको वीरिमान् राजा कहा जाता है । सममें उपशान्त पुत्र प्रधान होता है जिसके कमल मात्रसे शत्रु विरुद्ध पड जाते हैं वही बरबस भी होता है मत एव वह स्वमें सुख है । इसी प्रकार सब सुन्दर वस्त्रोंको बिबपर अनायासमें ही बरबा फाट हो ऐसे वे हमारे परम पवित्र वर्तमानकागी अन्तिम दिन-मयदान सब क्षत्रियहृदयोंमें भेष्ट थे ॥ २२ ॥

गुजराती अनुवाद—बोखामोमां यक-अपर-व-वसर ए वपुरी सेवानो अविगति अर्ध बरबस वासुदेव इन्द्र सर्वोत्तम छे पूरमें हजार पंचविशोत्तम अरविद कमल भेष्ट छे शत्रु (कर्मस्त्री शत्रु) की रक्षा करना क्षत्रिय इन्द्राय छे उने वीरिमान् राजा कहे छे उनामां उपशान्त रम प्रधान होव छे जेना कवन मात्र भी शत्रु विरुद्ध गई काम छे ते बरबस होव छे व सर्वोत्तम छे सेवीव रीते अवा सुन्दर-वस्त्रो जना पर कही कहे ते अमार परम पवित्र पति पावन जगद्वारक वर्तमान मयदान अन्तिम दिन सर्व क्षत्रियोंमें भेष्ट छे ॥ २२ ॥

मूल

वाणाण मेव अमयप्पयाण,

ससेसु वा जणयस वयसि ।

तपेसु वा उत्तमयमचेर,

सोसुत्तमे समणे णायपुत्ते ॥ २३ ॥

संस्कृतछाया

दानां धेष्ट अमयप्रदानं सत्यपु बाऽनवर्यं यस्मि ।

तपस्तु वीर्यं ब्रह्मचर्यं सोकोत्तमा धमनो वातपुत्रः ॥ २३ ॥

सं० टीका—तथा च स्वपरानुग्रहार्थमर्थिने दीयत इति दानं, अथवा स्व-स्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोपादानं दानं, यद्वा श्रद्धा भक्तिस्तया परिग्रहममत्वत्यागभावेन कर्मनिर्जराऽर्थं चानुकम्पया यदीयते तद्दानं,* तच्चतुर्धा वाऽनेकधा, परन्तु तेषा दानाना मध्ये प्राणिनां जीवानां

* तुष्टिश्रद्धाविनयभजना लुब्धता क्षान्तिसत्वप्राणत्राणव्यवसितगुणज्ञान-कालज्ञताद्वय । दानाशक्तिर्जननमृतिमिश्रास्तिको मत्सरेष्यो, दक्षात्मा यो भवति स नरो दातृमुख्यो जिनोक्त ॥ कालेऽन्नस्य क्षुधमवहितो दित्समानो विधृत्य, नो भोक्तव्यं प्रथममतिथेर्यस्मदा तिष्ठतीति । तस्याप्राप्तावपि गतमल पुण्यराशिं श्रयन्त, त दातारं जिनपतिमते मुख्यमाहुर्जिनेन्द्रा ॥ सर्वाभीष्टा युधजननुता वर्मकामार्थमोक्षा, सत्सख्याना वितरणपरा दु खविध्वमदक्षा । लब्धु शक्या जगति नयतो जीवितव्य चिनैव, तद्दानेन ध्रुवमसृता किं न दत्त ततोऽत्र ॥ कृत्याकृत्ये कलयति यतः कामकोपौ लुनीते, धर्मे श्रद्धा रचयति परा पापबुद्धिं धुनीते । अक्षार्थेभ्यो विरमति रजो हन्ति चित्त पुनीते । तद्दातव्यं भवति विदुषा शास्त्रमत्र व्रतिभ्यः ॥ भार्य्या-भ्रातृस्वजनतनयान्यन्निमित्तं त्यजन्ति, प्रज्ञासत्त्वव्रतसमितयो यद्विना यान्ति नाशम् । शुद्धे स्नेन ग्लपितवपुषो भुजते च त्वभक्ष, तद्दातव्यं भवति विदुषा सयतायाज्ञ-शुद्धम् ॥ सम्यग् विद्याशमदमतपोध्यानमौनव्रताद्व्य, श्रेयोहेतुर्गतशजि तनौ जायते येन सर्वम् । तत्साधूना व्यथितवपुषा तीव्ररोगप्रपञ्चैस्तदक्षार्थं वितरत जना प्राशु-क्तान्यौषधानि ॥ सावद्यत्वान्महदपि फलं नो विधातु समर्थं, कन्यास्वर्णद्विपहयध-रागोमहिष्यादिदानम् । त्यक्त्वा दद्याज्जिनमतदयामेषजहारदानं, भूत्वाऽप्यल्पं विपुलफलदं दोषमुक्तं वियुक्तम् ॥ नीतिश्रीतिश्रुतिमतिवृत्तिज्योतिर्भक्तिप्रतीति, प्रीति-ज्ञातिस्मृतिरतियतिस्थ्यातिशक्तिप्रतीति । यस्माद्देही जगति लभते नो विना भोजनेन तस्मादानं स्थुरिह ददता ता समस्ता प्रशस्ता ॥ दर्पोद्रेकव्यसनमथनकोधयुद्ध-प्रवाधा पापारम्भक्षितिहताविद्या जायते तन्निमित्तम् । यत्सगृह्य श्रयति विषयान् दु खित यत्स्वयं स्याद्यद् खाद्यं प्रभवति न तच्छृण्वतेऽत्र प्रदेयम् ॥ साधू रत्नत्रि-तयनिरतो जायते निर्जिताक्षो, धर्मं दत्ते व्यपगतमल सर्वकल्याणमूलम् । राग-द्वेषप्रभृतिमथनं यद्गृहीत्वा विधत्ते, तद्दातव्यं भवति विदुषा देयमिष्टं तदेव ॥ धर्मध्यानव्रतसमितिमृत्ययतश्चारु पात्रं, व्यावृत्तात्मात्रसहननत श्रावको मन्थं स्तु । सम्यगदृष्टिर्व्रतविरहित श्रावकः स्याज्जघन्यमेव त्रेधा जिनपतिमते पात्रमाहुः

यतः

“यथा मम प्रिया प्राणास्तथाऽन्यस्यापि देहिनः ।

इति मत्वा न कर्तव्यो, घोरप्राणिवधो द्रुधैः ॥”

अन्यच्च—

“अहिंसा परमो धर्मो, हिंसा सर्वत्र निन्दिता”

इति श्लोकमर्धमभ्यस्य स्वमनसि सदैव दयैव धारणीया, यदि कोऽपि लोभावशेन रसनातृप्तये धनार्जनाशया विजयाभिलाषेण च आमोदप्रमोदार्थं जन्तून्निहन्यात्तदा तेषां नरकपतनमवश्यं भावि । पातञ्जलयोगदर्शनादावपि चाहिंसायामेव प्रमुखत्वम्, यथाह—

“अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमा”

अहिंसा—सत्यमित्यादियमास्तेषां मध्येऽहिंसैव प्राथमिकी,

पुनश्च—

“वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्”

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदु-
मध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।

तथा चान्यदपि—

“अहिंसा प्रतिष्ठाया तत्सन्निधाने वैरत्यागः ।” तद्विपक्षिणी हिंसा
तस्य लक्षणं यथा—

“प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा”

प्रमत्तो यः कायवाङ्मनोयोगैः प्राणव्यपरोपणं करोति सा हिंसा ।
हिंसा, मारणं, प्राणातिपातः, प्राणवधो, देहान्तरसक्रामणं, प्राणव्यपरोप-
णमित्यनर्थान्तरम् । न हिंसाऽहिंसा । इति तत्त्वार्थसूत्रम्, तथा च
योगसूत्रस्य व्यासकृतभाष्येऽपि ‘तत्राऽहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूता-
नामभिद्रोहः ।’

समेव याज्ञवल्क्यसंहितायाम्—

“कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा,
ज्येष्ठेन न प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिमि ।”

तस्मां स्मृताचाराराध्याये—

“अहिंसा सत्यमस्त्रेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

दानं दया दमः क्षान्तिः, सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥

“या हिंसाऽऽपुन्यजगदिति” यज्ञवल्क्यसंहितायां षोडशोऽध्याय-
स्तृतीयमधः ।

मा हिंसात् सर्वभूतानीति ‘श्रुतपथे’ ।

तथा च मनुः—पञ्चमाध्याये

“योऽहिंसकानि भूतानि, दिनस्त्याग्यहितेभ्यः,
स जीवेभ्यः भुतभ्येव, न कपित्सुतमेवते” ॥ ४५ ॥

पुनश्च मनुः—

“श्रुतिं कृमा दमोऽस्तेन शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

अहिंसा सत्यमस्त्रेयो दण्डकं धर्मसम्पन्नम् ॥”

तथा च महामारते—

“अहिंसा परमो धर्मो हिंसाऽधर्मस्तथाविधः ।

सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि, यो धर्मः सत्यवादिनम् ॥”

धर्मिजनानामुत्कृष्टं प्राथमिकं धर्मन्त्वाहिंसेवेति यथा—

“अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः ।

अहिंसा परमं वागमहिंसा परमं तपः ॥”

“अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं फलम् ।

अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥”

“सर्वयज्ञेषु वा दानं, सर्वतीर्थेषु वा स्तुतम् ।

सर्वदानफलं वापि, नैव तुल्यमहिंसया ॥”

तथाहि नियमसारे—

कुलजोणिजीवमगण-ठाणाइसु जाणऊण जीवाणं ।

तस्सारभनियत्तणपरिणामो होइ पढमवद ॥ ५६ ॥

कुल्योनिजीवमार्गणास्थानेषु ज्ञात्वा जीवानाम् ।

तस्यारंभनिवृत्तिपरिणामो भवति, प्रथमव्रतम् ॥ ५६ ॥

कुलविकल्पो योनिविकल्पश्च जीवमार्गणस्थानविकल्पाश्च प्रागेव
प्रतिपादितास्तत्रैव तेषां भेदान् बुध्वा तद्रक्षापरिणतिरेव भवत्यहिंसा ।
तेषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरेण सावध्यपरिहारो
नास्ति । अतः प्रयत्नपरेऽहिंसाव्रतं भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिना—

“अहिंसा मृतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,

न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।

ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभय,

भवानेवात्याक्षीन्न हि विकृतिवेषोपधिरतः ॥”

मुनीनामहिंसा सर्वथा पालनीया-हिंसायाः फलं दुष्परि-
णामात्मकं परिजानीहि यथा—

“पगुकुष्ठिकुणित्वादि, दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः ।

निरागस्तजन्तूनां, हिंसा सकल्पतस्त्यजेत् ॥”

“आत्मवत्सर्वभूतेषु, सुखदुःखे प्रियाप्रिये,

चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां, हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥”

यदाहुर्लोकिका अपि ।

“भूयतां धर्मसर्वसु, मृत्वा पैवायपार्यताम् ।

आत्मन प्रतिहूतानि, परेषां न समानरेत् ॥”

रान्पादधिकं प्राणाः प्रियाः । यथा—

“प्राणी प्राणितलोमेन, यो राज्यामपि शुचति ।

तद्व्योत्यमथ सर्वोर्ध्विदनेऽपि न क्षाम्यति ॥”

“भार्म्यमाणस्य हेमाद्रि, रात्र्य बाऽत्र प्रयच्छतु ।

सर्वनिष्ठ परित्यज्य, ग्रीवो ग्रीवितुमिच्छति ॥”

“दीर्घ्यमाण कुप्सेनापि, यः सगि इत्, दूयते ।

निर्मेतून् स कथं मन्तुनन्तयेष्विदित्तुयै ॥”

तथोक्त—

“रसात्तल यस्तु यदत्र पौरुष, न नीतिरेवाऽऽसरणो हवोषणान् ;

निहन्वते महुस्तिनातिदुर्महो, हहा महाकृष्टमरात्रक जात ॥”

पुनश्च—“म्रियतेतुल्यमानोऽपि, वेही भवति दुःस्ति ।

भार्म्यमाणः प्रहरणैर्दास्यैः स कथं मवेत् ॥”

पुनरपि हिंसकाभिन्दति—

“कुपिर्वरं वरं पगुरधरीरी वरं पुमान् ।

अपि सम्पूर्णसर्वांगो, न ह हिंसा परायण ॥”

स्वार्थिणी हिंसाऽपि हानीया, यथा—

“हिंसा विनाय जायेत, विनाशान्त्यै कृतापि हि ।

कुलधारिण्याऽप्येषा, कृता कुलविनाशिनी ॥”

“अपि वंशकामायातां, यस्तु हिंसां परित्यजेत् ।

स श्रेष्ठः भुक्तस इव, कालसीकरिकरत्मजः ॥”

॥ हिंसां कुर्वन्न विशोधयति निजात्मानम् ॥

“दमो देवगुरुपास्तिर्दानमध्ययनं तपः ।

सर्वमप्येतदफलं, हिंसा चेन्न परित्यजेत् ॥”

॥ शास्त्रे सूक्ष्महिंसां धर्मार्थं प्ररूपकोऽपि कुशास्त्रः ॥

“विश्वस्तो मुग्धधीर्लोकः, पात्यते नरकोवनौ ।

अहो नृशसैर्लोमान्धैर्हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥”

अहिंसामाहात्म्यम्—

“मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी ।

अहिंसैव हि ससारमरावमृतसारिणिः ॥”

“अहिंसा दुःखदावाग्निप्रावृषेण्यघनावली ।

भवभ्रमिरुगार्तानामहिंसा परमौषधिः ॥”

अस्याः फलम्

“दीर्घमायुः परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता ।

अहिंसायाः फलं सर्वं, किमन्यत्कामदैव सा ॥”

अत्रान्तरे—

हेमाद्रिः पर्वतानां हरिरमृतमुजा चक्रवर्ती नराणां,

शीतांशुर्ज्योतिषा स्वस्तरुवनिरुद्धा चण्डरोचिर्ग्रहाणाम् ॥

सिन्धुस्तोयाशयानां जिनपतिरसुरामर्त्यमर्त्याधिपानां,

यद्वत्तद्वद्रतानामधिपतिपदवीं यात्यहिंसा किमन्यत् ॥

अत एव प्राणवियोगानुकूलो व्यापारो हिंसा सर्वशास्त्रे निषिद्धैव । जैनैरपि प्राणिनां सति पातो दुःख प्राणातिपातो विरतिरूपः सर्वतः साधूनां, देशतः श्रावकाणां चेति भावः । जीवानां जीवनवल्लभत्वा-
अथाऽऽह—

तथा च सत्येषु वाक्येषु यदनवद्यं पापरहितं परपीडाऽनुत्पादकं
वचन तच्छ्रेष्ठ वदन्ति । यथाह दशवैकालिके—

“तद्देव काणं काणेति, पडगं पंडगं ति वा

वाहिय वावि रोगित्ति, तेण चोरेति नो वए ।”

तथा च मनुः ।

“सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।

प्रियं तन्नानृत ब्रूयादिति” ।

एवमेव तत्त्वार्थसूत्रे—

असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥ ७ ॥

असदिति सद्भावप्रतिषेधोऽर्थान्तरं गर्हा च । तत्र सद्भावप्रति-
षेधो नाम सद्भूतनिन्हवोऽमृतोद्भावन च । तद्यथा नास्त्यात्मा,
नास्तिपरलोकः, इत्यादि भूतनिन्हवः । श्यामाकतण्डुलमात्रोऽयमात्मा
अंगुष्ठपर्वमात्रोऽयमात्मा, आदित्यवर्णो, निष्क्रिय इत्येवमाद्यममृतो-
द्भावनम् । अर्थान्तरं यो गा ब्रवीत्यश्वमश्वं च गामिति । गर्हेति हिंसा-
पारुष्यपैशुन्यादियुक्त वचः सत्यमपि गर्हितमनृतमेवास्तीति भावः ।

एतन्मध्य एतत्प्रमाणानि—यथा—

“क्रोधलोभमद्वेषरागमोहादि कारणैः, असत्यस्य परित्यागः
सत्याणुव्रतमुच्यते ।” “हासकर्कशपैशुन्यनिष्ठुरादिवचो मुचः । द्विती-
याणुव्रतं पूतं, लभते देहिनः स्थितिम् ॥”

“यद्वदन्ति शठा धर्मं, यन्लेच्छेष्वापि निन्दितम् ।

वर्जनीयः त्रिधा वाक्यमसत्यं तद्धितोद्यतैः ॥”

पुनर्यत्रासत्यप्रसंगः समजनि तत्र मौनं कार्यं परमसत्यं न
वाच्यं, यथा हि सागारधर्माभूते—

“आवश्यके मल्लोपे, पापकार्ये च वान्तिषत्,
मौनं कुर्यात् स्रग्धरा, भूयो वाद्योपविच्छिदे ॥”

मौनमाहारम्भं यथा—

“सन्तोषं भाज्यते तेन, वैराम्यं तेन दृश्यते ।

संयमं पोष्यते तेन, मौनं येन विधीयते ॥”

“छौस्त्यथागावपोबृद्धिरभिमाम्भस्य रक्षणम् ।

सत्यं समवाप्नोति, मनः सिद्धिं जगन्मये ॥”

“बाष्पी मनोरमा कस्य, छात्रसन्दर्भगर्भिता ।

आदेया ज्ञायते येन, क्रियते मौनमुज्ज्वलम् ॥”

“पदानि भानि विधन्ते, बन्दनीयानि कोविदैः ।

सर्वाणि धानि कर्म्यन्ते, प्राणिना मौनकारिणा ॥”

“न सार्धकालिके मौने, निर्बाह्यस्तिरेकतः ।

उषोऽस्य परं प्राज्ञैः, किञ्चनपि विधीयते ॥”

सत्याणुवतरणार्थमाह—

“कन्यागोदमात्रिककूटसाक्ष्यन्यासापकापक्त् ।

स्वात्सत्याणुवती सत्यमपि सान्ध्यापदे स्वयम् ॥”

निबन्धनसारेऽप्यबन्ध—

‘रागेण वा दोसेण वा मोहेण वा मोसमासञ्चरिषाम् ।

को पश्यति साधुं सदा विदियन्तं ह्येह कस्मैव” ॥ ५७ ॥

{ रागेण वा द्वेषेण वा मृगामाणा परिजाम् ।
{ या मन्त्रास्ति साधुः सदा क्षितीय्यत यमस्ति कस्मैव }

अत्र मृगापरिजाम् सत्यमस्तिपक्षः, स च रागेण वा द्वेषेण वा

मोहेन वा जायते तदा य. साधु. आसन्नभयजीवस्तं परिणामं परित्यजति तस्यैव द्वितीयं व्रतं भवतीति ।

“व्यक्तिव्यक्त सत्यमुच्चैर्जपन् य. । स्वर्गस्त्रीणा भूरिभोगैकभाक् स्यात् ॥
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः, सत्यात्सत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम् ॥”

अलीकफलमुपदर्शयति यथा—

“मन्मनस्व काहलस्व, मूकस्व मुखरोगिताम् ।

वीक्ष्यासत्यफलं कन्यालीकाद्यसत्यमुत्सृजेत् ॥”

“मूकाजडाश्च विकला, वाग्धीना वाग्जुगुप्सिताः ।

पूतिगन्धमुखाश्चैव, जायन्तेऽनृतभाषिणः ॥”

पुनश्च प्रतिषेधमाह—

“सर्वलोकविरुद्धं यद्यद्विश्वसितघातकम् ।

यद्विपक्षश्च पुण्यस्य, न वदेत्तदसूतम् ॥”

पुनश्च—

“असत्यतो लघ्वीयस्त्वमसत्याद्वचनीयता ।

अधोगतिरसत्याच्च, तदसत्यं परित्यजेत् ॥”

“असत्यवचनं प्राज्ञः, प्रमादेनापि नो वदेत् ।

श्रेयासि येन भज्यन्ते, वात्ययेव महाद्रुमाः ॥”

॥ यदाहुर्महर्षयः सत्यम्भवाः, दशवैकालिके ॥

“अहमस्मि यः कालस्मि, पञ्चुप्पण्णमणारेण,

‘जमडं तु न जाणेज्जा, एवमेव’ इति नो वद ॥”

{ अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते,

{ यमर्थं तु न जानीयात्, ‘एवमेतत्’ इति नो वदेत् }

“अहमस्मि य कालस्मि, पशुप्यजमजागए ।

अथ संका भवे त तु, एवमेभं ति जो वए ॥”

“अतीते च काले, प्रस्युत्पन्नमनागते, ॥

अत्र संका भवेत्तु, ‘एवमेत्तत्’ इति नो वदेत् ॥”

{ अहमस्मि य कालस्मि, पशुप्यजमजागए
निस्तंकिभं भवे अ तु, एवमेभं तु निदिसे । }

“अतीते च काले, प्रस्युत्पन्नमनागते ॥

निस्तंकिभं भवेत्तु, ‘एवमेत्तत्’ तु निर्विशेत् ॥”

पुनरप्यैहिकान् दोषानाह—

“अस्त्यवचनद्वैरविपादाप्रत्ययादयः ।

प्रादुर्बन्ति न के दोषा, कुप्यन्त्यवचनो वया ॥”

“नियोदेऽपि तिर्य्यक्तु, तथा नरकवासिषु ।

उत्पद्यन्ते मृषावाद्भसादेन क्षरीरिणः ॥”

“अस्त्यवपि सूत्रावादाद्वीरवादेषु संभवः ।

अन्वया वदतां वैनी, वाच स्वाह का गतिः ॥”

“ज्ञानधारित्रयोर्मूर्ख, सत्यमेव वदन्ति ये ।

धात्री पवित्री क्रियते, तेषां परपरेषुमि ॥”

अस्मीक मे न माचन्ते, सत्यमतमहापन्थ ।

मापरायूमरु तेभ्यो, मृतमेतोरगावय ॥”

“क्षिप्त्वा मुण्डी बटी गम्भीररी वक्षस्पति ।

सोऽपि मिथ्या यदि भूते, निन्द्य स्वावग्त्यवादपि ॥”

‘एकत्रासत्यं पाप, पाप निशेषमन्यत ।

‘द्रयोस्तुभनिष्ठयोराधमेवासिरेष्यते ॥”

“पारदारिकदस्यूनामस्ति काचित्प्रतिक्रिया ।

असत्यवादिनः पुसः, प्रतीकारो न विद्यते ॥”

“कुर्वन्ति देवा अपि पक्षपात, नरेश्वराः शासनमुद्वहन्ति ।

शीती भवन्ति ज्वलनादयो यत्तत् सत्यवाचां फलमामनन्ति ॥”

तथा च ज्ञानार्णवेऽप्याह—

“य सयमधुरां घत्ते, धैर्यमालम्ब्य संयमी,

स पालयति यत्नेन, वाग्वने सत्यपादपम् ॥”

“अहिंसाव्रतरक्षार्थं, यमजातं जिनैर्मतम् ।

नारोहति परां कोटिं, तदेवासत्यदूषितम् ॥”

“असत्यमपि तत्सत्यं, यत्सत्त्वाशसकं वच ।

सावद्यं यच्च पुष्पाति, तत्सत्यमपि निन्दितम् ॥”

“अनेकजन्मक्लेशानां, शुद्ध्यर्थं यस्तपस्यति ।

सर्वं सत्त्वहितं शश्वत्सं ब्रूते सूनृतं वच ॥”

“सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।

अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं, वचः शास्त्रे प्रशस्यते ॥”

“मौनमेव हितं पुसा, शश्वत्सर्वार्थसिद्धये ।

वचो वाचि प्रियं तथ्यं, सर्वसत्त्वोपकारि यत् ॥”

“असद्वदनवल्मीके, विशाला विषसर्पिणी,

उद्वेजयति वागेव, जगदन्तर्विषोल्बणा ॥”

“पृथैरपि न वक्तव्यं, न श्रोतव्यं कथंचन ।

वचः शकाकुलं पापं, दोषाढ्यं चाभिसूयकम् ॥”

“भर्मच्छेदि मनःशल्यं, च्युतस्थैर्यं विरोधकम् ।

निर्देयं च वचस्त्याज्यं, प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥”

“धर्मनागे क्रियाध्वसे, मुसिद्वान्ताथविष्ठरे ।

भट्टैरपि बध्म्य तत्कारूपमक्षयने ॥”

“या मुद्गमोदयत्येव, विमान्ना कणयोजनम् ।

विषम विषगुम्भ्य, साऽवय पक्षणी न गी ॥”

“न सदा चन्द्रन चन्द्रो, मणयो मास्तीमत्र ।

कुर्वन्ति निवृत्तिं पुमां, यथा बाष्पी मुतिमिया ॥”

“अपि शिवस्त्युष्ट, छाद्रुल आवते वनम् ।

न लोके मुचिरेणापि, जिहानरुद्धवित् ॥”

“सर्तां विज्ञातसम्भानां, सत्यशीमावसम्भानाम् ।

वरणम्पशमाश्रेण, विगुह्यति परातत्तम् ॥”

“नृजन्मन्वापि य सत्यप्रतिशप्युतोऽधम ।

स केन कर्मणा पद्माज्जन्मपद्मावरिष्यति ॥”

“लण्डिधनां बिरुपाणां, दुर्बिधानां च रोगिणाम् ।

कुलजात्यादिहीनानां, सत्यमेकं विमृष्यम् ॥”

“न हि लोकेऽपि संसर्गमसत्यमस्मिन् सह ।

कश्चिच्छरोति पुण्यात्मा, दुरितोऽस्युद्धर्मकया ॥”

“सुतस्तन्नपारादिवितकम्पुष्टोऽधवा ।

आत्मार्ये न बभोऽस्तस्य वाच्य प्राणास्त्ययेऽपि च ॥”

इत्यादिप्रमाणैः सत्यमनवर्धं पापरहितमेव भेष्टम् ॥

(अथ ब्रह्मचर्यमाह—)

तपस्तु चेच्छया निरोधम्यापारेषु श्वाश्वप्रकारेषु मध्ये मयैवोत्तम
नवविषमब्रह्मचर्यमुत्तुपेत ब्रह्मचर्यं प्रदानं भवति । कर्मनीमकामिनी
मनोहराजनिरीक्षणद्वारेण समुपभर्नित्रकौतूहलनिष्ठाभ्युपरिस्वायेनमववा

स्ववेदोदयामिधाननोकषायतीव्रोदयेन सजातमैथुनसंजापरित्यागलक्षण-
शुभपरिणामेन च ब्रह्मचर्यं श्रेष्ठ भवति सर्वेषु तपस्विता भावः ।

आह च—

“भवति तनुविभूतिः कामिनीनां विभूतिं, स्मरसि मनसि कामिस्त्वं
तदा मद्वचः किम् ; सहजपरमतत्वं स्वस्वरूपं विहाय व्रजसि विपुलमोहं
हेतुना केन चित्तम् ।”

॥ अब्रह्म दोषा यथा— ॥

“सन्तापरूपो मोहागसादतृष्णानुबन्धकृत् ।

स्त्रीसम्भोगस्तथाप्येष, सुखं चेत्का ज्वरेऽक्षमा ॥”

॥ परदाररतौ सुखाभावः, अनायुष्यकारित्वं च ॥ यथा—

“न हीदृशमनायुष्य, लोके किञ्चन विद्यते ।

यादृश पुरुषस्येह, परदाराभिमर्शनम् ॥”

अथ ब्रह्मचर्यमाहात्म्यमाह—

“स्वस्त्रीमात्रेऽपि सन्तुष्टो, नेच्छेद्योऽन्याः स्त्रिय सदा ।

सोऽप्यद्भुतप्रभाव स्यात्किं वर्ण्यं वर्णिनः पुनः ॥”

॥ ब्रह्मचारिणीं सतीं दृष्टान्तेन स्पष्टयति— ॥

“रूपैश्वर्यकलावर्यमपि सीतेव रावणम् ।

परपूरुषमुज्झन्ती, स्त्री सुरैरपि पूज्यते ॥”

अन्यच्च तत्त्वार्थसूत्रे—

स्त्रीमैथुनमब्रह्म— ॥ ११-७

स्त्रीपुंसयोर्मैथुनभावो मिथुनकर्म वा मैथुनं,

तदब्रह्म—

अन्यथापि—

“मातृसस्यमुतासुस्या, निरीक्ष्य परयोपित ।

स्वकस्रेण यस्तोपयत्तुभ स्रग्णुमतम् ॥”

“दुःखानां निधिरन्यस्त्री, सुखानां प्रस्थानक ।

व्याभिवदुःखसस्याग्ना, दूरत सा मरोत्तमै ॥”

“समर्तारं परित्यज्य, या परं याति निरुपा ।

विश्वात्तं भयते तस्यां, क्वमन्य स्वयोपिति ॥”

“किं द्रुतं समते मर्त्यं सेवमान परस्त्रियम् ।

क्वेव स कर्म वप्राति, श्रममूल्यादिकारणम् ॥”

यतः—

“विन्दन्ति परमं ब्रह्म, यत्समाजन्म्य योगिन ।

सद्ब्रह्म ब्रह्मचर्यं स्वाधीरवीरियगोचरम् ॥”

“एकमेव ब्रह्मं श्राम्य, ब्रह्मचर्यं जगद्यये ।

यद्विशुद्धिं समापन्ना पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥”

तन्मते दशधा भैषुनम्—

“आद्यं धरीरसंस्कृतो, द्वितीयं ब्रह्मसेवनम्,

तैर्मन्त्रिकं तृतीयं स्वात्, संसर्गस्तुर्व्यमिव्यते ।

योविद्विषयसंक्रान्तः, पञ्चमं परिकीर्तितम् ।

तद्वगवीक्षणं षष्ठं, संस्कारः सप्तमं मतम् ॥”

“पूर्वांशुभोगसम्भोगभरणं स्वात्तदहमम् ।

नवमं मन्त्रिनीचिन्तां दशमं वस्तिमोक्षणम् ॥”

किम्पाकफकसंभोगसन्निभं तद्विं भैषुनम् ।

आप्तसमाश्रयं स्वाधिपाकेऽवन्तमीतिवम् ॥”

“विरज्य कामभोगेषु, ये ब्रह्म समुपासते ।

एते दश महा दोषास्तैस्त्याज्या भावशुद्धये ॥”

“सिक्तोऽप्यम्बुधरव्रतैः, प्लावितोऽप्यम्बुराशिभिः ।

न हि त्यजति सन्तापं, कामवह्निप्रदीपितः ॥”

“मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने, व्यग्रे नमसि भास्करः ।

न श्लोषति तथा लोकं, यथा दीप्तः स्मरानलः ॥”

“हृदि ज्वलति कामाग्निः, पूर्वमेव शरीरिणाम् ।

मससात्कुरुते पश्चादगोपाङ्गानि निर्दयः ॥”

भोगिदंष्टस्य जायन्ते, वेगाः सप्तैव देहिनः ।

“सरभोगीन्द्रदंष्ट्रानां दश स्युस्ते भयानकाः ॥”

इमे ते दश—यथा—

“प्रथमे जायते चिन्ता, द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।

तृतीये दीर्घनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥”

“पंचमे दह्यते गात्रं, षष्ठे भक्तं न रोचते ।

सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा, उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥”

“नवमे प्राणसन्देहो, दशमे मुच्यतेऽसुभिः ।

एतेर्वर्गैः समाक्रान्तो, जीवस्तत्त्व न पश्यति ॥”

“नासने शयने याने, स्वजने भोजने स्थितिम् ।

क्षणमात्रमपि प्राणी, प्राप्नोति स्मरशल्यत ॥”

“दक्षो मूढः क्षमी क्षुद्रः, शत्रो मीरुर्लघुर्गुरुः ।

तीक्ष्णः कुण्ठो वशी अष्टो, जनः स्यात्स्मरवचितः ॥”

“यदि प्राप्तं त्वया मूढः, नृत्वं जन्मोग्रसक्रमात् ।

तदा तत्कुरु येनेयं, स्मरज्वाला विलीयते ॥”

इदानीमाप्तुष्मिकमैहिक चाग्रहाफलमुपदर्श्य गृहसोचिर्त
पुनरपि ग्रहचर्य्यमतमाह—

“यष्टत्वमिन्द्रियच्छेद, वीक्ष्याऽग्रहाफलं सुधी ।

भवेत्स्वदासन्तुष्टोऽन्वदारान् वा विवर्धयेत् ॥”

“रम्यमापासमात्रे भत्यरिणामेऽस्तिदारुणम् ।

किम्पाकफकृतंकाष्ठं, सक्तं सेवेत मैथुनम् ॥”

“यद्यपि निवेद्यमाणा, मनस परितुष्टिकारका विख्या ।

किम्पाकफकृतंकाष्ठं, सक्तं सेवेत मैथुनम् ॥”

“कन्यः स्त्रियः अमो मूर्च्छा, अमिर्म्भनिर्वन्धयः ।

राज्यमदमादिरोगाश्च, भवेयुर्मैथुनोत्थिता ॥”

“योनिवज्रसमुत्पन्नाः, सुसूक्ष्मा अन्तुराक्षयः ।

पौष्णमाणा विपद्यन्ते, यत्र तन्मैथुनं त्यजेत् ॥”

योनौ अन्तुसमुत्पन्ना वात्स्यायनः कामसाधकरोऽप्याह ।

वात्स्यायनस्तोको यथा—

“रक्त्याः कुम्भः सूक्ष्मा, सूक्ष्मप्यापिष्टकन्यः ।

अन्मवर्धयेत् कण्ठ्यति, अमयन्ति तथाविधाम् ॥”

कामज्वरयिकित्सार्थमौषधमिव मैथुनसेवनमिति यो मन्वेष्ट
तं प्रत्याह—

“जीसम्भोगेन यः कामज्वरं प्रतिविकीर्यति ।

स हुताश्वं हुताहुत्या, विष्णापस्तुमिच्छति ॥”

इतर अप्याहुः—

“न जातु कामः कामानामुपमोगेन स्यात्सति ।

इविषा कुप्यवर्धयेत्, मूय एवामिवर्धते ॥”

॥ स्त्रियाऽपि परपुरुषो भुजग इव त्याज्यः ॥

“ऐश्वर्य्ये राजराजोऽपि रूपे मीनध्वजोऽपि यः ।

सीतया रावण इव, त्याज्यो नार्य्या नरः परः ॥”

पुनश्च—“प्राणमूत चरित्रस्य, परब्रह्मैककारणम् ।

समाचरन् ब्रह्मचर्य्यं, पूजितैरपि पूज्यते ॥”

यतः—“चिरायुषः सुसस्थाना, दृढसंहनना नराः ।

तेजस्विनो महावीर्य्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्य्यत ॥”

एतैर्ज्ञायते ब्रह्मचर्य्यमाहात्म्यम् ॥

तथैव सर्वलोकोत्तमरूपसम्पदा सर्वातिशायिन्या क्षायकज्ञानदर्शन-
शीलैर्ज्ञातपुत्रो ज्ञातनन्दनोऽन्तिमजिनः श्रमण प्रधानः ॥ यतो भगवतो
महावीरस्य बहूनि नामानि सन्ति । यथा—

“समणे भगवं महावीरे नाते, नातपुत्ते, नातकुलनिघत्ते,
विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे, समणे भगवं महावीरे, कासवगोत्ते, अम्मा.
पियुसंतिण् वड्ढुमाणे, सह सम्मुदिण् समणे, मीमभयमेरवं ओरालं
अचेल्लय परिसहं सहइत्तिकट्ठु देवेहि से नाम कयं समणे भगवं
महावीरे ॥ श्रीआचाराङ्गसूत्रम्-११, १५, १६-१७

“एव से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदसी अणुत्तरणाणदसणधरे
अरहा णायपुत्ते भगवं, वेसालिण् वियाहिण्” ।

(श्री सूयगडागसूत्रम् १-२)

भगवतो महावीरस्य ज्ञातवशो यथाऽऽह सिद्धान्ते ।

“छविहा कुलारिया मणुत्सा प० त० उग्गा, मोगा, राइण्णा,
इक्खागा, णाता, कोरच्चा” ॥ (श्री ठाणाग सूत्रम् ४९७)

“वात्स्याय्मा, इक्ष्वाक्यो, विदेहा, हरयोऽन्नाथा, आता कुरवो,
बुबुनाथा, उमा, मोगा, रामन्या इत्येवमादयः क्षत्रिया आर्यकुलोद्भवाः” ॥

(तत्त्वार्थसूत्रम् ३-१५)

आत्मण्डोपानोऽपि श्रातवशस्य परिचयमादत्ते, यथा—

“अहिया ये ‘जायसंखे’ आपुच्छिस्ताण जायए सखे ।

दिबसे मुहुत्तसेसे कमाप्ताम समणुपत्तो ॥”

(जाम्बव्यकृष्णि पृ० २६७)

पुनश्च—

“उत्तरसत्त्विकुण्डपुरसंनिवेशस्त मज्जेयं निगच्छति र ता जेनेव
‘जायसंखे’ उज्जाणे तेणे न उवागच्छइ महावीरि स्येय
करेइ ।”

(श्री आचारंगसूत्र २ १५-८)

श्रीहेमचन्द्राचार्योऽपि परिशिष्टपर्वणि श्रातनम्बनमिति शब्दभ्रमेण
कृत्वा प्रथममकरोति, यथा—

कस्याणपादपाराम, श्रुतगगादिमाचलम्,
विश्याम्मोजरविं देवं, बन्दे श्रीश्रातनन्दम् ॥

इत्यादिप्रमाणैर्मगवान् महावीरो श्रातवशमककृतवान् ।

शब्दार्थः—वेत्ते [वाचाय] राम-वर्मैर् [अयवप्यवार्थ] अयवकृष
[सेव] भेद है, [वा] जीर [लोच] सखोमि [अयवार्थ] पय रक्षित-वसुतोये
पीवा न देवेवाय सख-वप्य [वा] जीर [लोच] सख सखोमि [वमवैर]
महावर्मो [उत्तम] अयव [वर्मति] कहा है, सखी प्रकार [समये] ववा-
अमण [अयपुते] इष्ट-पुत्र-महावीर [कोणुतये] लोकमें] भेद ये ॥ २३ ॥

माचार्य—ज परके श्रितकेष्टिपु निशीपसुख निष्काम वर्मव करवा
राम है, राम अनेक प्रकारका होवेपर ही ‘अयववाम’ सख वातोये उत्तम है

इसी प्रकार सत्य भी अनेक प्रकारका है, तथापि दूसरेको जिस सत्यसे पीटा न हो ऐसा मत्त-प्रियसत्य उस सत्यसे अच्छा है जिससे दूसरोंको पीटा हो, और सब तपोभि ब्रह्मचर्य तप सर्वोत्कृष्ट है, उसी प्रकार भगवान्-महावीर भी लोकमें सर्वोत्तम थे ॥ २३ ॥

भाषा-टीका—अपनी और औरोंकी उन्नति तथा भलाईके लिए जो परोपकारकी दृष्टिसे दिया जाय उसे दान कहते हैं। या अपने अधिकारको वस्तु-मेसे हटा कर जिस वस्तु पर किसी अन्यको अधिकार दे देना भी दान कहा जा सकता है। परन्तु यहा तो श्रद्धा और प्रतीति के साथ भक्ति भाव पूर्वक, परिग्रहका समत्व भाव छोड़कर कर्मोंकी निर्जराके लिए अनुकम्पासे तथा मन, वचन कायकी शुद्धिसे फलकी इच्छा न रख कर दाता जिस पात्रमें कुछ पवित्र वस्तु देता है उसीका नाम दान है।

और वह अन्नदान, औषधदान, ज्ञानदान, अभयदानके मेदसे चार प्रकारका है। परन्तु उन सबमें प्राणियोंका भय हटा कर उन्हें सर्वथा निर्भय कर देना ही सर्वोत्तम दान अभयदान माना गया है। क्योंकि आत्माने दश प्राण होने से प्राणी कहलाता है। जीवित रहनेकी इच्छा या जीवित रहना ही इसका स्वभाव रहनेसे इसकी 'जीव सज्ञा' है। दशप्राण 'द्रव्य प्राण' है और 'भाव प्राण' अनन्त चतुष्टय कहलाते हैं, वास्तवमें यह जीव तीनों कालमें इन्हीं प्राणोंसे जीवित रहता है। अतः सब जीव जीवित रहनेकी इच्छा रखते हैं मरना कोई नहीं चाहता, किसीको मरना असीष्ट नहीं है। अतः जीवित रहनेके अभिलाषुओंको 'अभय' दान देकर उनका सब प्रकारसे रक्षण करना मनुष्यका श्रेष्ठतम कर्तव्य है।

कहा भी है कि—“जिस प्रकार मुझे अपने प्राण प्रिय हैं उसी प्रकार अन्य देह धारियोंको भी अपना जीवन प्रिय है। स्वर्गका निवासी इन्द्र और विष्टेरा कीडा, महलमें रहने वाला राजा और झोंपड़ीमें रहने वाला गरीब लकड़हारा समान जीवन चाहते हैं। यह समझ कर किसी भी प्राणीके 'मन' नामक प्राणको भी कष्ट न देना चाहिए।”

“क्योंकि अहिंसा परम धर्म है, हिंसा सब जगह पर निन्दित की गई है, यह स्वयंको प्रिय न होने के कारण औरों को भी अप्रिय है। क्योंकि अपनी और औरों की मनोदशामें कोई अन्तर नहीं है। अतः चतुर मनुष्य अपने मनमें

सदैव यही भय रहता है कि—किसी भी तरह जगत् के धीबोंका कल्याण संभव न भलाई करे, परोपकारमें लक्ष्य सम कर वीरों को भी कमानेका प्रयत्न करे। अपनेमें दोषमात्रका केवल तब न रह कर वीरों को भी निर्दोष कमानेका प्रयत्न करे। व्याघ्रोंके जगत् सुखसे सुखी बन कर वीरों को भी सुख के स्वप्न पर के जाऊँ”

परन्तु यदि कोई प्राणी इन भावोंके निरपेक्ष बल कर जीवन का दास बन कर जवानकी कलखके जाकमें चँलकर, जन कमानेकी इच्छासे या कर्तव्यमें निबद्ध पानेकी आकांक्षासे अपने भयको बहष्मनेकी परबसे निरपेक्ष और यौन जीवों को मार डालता है। उस इस पाप दोष से बच्य होकर उस भय का कार्य को गरक- (बुद्ध) में जगत् जान्य पड़ता है। इसी सिद्धान्तसे सब प्रकारके महापुरुषोंने रक्षाकी है। उस से जन्म लेकर इसको एक कोटिमें कानेका प्रचार किया है। महर्षि ‘पुनर्वसु’ ने तो इसको ही बयान किया है। पाँच बमोंमें जीव रहा सबसे पहला बय है।

“किसीने श्रेय श्रेय ओहके बच होकर हिंस्र करने करने बहुमोहन करनेको निरर्थक कहा है। इस पापका परिणाम उनके यत्नमें जगत् दुःख का बयान बना है।”

“कहीं बहिंसकी प्रसंसा नहीं तक की गई है की अन्धकारिणी के भय तक बयानेका कहिए। खलक तब ही बहिंसका साधन कर सकता है।

असिदुमास्तामीने भी जगत्जीवनमें यही कहा है कि जो कोई जी जीव प्रभाव कर्ता, अस्त्रबालाजु कुछ होकर धनकोय वचनकोय और मन्त्रकोयके ज्ञान प्राणोंका ‘अतिपात’ का अपरोपण करता है, उसको ‘हिंस्र’ कहते हैं। हिंस्र करना मारण प्राणोंका अतिपात—आप जगत् निबोध करण प्राणोंका बच करण जीव-कायसे अलग करके बेहान्तरको संशय कर देण मरुन्तर-यजन्तरको पाँच देण और प्राणोंका अपरोपण करना इन सब जगत्का एक ही मान है।

“यदि कोई जीव प्रमाणी कर्ता, निबध कर्ता निबध निबध निबधके बल होकर ऐसा कार्य करता है, अपने या परके प्राणोंका ‘अपरोपण’ करनेमें जगत् होता है, तब वह हिंस्र हिंस्रके दोषका प्राणी समान्य जाता है। परन्तु अन्ध जीव कर जगत् करकेकैसेके करीपके निबधके यदि किसी जीवका बच होना

तब वह उस दोषका भागी नहीं समझा जाता । क्योंकि इस लक्षणमें प्रमादका योग मुख्य रूपसे बताया है और अप्रमत्त अवस्थाका नाम 'अहिंसा' है ।

इसके अतिरिक्त योग सूत्रके व्यास कृत भाष्यमें भी अहिंसाका लक्षण बाधते समय उन्होंने बताया है कि—सर्व्वदा सब प्रकारके जीवोंसे कभी द्रोहका न करना 'अहिंसा' है ।

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें—योगी जनोंने मनवचन काय से किसीको छेग न पहुचाना 'अहिंसा' कहा है ।

“अहिंसा, सत्यबोलना, परवस्तुको विना आज्ञा न लेना, आत्माको पवित्र बनाना, इन्द्रियोंका वश करना, दान देना, दया करना, मनो विकारोंके प्रवाहको दमना, शान्त रहना, इन सबको धर्म साधन बताया है ।”

यजुर्वेद—यहा भी यही उपदेश दिया है कि—“हे पुरुष ! तू जगत् के किसी भी प्राणीकी हिंसा मत कर 'मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, १८-३ अपनी आखोंसे सबको मित्रकी दृष्टिसे देख शत्रुकी सी दृष्टि किसी पर मत डाल ।”

मनुका पांचवाँ अध्याय—“जो मनुष्य अपने कल्याणकी तो इच्छा प्रगट करता है परन्तु प्राण, भूत, जीवोंकी हिंसा कर डालता है, वह जीव अपनी इस जीवित दशामें और मर कर परलोकमें कभी भी सुख न पायगा ।”

दशधर्म—“धैर्यरखना, शांतिकरना, आत्माको पापसे विरक्त करना, चोरी न करना, आन्तरिक पवित्रता रखना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, सत्य बोलना, क्रोध न करना, अहिंसाका प्रालन करना, इस प्रकार धर्मके दश लक्षण कहे हैं । जिनमें अहिंसाको भी स्थान प्राप्त है ।”

महाभारत—“मैं यह सत्य कहता हू कि—सत्यवादियोंका धर्म अहिंसा है और यही सब धर्मोंमें प्रधान है, तथा हिंसा करना अधर्म और पाप है ।”

अहिंसा वचनान्मृत—“अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा उत्कृष्ट दमन है, अहिंसा उत्कृष्ट दान है, अहिंसा प्रधान तप है, अहिंसा-परम यज्ञ है, अहिंसा-परम फल है, अहिंसा परम मित्र है, अहिंसा उत्कृष्ट सुख है ।”

“सब प्रकारके यज्ञोंमें अनेक प्रकारके दान करना, सब तीर्थोंमें अनेक स्तुतिएँ गाना, सब दानोंका फल या परिणाम अहिंसासे बढ़ कर नहीं है । अर्थात् वे कर्म अहिंसाकी बराबरी नहीं कर सकते ।”

नियमसार—“कुम्भस्थान ! योनिस्थान जीवसमासस्थान मार्गस्थ स्थान इत्यादि मेदोंको मछि गाम्भि ध्यान कर जीव रक्षा करनेके मार्गको ‘महिष’ कहते हैं । जीवोंकी मृत्यु होती है या नहीं इस प्रकारके विचारमें को हुए परिणामके तुभारके विना पाप हिंस्र रूप कियाका स्थान होना कठिन है, अतः इस रक्षाके प्रयत्नमें लगना ‘महिष’ है ।”

समस्तमद्राचार्य कहते हैं कि—“जगत् में इसे सब जानते हैं कि—महिष परमेश्वर का रूप है, अर्थात् आत्माकी भीतरागत ही महिष है, जहां भीतरागत है, वही आत्मा का छन्द स्वरूप है, जिस आधमके परित्रमें अनुसारा भी आरंभ नहीं है वही वह पूरे महिष प्राप्त होती है । आधम वह है कि आरंभ पुरुषोंका स्वस्वित्व रूप आचरण ही महिष है, अतः महिषकी विधिके लिए ही परम इवाङ्ग प्रमुने आरंभ और परिग्रहको ध्याय दिया । प्रमु निधर कीक वेध और परिग्रहमें अनुसारा नहीं थे । क्योंकि जहां परिग्रहकी अस्तित्व नहीं है वहां ही ऊंचे दर्जेका महिष बने है । ‘मिनधर्म की बर’ इसी लिए बोधते हैं कि—इसमें पूरे ‘महिष’ का प्रयत्न किया जाता है । यही त्रस जीवका अतः करनेके विचारोंको जब मूकते इत्यनेका कारण है । तथा ‘धन धन’ मन इत्येन्द्रिय स्थावर जीवोंके भागा प्रकारके होनेकाके बचते वह निजकुल पुर है और वह सुन्दर सुकते मरपूर समुद्रके समान लगाव है ।”

“मुनिजोंका कर्तव्य है कि वे समीचा महिषका प्रयत्न करें क्योंकि हिंस्रका परिणाम दुःखजनक है, जिसे महापुरुषोंने महान् अनुमन्त्रे बतका है । जिसके-वे कथ्यमृत हैं ।”

“वैरसे अन्धकार है, अतीरकी कमकीको छोड़ कर छोड़ बाहर दफन कर दिया है, सब फटे हुए हैं, और भी अनेक रोगोंसे ग्रस्त है । इसे देख कर समाप्त लेना चाहिए कि कहीं यह बाधन कुछ अन्य प्राणिनोंकी हिंस्र करनेमें सुयत्न्य पडा है अतः अतुर पुनर्पना वह कर्तव्य है कि—निरापायजीकी धनधनमात्रसे कमी ‘हिंस्र’ न करे ।”

“सुखानु-कर्म कर्मों पुरेमें कुछ अनुसारी अपनी आत्मिकी तरह अन्य आत्मिकोंको समाप्त कर कभी किसीका हिंस्र रूप अनिष्ट बकरे ।”

शोकोंका धन प्रयत्न्य है कि—“वर्गीका सम्पूर्ण अर्थ तुन कर तथा जर्मों विवेक रख कर उत्तम निवेन पूर्णक वह तर है कि जब तुम, जर्मों

प्रतिकूल कुछ अच्छा नहीं प्रतीत होता है, तब औरों को उनके प्रतिकूल आचरण कब इष्ट है ।”

“सबको अपने प्राण ही प्रिय हैं, राज्य नहीं”-“प्राणी अपने प्राणोंकी रक्षाके लोभमें राज्य को भी तृणकी तरह छोड़ देता है । अत एव किसीके प्राणोंका नाश करनेसे जो पाप होता है वह समस्त पृथ्वी दान कर देनेसे भी दूर नहीं होता ।”

“मरनेवालेको चाहे राज्य भी प्रदान करो, या सुवर्ण का पहाड़ अर्पण करदो, परन्तु जीवनके सन्मुख वे वस्तुएँ उसे कुछ भी अच्छी नहीं लगती, इसी लिए वह उन सब को छोड़ कर जीवित रहनेकी ‘अपील’ करता है ।”

पीडा-“जरासा काटा पैर में लग जाता है, मगर वह सारे अंगों में भारी पीडा उत्पन्न कर देता है, परन्तु जो निरपराध जीवोंको तीक्ष्ण शस्त्रसे मौतके घाट उतार देता है, उस मरनेवालेके दुःखका क्या ठिकाना है । उसे तो अवश्य अनिर्वचनीय वेदना होती है ।”

“यह कहा की नीति है जो अग्रण, निरपराध, दुर्बल प्राणी बलवान् के द्वारा मारा जाता है, हाय ! हमें तो कष्ट के साथ कहना पड़ता है कि-जगत् में अराजकता छा गई है, अब यहा न्यायको कहा स्थान रह गया है ।”

“यदि कोई किसीके कानोंको यह सुनादे कि तू मरजा ! तब सुननेवाला यह सुनते ही काप उठता है, शरीर भयभीत और दुःखी हो जाता है । जो पैने और कठोर शस्त्रसे किसीको मारने लगता है तब उसकी क्या दशा होती होगी । उसके दुःखका अनुभव सिवाय उसके भला और कौन कर सकता है ।”

“हाथका कट जाना अच्छा है, बिना पैर रहना भी कुछ बुरा नहीं, मगर सम्पूर्ण शरीरके अंगोंको पाकर हिंसा करनेवाला पुरुष सर्वथा निकम्मा है, अर्थात् वह किसी कामका नहीं है ।”

मतलब साधने की हिंसा भी हानिकर है-“विघ्नकी शान्तिके लिए की गई हिंसा भी विघ्नके लिए ही होगी । बहुतसे यह कह डालते हैं कि-हमारे कुल्का यही ‘आचार’ चला आता है, मगर वह कुछ कुल्की भलाईके लिए नहीं है, वह तो कुल नाश के लिए ही होगा, शान्तिके लिए नहीं । अपने वंगमें चली आनेवाली कुलक्रमागत हिंसाको जो भी प्राणी छोड़ कर शुद्ध हो

जाता है वह कम दूर कक्षाओं के पुत्र 'शुभ्र' की तरह सब मनुष्यों में पवित्र और भेद भिन्न जाता है ।"

"जो इन्द्रियों को तो बस रखना चाहता है, तथा वेद और मुद्र की व्यर्थ से सेवा करता है, तथा राजन राज भी देता है, तथा वह कर पढ़ाता भी है, तथा भी करता है, परन्तु पराधी भी होने को यदि बनी मायावश से कर देता है तो अपरोक्ष सत्य की सब क्रियाएँ निष्फल हैं, अतः सिद्ध हुआ कि कर्म के कर्म पर की गई हिंसा सर्वथा पापकारी ही है ।"

"जिस शास्त्र में कर्म का नाम केवल हिंसा करने का उपदेश दिया हो वह शास्त्र न होकर कुशास्त्र समान माना चाहिए क्योंकि वह शास्त्र ही शास्त्र नहीं ।"

"वह किटनाशक है कि—मनुष्य एक को मार देने को जो मोक्षार्थ होकर सब ब्रह्म हो जाने को हिंसा विचारक शास्त्र बनाकर, तथा पाप करने का उपदेश देकर लोगों को मूढ़ बना रहे हैं, जन्म विधाती बनाकर मानो बरक के कृपे से बच रहे हैं ।"

अहिंसा का माहात्म्य— "अहिंसा भाव की तरह सबकी पालिका और हितकारी भी है । अहिंसा ही मनुष्यों के मन में अप्रत्यक्ष संसार करने वाली है । अहिंसा दुःखस्वी रक्षण को दुष्टों में असौख्य और प्रदान मेव है, संसार जन्म का नामी जन्म मरण के योग से पीड़ितों के लिए तो आरम्भ का देवे में कार्य औचित्य है ।"

अहिंसा का फल— "जन्मी जन्म, जन्म और दुष्ट रक्ष भी रोपाय, संसार में निमित्त यथा कीर्ति इत्यादि सामर्थ्य अहिंसा पालन करने के उपपन्न होते तो मिली हैं । अधिक क्या कहा जाय अहिंसा सब यथोक्त पूर्ण करने वाली है ।"

किस्तीने ठीक ही कहा है कि— "प्राणों में गुणों का मूल पीने लक्षों में देता मनुष्यों में बलवती प्रोत्तिष् बल में बल, उन्नी ज्ञान देने लक्षों में प्रकाश इह प्रहो में सर्व जन्मों में सुख, दूर—जन्म—मनुष्य तथा बलवर्धियों में यौन-राज के परकी तरह सब स्थिति में "अहिंसा" को सब में बलवत् तथा प्रमाण प्रप्त है । क्योंकि इससे सब कर और बला प्रप्त क्या हो सकती है ।"

निष्कर्ष—इस सब शास्त्रों का भीक्षण करने से वह सर्व सिद्ध हो जाता है कि—हिंसा सब शास्त्रों में वर्जित है; क्योंकि जो इसका नाम आश्रयित करता है,

जिस का आशय यह होता है कि-किसी के एक-प्राणको भी निरर्थक न दुखाना चाहिए। साधु मुनिराज इसका सम्पूर्ण अंग पालन करते हैं। और गृहस्थ जन इसका एक भाग ही निभा सकते हैं क्योंकि सबको अपना जीवन सब वस्तुओं से अधिक प्रिय है।

जैसे कहा है कि—“यदि मरनेवालेको यह कहा जाय कि—तुम सोनेके ‘एक क़ोड सिक्के’ लेकर हमें अपनी जान मारनेकेलिए कहदो, तब वह धनके ढेरको छोड़कर जीवित रहनेकी आशा प्रगट करेगा। क्योंकि जान ढेदेनेपर उसकेलिए धन किस कामका है। अतः सबको अपना जीवन प्रिय है। इस लिए सब दानोंमें अभय दान श्रेष्ठ है।”

अभयदान पर उदाहरण—“अरिदमन वसन्तपुरका राजा है, वह अपनी चार रानियोंसे नित्य रंग रलिया करता है। एक दिन उन रानियोंने गाना, वजाना, नाचना आरंभ किया, राजा उनकी गान्धर्व विद्या पर लडू होगया और बोला कि आज तुम जो कुछ मांगोगी वही दूंगा। रानियोंने कहा कि इस समय तो हमें किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, कालान्तरमें माग लेंगी, अब हमारा वर अपने पास जमा कर लीजिए, राजाने कहा अच्छा।”

एक बार रानियोंने एक चोरको देखा कि जिसे लाल कपड़े, और जूतोंका हार पहिना कर बध्य भूमि ले जाया जा रहा है। रानियोंके साथ राजा भी महल पर टहल रहा था, देखकर उन्होंने पूछा कि प्राणनाथ! इसने क्या अपराध किया है। राजाने उसी समय एक सिपाहीको बुलाकर पुछवाया, उसने कहा कि पृथ्वीनाथ! इसने चोरी जैसा अकार्य करके राज और धर्मके विरुद्ध कार्य किया है, अतः आपनेही तो इसको ‘प्राणदंड’ पानेकी आज्ञा दी है।

यह सुनकर उनमें से एक रानी ने कहा कि प्राणवद्धम! आप मेरा ‘वर’ यह दें कि इसे एक दिनके लिये न मारें जिससे मैं इस पर कुछ उपकार कर सकूँ। राजाने कहा “तथास्तु”

रानीने उसे महलमें लिवा कर कहा तुम्हें आजके लिए बन्धा दिया है, अतः आज खा पी और मौज कर। यह कह उसका खूब अन्न और वस्त्रसे स्वागत किया, सवेरा होने पर उसे एक हजार बीनार देकर अपने महलसे विदाकर दिया।

इसी प्रकार दूसरी और तीसरी रानीने भी एक एक दिन रक्खा और क्रमसे एक लाख और एक क़ोड सोनेके सिक्कोंका पारितोषिक दिया।

मगर चौबी राखीने उसे कुछ भी न देकर उसका वह आग्रह का भरा-भरा हाथ फेर कर भगा कर दिया । तब वह चुन चुन चौबीने कहा कि इसे तुम भगा कर आओगे भी नहीं दे सको । यह सुनकर वे सब कुछ होकर उसके गले पड़ गई और बोली कि हमने तो उसे कोदपति बना दिया है और तुम कहती हो कि हमने इसपर तुनके बिलकुल उपकार भी नहीं किया । चौबीने कहा कि बन्ने भी अधिक सन्तोष अपने-आप प्यारे होते हैं । मैंने इसे आनन्दानन्द बिलकुल सदाके लिए सुखी बना दिया है । जब इसे मरने का भय नहीं है तबसे मैंने सबसे बड़ा उपकार का किया है । यदि मेरे कोदपति मित्रता न हो तो राजासे इसका स्वयं करना चाहिए । इतना कहने के बाद राजाको मृत्यु महलमें बुझाया गया और राखीबोध वह सुखमा सुन कर राजाके चोरको बुझाया और पूछा कि भाई ! क्या वह तुम किस राखी का अधिक उपकार मानता है ।

उसने मन्त्रालय फिर बुद्ध कर कहा कि-मैं तो अपने सुख पर नहीं उपकार किया है, मगर चौबी राखी का सबसे अधिक उपकार मानता हूँ, क्योंकि उसने अमरदान दिव्यात्मा है । तीनों राखीबोध कोदपति का भी बिल और एक एक दिन मरने से भी बचाकर मगर मुझे तो सबसे बड़ी भय बना रहा था कि बन्ने का कर्तव्य जब कि कुछ मर जाना है । मगर चौबी राखीने मुझे उरी और के संस्कारों से बचारा है । जन्ममें बाधबीधन पर्यन्तके लिए निर्मल हूँ । बन्ने इस उपकारको अपने तनका पुस्तकार देकर भी नहीं सुझाया था सदा । क्योंकि सब राजाओं में अमरदान प्रधानतम है ।

सर्वोच्च भाषा सत्य है-इसी प्रकार सत्य बचनोंमें निरन्तर पापछिद्र, छुट्टेकी पीड़ाको हटानेवाली भाषा सर्वोत्तम है । क्योंकि क्या मनुष्य, ऐसी चौराहिके नामसे पुस्तकालय भी उसके मनको आगात पहुँचता है ।

मनुष्य मत-“धर्म शिव और अन्यके मन्त्रों के अमुक-वचन बोली मनुष्य और अग्रिम सत्य जमी मत बोले ।”

असत्य-असत्य राजाके तीन वर्षों हैं सद्भावप्रतिपक्ष और अर्थात्तर का पर्याप्त । अस्तु कि अस्तु का अर्थ करनेको सद्भावप्रतिपक्ष कहते हैं । यह दो प्रकार का है । अस्तु का अर्थ निवेदन-अस्तु का अर्थ

निरूपण । जैसे “नास्ति आत्मा” आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, अथवा “नास्ति परलोक”, परलोक-मरणके बाद जीवका अन्य भव धारण करना वास्तविक नहीं है । इत्यादिक भूतनिन्दव है । क्योंकि इससे सद्भूत पदार्थका अपलाप होता है । आत्माका परलोकमें भवान्तर धारण करना वास्तविक सिद्ध पदार्थ है । युक्तियुक्त और अनुभवगोप्य है । इसका निषेध करना सद्भूतका अपलापनामक मिथ्या वचन है । आत्माको इयामाकतण्डुल-सामकके चावल की तरह छोटे प्रमाणमें बताना, अथवा अगूठके पोरवे के बराबर समझना, या यह कहना कि-आदित्य वर्ण है, निष्क्रिय है, इत्यादि सब वचन अभूतोद्भावन नामक असत्य वचन हैं । क्योंकि इस तरहके वचनों द्वारा आत्माका जो वास्तविक स्वरूप नहीं है, उसका उल्लेख किया जाता है ।

अर्थान्तर शब्दका अर्थ है भिन्न अर्थको सूचित करना, जो पदार्थ है उसको दूसरा पदार्थ ही बताना-वास्तविक न कहना अर्थान्तर है । जैसे कोई गौको कहे कि यह घोडा है, अथवा घोडेको कहे कि यह गौ है, इस तरह के वचनको अर्थान्तर नामक असत्य कहते हैं ।

गर्हा नाम निन्दा करनेका है, अतः जितने भी निन्द्य वचन हैं वे सब-गर्हित नामके असत्य वचन समझने चाहिए । जैसे कि-‘इसको मार डालो’ या ‘मरजा’ ‘इसे कसाईको देदो,’ इत्यादि हिंसा विधायक वचन बोलना, तथा मर्म-मेवी-मन दुखानेवाले अपशब्द कहना, गाली देना, कठोर वचन कहना, परुष-रुक्ष शब्दोंका प्रयोग करना, एवं पैशून्य किसी की चुगली करना, आदि गर्हित वचन कहलाते हैं । यदि वे गर्हित वाक्य कदापि सत्य भी हों तथापि अमत्य माने जाते हैं । क्योंकि वे निन्द्य हैं । तथा प्रमादयुक्त जीवके वचन भी असत्य समझे जाते हैं । प्रमाद पूर्वक कहे जाने वाले वचन असत्य होते हैं । और प्रमाद को छोड़कर कहे गए असत्य वचन भी सत्य हो सकते हैं, जैसे किसी रोगी वालकको पताशेमें दवा रख कर देते हैं और कहते हैं कि-ले यह पताशा है ।

सत् शब्दके दो अर्थ होते हैं, विद्यमान और प्रशंसा । अतः एव असत् शब्दसे अविद्यमान और अप्रशस्तता ये दोनों ही अर्थ लेने चाहिए । सद्भूत-निन्दव असद्भूतोद्भावन और अर्थान्तर ये अविद्यमान अर्थको सूचित करनेवाले होनेसे असत्य हैं । और जो गर्हित वचन हैं वे अप्रशस्त होनेसे असत्य हैं, तथा प्रमादका सम्बन्ध भी दोनों ही स्थानों पर पाया जाता है ।

इसके अतिरिक्त अस्त्रों की विनष्टता होने पर कथ्यत्र अस्त्र निमित्त बन
प्राप्त है, कथ्यत्र उक्त आगेपर अस्त्रोंका प्रयोग अस्त्र किन्ना प्राप्त है।
अतः श्रेय-श्रेय-मान-राय-हेय-भोहारिके अस्त्रोंके अस्त्र शोचनेका अस्त्र अस्त्र
अस्त्रोंका अस्त्र अस्त्र है।

हंसीमें कठोर तपस्य का प्रयोग करते समय चुपकी करते समय अथवा कर्म कर्म करते समय, बहुत तापन कर्म अनिवार्य हो जाता है, और यह कभीभी आत्म स्थिति उस समय प्राप्त होती है जब दूसरा अनुभव सीधे कर लिया जा सके ।

कीसी ने कहा है कि—जिसे मूढ़ता के कारण वर्य के समसे उप-
रता है, और जो म्हेच्छोंमें भी निम्न समझ जाता है, उस वस्तु को मर,
बचन—अनसुते क्षम देवा ही उचित है, यदि हितको अन्वेषणकी अनिवार्य है
तो वस्तु न कह कर मौनको जीवार करते । क्योंकि इतने स्थानों पर सब
जैन भाव सकते हैं.

[illegible]

पुत्रहत्याके लिए त्याग्य असत्य क्या है ? 'पहल को कर्म, ब्रह्म, पूष्णी के सम्बन्धमें असत्य कुछ भी न कह्य जाहिण, व ही उसे कभी 'असत्य' कहनी देनी जाहिण, कभी किही भी सापस-सानी बरोहर मार कर उसे कोरा कपल व देन्य जाहिण, इन सांस बातोंसे ज्ञानमें रखने वाला सत्य-उ-करी है । यदि अपने वा ज्ञानके कर्मर सस बहनेसे जापति या छुपी हो ले जब समय पल व कह कर मौन कर देन्य उचिण है ।"

“और जो साधु-सज्जन पुरुष राग, द्वेष और मोहसे असत्य बोलनेके परिणामको जब छोड़ता है, तब ही दूसरा सत्यानुव्रत होता है, क्योंकि असत्य बोलनेका भाव सत्य भावसे विपरित होता है, और यह असत्य भाव राग भावसे, द्वेष भावसे और मोह भावसे जीवमें पैदा होता है, अर्थात् यह मनुष्य इष्टे पदार्थोंमें व विषयोंमें राग द्वारा उनकी प्राप्ति और रक्षाके लिए असत्य कहता है, वह अनिष्ट पदार्थोंमें वा विषयोंमें द्वेषपूर्वक उनके दूर होनेके लिए या उनका सम्बन्ध न पानेके लिए असत्य कहता है, अथवा मिथ्या बुद्धिसे ससारमें मोहके कारण उस मिथ्या भावकी रक्षाके अर्थ असत्य बोलता है, जो कोई निकट भव्य जीव साधु पुरुष इस प्रकारके असत्य बोलनेके परिणामोंको त्याग देता है उसी में सत्य व्रतकी योग्यता आती है।”

“जो सत्यभावके रगमें रग कर प्रगटमें सत्यका व्यवहार करता है वह सज्जनोद्धार आदरणीय होता है, यह बात इस लिए सर्व्वया सत्य है कि सत्य से बढ कर अन्य दूसरा कोई व्रत नहीं।”

असत्य बोलने का निरुद्ध परिणाम—“झूठ बोलनेवाला गूंगा बनता है, या उसे मूकगति का जीव बनना पड़ता है। वह स्पष्ट नहीं बोल सकता। किसीको उसकी सुन्दर सम्मति भी प्रिय नहीं लगती। मुखरोगसे पीडित रहता है। ये सब झूठ बोलनेके दुष्परिणाम जान कर कन्यादिके विषयमें असत्य कमी न बोलना चाहिए।” “झूठ बोलने वाले, मूर्ख, विकलांग, वाणीहीन रह जाते हैं। उनकी बातें सुन कर लोकों को घृणा हो उठती है। और उनके मुखसे दुर्गन्ध आया करती है।” “जो सर्व्वलोक से विरुद्ध है, जिस वाणीसे विश्वासघात हो जाता है, जो पुण्यका प्रतिपक्षी है वह ऐसा वाक्य कमी न कहे।” “जो झूठ बोलता है उसमें तुच्छता आजाती है, अपने आपको ठग लेता है, अधोगतिगामी होता है, अतः झूठ वर्जनीय है।” “झूठ प्रमादसे भी न बोलना चाहिए, क्योंकि कल्याणकार्यरूपी वृक्ष असत्यकी आधीसे गिर जाते हैं।” “भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी बातोंको यदि पूर्णतया न जानता हो तो न कहे, कि इस तरह होगा।” “तीनों कालकी बातोंमें शका हो तो उसे न कहे।” “यदि तीनों कालकी बातें विलकुल निश्चक हैं तब उन्हें लोकोंमें उपदेशके रूपमें सुना सकता है।” “असत्य बोलनेसे वैर विरोध बढ जाते हैं, पोल खुल जाने पर पछतावा होता है,

छोड़ें उग पर स्थिर नहीं करता। बरसाम मुझमें हो जाता है। उरुष्य
 करनेही तरह न जाने क्या २ दुःख-दोष तबे मनुष्यमें बढ जाते हैं।
 “एतद् बोधने शान्त्यं ब्रह्म निमोहं शीतं च शान्तिर्नाम”
 “बोधा ना अगम्यं प्रयोग करनेशान्त्यं भी नरकमें बढक होता है।”

शनिभोजि इह बर पारिवर्य मूल तो सरा ही बताना है मर्यादाये
 बेतोरी भूजिमे पूजा बनित्र हां जानी है ।" "ओ सरा गल्ल बोने है उनका
 भूत प्रेता गां निरु भानि पुछ भी नहीं सिद्ध कहत ।" निरु भूत का
 प्रतापना कर मर रह कर करते हैं बर कातपको तब बर भी ओ अना
 बोला है तब तो उये अनाथ की कह कर सिद्ध समझा बनीर ।"
 "एह तरह तो अनपराध पार है पूजा ओर मंगारके तब रण है बर
 होतो बनीये तब भी अब तो अनपराध पार बर निरुकेण ।" "अहो
 ओर शनिबासिभोजे कदवा प्रार्थना हो गइता है वरानु अनपराध
 प्रीति बनी । गल्लपटीय देवोहो भी बच होत है तब भी उम
 पर लालन कहें बत गइता अब बर अभिषेक उमर बनी होने का
 क्योहि गल्लपटी बनित्र अवर है ।"

[illegible]

1. कचर को बाहर निकालें। बायोमैस को भी बाहर निकालें।
 2. बायोमैस को बाहर निकालें। बायोमैस को भी बाहर निकालें।
 3. बायोमैस को बाहर निकालें। बायोमैस को भी बाहर निकालें।
 4. बायोमैस को बाहर निकालें। बायोमैस को भी बाहर निकालें।
 5. बायोमैस को बाहर निकालें। बायोमैस को भी बाहर निकालें।
 6. बायोमैस को बाहर निकालें। बायोमैस को भी बाहर निकालें।
 7. बायोमैस को बाहर निकालें। बायोमैस को भी बाहर निकालें।
 8. बायोमैस को बाहर निकालें। बायोमैस को भी बाहर निकालें।
 9. बायोमैस को बाहर निकालें। बायोमैस को भी बाहर निकालें।
 10. बायोमैस को बाहर निकालें। बायोमैस को भी बाहर निकालें।

इसी भाति स्त्रीका भी परमधर्म है कि-पर पुरुष चाहे रूपमें, ऐश्वर्यमें, कलामें कितना भी बड़ा चढ़ा क्यों न हो, उसे जहरका पुतला समझ कर त्याग देना चाहिए जिस प्रकार सीताने रावणको छोड़ दिया था । वही स्त्री देवोंसे पूजित होती है जिसने मैथुनके विकार को जीता है ।

मैथुन नाम जोड़े का है, प्रकृतिमें स्त्री पुरुषका ही जोड़ा समझा जाता है, दोनोंका परस्पर सयोग या समोगके लिए जो भावविशेष उत्पन्न होता है अथवा दोनों मिलकर जो समोग किया करते हैं उसको मैथुन कहते हैं, और उस मैथुनको 'अब्रह्म' कहते हैं । इसमें भी प्रमत्तयोगका सम्बन्ध है, क्योंकि उस अभिप्रायसे जो भी किया की जायगी, फिर चाहे वह परस्पर दो पुरुष या दो स्त्री ही मिल कर क्यों न करें, अथवा अनग क्रीडा आदि ही क्यों न हो वह सब अब्रह्म है, और जो प्रमादको छोड़कर किया करते हैं उसको मैथुन नहीं कहते । जैसे कि पिता माई आदि पुत्री भूमि आदिको जब गोदमें लेकर प्यार करते हैं तब वह अब्रह्म नहीं कहला सकता, क्योंकि उनमें 'प्रमत्त-योग' नहीं है । इस प्रमत्तयोगकी यदि एक अशमें निवृत्ति की जाय तो वह ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है । जैसे कहा है—

“माता बहन बेटाकी तरह परस्त्रीको जानता हुआ जो अपनी विवाहिता स्त्रीमें ही सन्तोष करता है, वह चौथा अणुव्रत कहलाता है ।” “उत्तम पुरुष परस्त्रीको व्याधि और दुखके समान समझ कर दूरसे ही छोड़ देते हैं, क्योंकि परस्त्री सदैव दुखोंका घर है, और सुखोंका नाश करनेके लिए प्रलयकी आग जैसी सिद्ध हुई है ।” “जो स्त्री अपने पतिको छोड़ कर परपुरुषमें रमण करने चली जाती है, उसे परले सिरेकी निर्लज्ज समझना चाहिए । जब इस आचरणसे अपनी स्त्रीका भी विश्वास नहीं है तब परस्त्रीका किस बात पर विश्वास किया जा सकता है ।” “परस्त्रीका सेवन करके पुरुष क्या सुख पाता है । केवल नरक निगोदमें रुलनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं । अतः मनुष्योंको 'ब्रह्मचर्य' व्रतका पालन करना चाहिए ।” “इस व्रतका आश्रय—लेकर योगीजन परब्रह्म परमात्माका और अपना स्वरूप अमेदरूपसे जान लेते हैं । उसीका अनुभव करते हैं, और इसे धीर वीर पुरुष ही धारण करनेमें समर्थ हैं । अल्पसत्त्ववाले, शीलरहित, इन्द्रियोंके दास, दुर्बल पुरुषतो इसका स्वप्नमें भी समाचरण नहीं करसकते, क्योंकि यह ब्रह्मचर्य असिधारा महाव्रत है ।”

जी न हो दखी और रोगी हो कुछ क्षति नहीं होत हीन हो तब क्या हुआ
 सबका भूषण सब है, सबसे पवित्र और शुद्धी है । उनके सोमा सबसे है ।"
 'बो पुण्य अक्षयसे मलिन है । उनके प्राण पाप रंगी । अहिमाके मनसे कोई
 भी नमैह पुण्य अपनेमें भी अक्षय साक्षात्कार नहीं करता ।' 'सूतेकी वृत्तिसे
 सबको भी कलक केना पड़ता है ।' पुत्र सबका जी नव और शिरोके
 जाने या विमुक्त होने पर अवकाश प्राण जाने पर भी झूठ नहीं बोलना चाहिए ।"

इसामि वचनवास्तुकोषे पीकर जो पाप रहित और भेद सब बोलता है,
 वही वास्तवमें प्रभावपुण्य है ।

सबकी तरह सब प्रकारके तपोमें अर्थात् दिन तपोमें इच्छाबोध रोचना
 अनिवार्य है वे तप ११ प्रकारके कह्यते हैं, उनमें उत्तम और नव विषय प्रस
 त्तिते शुभ किंवा यथा ज्ञानार्थ नामक तप उत्तम है ।

सुन्दर शिरोके मनोहर अंगोंको देख कर उनसे कीड़ा करनेकी वित्तके
 वित्तमें इच्छा बढी होती है उसको क्षय देखते अवकाश वेद नामक बोलनाके
 तीव्र उद्वेगसे मैत्रुण ऐश्वर्यकी इच्छाका आश्रय ज्ञानार्थप्रसन्न है, उसे स्पष्ट करनेके
 लिए सत्पुरुष कहते हैं कि हे कामी पुण्य ! अक्षय सहज परम उत्पन्न,
 निमग्नरूपको छोड़ कर अति सुन्दर शिरोकी शरीर आदि विमूर्तिसे मनमें नयी
 वाद करता है और उनके मोहमें लित किए कैसा पड़ता है ।

अज्ञानावस्था के दोष—की सम्मोहसे उन्मत्त पैदा होता है, पिच्छे
 पड़ता है कम ऊपर पैदा करता है शिवादिपक्षों बसाकर मोहको बढता है ।
 शरीर निःसत्त्व होता है । तुल्यमें लक्ष्य जाता है अथवा अनेकानेमें और ऊपरमें
 कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता । और इस दोषोंको नाश कर ही नहि कोई
 सम्मोहा कीलका पावन न कर सके तो ब्रह्मस्वका कटीका है कि विवाहित पक्षमें
 अवस्था अन्तोष पैदा करे । क्योंकि इस प्रतिक्रियमें भी अनेक तरह की इच्छा-
 बोध मर्दन कर देता है ।

कहा भी है कि—अपनी जी मात्रमें अन्तोष करनेके अवन्तर को अन्त
 की मात्रकी कमी इच्छा तक भी नहीं करता है । उसमें भी सुदर्शन बैठ की
 तरह अनुप प्रमत्त पैदा हो जाता है । सब ज्ञानापीके प्रसादकी प्रसंता नयी
 कर की वासकरी है, क्योंकि वह तो अशुभ है ।

इसी भाति स्त्रीका भी परमधर्म है कि—पर पुरुष चाहे रूपमें, ऐश्वर्यमें, कलामें कितना भी बड़ा चढ़ा क्यों न हो, उसे जहरका पुतला समझ कर त्याग देना चाहिए जिस प्रकार सीताने रावणको छोड़ दिया था । वही स्त्री देवोंसे पूजित होती है जिसने मैथुनके विकार को जीता है ।

मैथुन नाम जोड़े का है, प्रकृतिमें स्त्री पुरुषका ही जोड़ा समझा जाता है, दोनोंका परस्पर संयोग या समोगके लिए जो भावविशेष उत्पन्न होता है अथवा दोनों मिलकर जो समोग किया करते हैं उसको मैथुन कहते हैं, और उस मैथुनको 'अब्रह्म' कहते हैं । इसमें भी प्रमत्तयोगका सम्बन्ध है, क्योंकि उस अभिप्रायसे जो भी किया की जायगी, फिर चाहे वह परस्पर दो पुरुष या दो स्त्री ही मिल कर क्यों न करें, अथवा अनंग क्रीडा आदि ही क्यों न हो वह सब अब्रह्म है, और जो प्रमादको छोड़कर किया करते हैं उसको मैथुन नहीं कहते । जैसे कि पिता भाई आदि पुत्री भगि आदिको जब गोदमें लेकर प्यार करते हैं तब वह अब्रह्म नहीं कहला सकता, क्योंकि उनमें 'प्रमत्त-योग' नहीं है । इस प्रमत्तयोगकी यदि एक अशमे निवृत्ति की जाय तो वह ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है । जैसे कहा है—

“माता बहन बेटाकी तरह परस्त्रीको जानता हुआ जो अपनी विवाहिता स्त्रीमें ही सन्तोष करता है, वह चौथा अणुव्रत कहलाता है ।” “उत्तम पुरुष परस्त्रीको व्याधि और दुखके समान समझ कर दूरसे ही छोड़ देते हैं, क्योंकि परस्त्री सदैव दुखोंका घर है, और सुखोंका नाश करनेके लिए प्रलयकी आग जैसी सिद्ध हुई है ।” “जो स्त्री अपने पतिको छोड़ कर परपुरुषमें रमण करने चली जाती है, उसे परले सिरेकी निर्लज्ज समझना चाहिए । जब इस आचरणसे अपनी स्त्रीका भी विश्वास नहीं है तब परस्त्रीका किस बात पर विश्वास किया जा सकता है ।” “परस्त्रीका सेवन करके पुरुष क्या सुख पाता है । केवल नरक निगोदमें रुलनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं । अतः मनुष्योंको 'ब्रह्मचर्य' व्रतका पालन करना चाहिए ।” “इस व्रतका आश्रय—लेकर योगीजन परब्रह्म परमात्माका और अपना स्वरूप अमेदरूपसे जान लेते हैं । उसीका अनुभव करते हैं, और इसे धीर वीर पुरुष ही धारण करनेमें समर्थ हैं । अल्पसत्त्ववाले, शीलरहित, इन्द्रियोंके दास, दुर्बल पुरुषतो इसका स्वरूपमें भी समाचरण नहीं कर सकते, क्योंकि यह ब्रह्मचर्य अस्तिधारा महान्नत है ।”

इस तीनों मुखोंमें ब्रह्मचर्य नामक मत ही प्रवेशनीय है जो इसे नियममानोंसे पाकते हैं वे पूज्य पुरुषों द्वारा भी पृथिवि होते हैं । “जो ब्रह्मचर्य पाकनमें धनुराक रहते हैं वे एक प्रकारके मैथुनोक्त सर्वथा ज्ञाय कर देते हैं । जैसे—

(१) शरीरका संस्कार-संशोधनिकरण । (२) पुष्ट रसका सेवन करना । (३) पाना-वस्त्रा-देहना-हृनना । (४) जीका संतप्य करना । (५) जीमें किसी प्रकारका संकल्प-विचार करना । (६) जीके अंत्य तथाशेषोंसे देहना । (७) उसे देखनेका संस्कार बचाए रखना । (८) पूर्ण हृत्त मोयोंका पुनः स्मरण करना (९) अथावीके लिए मोयनेकी निम्नतया करनी । (१०) छत्र (दीर्घ)का स्मरण कर देना ।

ये एक मेर वैधुनके हैं ब्रह्मचारीके लिए वे सर्वथा ज्ञान्य हैं ।

‘विश्व प्रकार विम्याकक (इन्द्रायक पक) देखने स्तुनेमें रमणीय है परन्तु विपाक होनेसे तो हृदयका निरुद्ध काम कर जाता है । इसी मान्ति यह मैथुन भी कुछ काय पर्यन्त रमणीय और सुन्दर तथा सुखदाक प्रतीत होते हैं, परन्तु विपाक समय बाणी अन्त समयमें बहुत ही भयानक प्रतीत होते हैं ।” “जो पुरुष काय और मोयोंमें निरुद्ध होकर सब ब्रह्मचर्यका सेवन करते हैं उनको मात्राधिकि लिए एक प्रकारका मैथुन ज्ञान देना चाहिए । क्योंकि इस दोषोंके ज्ञाने विधा मात्रोंमें निरीकता नहीं जाती । उत्तम मात्र-ही कामके विपक्षों रोक सकता है ।”

कहा भी है कि—“उपदे उसे यह प्राणीके ज्ञात वेग होते हैं परन्तु कामरूपी उपदे द्वारा उसे यह भीबोके पक्ष मवानक और बड़े वेग होते हैं वे वे हैं ।”

कामके शरीरपक्षसे पहले पहल विम्यामें विर जाता है कि कामका सम्पर्क कबोकर हो हमारे विषयमें उसे देखनेकी इच्छा हो जाती है, १ शीर्ष विधाक केकर जोड़ता है, नीर कहता है कि हाथ उसे देख नी व पक्ष ४ ऊपर हो जाता है, टप पाव बह जाता है, ५ विधा ही मात्रके शरीर बहने जाता है, ६ मोयन नहीं बहता ७ महा मूर्च्छा हो जाती है, कुछ भी वेग नहीं पड़ पाता । ८ अन्तत बाणी पाकका सा बन जाता है, मात्र मात्र बहने जाता है, ९ प्राणी का रचना दृश्य हो जाता है तथा उसे वह संविद् हो जाता है कि मैं अब प्रीति नहीं रहूँगा । और दक्षता वेग ऐसा जाता है कि विपक्ष

वह मर भी जाता है, इनमें व्याप्त होकर यह जीव यथार्थ तत्त्व अर्थात् वस्तु स्वरूप को नहीं देखता । जब लोकव्यवहार ही का ज्ञान विद्वा हो जाता है तब परमार्थका ज्ञान क्यों कर हो सकता है । क्योंकि सब बातोंमें वह विल्लकुल अस्थिर बन जाता है ।

“जिसको कामरूपी काटा चुभता है वह प्राणी बैठने, सोने, चलने, फिरने, भोजन करनेमें तथा स्वजन पुरुषोंमें क्षण भर भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होता । अर्थात् सब अवस्थाओंमें ढिगमिगाया रहता है ।” “कामसे ठगा जाकर मनुष्य चतुर होकर भी मूर्ख बन जाता है, क्षमाशील-क्रोधी हो जाता है, शूर वीर कायर बन जाता है, बढप्पनसे गिर कर छोटा रह जाता है, उद्यमी पुरुष आलसी बन जाता है । और जितेन्द्रिय भ्रष्ट हो जाता है ।” अतः मूर्खता न करके मनुष्यको मनुष्य जन्म सार्थक बनानेके लिए ब्रह्मचर्य्य पालन करना चाहिए । क्योंकि तपोंमें उत्तम ब्रह्मचर्य ही तप है ।”

कदाचारका परिणाम—वैलके नपुसक बनानेकी क्रिया देखकर, लपटका राजा द्वारा इन्द्रिय छेदन देख कर, सुधीको कुशील त्याग कर खदार सन्तोष व्रत लेकर परदारका त्याग कर देना योग्य है ।” “मैथुनका सेवन किंपाकफलकी तरह आरंभमें अच्छा लगता है परन्तु परिणाममें दारुण कष्ट होता है ।” “शरीरमें कम्प, पसीना, थकान या शिथिलता, चक्कर आना, घृणा होना, पौरुषेयका क्षय, तपदिक क्षय—आदि रोग मैथुन सेवनसे होजाते हैं ।” “योनि—यन्त्रमें असह्य जीवराशीकी उत्पत्ति हो जाती है, और मैथुन करते समय वे जीवित नहीं रह सकते ।”

वात्स्यायनका मत है कि—“रक्तमें कीड़े हो जाते हैं, वे जीव सूक्ष्म होते हैं, और सम्पर्कके समय मर जाते हैं ।”

मैथुन सेवनसे काम ज्वर घट नहीं सकता—“अग्निमें घी डालकर अग्निको बुझानेकी वृथाकी चेष्टाकी तरह स्त्रीसयोगसे काम ज्वर कभी शान्त नहीं हो सकता । अतः ब्रिह्म भी पर पुरुषको सर्पके समान समझकर उन्हें त्याग दें ।” क्योंकि—

“ऐश्वर्य्यमें चाहे इन्द्रके समान हो और सुन्दरतामें कामदेवका अवतार हो तब भी सन्नारियोंकी दृष्टि में सीताने रावण का जिस प्रकार त्यागकिया इसी प्रकार पर पुरुष त्याज्य हैं ।”

ब्रह्मचर्यसे ही पुजता है—ब्रह्मचर्य सचरित्रका ग्रन्थ है, परमपूजे पानेमें निमित्तस्म है जो ब्रह्मचर्यका समाचरण करते हैं, वे पूज्य पुण्ड्रोत्पन्न पूजित होते हैं ।

ब्रह्मचर्यका फल—बड़ी जान, सुभीत सरीर, सरीरकी इच्छा रक्क, सरीर पर निष्कण्ठ सेवा महान् शक्ति यद्यः कीर्ति संसारमें मान मर्कसा, प्रतिष्ठापात्रता ये सब ब्रह्मचर्यसे प्राप्त होते हैं ।

इसी प्रकार सब स्वेच्छाकी उत्तम स्म सम्पदा पाकर तथा वर्तमानकी शक्ति ज्ञान वर्धन बीजवाली पुण्ड्रोंमें ज्ञात वर्ध' में जन्म प्राप्त अन्तिम विवेक भ्रमजमहात्म्यमें प्रधानतम वे ।

महावीरके नाम—धर्मज मयवाज महावीर प्रभुके वर्धमान विवेकजिह्व कृतपुत्र काश्यप वैद्यज्ञिक महावीर सम्पति जमज मयवाज इत्यादि अनेक नाम थे । ये सब नाम उनकी असुख अवस्थाके सूचक हैं । क्योंकि मयवाज महावीर काशीका जीवन सांसारिक अवस्था और शावक अवस्थामें प्रियत है । वर्धमान विवेकजिह्व (महावीर प्रभुकी माताका नाम विवेकजिह्व) की वा तिष्ठति वा विवेकजिह्व ति वा विमलरिणी ति वा—(भाषाटीका १-१५ १३) । निष्कण्ठ मया विवेकमें जन्मीं की विवृते उनका नाम विवेकजिह्व वा । अतः माताके इसी नाम पर महावीर प्रभुका मद्रूपका नाम भी विवेकजिह्व पड़ गया वा कृतपुत्र काश्यप और वैद्यज्ञिक वे ३ नाम उनकी सांसारिक अवस्थाको बता रहे हैं । महावीर, सम्पति और जमजमयवाज वे तीन नाम उन्होंने शावक अवस्थामें अपने आत्मवीर्यविशेषोंसे प्राप्त किए हैं, 'वर्धमान' पिताके पक्षका नाम वा और विवेकजिह्व मातृपक्षका नाम वा । कृतपुत्र यह 'वर्ध' सम्बन्धी नाम था काश्यप 'जोत्र' का नाम वा और 'वैद्यज्ञिक' जन्मस्थानके सम्बन्धका 'जन्मसूचक' नाम है । उन महावीर नाम उनके नाम वीर्यका सम्पति उनके ज्ञान ज्ञानका और 'जमजमयवाज' नाम भ्रमज संसृष्टिके तारकाजीम भ्रमसर रूपक 'जन्मसूचक' नाम है प १३ ॥

कृतपुत्र—अपजुष्ट सब नामोंमें मयवाज महावीरके 'कृतपुत्र' नामके विषयमें हमको विचार करना है, यह 'कृतपुत्र' नाम उनके वर्धका सूचक है, यह नाम बीजगम और बीजस्थानमें और २ ज्ञाती गई है ।

भगवान् महावीर का 'श्री आचाराग' और 'कल्पसूत्र' आदि सूत्रोंमें उनके जीवन चरितके अनुसार उनका जन्म क्षत्रियकुण्ड ग्राममें 'ज्ञातवशीय' और 'काश्यपगोत्रीय' सिद्धार्थ क्षत्रिय राजाके घर त्रिशला क्षत्रियाणीकी कुक्षिसे हुआ था ।

यह ज्ञातवश उस समयके प्रसिद्ध ईक्ष्वाकु, आदि क्षत्रियोंके विशाल कुलोंकी तरह प्रसिद्ध 'वश' समझा जाता था । इस ज्ञातवशके क्षत्रिय प्रायः 'ज्ञातृक' के नामसे पहचाने जाते थे । और उनके इस 'ज्ञातृ' कुलके सम्बन्ध से उनके नगरों के बाहर बनाए हुए खड-उद्यानों के नाम भी 'ज्ञातृखड' के नामसे प्रसिद्ध थे । भगवान् महावीर प्रभुने 'कुण्डग्राम' के समीपवर्ती 'ज्ञातृखड' नामक बागमें दीक्षा ली थी । शास्त्र वचन तो इसकी खूब ही पुष्टि करता है ।

जिनागममें 'ज्ञातृपुत्र' का प्रतिशब्द 'नायपुत्त' या 'नातपुत्त' के रूपमें और बौद्धागममें 'नाथपुत्त' या 'नाटपुत्त' के रूपमें जिन शब्दप्रयोगका उल्लेख देखनेमें आता है, वह भगवान् महावीर के 'ज्ञातवश' का ही अर्थसूचक नाम है, इसे मान लेनेमें हमको ऊपरोक्त कारण मिलते हैं, 'नायपुत्त' या 'नातपुत्त' में दोनों नाम संस्कृत में 'ज्ञातृपुत्र' शब्दके ही प्राकृत रूप हैं, और 'नाथपुत्त' या 'नाटपुत्त' ये दोनों नाम भी इसी शब्दके 'पाली' रूप हैं । प्राकृत में 'त' को 'थ' और पाली में 'त' को 'थ' और 'थ' को 'ट' भी साधारणतया हो जाता है । दिगम्बर सूत्रोंमें 'ज्ञातृपुत्र' का 'नाथपुत्त' इस शब्दको व्यवहृत होता देखा जाता है । इस प्रकार भाषा और भावकी दृष्टिसे देखते हुए भी ये सब अलग २ नाम मूल 'ज्ञातृपुत्र' शब्दमें मिल जाते हैं । ये सब नाम 'ज्ञातृपुत्र' शब्दसे बनाए गए हैं । इसमें शका करने के लिए जरासा भी स्थान नहीं है । प्राचीन कालमें वशके नामसे परिचय करानेकी प्रथा होनेसे भगवान् महावीर प्रभुके जीवनविषयक परिचय श्रीजिनागमोंमें और बौद्धागमोंमें 'नातपुत्त' या 'नाथपुत्त' शब्दसे और भगवान् महावीरके शिष्योंका परिचय 'नातपुत्तीय' या 'नाथपुत्तीय' शब्दसे विशेषत दिया गया है ।

श्रीजिनागमके १२ अर्गोंमें छठवां अग "णायधम्मकहाओ" है, उसमें उपर्युक्त आया हुआ 'णाय' शब्द भी भगवान् महावीरका वशनामक "नायपुत्त" के साथ गहरा सम्बन्ध रखता है । प्राकृतमें 'न' को 'ण' हो जाना तो

एक साधारण निबन्ध है। इस योग का गुजराली अनुवाद भी 'मगवान् महा-
वीरनी धर्मकथाओं, यह करनेमें आता है, इस योग्य परिवर्तन भी स-
मवातांगत्तमें किया गया है, उसमें बताया है कि—“इस योगमें कथनों के
मगदोस कथनों का साक्षात्पिता का 'इशानि परिवर्तन सिमा कथना' यह
किया है, दीक्षाकरने ज्ञाताओं का उदाहरणभूत नहीं किया है, परन्तु
'कथन' कर्ता 'कथन' सजिन ही नहीं पूर्णपर विचार करते हुए अधिक
निबन्ध होता है।

मयबल महावीरका परिचय भीखियापयोमें 'मायपुत्त'—'हात्तपुत्त' के अतिरिक्त और आसक्ति मी किया गया है, तथापि वहाँ पर 'मायपुत्त' शब्द की ही विशेष प्रधानता रही है। बहुत से आशीर्वाद सूत्रोंमें मयबल महावीर प्रभुकी पुत्र पाद्यान्न सुखन विशेषतः 'मायपुत्त' शब्दसे ही किया गया है—

यथा-

“न ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुच्छन्मोरया” १८

“न सो परिग्रहो बुधो, नायपुत्रेण तादृश्या

मुच्छा परिमाहो बुधो इह बुध महेसिणो" २१

“एव च दोषं ब्रह्म, नायपुच्छेन भासिष्य

सद्यः न भवति, निम्नाना राहमोयण" २६

‘‘एय च दोसं वदन्त्य नायपुत्रेण श्रुत्वा,

अणुमात्रं पि मेहायो, मायामोक्षं विवक्ष्यते ४९

“एव से उवाह्नु अणुचरनाणी, अणुचरवसी अणुचरनामदसपभदे,
अरहा नामपुत्ते अगर्भ वेत्तास्मिन् निमाहिप्” १८

भाषार्थ—“जो मन्मथ ‘ज्ञातपुत्र’ के बन्धनों पर पूर्ण विधास रखते हैं वे किसी वस्तु का संभव करने नहीं रखते ॥ १४ ॥

परीमह न बटाकर बूझी जायी समस्त आशुको ॥ परीमह बटाया है, यह
महर्षिभोजे कहा है, ॥ ११ ॥ (बचने न १)

‘ज्ञातपुत्र’ महावीर प्रभुने कहा है कि मर्यादामें रहनेवाले साधु इस दोषको मलिभान्ति देखकर थोड़ासा भी कपट पूर्वक झूठ न बोलें ॥ ४९ ॥

इस दोषको देखकर निर्ग्रन्थ रात्रि भोजन छोड़दे, क्योंकि ‘ज्ञातपुत्र’ ने इसके दोष प्रत्यक्षमें बताए हैं ।

“इस प्रकार अनुत्तरज्ञानी अनुत्तरदर्शन युक्त अर्हन् प्रभु ‘ज्ञातपुत्र’ महावीर विशाला नगरमें इस प्रकार व्याख्यान करते थे ॥ १८ ॥”

इन प्रमाणोंके अतिरिक्त इस अध्यायमें तो २-१४-२१-२३-२४ की गाथाओंमें प्रभुकी स्तुति ‘ज्ञातपुत्र’ शब्दका ही सकेत रखकर की गई है। इस तरह श्रीजिनागमके प्रमाणभूत ग्रन्थोंमें ‘नाथपुत्त’ या ‘नातपुत्त’ को भगवान् महावीरके वशवाची नामका उपयोग अनेक स्थलों पर पुष्कल रूपमें किया है, इन सब शब्दप्रयोगोंके उद्धरण करने की यहा जराली आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती । मात्र हेमाचार्य ने परिशिष्टपर्वमें जो ‘ज्ञातनन्दन’ भगवान् महावीरको वंदन किया है उसीका यहां उद्धरण देकर अगाडी बढ चलेंगे ।

उन्होंने मंगलाचरणमें कहा है कि-“जो कल्याण शृक्षोंका बगीचा है, श्रुतिरूप गंगाका हिमालय है, विश्वकमलके लिए सूर्यकी भाति है उस ज्ञातनन्दन महावीरको मैं नमस्कार करता हू ।”

बौद्धपिटकोंमें भगवान् महावीर का अपना उनके शिष्योंको और उनके सिद्धान्तोंका परिचय उनके वशवाची ‘नाथपुत्त’ या ‘नाटपुत्त’ के शब्द-व्यवहारसे ही दियागया है । उनके श्रमण निर्ग्रन्थोंके लिए ‘नाथपुत्तीय’ शब्द का उपयोग किया गया है । इस नामके अतिरिक्त भगवान् महावीरके जीवन सम्बन्धी परिचयके लिए अन्य किसी शब्दका प्रयोग किया हो यह देखने में नहीं आया, सिर्फ ‘नाथपुत्त’ के साथ ‘निग्गठ’ शब्द का प्रयोग हुआ है । मगर वह शब्दतो उनकी साधु अवस्थाका सूचक है । और वह ‘नाथपुत्त’ शब्दका विशेष्य न हो कर एक विशेषण है ।

इससे प्राचीन कालमें 'बंसशासक' नामसे परिचय देनेकी प्रथा स्पष्ट आनी जा सकती है । महात्मा बुद्ध भी उनके मूल नाम "सिद्धार्थ" की अपेक्षा उनके गोत्रसूचक नाम 'सौत्तम' के नाम से वीर बंससूचक "सालवपुत्र" के नामसे अधिक प्रसिद्ध थे ।

मगधान् महावीरका बंस 'सातुबंस' या वीर इस ज्ञातृपक्षसे उभय 'बंससूचक' नाम 'मायपुत्त' प्रसिद्ध हो गया किंसे हम ऊपर बेश नर हैं । मगर इस बंसका अगली चरकर कितना बिहार और कितना बिनाह हुआ इसका इतिहास जान- कुत है । इस कृतप्रवाह इतिहास का खोज करना 'अज्ञा-नस्वक' है । इस इतिहास को उजाड़ करने के लिए हमारे पास बौद्ध साहित्य एक अनन्य साधन है ।

मगधान् 'महावीर' और 'महात्मा बुद्ध' ये दोनों एक समयके समकालीन बौद्धमूर्तिधारी महापुरुष होमए हैं । उभुपपन्त ये दोनों एक ही देशके निवृत्त्य ग्रन्थके निवृत्ती राजवंशी पुरुष थे इन चरकोंको केकर महात्मा बुद्धको एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तमें बिहार करते हुए मगधान् महावीरकी जन्म भूमिमें आनेका और वहां मगधान् महावीरके बंस-सम्बन्धी खोजोंके साथ वातावरण करनेका प्रसंग प्राप्त होना वह एक सामान्य बात है ।

'कुडपिटक' के महावरग नामक सूत्रमें य बुद्ध मगधान् महावीरकी जन्मभूमि कुण्डग्राममें और उसके पासमें ज्ञातृपक्ष के ग्रामोंमें एवं वैशाखि बपर आयेका और वहां 'विर्मन्व भवक' 'सिंह' सेवापक्षके साथ बातचीत करनेका उल्लेख मिलता है । इस उल्लेखके आधार पर मगधान् महा-वीर का 'सातुबंस' और उनकी जन्मभूमिके विषयमें हमको बहुत कुछ पार-जब मिलेगा । इसी कारणसे ये उल्लेख उतारने उचित प्रतीत हुए ।

* अब मगधान् वहां कोटिग्राम जा वहां पए, वहां मगधान् कोटि ग्राम में बिहार करते थे

अम्बापाली गणिकाने सुना कि भगवान् कोटिग्राममें आगए । अम्बा-पाली गणिका सुन्दर-सुन्दर (भद्र) यानोंको जुडवा कर, सुन्दर यान पर चढ कर, सुन्दरयानों के साथ बैंगालिसे निकली । और जहां वह कोटिग्राम था वहा चली

तब वह 'लिच्छवी' जहा कोटिग्राम था वहा गए ।

“एक समय भगवान् बुद्ध नादिक (झातिका) के गिञ्जिकावसथमें विहार करते थे”

{ मज्झिमनिकाय पृष्ठ १२७
बुद्ध-गोसिंग-सुत्तन्त
वैशाली }

कोटिग्राममें इच्छानुसार विहार कर जहा पर वैशाली का महावन है वहा गए, वहा भगवान् बुद्ध वैशाली महावन की कूटागार शाला में विहार करते थे ।

उस समय बहुतसे प्रतिष्ठित 'लिच्छवि' सस्थागार-(प्रजातन्त्रसभागृह) में बैठे थे । वे सब मिलकर बुद्ध का गुण बखानते थे । धर्म का, सघ का, गुण बखानते थे, उस समय निगठों का श्रावक (जैनों का श्रावक) सिंह सेनापति उस सभामें बैठा था ।

.. .. तब सिंह सेनापति जहा 'निगंठ नाथपुत्त' थे वहा गया, जाकर 'निगंठ नाथपुत्त' से बोला कि भते में

सिंह ^२ तुम्हारा घर दीर्घकाल से निगठों के लिए प्याऊ की तरह रहा है ।

.. . . . उस समय बहुतसे

निगंठ (जैन साधु) वैशाली में एक

.. . . . चिरकालसे यह आयुष्मान् (निगठ) बुद्ध हैं ।

'विनय पिटक' 'महावग्ग' तथा 'मज्झिम निकाय' में आए हुए इन उल्लेखोंसे हमें साफ २ मालूम हो जाता है कि 'महात्मा बुद्ध' 'महावीरस्वामी'

की अम्बभूमि कुम्भप्राम*—पाठी भाषा में 'कोटिप्राम' में गए थे । और कुम्भ-
प्रामके पासकी बसनेवाली बैराली नगरीमेंसे बड़ा महात्मा—बुद्धको अम्बा-
पाठी नामक बेइया और सिक्खबीइत्रिय मिलने आए थे । कोटिप्राम से म
बुद्ध वहां 'मासिका' 'झातुक' रहते थे वहां गए थे । और वहां 'मासिका'
झातुकोके 'मिथिकावधव'—ईंटोंके बरमें ठहरे थे । इस स्थानके पास ही एक
अम्बापाठीवय नामक स्थान भी रहा है जिसे अम्बापाठीने बुद्ध और उनके
संन्यासे समर्पण कर दिया था । वहां से म बुद्ध बैराली गए और वहां सिंह
नामक सेनापति को कि निर्मन्त्रोच्च अन्नक था उसे अपना अनुवासी बनाया
सिंह सेनापति महात्मा बुद्धको मिलने जाने से पहले निर्मन्त्र झटपुत्र महा
वीर अन्नुके पास अनुसूचित होने आया था । तब भयवान् महावीरने सिंह सेनापति
को 'तु किन्नावापी हो कर अकिन्नावापी भ्रमण गौतमके पास उसे मिलने
बनो जाता है । यह कह कर म जानेकी सम्मति दी थी । परन्तु वह अपनी
इच्छाबुद्धार भ्रमण गौतमके पास गया और वह वही भ्रमण गौतम बुद्धका
अनुवासी हो गया ।

उपरोक्त उल्लेखसे हमारे विषयको पुष्ट करने वाली बार बार आने को
मिलेन तथा मिलती हैं ।

(१) बौद्धोंका कोटिप्राम* ही पैबोच कुम्भ प्राम मानल होता है, एवं
दोनों नामोंमें आम्बिक छापनके अतिरिक्त इस प्राम के पास 'झातुक'—झटु
बंधके इतिबोच निवास स्थान और बैराली नगरीकी निकटता होनेके कारण
वे दोनों वस्तुएं कुम्भप्राम* और वही 'कोटिप्राम' होनेकी साम्प्रदायिक पुष्ट हो
जाती है ।

(२) कोटिप्रामके पास झातुकोच निवासस्थान भयवान् महावीरका
बंध 'झातुबंध' था यह और भी पुष्ट कर देता है, और धाम १ कुम्भप्रामके
बाद पास 'झातुक'—'झातुबंध' के इतिबोच लंब—'उद्याव' के और वहां

* बौद्धग्रन्थोंमें कुम्भप्रामका नाम कोटिप्राम और म म को इति
पुत्रके स्थान पर वासिपुत्र लिखा है । देखो "भारतका आधीनकाल" १४
४० के विवेचनका धाम ४

‘ज्ञातृवशी’ क्षत्रिय रहते थे । यह इस विचारको और भी दृढ़ कर देता है । यह “ज्ञातृक” का उल्लेख और ये ‘ज्ञातृक’ भ० महावीरकी जन्म जातिवाले ‘ज्ञातृ’ क्षत्रिय ही होंगे यह कल्पना की और निर्देश करता है ।

(३) ‘ज्ञातृ’ जाति लिच्छविओंकी एक शाखा थी* इस बातकी पुष्टिके लिए भी ‘वैशाली के लिच्छवी क्षत्रिय महात्मा बुद्धको मिलने आए थे’ इस उल्लेखसे पता चल जाता है कि भगवान् महावीर की माता भी लिच्छवि वंशकी ही थी और ‘सिंह सेनापति’ जोकि-भगवान् महावीर का श्रावक या वह भी लिच्छवि वंशका ही था । ये दोनों बातें ज्ञातृ जातिको लिच्छविओंकी शाखा का होना ही पुष्ट करती हैं ।

(४) कुण्डग्रामके पास विदेहकी राजधानी वैशाली नगरी थी । इस नगरी का कुण्डग्राम एक शारदापुरके समान था । भ० महावीर प्रभुका “वैशालिक” नाम भी इस नगरके नाम से ही प्रसिद्ध था, विशाला नगरी में सिंह सेनापति नामका जो निग्रन्थ श्रावक लिच्छवी रहता था वह भगवान् महावीर की सलाहको न मानकर महात्मा बुद्धके पास गया था । इससे भी महात्मा बुद्ध वैशाली नगरमें आया था तब भगवान् महावीर प्रभु भी उसी नगरमें थे, यह स्पष्ट जान पड़ता है ।

ऊपरके उल्लेख में जो ‘जातिका’ शब्द लिखा गया है, उस शब्दका मूल बहुतोंने ‘नादिका’ भी निकाला है, और उसका अर्थ ‘इस नामके जलाशयके तट पर बसा हुआ एक ग्राम’ किया जाता है । मगर यह भ्रमपूर्ण है । इस प्रकार हर्मन जेकोवी† उसका मूल शब्द जातिका ही बताता है । और वह शब्द ‘ज्ञातृवश’ के क्षत्रियों का वाचक है यह कह कर समर्थन करता है ।

* प्रसिद्ध जैन तीर्थंकर महावीरकी माता भी लिच्छवी वंश की ही थी । देखो ‘भारतका प्राचीन राजवंश’ पृ० ३७८ लेखक विश्वेश्वरनाथ राय ।

† हर्मन जेकोवी की ‘Sacred Books of The East’ नामक ग्रन्थमालासे प्रकाशित ‘आचारांग और कल्पसूत्र’ नामक जैनसूत्रोंके अनुवादकी प्रस्तावना, पृष्ठ १० ।

इस सातिका शब्द पर त्रिपिटकाचार्य श्रीसुत राहुकर्महन्सायन ने इस पर विशेष प्रकाश डाला है । उसने अपनी गुरुकर्म्या 'नामक हिन्दी पुस्तक में 'नादिका' का मूल शब्द "नादिका"—झातु का बताया है । और 'झातु' शब्द झटुनक के यत्रियों का सूचक है वह सप्रमाण बताया है । वे अपना कहकर यह भी बताते हैं कि झातु वाति विच्छिन्नियों की साधनी । और वैद्यकी मरीचिके अक्ष पास ही रहने वाली थी । यह झातु वाति आज भी वैद्यकी मरीचिके (जिसे सुवल्करपुर के अन्तर्गत है, बताया के पास) के पास पास जबरीना नामक वाति से पहचाना जाता है, यह जबरीना शब्द आधुनिक दृष्टि से भी 'झातु' शब्द के साथ बहुत संबंध रखता है ।

जबरीना शब्द 'झातु' शब्द का अपभ्रंश शब्द प्रतीत होता है । 'झातु' शब्द से जबरीना शब्द का अवतरण किस प्रकार होना इसके विषय में राहुकर्म्या ने साक्षर दृष्टि से निम्न प्रमाण से विचार किया है । झातु=वाति झातु-झातर=वातर=जतरिना=जबरीना=जबरीना के धौब में वादिका-झातुका-नादिका-कटिका-रटिका-रटी जिसके नाम से वर्तमान रटी पर्वना (जिसे सुवल्करपुर) है । गुरुकर्म्या १९ पृ ।

इस प्रकार 'जबरीना' शब्द 'झातु' का अपभ्रंश है राहुकर्म्या इस रटी पर्वना का मूल नाम अपने उपरोक्त श्लोक में आए हुए 'नादिका' शब्द से उत्पत्ति बताते हैं ।

* उस समय की मारी विम्वले की परिवार (जिन सप्तमों की समाधि) के साथ निरवन्त नाटपुत (महावीर) नामक नाम है । विवाह करते थे ।

(१) 'नाटपुत'—'झातुपुत' विच्छिन्नियों की एक जाति थी । जो वैद्यकी के पास पास रहती थी । झातु से ही वर्तमान जबरीना शब्द बना है । महावीर और जबरीना दोनों ही योनि कावच है । आज भी जबरीना मूमिहार नामक इस प्रदेश में बहुत संख्या में हैं । उनका विवाह रटी पर्वना भी झातु-नाटी-कटी-रटी से बना है ।

१११ पृष्ठ में निरवन्त पुत्र भी उल्लेख किया है जो कि सं नि ४ ११६ से उद्धृत किया गया है ।

इस प्रकार 'जथरिया' और उसका वर्तमान निवास 'रती' ये दोनों शब्द 'ज्ञातृ' शब्दके साथ घनिष्ठ सवन्ध रखते हैं और इस सवन्धसे 'जथरिया' 'ज्ञातृक'—ज्ञातृवशी ही हैं, और उनका प्राचीन निवास स्थान जोकि 'नादिका' या 'नाटिका' के नामसे पहचाना जाता था वही वर्तमान रती परगना है यह राहुलजीका दृढ मन्तव्य है। इनके इस दृढ और पुष्ट मन्तव्यमें दूसरी यह भी युक्ति है कि—इन 'जथरियोंका' मूल गोत्र काश्यप है। वही काश्यपगोत्र भगवान् महावीर और उनके ज्ञातृवशी क्षत्रियोंका भी था।

इन जथरिया-ज्ञातृवशी क्षत्रियोंके विषयमें सूचना करते हुए श्री राहुलजी बताते हैं कि ये 'जथरिया' लोक वर्तमान समयमें अपनेको ब्राह्मण बताते हैं। ये दान नहीं लेते। पञ्जाब प्रान्तमेंभी जमना नदीके किनारे बसने वाली एक जाती रहती है। वे भी दान नहीं लेते। उस देशमें उनको तगा कहते हैं। शायद यह त्यागीका अपभ्रष्ट होगया हो। हां तो इन 'जथरिया' जातिके लोकों को भूमिहार ब्राह्मण कहा जाता है। मगर और लोक इनको ब्राह्मण नहीं मानते। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि—वास्तवमें ये लोक क्षत्रिय ही हैं। इसका दूसरा कारण यह भी है कि—ये 'जथरिया' नाम सिद्धान्त वाले हैं। जो क्षत्रियोंके नामके साथ आजकल पीछेसे लगाया जाता है और इनके नामके पीछे ठाकुर शब्द भी जोड़ा जाता है। यह भी क्षत्रिय सूचक ही है। इस वशमें आजकल भी बहुतसे जमीनदार और राजा भी हैं। दर्भगा नरेश इसी जातिसे अलंकृत सुने जाते हैं।

बौद्धसाहित्यके उल्लेखोंसे तथा राहुलजीके कथनसे इतना अवश्य माना जा सकता है कि भगवान् महावीरका वंश 'ज्ञातृवश' था। और वे ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय कुण्डग्रामके पास रहते थे। और इन ज्ञातृवशीय क्षत्रियोंके ग्राममें महात्मा बुद्ध आए थे। वर्तमान समयमें ये ज्ञातृवशीय क्षत्रिय 'जथरिया' के नामसे प्रसिद्ध हैं। और वे प्रायः विहारप्रान्त के मुजफ्फरपुर जिलेके रत्ती नामक पर्वानेमें रहते हैं। और ये 'जथरिया' अपने नामके पीछे सिंह और ठाकुर शब्दका उपयोग भी करते हैं। और काश्यप गोत्र होनेसे ज्ञातृवशीय क्षत्रिय हो सकते हैं। मगर ये लोक आजकल अपनेको भूमिहार ब्राह्मण कहते हैं। वस्तुतः इसके पीछे सत्य स्वरूप कहा तक छुपा हुआ है इसे शोध करके प्रकट करनेकी वही ही आवश्यकता है, इस मूल शोधसे भगवान् महावीर प्रभुके

ज्ञात-मृत और उनके जीवनके सम्बन्धका बहुतया ज्ञानानुसंधार जो कि अपने आसपास फैल गया है वह जन्मकार बुर हो जाना ॥

गुजराती मनुष्यात्—पोतापी तेमज अम्यनी पूरुं उच्यति तथा मम्यने माटे के परीपकार छटिणी आपकमां जाति तेने 'दाध' कहे छे जवदा वस्तुपरबी पोदाको जपिअर छोकी इईने बीजा कोईने जपिअर आपको ते पब 'दान' कहेवास छे परन्तु अही तो भझा जने प्रलीतिनी साथे मक्ति-भाव पूरुं परिग्रह परको समत्व-भाव छोडीने कर्मोनी निर्मल कातर जतुम्पाणी तथा मज-बाची-अयनी छुटि सखित कम्पी इच्छा बपर दाता के प्रसन्न जने पमित्र वस्तु आपेछे तेने 'दान' कहे छे ।

ते दानना आर प्रकार—अनदान-वीपवदान-अमनदान जने दान-दान ए दानोमां प्रभितोमो भव बुर करी तेने सर्वथा निर्मल करवा ते सर्वोत्तम दान मनाव छे । जने आ मानवदेहमां एक श्रव छे तेनी 'मयी' कहेवास छे बीमित रहेवाणी इच्छा जवदा बीमित रहेवानो तेनो समाज होवाणी तेरुं नाय बीज' पब छे । जने ए एक श्रव श्रव श्रव छे जदे दान-वर्धन-सुख-सक्ति कम अग्रज-बहुद्वय माव श्रव छे वास्तविक पीते वधे कछमां आ प्रजोबी सदा आ बीज बीमित छे । सर्व बीजो बीजवाणी इच्छा राखे छे मरुं कोई इच्छातो मनी तेनी बीमित रहेवाणी इच्छाप्रत्यये अमन दान इईने तेरुं सर्वप्रकारे रक्षण करुं भेड छे । कोईने साथे मिलनी अननदान पब जानुं होत तो आ बीजबी मोह गई जात परन्तु अहमाने ज्ञानदान न मझवाणी पोताने बीजवस्तुं साथे राखुं बीजा बीजने पब बीजुं प्रिय छे ए मान सुखनी बीजुं । अहेए कहुं पब छे के—

"जे पीते मये माहुं बीजव प्रिय छे तेयज अम्य बीजोने पब पोछुं बीजव प्रिय छे । सर्गमां रहेवार इन्द्र तेयज मिछानो बीजो यहकमां वचनार मूपति तेमज हुंपयीमां रहवार गरीन कटीआरी ए बरेक बीजुं इच्छे छे तेम समजीने कोई पब प्राणीन मज नामा प्राप्तिने पब निरवैक कइ न हेतुं ओइए" ।

अहिंसा परम धर्म छे—अहिंसा-वरन बर्य छे हिंसा सर्व अम्याए निराश छे ते पोछावे पब बघावे अश्रिय छे तो बीजाकोने पब जवस्तु अश्रिय छे अरथ के पोछावी तेयज परनी ज्ञानोदधामां बंध जन्तर मनी तेनी जगुर मनुष्योनी सदा आ मजना रहै छे के कोई पब अघारे जगद्वय बीजोने अम्याव

કરું । મલાઈ કરું, પરોપકારમાં હું પોતે લાગ્યો વળગ્યો રહું ને વીજાઓને લગા-
વવાનો પ્રયત્ન કરું । મારામાં લેશમાત્ર પળ દોષ ન રહેવા દઈને ને વીજાઓને
નિર્દોષ બનાવવાનો પળ સતત પ્રયત્ન કરું । આત્માના અનન્ત સુખથી સુખી બની
વીજાઓને સુખના સ્થાન પર લઈ જાઉં ।

જો કોઈ પ્રાણી આ આવોથી વિપરીત ચાલીને, લોભના દાસ બનીને,
જીર્મની લાલચ જાળમાં ફસીને, દ્રવ્યોપાર્જનની ઇચ્છાથી, લડાઈમાં વિજય મેલ-
વવાની ઇચ્છા થી, પોતાના મનને બહેકાવવાના હેતુએ, નિરપરાધ દીન-પ્રાણીઓની
‘હિંસા’ કરે છે ત્યારે તેનાથી ઉપાર્જન કરેલા પાપથી દૂષિત થઈને, તે સ્વાર્થીને
નરકમાં અવરૂં જવું પડે છે, આ સિદ્ધાન્ત સર્વ મહાપુરુષોને માન્ય છે, વધાએ
તેને ઉશ્વકોટિએ પહોંચાડવાનો પ્રચાર કર્યો છે, મહર્ષિ ‘પતંજલિ’ તો તેને
સર્વથી મોટું સ્થાન આપ્યું છે, પાંચ યમોમાં સૌથી પ્રથમ ‘યમ’ જીવરક્ષા છે,

“ક્રોધ-લોભ-મોહને લીધે હિંસા કરવી, કરાવવી, અને અનુમોદવી તેને
વિતર્ક કહે છે, અને તે પાપનું પરિણામ તેમના મતે અનન્ત દુઃખ વતાવવામાં
આવ્યું છે ।”

કોઈ જગ્યાએ તો અહિંસાની પ્રશંસા એટલે સુધી કરવામાં આવી છે કે
પ્રાણીઓની સાથે વૈર ભાવ પણ લાગી દેવો જોઈએ । ત્યારેજ સાધક અહિંસા
સાધી શકે છે ।

શ્રીમદ્ ઉમાસ્વામીયે—તત્ત્વાર્થસૂત્રમાં કહ્યું છે કે “જે કોઈ જીવ
પ્રમાદ અર્થાત્ અસાવધાનતા યુક્ત થઈને મનો યોગ—વચન યોગ અને કાયયોગ
દ્વારા પ્રાણોનો ‘અતિપાત’ વા ‘વ્યપરોપણ’ કરે છે તેને હિંમા કરવું કહે છે ।

હિંસા કરવી-મારવું-પ્રાણોનો અતિપાત લાગ અથવા વિયોગ કરવો, પ્રાણોનો
વધ કરવો, જીવને કાયથી અલગ કરવો, ભવાન્તર અથવા ગત્યન્તરમાં પહોં-
ચાઢી દેવો, અગર પ્રાણોનું વ્યપરોપણ કરવું, એ વધા શબ્દો એકાર્થવાચી છે ।

જો કોઈ જીવ પ્રમાદી અર્થાત્ મદ વિષય-કપાય-નિદ્રા અને વિકથાને વશ
થઈને એવું કાર્ય કરે, પોતાના વા પરના પ્રાણોના વ્યપરોપણમાં પ્રવૃત્ત બને, ત્યારે
તે હિંસક હિંસાના દોષનો ભાગી કહેવાય છે, પ્રમાદનો ત્યાગ કરીને પ્રવૃત્તિ કર-
વાવાળાના શરીરાદિકના નિમિત્તથી જો કોઈ જીવનો વધ થઈ જાય તો તે દોષનો
ભાગી કહેવાતો નથી । એટલે ‘અપ્રમત્ત’ અવસ્થાનું વીજુ નામ ‘અહિંસા’ છે ।

तदुपरान्त योगशास्त्र मा व्यागकृत माध्वमी अहिंसा नी व्यास्ता आ प्रमाणे करवाया आसी है । के सबैसा सबैप्रकारमा जीवोनी छारे करी पन रोइ न करयो से अहिंसा छै ।

याज्ञवल्क्य-रगुनिमा कयु छ के मन बचन बाबरी कोइने पम हेउ न पहोवाटयो छ न अहिंसा छै ।

अहिंसा-गस्त-आशा बिना घर बस्तु न छैवी आत्माने पवित्र छरछे इन्द्रियोनु रमन करहुं दया बाटवी मनोबिभरता प्रकाहने रोइयो छान्तिमन जीवन जीवहुं, ए बधाने परमेनापन कथावचमा आम्हुं छै ।

यजुर्वेद-सबै पम उपवेश आचरमा आम्हो छै के-हे पुरन ! ए आम्हो कोइ पम प्रानीवी हिंसा करीछ नहि । “मित्रकार्यं बहूनां सर्वमि मृत्युनि तमीहे” १८-१ पोछानी अंगोही सबैने मित्र छटिए बोना कोइए । छहुं जेनी छहि कोइना घर पम न करी ।

मनुनी पांचमी आध्याय-“जे मनुष्य कोछावा कस्यानवी तो इच्छ प्रमदकरे छै बरगु प्रान-भूत जीवोनी हिंसा करे छै से बीर आ कोइमा अने मरीने पाओइमा नवारे पम मुक्त मेइवी छछे नहि ।

वशाघम-“सबै कारण करहुं छान्ति राखवी आत्मने पापवी निरख बनबो कोरी न करवी आत्मरिउ पवित्रछा एउची इन्द्रियोने बध करवी तस बोम्हुं, कोब न करयो अहिंसाहुं पावन करहुं आरन अने परिग्रहने मुखा ए प्रत्ये बनेय दस कलन बखैअ छै ।”

महाभारत-“आ हुं सब कहुं छुं के तसबानियोयो नमै अहिंसा छै अने से प्रकय छै अने हिंसा करवी ए बचरी के पाप छै ।

अहिंसाबचनानुस-अहिंसा परम नमै छै अहिंसा अछुड रमन छै अहिंसा अछुड दान छै अहिंसा प्रभाव छप छै अहिंसा परम बल छै अहिंसा परम पद छै अहिंसा परम मित्र छै अहिंसा अछुड मुक्त छै अहिंसा एन वचन जीवन छै ।

“सबै प्रकारमा नजोमी अनेक प्रकारहुं दान करहुं, सबै छौबीमा अनेक छुटियो गावी सबै रामोनु कस अहिंसा करवा छारि नवी एउकेके से कमी अहिंसावी धामे बरजवी करी अछुं नवी ।”

નિયમસાર-કુલસ્થાન, યોનિસ્થાન, જીવસમાસસ્થાન, માર્ગણાસ્થાન;
હ્યાદિ મેદોને સારી રીતે જાણીને જીવરક્ષા કરવાના ભાવને 'અહિંસા' કહે છે,
જીવોનુ મૃત્યુ થાય છે કે નહિ, એ પ્રકારેના વિચારમા લાગેલા પરિણામ વગર
પાપ-હિંસારૂપ ક્રિયાનો ત્યાગ થવો કઠિન છે, તેથી તે રક્ષાના પ્રયત્નમા લાગવું,
તે 'અહિંસા' છે ।

સમન્તભદ્રાચાર્યજીનું કથન છે કે-જગત્મા આ સર્વે જાણે છે કે
'અહિંસા પરબ્રહ્મ સ્વરૂપ છે, અર્થાત્ આત્માની પૂર્ણ વીતરાગતાજ 'અહિંસા' છે ।
જ્યાં વીતરાગતા છે ત્યાં આત્માનું શુદ્ધ-સ્વરૂપ છે, જે આશ્રમના ચરિત્રમા
અણુમાત્ર પણ આરંભ નથી, ત્યાં આ 'અહિંસા' પ્રાપ્ત થાય છે । આશય એ છે કે
આદર્શ પુરુષોનું સુંદર તેમજ સચ્ચરિત્ર રૂપ આચરણ 'અહિંસા' છે । તેથી અહિં-
સાની સિદ્ધિને માટેજ પરમ દયાલુ પ્રભુએ આરંભ પરિગ્રહનો ત્યાગ કર્યો છે ।
પ્રભુ વિકારશીલ વૈશ તેમજ પરિગ્રહમા અનુરક્ત નથી । કારણકે જ્યાં પરિગ્રહની
આસક્તિ નથી ત્યાંજ ઊંચા પ્રકારની અહિંસા-ધર્મે છે 'જૈન ધર્મની જય' તે માટે
બોલવામાં આવે છે કે તેમાં પૂર્ણ અહિંસાનું પાલન કરવામા આવે છે, તે ત્રસ
જીવોની ઘાત કરવાવાળા વિચારોને જડમૂલથી નાશ કરવાનું કારણ છે । તેમજ
પંચકાયરૂપ એકેન્દ્રિય જીવોની ઘાતથી પણ તદ્દન પર છે । અહિંસા ત્રણે લોકના
જીવ સમૂહને સુખ દેનારી છે । તથા સુંદર અને અક્ષય સુખથી ભરપૂર સમુદ્ર
સમાન અગાધ છે ।

સર્વથા અહિંસાનું પાલન કરવું, એ મુનિઓનો ધર્મ છે, કારણકે હિંમાનુ
પરિણામ ટુંક જનક છે, એમ મહાપુરુષોએ મહાન્ અનુભવથી વતાવ્યું છે ।

“પગે લગડો છે, શરીરમાથી રક્ત પિત્ત વહે છે, હાય કપાયેલા છે, તેમજ
અન્ય અનેક રોગથી ભરપૂર છે, તેને જોઈને સમજી લેવું જોડાઈ કે આવું દારુણ
ટુંક અન્ય પ્રાણિઓની હિંસા કરવાથી તેને મોગવવું પડે છે । આથી નિરપરાધ
જીવોની સકલ્પમાત્રથી પણ હિંસા ન કરવી । એ ચતુર પુરુષોનું કર્તવ્ય છે ।”

સુસ ટુંકમા, મલા વુરામા, યુક્ત અયુક્તમા, પોતાના જેવા અન્ય આત્મા-
ઓને સમજીને ક્યારે પણ કોઈનું 'હિંસારૂપ' અનિષ્ટ ન કરવું ।

લોકોનું મન્તવ્ય-લોકોનું આ મન્તવ્ય છે કે-ધર્મેના સંપૂર્ણ અગો
નામઢીને, મનમા વિવેક રાખીને તેનો નિર્ણય પૂર્વક આ સાર છે કે જ્યારે મને
વીર ૧૧

माउची प्रतिकूल छार्ह बची क्यणुं सगरे बीजाओने सेमने प्रतिकूल कर्वाची छार्ह अगे ।

“पद्याने पोतानो प्राण मिथ छे राज्य बहि”-पोताना प्राण बचावबानी कतर इह मित्र अये राज्यने पण तुज्जनी समान छोटी दे छे सेबीज छोईना प्रपनो नाथ करवाची जे पाप नाथ छे ते समस्त पूज्योनुं दाम करवा छटां एउ बई कथ्यहुं यची ।

सरनारहे मळे राज्य आपो के सुनबेना पहाड अर्पव करौ परम्पु जीव-तरनी पासो से बस्तुओनो कह छिवाव बची । सेबी ते सबैने छोटीने जीवता रखेबानी अपीठ करे छे ।

“जरा काँदो पयसां अगे छे सो से आन्हा छरीरमां मारे पीय करे छे तो जे निरपराध बीबोने मोतने मारे पहाँच्यो दे छे ते सरदारवा हुओनी बैराग अनिबिचपीव छे ।”

“अधरव निरपराध दुर्बलप्राची बलवानना छाने मउव छे ते कर्वाची मोति । हाव । पछवी छाने अमारे कहेनुं पडे छे के कमह्यां अराजकता प्यनी नई छे सां आन्हाने स्वाव कर्वाची मळे ओ छोई कोईने संमझवे छे तुं मरी अ’ एम सांमझनार पण आ सांमझ्यां ब कंजी छे छे छरीर मक-मीत अवे हु ची नई प्यव छे । तो के बीछने कठोरता पूवक सज्जनी मारे छे जारे सेबी छी एका बती हवे । सेबा दुज्जवा बहुभर बकर छेनुं बर्बन ओव करी छे ।”

“हाथुं कपयुं छार्ह छे पम बमरवा रखेबायां पण बई चरबी बची पण छरीरमा सम्पूर्ण बंओने प्रसन्न करवा छटां ‘हिसकपुस’ छोई काम्यो बची ।”

स्वार्थ साधबानी हिसा पण हाथिकारक छे- मित्रनी चान्तिसे मरे करेली हिसा पण मित्रने माटेव नाथ छे । बचानो एम कही दे छे के- अमराप हुओनो आ रिवाज चाल्यो जावै छे । परम्पु ते हुओनुं चउव भर्त करी छफतो बची । ते हुओना पाछ माटेव नाथ छे चान्तिने मरे बहि । पोताना बंजमां परम्परापत बाळ्यो धावेली हिसाने के प्रानी छोटी दे छे अने इन्द्र अहिंसक बने छे ते ‘अरजसूर कछाई’ ना पुत्र ‘मुलब’ नी पेटे सबै मनुज्योमा पतिव्रत अये जेह बने छे ।”

“जे इन्द्रियोने तो वशमा राखे छे, देव-गुरुनी सेवा पण करे छे, यथा शक्ति दान पण आपे छे, तत्व भणे भणावे छे, तप पण करे छे, पर्ण धर्म बुद्धिए जरा पण हिंसा करी वेसे छे त्यारे तो तेनी उपरोक्त सर्व क्रियाओ निष्फल छे, तेथी सावित थयु के धर्मेना नामे करवामा आवेली हिंसा वज्रटप समान भयंकर पापकारिणी छे ।” “अने जे शास्त्रमा धर्मेना नामे हिंसानो उपदेश करवामा आव्यो होय ते शास्त्र नथी पण शास्त्र समान छे ।” “ए केवु आश्चर्य छे जे मनुष्य सुद्धाने मारवानो उपदेश देवावाळा, लोभान्ध वनी पथ भ्रष्ट वनवावाळा, हिंसा विधायकशास्त्र वनावीने तथा पाप करवानो उपदेश आपीने लोकोने सुख वनावी रखा छे, अन्धधृष्टाळु वनावीने मानो नरकना कुडमा नाखी रखा छे ।”

अहिंसानुं माहात्म्य—“अहिंसा मातानी जेम सर्वनु पालन करनारी अने हितकारिणी छे । अहिंसाज शत्रुओना मनमा अमृतनो सचार करावनारी छे । अहिंसा दु ख रूपी दावानल्ले बुझाववामा असोल अने प्रधान वर्पा छे । ससार भ्रमण अर्थात् जन्म मरणना रोगथी पीडित जीवोने आरोग्यता अर्पनारी समर्थ औषधि छे ।”

अहिंसानुं फल—“दीर्घायुष्य-पवित्र अने सुन्दर रूप-नीरोगता-ससारमा निर्मल यश कीर्ति इत्यादि सामग्रीओ अहिंसा पालनथी ज मळे छे, अधिक छु कहेवुं, अहिंसा सर्व मनोरथ पूर्ण करवावाळी आदि शक्ति छे ।”

कोईए ठीकज कहुं छे के—“पर्वतोमा सुमेरु-अमृत पीनारामा देवता, मनुष्योमा चक्रवर्ती, ज्योतिष चक्रमा चन्द्र, वृक्षोमा ठी छया आपनार फलदार अशोकवृक्ष, ग्रहोमा सूर्य, जलाशयोमा समुद्र, सुर असुर मनुष्य तथा चक्रवर्तिओमा वीतरागनी समान सर्व व्रतोमा पण अहिंसा व्रत सर्वोत्तम छे । ते व्रत अनुपम छे ।”

निष्कर्ष—आ सर्व शास्त्रोनी विचार करता ए स्वयमेव सिद्ध थाय छे के हिंसा सर्व शास्त्रोमा वर्ज्य बतावी छे । जैनोए तो तेनु नाम ‘प्राणातिपात’ कह्यु छे । तेनो आशय ए छे के कोईना एक प्राणने पण निरर्थक दु ख न देवु जोइए । साधु मुनिराज तो तेनु सर्वांशे पालन करे छे । अने गृहस्थ तेनु असुक अंशे पालन करी शके छे ।

“पोतातुं जीवन सर्व कोईने बपी वस्तुको करतां नबिह प्रिय है। जेम कसुं के के—”जो मरगारमे एम कहेवामां आवि के हुं एक करोड सोनमहोर झईमे तारो बीब बई दे । स्यारे ते बनन बसवने छोडीने जीववापी मासा प्रसन्न करबे । करनके जीब तथा पछी तेमे माटे पन सा कसमुं । सर्वने जीवतुं बहालुं ज्यो के । तेवी सर्व जानोमां अगवदान जेष्ठ के ।

अमरपदान पर उदाहरण—वसन्तपुरमां करिदमन मने राजा राज करतो हतो । ते पोतापी चार एविमो खबे आनंद भोगवतो । एक दिन ते एविमोए गछुं, बचवतुं नबनु सब कहुं । राजा तेमपी चबवै सिधा ऊपर प्रसन्न पई पयो अने कोस्यो के आवे तमे जे कीं मयसो ते हुं कपीब ।” एविमोए बचव आव्योके बसवारे तो जमने कोई पब वस्तुनी आवरवकटा बपी पन बचा समर ऊपर मागी कहलुं जमने मायेक बरवान हमरां आप जमा रखो एजाए कहुं “बहु खर” ।

एक घर राखीमोए एक चोरने जीवो के जेवै अक कपड तथा बीबावो हार पहोरावैने बचवमुनि तरक बई बचामां आनतो हतो । राखीमोपी छमे राजा पन महेक पर देखतो हतो । चोरने कोरिने राखीमोए राजने पूछु के प्रजानब । आवे सो अपराध क्यों है ?” राजाए एक सिचाईने बोखपीने पूछु । तेन बचवमां तेने कहुं के—पूछीबाब । तेने कोरी जेहुं राजन तेमब बदेनिहइ अकार्य कहुं है । तेवी आवेक तेने प्रबर्धवपी सिधा कर्मापी है ।

ते खंमझीने तेमापी एक राखीए कहुं के बचववचन ! आव मने माबे बरवान आवो के तेने एक दिनछमे माटे बीकनहान आपचमां आवे के जेपी हुं तेन पर कीहक उपकार करी लहुं” राजाए कहुं “तथास्तु”

राखीए तेने महेकमां बोखपी कहुं के “तने आवने माटे बचापी दीवो के माटे बा पी ने मोजकर” एस कहीने अक बचपी तेहुं काण्ठ करचमां आबुं । खार बता तेने । बीनर आपीने सिचाव करवाम्य आवो ।

ए रीते बीजी आवे जीपी राखीए पन एक एक सिचसुं बीमिठ बज बईने जहकमे एक अक अने एक करोड सोनमहोरहुं दान बाबुं ।

पन कोरी राखीए तेने बई पन आवेक बगर तेने प्रबर्धवपी तथा राखी पाये जमा करपी बीबी । आवे खंमझीने ते जयेए कहुंके “एने ते हुं

आप्यु ?” चौथी राणीए कहुं के “मैं तेने ए वस्तु आपी छे के जे तमे वधी मळीने स्वप्नमा पण न आपी शको” ते साभळीने ते वधी क्रोध करीने तेने गळे पढीने बोली के “अमे तेने क्रोडपति बनावी दीधो अने तु कहे छे के अमे एना पर तारा जेटलो उपकार पण नथी कर्यो !” चौथीए कहु के “धन थी पण अधिक प्रिय सौने पोताना प्राण होय छे ।” मैं तेने प्राण दान अपावीने हमेशने माटे सुखी बनावी दीधो छे । हवे तेने मरवानो भय नथी रह्यो । जेथी मैं सौथी मोटु कार्य कर्यु छे । जो मारी आ वात पर तमने विश्वास न होय तो राजानी प्रासे आनो न्याय कराववो जोइए” एटली वात थया पछी राजाने महेलमा बोलाववामां आव्यो । राणीओनो मुकद्दमो साभळीने राजाए चोरने बोलाव्यो अने पूछ्यु “तु साजु कहे के कई राणीनो तु अधिक उपकार माने छे ?”

तेणे विनय पूर्वक शिर झुकावीने कहु के—एम तो वधीए मारा पर भारे उपकार कर्यो छे, कारण के तेणे मने अभयदान अपाव्यु छे । त्रणे राणीओए क्रोडोनु धन आप्यु अने एक एक दिवस मरतां वचाव्यो पण ए भय माथे रह्योज हतो के काले तो मरी जवानु छे, तो आ धनने शु कर ? पण चौथी राणीए मने सकटमाथी वचावी दीधो छे । जेथी हु जावजीव सुधी निर्भय वनी गयो, तेथी आ उपकारनो बदलो मारो देह अर्पनि पण नहि झुकावी शकु । “कारणके सर्व-दानोमा अभयदान श्रेष्ठ छे ।”

एज प्रकारे सत्यवचनो निरवध-पापरहित-अन्यनी पीडा दूर करवावाळी भाषा सर्वोत्तम छे, कारण के काणान-पुसक-रोगी-चोरादिने तेना नामे बोलाववाथी पण तेना मनने आघात पहुँचे छे ।

मनुनो मत—“सत्य-प्रिय-तेमज मनने अनुकूल बोलो, असत्य तेमज अप्रिय सत्य पण न बोलो । आ प्रसंग मा असत् शब्दना जैनसिद्धान्तमा त्रण अर्थ छे । सद्भावनो प्रतिषेध, तेमज अर्थान्तर तथा गर्हा-निन्दा । वस्तुना स्वरूपना अपलापने सद्भावनो प्रतिषेध कहे छे । ते वे प्रकारे छे । सद्भूत पदार्थनो निषेध तेमज असद्भूत पदार्थनु निरूपण । जेमके “नास्ति आत्मा” अर्थात् आत्मा कोड स्वतन्त्र पदार्थ नथी, अथवा “नास्ति परलोक ” परलोक अर्थात् मरण पछी जीवने अन्य भव धारण करवो पड़े, ए वास्तविक नथी, ए वगेरे भूत निन्दव छे । कारण के तेथी सद्भूत पदार्थनो अपलाप थाय छे । आत्मा तेमज परलोक-जीवन भवान्तर वारण करवु वास्तविक रीते सिद्ध पदार्थ छे, युक्तियुक्त तेमज

। “पोठातुं बीबन सर्व कोईने कभी वस्तुको करता अधिक प्रिय है। येन कबू है के—“जो मरवाने एम कोइसामा जाये के तुं एक करोड सोनमहोर खईने छोड़ो जीव रही है । ह्यारे ते बन्या इयसने छोडीने जीवनायी आशा प्रगट करहे । करणके बीब पया पछी तेने मने बन का कामतुं । सुईने जीवतुं बहालुं जाये है । तेवी सर्व बानोमा अमयदान भेट है ।

अमयदान पर उदाहरण—वसन्तपुरया अरिबन्धन कये राजा राज करतो ह्यो ते पोठापी बार राखियो सबे आनख मोपवतो । एक दिन ते राखियोए धरुं बज्जधरुं बाधधु दब कर्तुं । राजा तेमपी पांखई सिधा ऊपर प्रसन्न बई गयो अये सोख्यो क जाये तने के कई मागछो ते तुं आवीच ।” राखियोए बज्जध आखोके अकारे तो जमने कोई पच वस्तुमी आबरवफटा गयी पच बजा समझ ऊपर मागी कइतुं जमने आपेक बरदान इसका आप जना एखो राजाए कइतुं “बहु सार

एक घर राखियोए एक बोरने बीबो के जेने बज्ज कमडा तथा बीबलो हार पड़ेरानीने बध्यममि तरफ कई जवामा जास्तो ह्यो । एबीबीनी सबे राजा पच महेख पर डेकतो ह्यो । बोरये कोईने राखियोए राजाके पूछतुं के प्रबन्धन ! जाये सो अपराध क्यों है ?” राजाए एक सिपाईने बोखानीने पूछतुं । तेना जवामा तेने कइतुं के—पूछीबाध । तेने कोटी जेनुं राजब तेमब कमैनिह्य अकार्य कर्तुं है । तेवी आपेक तेने प्राणईदपी सिधा फर्मायी है ।

ते खंमडीने तेमोवी एक राखीए कइतुं के व्याख्यान ! आज मने माई बरदान आपो के तेने एक बिबसने माटे जीबनदान आपधमा जाये के खची तुं तंत्र पर काइक उपकार करी सतुं” राजाए कइतुं “तवास्तु”

राखीए तंमि महेक्या बोखानी कइतुं के “तये आजने माटे बचानी बीबो के माटे का पी मे मोचकर” एम कहीने जज बज्जवी तेनुं कापट करधमा आखुं । समार भता तेने १ बीबर आपीने सिधाव करधमा आखो ।

ए रोते बीबी जाये जीबी राखीए पच एक एक बिबधरुं जीमिठ राज बईने नहुकमे एक जज बने एक करोड सोनमहोरुं दान आयुं ।

पच बीबी राखीए तेने कई पच आमा बगर तेने प्राण ईदवी समा राजनी पाये लया करानी बीबी । ह्यारे खंमडीने ते जयैए कइतुं के “एने ते तुं

कोईए कछु छे के जेने मूढताने कारणे धर्म एवु नाम आपवामा आव्यु छे, वळी जेने म्लेच्छो पण निन्द्य समजे छे, ते असत्यनो मन-वचन-कायथी त्याग करवो एज योग्य छे, जो हितनी बाञ्छा होय तो असत्य न वोल्ता मौनतो स्वीकार करवो जोइए । कारण के नीचेनी वावतोमा सौ मौन राखे छे, जेवा के-

प्रतिक्रमण करती वखते, मलमूत्र त्यागती वखते, पाप कार्य छोडती वखते निरन्तर मौन सेववु, कारण के मौनना सेवनथी वाणीना दोषो लागता नथी ।

मौनथी क्लेशनो नाश थाय छे, सन्तोष भाव आवे छे, वैराग्य आवे छे, ने सत्य अने सयमनी पुष्टि थाय छे, जीभनो स्वाद त्यजवाथी तपनी वृद्धि थाय छे, अमिमानथी वची जवाय छे, ने सत्य-समता आवे छे । वाणी मनोरमा वनी जाय छे, वचनो प्रशंसा पात्र थई जाय छे, मौन सेवनार पूज्य बने छे, परन्तु देश कालनो विचार करीने मौननु सेवन करवु जोइए । जो क्याय बोलवाथी ससारने सद्वोध तेमज चरित्रनो लाभ थतो होय तो त्या मौन न रहेवु जोइए, वाणी हमेशा सत्य होवी जोइए ।

गृहस्थने माटे त्याज्य असत्य-गृहस्थे कन्या-पशु-भूमि सम्बन्धी जुहु न बोलवु जोइए, खोटी साक्षी पण न देवी जोइए, तेमज कोईनी थापण ओलववी न जोइए, आ पांच बातोने ध्यानमा राखनार सत्याणुव्रती छे, जो सत्य बोलवाथी पोता-पर अथवा बीजा पर आपत्ति आवी पडे तेम होय तो त्या मौन राखवु योग्य छे ।

अने साधु ज्यारे राग-द्वेष अगर मोहथी असत्य बोलवाना परिणामने छोडे छे, ल्यारे बीजु सत्य व्रत कहेवाय छे । कारणके असत्य बोलवानो भाव सत्य भावथी विपरीत होय छे । अने आ असत्य भाव, राग-द्वेष के मोह भावथी जीवमा उत्पन्न थाय छे । थानी मनुष्य इष्ट पदार्थ अथवा विषयोनी प्राप्ति अथवा रक्षानी खातर राग द्वारा असत्य बोले छे, अनिष्ट पदार्थ अथवा विषयोने दूर करवाने माटे अथवा तेनो संयोग न थाय ते माटे द्वेषयुक्त असत्य बोले छे । अथवा मिथ्या बुद्धिथी ससारमा मोहने लीधे ते मिथ्याभावनी रक्षाने माटे असत्य बोले छे, जे कोई निकट भवी जीव आ प्रकारना असत्य बोलवाना परिणामने त्यागी छे छे, तेनामा सत्य व्रतनी योग्यता आवे छे । जे सत्य भावना रगथी रंगाइने प्रगट रीते सत्य व्यवहार करे छे, ते सज्जनोनो पण पूज्य बने छे, तेथी आ बात तहन साची छे के सत्य थी वधारे महान् बीजु कोई व्रत नथी ।

अधुमकाम्यं छे तेनो निवेद्य करणो ते सङ्गतुं अस्तस्य कामे सिध्यन्वचनं छे
अस्तममे स्तमाकं तंजुक्त-सामकना च्चवमभी वैम नामा प्रमाणकामे वत्तकनो
अववा अंगुष्ठना डेरवा वरावर समकनो अववा एम कहेतुं के ते रज वनेको छे ।
मिथिय छे कगेरे छई वचन अंगुष्ठोद्गमन नामे अस्तस्यवचनं छे वरावके वर
वाठना वचनो हाउ अस्तमातुं के वास्तविक अस्तम मभी तेनो छेवक करणमां अये
छे । अर्थान्तर-एउके सिध अर्थ एउ पदार्थने अन्य रूपे वत्तकनो वास्तविक व
कहेको ते अर्थान्तर छे । जेव कोई पाकने बोझो कहे, अने बोझने गुरु कहे,
जमने ईधर कहे अने ईधरवे शुद्धम कहे । ते-अर्थान्तर नामे अस्तस्य कहेवाव छे ।

पद्मा-एउके सिध करणो तेनी केउछ सिध वचनो छे तेने वचनो अर्थित
नामे अस्तस्य वचन समकनो बोहए, जेवके 'जानी घाटी कछो !' 'मरी जा'
जाने कसार्ने छौपी बा' सिगरे हिंसात्मक वचन बोझको तेमक धर्म मेरी-
मन्ने दुष्क वाव तेवा अपराध कहेवा पाछे वैरी कठोर वचन कहेवा भूट
सुन्दो वचनको पैद्वन्-कोईमी पुगळी करवी वगेरे अर्थित वचन कहेवाक
छे । जो ते अर्थित वचन कवाव सदा पथ होव छां ते अस्तस्य मन्थन छे ।
वराव के व सिध छे । प्रमाद रक्षित जीववा वचनो एव अस्तस्य मन्थन छे
प्रमाद जुक्त कहेलां वचन अस्तस्य होव छे अने प्रमाद रक्षित कहेवामां वादीन
अस्तस्य वचन पथ सदा होइ सके छे जेवी एते कोई ऐणीवअस्तने पठासामां
वचन रक्षितने आपता कहे छे के आ पठाई छे ।

एउ सम्मन्त्र के अर्थ वाव छे सिधमान तेमक अस्तस्य-तेवीव अस्त
सम्मन्त्र अविद्यमान अने अपराध ए के अर्थ केव कोहए । सङ्गत-मिथिय-अस्त
सोद्गमन समक अर्थान्तर ते अविद्यमान अर्थ वार्ताकार होमावी अस्तस्य छे ।
अर्थित वचन अपराध होवावी अस्तस्य छे तेमक प्रमादको संवन्ध एव अर्थी छवै छे ।

ते सिध वचन अस्तमातुं मिथित वने छे । कपावको वचन वार्ता अस्तस्यो
प्रयोग अस्तस्य करणमां अने छे । तेनी कोव-माव-माव-कोव-एव-ईव-ओहारीने
अने अस्तस्य बोझको ज्ञान करणो तेमि सदा अनुमत कहे छे ।

मन्त्रणीमां-कठोर सत्य अपराध-जुक्त करण-अपराधवचन कहेलां-अस्तस्य
अर्थ केवमातुं अविद्यमान वई वाव छे । ज्वारे नीई अनुमत लीधरण छे एवरे
व वैद्यारीनेमे अस्तस्यिरण प्राप्त वन छे ।

कोई कष्ट छे के जेने मूढताने कारणे धर्म एवु नाम आपवामां आव्यु छे, वळी जेने म्लेच्छो पण निन्ध समजे छे, ते असत्यनो मन-वचन-कायथी त्याग करवो एज योग्य छे, जो हितनी वाञ्छा होय तो असत्य न बोलता मौननो स्वीकार करवो जोइए । कारण के नीचेनी बातोमा सौ मौन राखे छे, जेवा के-

प्रतिक्रमण करती बखते, मलमूत्र त्यागती बखते, पाप कार्य छोडती बखते निरन्तर मौन सेववु, कारण के मौनना सेवनथी वाणीना दोषो लगता नथी ।

मौनथी कलेशनो नाश थाय छे, सन्तोष भाव आवे छे, बैराग्य आवे छे, ने सत्य अने सयमनी पुष्टि थाय छे, जीभनो खाद लजवाथी तपनी वृद्धि पाय छे, अमिमानथी बची जवाय छे, ने सत्य-समता आवे छे । वाणी मनोरमा बनी जाय छे, वचनो प्रशसा पात्र थई जाय छे, मौन सेवनार पूज्य बने छे, परन्तु देश कालनो विचार करीने मौननु सेवन करवु जोइए । जो क्याय बोलवाथी ससारने सद्वोध तेमज चरित्रनो लाभ थतो होय तो त्या मौन न रहेवु जोइए, वाणी हमेशा सत्य होवी जोइए ।

गृहस्थने माटे त्याज्य असत्य-गृहस्थे कन्या-पशु-भूमि सम्बन्धी जुहु न बोलवु जोइए, खोटी साक्षी पण न देवी जोइए, तेमज कोईनी थापण ओळववी न जोइए, आ पाच बातोने ध्यानमा राखनार सत्याणुवती छे, जो सत्य बोलवाथी पोता-पर अथवा बीजा पर आपत्ति आवी पढे तेम होय तो त्या मौन राखवु योग्य छे ।

अने साधु ज्यारे राग-द्वेष अगर मोहथी असत्य बोलवाना परिणामने छोडे छे, लारे बीजु सत्य व्रत कहेवाय छे । कारणके असत्य बोलवानो भाव सत्य भावथी विपरीत होय छे । अने आ असत्य भाव, राग-द्वेष के मोह भावथी जीवमां उत्पन्न पाय छे । यानी मनुष्य इष्ट पदार्थ अथवा विषयोनी प्राप्ति अथवा रक्षानी खातर राग द्वारा असत्य बोले छे, अनिष्ट पदार्थ अथवा विषयोने दूर करवाने माटे अथवा तेनो सयोग न थाय ते माटे द्वेषयुक्त असत्य बोले छे । अथवा मिथ्या बुद्धिथी ससारमा मोहने लीवे ते मिथ्याभावनी रक्षाने माटे असत्य बोले छे, जे कोई निकट भवी जीव आ प्रकारना असत्य बोलवाना परिणामने लागी दे छे, तेनामा सत्य व्रतनी योग्यता आवे छे । जे सत्य भावना रगथी रंगाइने प्रगट रीते सत्य व्यवहार करे छे, ते सब्जनो पण पूज्य बने छे, तेथी आ बात तद्न साची छे के सत्य थी वधारे महान् बीजु कोई व्रत नथी ।

— असत्य बोलघालु निरुद्ध परिणाम—शुद्ध बोलनार मरीने मूँसे बने
 छे अपन तेने मूळ गतिबद्धो पीन बननु पड़े छे ते स्पष्ट बोझी छकतो नही ।
 कोईने तेनी सम्मति पन प्रिय आयती नही । मुक्त रोयबी पीडाव छे आ बरु
 शुद्ध बोलनलु दुष्ट परिणाम जाणीने कम्बुदि सम्बन्धी असत्य करी पन न
 बोझनु बोझ । असत्य बोलनार मूर्ख-निष्कर्ष-बानी हीन बाव छे । तनी कपटे
 सम्मति बोझेने तिरस्कार बाव छे । बने तेना मुक्तानी दुर्गन्ध गीबछे छे ।
 जे भेद निरुद्ध छे तेनी निष्ठासबाव बाव छे । जे पुननु प्रतिपत्ति छे तेनु
 बचन बवारैव पन न बोझनु बोझ । जे बूढ बोझे छे तेनामा मुक्तता बने छे,
 तं पोछने केवरे छे अयोगति (परक) मां जाव छे तेनी बूढ सदा बर्बनीव
 छे । बूढ प्रमादबी पन न बोझनु बोझ, कारण के हितकार्यरपी कल्पद्रव्य
 असत्यरपी बानी नी पढी जाय छे । मूल-भविष्य-वर्तमानबी बातनु पूर्णपणे
 जान न होव तो 'तं ज्ञान इक्ष' एम न बूझेनु, जे बातमा संघ इक्ष तं न
 बूझेनी जो जने कसबी बातोमा त्ज्ज निष्कर्ष पनु होव तो बूझेनी । असत्य
 बोझानी बेर निरोध बने छे पोछ बूझी जबाबी पछावो बाव छे कोई तन्त्र
 पर निष्ठास करतुं नही बदनानी बाव छे कुपपन्न संवत्तरी पैठे बनेक दु को
 बूढ बाझानी बाव छे । बूढ बोझनार परक-निगोद-बने पछु बोझिमा बन्म
 मरण करे छे । बोझुं असत्य बोझनार पन मरक विरोधमा बाव छे । समिगोद
 हन अन बरिदातुं मूळ सत्यन बाननु छे सत्यबानिगोपी चरन रजबी पूछी
 पतित्र बाव छे । जे हमसां सत्य बोझे छे तेने मूल-वैत-वर्ष-विह-बोझ पन करी
 छकता नही । माझुं मुंडाबीने जग राखीने जगकसा चारन करीने छपु बेर
 पद्रीमे जचव तपवर्षा करीने जे असत्य बोझे छे तने बहूत करतुं पन बडु
 विन्ध्य सम्बन्धी । एक तरफ असत्यनु पाप बाने बीजी बहू बहू संसारमां सबै
 पापां राजकसमां मावे तो असत्यनु पाप बानी जाव । छयात देयव भविष्य-
 ओवा पापनु प्रवर्धित होव छे पन असत्यानीने माटे बनी । सत्य पछे देवां
 पन जमा रहै छे । सत्य पन संता पर पोछनी सत्य बनी बहूनी छकतो तने
 नदि बहव करी छकतो नही अग सत्यनो महिमा जगार छे । सत्य बोझि-
 जोए सत्यनी बहूत प्रवर्ध करी छे, जेमांबी ह्यकपन्नचारीनां केठसक बहूनी
 आ नीन बहूनी छे । "जे संवत्तरी मुनि बीरन पूर्बक संवत्तनी रखा करै छे य
 मुनिरीनापी दुआवे बाधय करै छे ते बहूतरपी जपमां सत्यरपी बहू रोपे छे ।"

“યમ-નિયમાદિ વ્રતોનો સમૂહ એક માત્ર અહિંસાની રક્ષાને માટેજ વ્યથો છે, અહિંસા વ્રત જો અસત્યથી દૂષિત હોય તો તે ઉચ્ચપદ કદી પળ પ્રાપ્ત ન કરી શકે, અસત્ય વચન સાથે અહિંસાનું પાલન અશક્ય છે ।” “જે વચન જીવોનું હિત કરનાર હોય તે અસત્ય છતાં સત્ય છે । અને જે વચન પાપ સહિત હિંસા રૂપ કાર્યની પુષ્ટિ કરે છે, તે સત્ય છતાં અસત્ય છે નિન્દ્ય છે ।” “જે સાધક અનેક જન્મોનાં દુઃખોની શાન્તિ અર્થે તપ કરે છે, તે નિરન્તર સત્યજ વોલે છે, કારણકે અસત્ય બોલનારને સાધકપણું સંભવતું નથી ।” “જે વચન સત્ય હોય છે, કરુણાથી ભરપૂર હોય છે, અવિરુદ્ધ હોય છે, આકુલતા રહિત હોય છે, અસંશય ન હોય, ઇન્દ્રિય વિકારોને પુષ્ટ કરનાર ન હોય, ગૌરવ વધારનાર હોય, કોઈને હલકા પાડનાર ન હોય, તેજ વચન શાસ્ત્રમા પ્રશસનીય ગણ્યું છે ।” “નિરન્તર મૌનનું સેવન કલ્યાણકારી થાય છે, જો બોલવાની જરૂર પડે તો સત્ય-પ્રિય-તેમજ હિતકર બોલવું જોઈએ ।” “પણ દુષ્ટ ચરિત્રીનાં સુખમા વાણી ક્રૂર અસત્ય વાણી રૂપી નાગળ રહે છે, કે જે આશ્વા જગત્ને દુઃખી કરે છે ।” “જે વાત સ્વદેહ યુક્ત હોય, પાપરૂપ હોય, દોષ સહિત હોય, ઈર્ષ્યાને વધારનારી હોય, તે વીજા ના પૂછવા છતાં પણ ન કહેવી ।” “મર્મમેદી, મનને પીડા ઉપજાવનાર, સ્થિરતા નાશક, વિરોધ કરાવનાર, તેમજ દયા રહિત વચનો પ્રાણ જાતાં પણ ન બોલવા ।” “જ્યાં ધર્મનો નાશ થઈ રહ્યો હોય, ચારિત્રને નુકસાન પહોંચતું હોય, દેશની સ્વતંત્રતા નાશ પામતી હોય, સમીચીન સિદ્ધાન્તનો લોપ થતો હોય, ત્યાં દેશ-ધર્મ-તેમજ જાતિની ઉન્નતિ સ્વાતંત્ર્ય વગર પૂછ્યે પણ વિદ્વાનોએ બોલવું જોઈએ, તે સમયે મૌન ધારણ કરવું યોગ્ય ન કહેવાય ।” “જે વાણીના શ્રવણથી જીવો મોહ મુગ્ધ બની જાય, સન્માર્ગ ભૂલી જાય, સામ્પ્રદાયિકતા અને પક્ષ-પાત આવી જાય, વાઙ્મયીમા ફસાવનારી તે વાણી નથી, પણ સાપણી છે, કારણ કે તેના શ્રવણ માત્રથીજ પ્રાણી ઉત્તમ માર્ગને છોડી કુમાર્ગે જાય છે ।” “મનોહર વાણી જેટલું સુખ આપે છે તેટલું સુખ ચંદન-ચંદ્રમા-ચંદ્રમણી-મોતી-માલતી વગેરે શીતલ પદાર્થો આપી શકતા નથી ।” “અગ્નિથી દગ્ધ વન વ્યારેક પણ લીલું બની શકે છે, પણ વાણીરૂપી આગથી પીડિત મનુષ્ય કદી પણ પ્રફુલ્લ બની શકતો નથી ।” “જે સત્ય-વચ્ચા છે, તત્ત્વના સ્વરૂપને સમજે છે, સદાચારી છે, તેના ચરણ સ્પર્શથી પૃથ્વી પવિત્ર બને છે, તે લોકોજ ઉત્તમ છે, અને જે અસત્ય વચ્ચન વોલે છે તે નીચ અને શૂદ્ર છે ।” “જે નીચ પુરુષ મનુષ્ય-

અમ્મ પ્રસન્ન કરીને પણ અસહ્ય બોલે છે તે સંસાર સ્ત્રી સમરત્રી પાર જેવી ઠીકે પડી શકે !” “જેમાં શાક-શન-દાહ કપાલેઈ હોય સ્વપ્ન મમ્મ પણ ન હોય શિષ્ટી તેમજ રોષી હોય કુલ-આતિ અને વર્ષે જી હોય હોય છે હું વર્ષ ! તેનું તો મૂલ્ય સહ્ય છે તપાસી પતિત્ર તેમજ શુદ્ધી વર્ષી શકે છે તેની ધોમ્મ સહ્ય છે !” “જે પુણ્ય અસહ્ય-અભિમાની મલિન છે તેનો સ્વપ્ન પપ-સ્ત્રી-અદ્યપના મળવી કોઈ પણ વર્ષે પુણ્ય કામમાં પણ કરતો વર્ષી !” “શુદ્ધની સંપત્તિથી સ્વપ્ન પણ અસહ્ય વાત છે જેમ મેલ્લ સુવર્ણની સંગતિથી સ્વપ્ન અને નિર્મલ વેળાએ પણ શંકાનું પ્રકાર સહ્ય પડે !” “પુત્ર-જનન-જી-વન તેમજ મિત્રો મિત્રુષ અને શાસ્ત્રી જાણ તેમજ પ્રવચન વાત કરતો અસહ્ય ન બોલતું બોલે !” “આમિ વચનામૃતોર્ણવ્યવ કરી જે કોઈ પણ ઠીક તેમજ મેલ્લ સહ્ય બોલે છે તે જાણ પ્રવાસ પુણ્ય છે !”

તપમાં એટલું તપ કર્યો ! સહ્ય રેકે સર્વ પ્રકારના દુષ્ટા નિરોધ તપમાં નથ મિત્ર પ્રદ્ય-પ્રતિષ્ઠા શુદ્ધ વર્ષે પ્રદ્યર્ષ્ય મેલ્લ છે ! સુન્દર જીવનોમ્મ મનોહર સંગોને બોલેને તેની સ્વપ્ન રમ્મ કરવાની જે દુષ્ટા નિત્તમાં સ્વપ્ન વાતે તેને સ્વપ્ન જેવી અવધ મેલ્લ જામે નો-અવધન તોજ સહ્ય જી મૈત્રુષ સેવની જે દુષ્ટા સ્વપ્ન વાત છે તેનો વાત કર્યો એ પ્રદ્યર્ષ્ય જાત છે ! તેને સ્વપ્ન કરવા માટે સ્વપ્નો કહે છે કે જે કામી-પુણ્ય ! અસુખ-અવધ-પરમત્ત સ્વ નિત્ર સ્વપ્ને જોયેને જાતિ સુન્દર જીવનોમા શરીર અવધન સ્વપ્ને મલ્લ જા માલ્લ વાત કરે છે અવધ તેજ મોહમાં જા માલ્લ અસહ્ય છે !

અવધન-અવધના શોધ-જી સંગોગથી સ્વપ્ન વાત છે પિત્ર વર્ષે હ અમ્મ પ્વર સ્વપ્ન વર્ષે શરીરનું મલ્લ કરે છે શિષ્ટાશિષ્ટ મુલ્યથી વે છે, શરીર નિઃસ્વ વર્ષી જાત છે ! સુખ-અવધન-પ્રવાસ પડે છે તેવી અવધન અને પ્વરમાં જાત પણ અવધન વર્ષી ! જા શોધો જાતને જો સર્વના શીષ્ટ પત્ર વાત ન જામે તો પુણ્ય પોતાથી નિષ્કાશિત પતિમાં સ્વપ્ન સ્વપ્ને વારવર્ષે જા પ્રતિષ્ઠા જી પણ અનેક પ્રકારથી દુષ્ટાનું મલ્લ વાત છે, અમ્મ પણ છે કે-અવધનમાં સ્વપ્ન રહેવાર, અવધ જી માત્રથી વર્ષાવે પણ દુષ્ટા ન કરવારમાં પણ મુલ્ય-અવધન પેકે અવધ પ્રવાસ સ્વપ્ન વાત છે તો પત્રી સર્વે પ્રદ્યર્ષ્ય પત્રવાર પ્રદ્યર્ષ્યની પ્રવાસથી તો વાત જાત જી ! પત્રકે તેનો પ્રવાસ અવધ છે અને અવધનીય ! પર પુણ્ય મેલ્લ સ્વપ્ન દેવર્ષમાં અવધમાં વર્ષે તેટલો અવધ

वधेलो होय, पण तेने क्षेरनुं पुतळु समजीने स्त्रीए जेम सीताजीए रावणने त्यागी दीधो हतो, तेम तेने त्यागी देवो जोइए, जे स्त्रीए मैथुन विकारने जीती लीधा होय ते देवोने पण पूज्य छे अने इच्छनीय छे ।

मैथुन एटले शुं ? मैथुन एटले जोडु, प्रकृतिमा स्त्री-पुरुषनु जोडु समजवु, बनेनो परस्परनो सयोग, अथवा समोगने माटे जे भाव विशेष थाय छे, अथवा बने मळीने जे समोग क्रिया करे छे, तेने मैथुन कहे छे अने तेनेज अव्रह्म कहे छे, तेमा पण प्रमत्तयोगनो सवध छे । कारणके तेने लीधे जे कई क्रिया करवामा आवे, पछी भले ते परस्पर वे पुरुष अथवा वे स्त्रीओ मळीने करती होय, अथवा अनङ्ग क्रीडा आदि कां न होय, ते सर्व अव्रह्म छे । जे प्रमत्त दशाने छोडीने क्रिया करे छे, तेने मैथुन कहेवातु नथी, जेमके पिता-भाई विगेरे पुत्री-अथवा ब्हेन आदिने गोदमा लईने प्यार करे छे, ते अव्रह्म कहेवातु नथी, कारण के तेमा प्रमत्त-योग नथी । आ प्रमत्तयोगनी ओछा वत्ता अशे पण निवृत्ति करवामा आवे तो ते ब्रह्मचर्याणुव्रत कहेवाय छे । जेमके कह्यु छे के-“माता-ब्हेन-पुत्री समान परस्त्रीने जाणे, ने पोतानी विवाहिता स्त्रीमा सन्तोष माने, ते चोथु अणुव्रत कहेवाय छे ।” “उत्तम पुरुष परस्त्रीने व्याधि समान समजी ने दूरथीज त्यजी दे छे, कारणके परस्त्री तो सदैव दु खोनु घर छे, अने सुखोने नाश करनार प्रलय काळनी आग समान छे ।” “जे स्त्री पोताना पतिने छोडीने परपुरुष साथे रमण करेछे, तेने प्रथम पत्तिनी निर्लज्ज समजवी जोइए, ज्यारे आ प्रकारना आचरण थी पोतानी स्त्री पर पण विश्वास न रहे तो परस्त्रीनो विश्वास केम राखी शक्य ?” “परस्त्रीनु सेवन करनार पुरुषने नरङ्ग निगोद मा रखडवानु रहे छे, तेमा कशु सुख तो नथी ज, तेथी मनुष्योए ब्रह्मचर्य व्रतनु पालन करवु जोईए ।” “आ व्रतनु पालन करनार योगीओ परब्रह्म परमात्मानु ज्ञान पामे तेमज स्व-स्वरूपने अमेद रूपे जाणी शके छे, तेनो अनुभव करी शके छे । तेने धीरवीर पुरुषोज धारण करी शके छे । अल्पसत्त्ववाळा-शीळर-हित-इन्द्रियोना दास-दुर्वळ पुरुषो तो स्वप्नमा पण आनु समाचरण करी शकता नथी, कारणके ब्रह्मचर्य पण महाव्रत छे ।” “व्रणे जगतमां ब्रह्मचर्य व्रत प्रशसनीय छे, जे तेनु निर्मल भाव पूर्वक पालन करे छे, ते पूज्यना पण पूज्य छे ।

जे ब्रह्मचर्य पालनमा अनुरक्त छे ते दश प्रकारना मैथुननो सर्वथा त्याग करे छे ।

(१) बमडे सरीर बाधगारु, (२) पुष्ट पदार्थनुं सेवन करु, (३) गारु पजगु, जोनु, खमजगु (४) ली संतर्प करवो (५) ली संवंधी संकल्प मिदण करव (६) लीया अंग उपांग जोव (७) लने जायना विचरो करव (८) पूर्वजन्त भोयोनुं स्मरण करु, (९) भविष्यमां भोगोनी विमलक्य करवी (१०) बीर स्थग्न करु,

आ एव मेव मैयुन्या छे ज्ञाचारिने माटे ते खर्चा हाज्य छे ।

“जेरी रीते विपाक कळ बेकक-सुंरक मां रमणीय छे एव परीमने हास्यहस होर समान छे तेहीज रीत मैयुव एव बोका ब्रह्म माटे रमणीय-सुंरर बने सुखदायक मास्तम पडे छे परन्तु परिणामे अक्षय्य भवज्ज नीबडे छे ।” “जे पुस्त्य ब्रह्मनोयोनी विरह बनीवे सदा ब्रह्मचर्य पाळे छे तेने भावबुद्धि माटे एव प्रधरना मैयुन्या स्थाप करवो जोइए, कैम के आ दोघेना ज्ञान कर्ब कपर भावबुद्धि-विमलक्य बढी बढी भावज ब्रह्मवा विमने रोधी रह्ये छे, बहू एव छे के-

“सर्ग करडेस मायसने सात वेप होव छे परन्तु ब्रह्म रूपी सर्ववी ब्रह्मदेव जीवने एव महा भवानक वेप होव छे ते जीवे मुख्य छे ।

(१) ब्रह्मण उहीपनवी विंदा उत्पन्न बाध छे के ब्रह्म भोगोनी क्वारे प्राप्ति बडे (२) बोवावी इच्छा उत्पन्न बाध छे बने निश्चास मुळे छे (३) अफसोस करे छे के लीने कोई एव न बज्ज । (४) एकर कर्ब छे त्रस्तमान बने छे (५) सरीर बढना बने छे बाह उपजे छे (६) मोह-बनी रवि नवी रहेली (७) महा मूर्खता उत्पन्न बाध छे एव एव बत गेहुं नवी (८) जन्मव बनी बाध छे कैम तेम बज्ज करे छे । (९) प्राय वात्स्या जगनी संकट रहे छे । (१०) कलु एव बरे ज्ञान छे ।

ब्रह्म ब्रह्मणी येरायेबो जीव ब्रह्मर्ष तत्त्व कस्तु ब्रह्म समरी बज्जो नवी एवारे लोक व्यापारलुं ब्रह्म एव भाव पावे छे एवारे परमात्मे ब्रह्म तो कदापी बाध ! कधी कठोमां रोहुं मन अस्थिर बनी बाध छे ।

“जेने ब्रह्म रूपी ब्रह्म बने छे ते बैरावमां तुलमां वात्स्यामां परब्रह्मां मोहक करवासां अस्थिर बनी बाध छे ।” “ब्रह्म वात्स्यामां पुस्त्य बहुर होव कलु मूर्ख बनी बाध छे ब्रह्मणीक कलु कोवी बने छे ब्रह्मरीर कवर बने छे महान् ब्रह्मो बने छे एवामी व्याकृत बने छे बने विरोधित्व ब्रह्म बने छे ।

“તેથી મૂર્ખતા કર્યાવગર મનુષ્યજન્મ સાર્થક વનાવવાને મનુષ્યે બ્રહ્મચર્યનું પાલન કરવું જોડે ।

કદાચારનું પરિણામ—“વિલેને નપુસક વનાવવાની ક્રિયા, લપટોને થતી સજા વગેરે જોડેને બુદ્ધિમાને કુશીલનો ત્યાગ કરીને સ્વદારસન્તોષવ્રત અગીકાર કરીને પરસ્ત્રીનો ત્યાગ કરવો જોડે, મૈથુન સેવન કિંપાક ફળની પેટે આરમ્ભમા સારુ લાગે છે, પણ પરિણામે દારુણ કષ્ટ આપે છે ।” “મૈથુન સેવનથી શરીર કમ્પ, પરસેવો, થાક, શિથિલતા, ચક્ષર આવવા, તિરસ્કાર થવો, વલનો ક્ષય, જ્વરાદિ રોગો થાય છે ।” “યોનિમા અસરય જીવ રાશીની ઉત્પત્તિ થાય છે, અને મૈથુન સેવન વચ્ચે તેનો નાશ થાય છે ।

વાત્સ્યાયનનો મત છે કે રક્તમા સૂક્ષ્મ જીવો પેદા થઈ જાય છે, ને સયોગ વચ્ચે તે મરી જાય છે ।

✓ **મૈથુન સેવનથી કામ જ્વરની શાન્તિ નથી થતી**—

અમિમા ધી હોમવાથી જેમ તે શાન્ત થતો નથી, તેમજ સ્ત્રી સમ્યન્ધી વૈપ-યિક સયોગથી કામ જ્વર શાન્ત થતો નથી, પણ વધે છે । સ્ત્રીએ પણ પર પુરુષને નાગ સમાન સમજીને તેઓનો ત્યાગ કરવો જોડે, કારણકે ऐश्वर्यમા મળે ઇન્દ્ર સમાન હોય, સૌન્દર્યમા કામદેવનો અવતાર હોય તો પણ જેમ સીતાએ રાવણનો ત્યાગ કર્યો તેમ સજારીઓએ પર-પુરુષનો ત્યાગ કરવો જોડે ।

બ્રહ્મચર્યનું ફળ—બ્રહ્મચર્ય સચ્ચરિત્રનું મૂળ છે, પરબ્રહ્મ પ્રાપ્તિનું નિમિત્ત છે, જે બ્રહ્મચર્યનું પાલન કરે છે તે પૂજ્યના પણ પૂજ્ય છે । વીર્ય આયુષ્ય, સુંદર શરીર, શરીર રચનામા દૃઢતા, શરીર પર વિલક્ષણ તેજ, મહાન્ શક્તિ, યશ-કીર્તિ, સસારમા માન, પ્રતિષ્ઠા, એ સઘણ બ્રહ્મચર્યથી પ્રાપ્ત થાય છે ।

આ રીતે સર્વલોકની ઉત્તમ-રૂપસમ્પદા વગેરે મેળવીને તેમજ ક્ષાયક જ્ઞાન-દર્શન-શીલસમન્વિત પુરુષોમા જ્ઞાતવશીય અન્તિમ જિનવરેન્દ્ર યમણ-ભગવાન્-મહાવીર પ્રધાનતમ હતા ।

કાશ્યપ-ગોત્રીય-શ્રમણ ભગવાન્ મહાવીર પ્રભુના વર્ધમાન, વિદેહદિગ્ધ, જાત-પુત્ર, કાશ્યપ, વૈશાલિક, મહાવીર, સન્મતિ, વીર, યમણ ભગવાન્ ઇત્યાદિ અનેક નામ હતા, તે વધા નામો તેની અમુક અવસ્થાના સૂચક છે । કારણ કે ભગવાન્ મહાવીર સ્વામીનું જીવન માસારિક તેમજ સાધક અવસ્થામા જુદું જુદું હતું । વર્ધમાન, વિદેહદિગ્ધ (મહાવીર પ્રભુની માતાનું નામ ‘વિદેહદિગ્ધા’ પણ હતું,

ત્રિસદ્યા માતા વિરેહ કુસ્મીં જગ્મ્યા હર્ષ્ય તેષી તેમનું કામ વિરેહરિષ્ય પશુ હર્ષ્ય, માતૃના આ મામથી મહાવીર પ્રયુક્તું માતૃપણું મામ પત્ત 'વિરેહરિત' પરી નર્તુ હતું) ક્ષત્રપુત્ર અમરવ અને વૈદ્યાતિક એ મામો તેમથી લાંછારીક અસ્થા ના સૂચક છે મહાવીર, કુસ્મીં અને અમલ અમલ્ય આ ત્રય ત્રયો તેમને લાંચક અસ્થામાં પોતના અસ્થ-વીર્ગારિ ગુણેથી પ્રત કર્યા હતા વર્ષમ્પન પિતૃપણું કમ અને વિરેહરિષ્ય માતૃપણું નામ હતું । 'ક્ષત્રપુત્ર' એ વંશ પરથી મામ પશુ । 'અમરવ'—ગોત્રથી કમ પશુ હતું । 'વૈદ્યાતિક' અમલ્યાન્ય અમલ્યનું સૂચક છે । 'મહાવીર' માતૃ-વીર્સૂચક કુસ્મીં અપ્યજ્ઞાન સૂચક અને અમલ-અમલ્યનું અમલ સંસ્કૃતિના યાત્રાતિક અમેસર અર્થસૂચક છે ।

ક્ષત્રપુત્ર—

અપરોષ્ઠ સર્વ નામોર્માથી અમલ્ય-મહાવીરના 'ક્ષત્રપુત્ર' અવશ્ય 'ક્ષત્રપુત્ર' અમલ્ય સમ્પદમાં અપરોષિત કરવાએ ॥ આ ક્ષત્રપુત્ર કમ તેમના વંશનું સૂચક છે । એ ક્ષત્ર વૈનાયક તેમજ વૈદ્યાતિકનાં બન્નેક અમલ્ય કહેલી છે ।

ગ્રીષ્મઋષ્ટિ તેમજ અમલ્ય અરિષ્ટ સુતોર્મા તેમનાં વૈશ્વવરિષ્ય ક્ષત્રપુત્ર અમલ્ય મહાવીરથી અમલ 'અરિષ્ટ કુન્ડ' વામ્પાં અર્ધવંશીય અને 'અરિષ્ટવૈશ્વ' વિદ્યાર્થી રાજાને હર્ષ ત્રિસદ્યા અરિષ્ટાત્મીથી વધો હતો ।

આ ક્ષત્રવંશ તે સમયે પ્રસિદ્ધ હૈન્દ્યકુન્ડ-અમલ્ય અરિષ્ટવૈશ્વ કુન્ડની વેદે પ્રસિદ્ધ વંશ પત્ત હતો ।

આ ક્ષત્રવંશના અરિષ્ટ પ્રશ્ન: 'ક્ષત્ર' ત્રયથી બોલવાત્ત અને તેમજ આ 'ક્ષત્ર' કુન્ડને ક્ષીરે તેમજા નયરોની વાહર વન્યેસ્ય શ્વેત-અમલોત્રે મામ પત્ત ક્ષત્રવંશ' પરીક્ષ હર્ષ્ય મગ્ધાન્ મહાવીરે કુલમ્પમથી વરીક 'ક્ષત્રવંશ' અમલ વામ્પાં વૈદ્યા અંગીકાર કરી હતી કાલ-અમલો છે આ વાક્યની અર્થ પુરિ કરે છે ।

ત્રિગમ્પામાં 'ક્ષત્રપુત્ર' ને વરકે 'નયપુત્ર' અથવા 'નયપુત્ર' તેમજ કુલમ્પામાં 'નયપુત્ર' અથવા 'નયપુત્ર' સમ્પદ પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે । તે અમલ્ય મહાવીરના ક્ષત્રવંશનું અર્થ સૂચક મામ છે । તે મામમાં અપરોષિત અરોષ છે : 'નયપુત્ર' અથવા 'નયપુત્ર' એ વંશ ત્રયો સંસ્કૃત અથવા 'ક્ષત્રપુત્ર' અથવા પ્રાકૃત રૂપ છે । અને 'નયપુત્ર' અથવા 'નયપુત્ર' એ વંશ ત્રયો પ્રાકૃત રૂપ છે । પ્રાકૃત ત્ર્યો 'ત' નો 'વ' અને પ્રાકૃત માતૃમાં 'ત' નો 'વ' અને 'વ' નો 'ટ' પણ લાંચારણીતે બાવ છે । ત્રિગમ્પા સુતોર્મા ક્ષત્રપુત્રનો

“નાથપુત્ર” શબ્દ પ્રયોગ જોવામા આવે છે, આ રીતે માપા અને માવની દૃષ્ટિએ જોતા પળ આ વધા અલગ અલગ નામો મૂલ ‘જ્ઞાતપુત્ર’ શબ્દમા મઢી જાય છે । આ વધા નામો “જ્ઞાતપુત્ર” શબ્દથી વનેલા છે તે નિ શક છે । પ્રાચીન કાલમા વશના નામથી પરિચય આપવાની પ્રથા હોવાને લીધે ભગવાન્ મહાવીરનો જીવન વિષયક પરિચય શ્રીજિનાગમોમા તેમજ વૌદ્ધાગમોમા ‘નાતપુત્ર’ અથવા ‘નાથપુત્ર’ શબ્દથી આપવામા આવ્યો છે । તેમજ ભગવાન્ મહાવીરના શિષ્યોનો પળ પરિચય “નાતપુત્રીય” અથવા “નાથપુત્રીય” એ શબ્દથી વિશેષ કરીને આપવામા આવ્યો છે.

શ્રીજિનાગમના ૧૨ અગોમા છટ્ટુ અગ “નાયધમ્મકહાઓ” છે । તેમા આવેલ “નાય” શબ્દ પળ ભગવાન્ મહાવીરના વશવાચક ‘નાયપુત્ર’ ની સાથે ગાઢ સવન્ધ રાખે છે । પ્રાકૃતમા ‘ન’ નો ‘ળ’ થાય છે । આ અગનો ગુજરાતી અનુવાદ “ભગવાન્ મહાવીરની ધર્મકથાઓ” એમ કરવામા આવ્યો છે । આ અગનો પરિચય શ્રીસમવાયાગસૂત્રમા આપેલ છે । તેમા વતાવ્યુ છે કે “આ અગમા જ્ઞાતા-ઓના નગર-ઉદ્યાન-માતા પિતા વગેરેનો પરિચય આપવામા આવશે ।” ટીકાકારે જ્ઞાતાઓનો ઉદાહરણમૂત અર્થ કર્યો છે । પરન્તુ જ્ઞાતા એટલે ‘જ્ઞાતવશીય’ ક્ષત્રિય એ અર્થ પૂર્વાપર વિચારતા નિશ્ચિત થાય છે ।

ભગવાન્ મહાવીરનો પરિચય શ્રીજિનાગમોમા ‘નાયપુત્ર’=જ્ઞાતપુત્ર સિવાયના ઘણા નામોથી આપવામા આવ્યો છે, તો પળ ત્યાં ‘નાયપુત્ર’ શબ્દની વિશેષ પ્રધાનતા છે । ઘણા પ્રાચીન સૂત્રોમા ભગવાન્ મહાવીર પ્રમુના ગુણપ્રાપ્ત ‘નાયપુત્ર’ શબ્દથી કરવામા આવ્યા છે જેમકે —

“જે ભગવાન્ “જ્ઞાતપુત્રના” વચનો પર પૂર્ણ વિશ્વાસ રાખે છે, તે કોઈ વસ્તુનુ સપ્રહ કરતા નથી” ૧૮

“પ્રાણીમાત્રની રક્ષા કરવાવાળા “જ્ઞાતપુત્ર” મહાવીર પ્રમુએ વત્ર પાત્રને પરિપ્રહ નથી કહ્યો, પળ મૂર્છા યા મમત્વમાવને જ પરિપ્રહ કહ્યો છે, એમ મહર્ષિ-ઓએ કહ્યુ છે ।” ૨૧

[દશવૈકાલિક-અ. ૬]

“જ્ઞાતપુત્ર” મહાવીર પ્રમુએ કહ્યુ છે કે-મર્યાદામા રહેનાર સાધુ આ દોષને સારી રીતે જોઈ ને જરા પળ વપટ પૂર્વેક જુઠ ન વોલે ”

“આ દોષને જોઈને નિગ્રન્થ રાત્રિ ભોજનનો લ્યાગ કરે, કારણકે “જ્ઞાત-પુત્રે” આના પ્રત્યક્ષ દોષ વતાવ્યા છે ।”

(દશવૈકાલિક. અ. ૬)

અનુત્તર જ્ઞાની અને અનુત્તર દર્શન યુક્ત અર્હન્ પ્રમુ ‘જ્ઞાતપુત્ર’ મહાવીર પ્રમુ વિશાલા નગરીમા આ રીતે વ્યાખ્યાન કરતા હતા ।

આ પ્રમાણે ઉપરાન્ત આ અધ્યકર્તા ૨ ૧૪-૨૧-૨૩ ૨૪ મી સાદ્યમોર્મા પ્રમુખે સ્તુતિ 'જાતપુત્ર' શબ્દથી કરવામાં આવી છે । આ રીતે બ્રીજિનામન્ય પ્રમાણમૂલ મનોમોર્મા 'જાતપુત્ર' અથવા 'જાતપુત્ર' શબ્દથી પ્રયોગ મન્યાન્ મહાવીરના વંશજાથી જન્મ લીધે અનેક સ્થાને કરવામાં આવ્યો છે । અને એ વખતે એક જ કરવાની અહીં પણ પણ બહુ જ રીતે હોવાનાર્થે પરિસ્થિતિઓમાં જે 'જાતમન્દ' મન્યાન્ મહાવીરપ્રમુખે વંદન કરેલ છે તનોપજ સ્પષ્ટ કરીશું, તેમજ મંપલ-વરમ્માં જ્યુ છે કે:—

‘જે કન્યાજ વૃણવા વાગ છે કુતિરુપ ગંગના હિમજન છે વિજયમળે સૂચક છે તે મન્યાન્ ‘જાતમન્દ’ મહાવીરને હું નમસ્કાર કરું છું ।’

બીજા વિદ્યેમ્માં મન્યાન્ મહાવીરનો તમજા સિધ્ધોનો તેમજ તેમજા સિદ્ધા તેમજે પરિચય તેમજા વંશજાથી ‘જાતપુત્ર’ અથવા ‘જાતપુત્ર’ શબ્દથી જણાવવામાં આવ્યો છે । તેમજા જ્ઞાન નિમ્નો માટે ‘જાતપુત્રી’ શબ્દનો ઉપયોગ કરવામાં આવ્યો છે । આ જ્ઞાન સિદ્ધા મન્યાન્ મહાવીર પ્રમુખે જીવન પરિચય જ્ઞાનથી વીજા જોઈ શબ્દનો પ્રયોગ કરેલો જોઈમાં આવતો વધી માત્ર ‘જાતપુત્ર’ થી જામે ‘મિમ્મ’ શબ્દનો પ્રયોગ કરેલો જોઈ છે । પણ તે શબ્દનો તરીકે જામે જાતપુત્રનો સૂચક છે । તે ‘જાતપુત્ર’ શબ્દનો વિશેષ છે ।

જ્યોર્ પ્રાચીન વસ્ત્રમાં વંશજાજ્ઞાન વામથી પરિચય જાણવાથી પ્રજા હોઈલે સ્પષ્ટ જણાય છે । મહાસ્ત્ર-જુદ પણ તેમજા મૂલ વામ સિદ્ધાઈ કરતાં તેમજા વીજ સૂચક નામ ‘જાતમ’ અને વંશ સૂચક વામ ‘જાતપુત્ર’-થી જ્ઞાન પ્રસિદ્ધ છે ।

મન્યાન્ મહાવીર પ્રમુખે ‘જાતવંશ’ હતો અને એ ‘જાતવંશ’ થી તેમજા વંશસૂચક નામ ‘જાતપુત્ર’ પ્રસિદ્ધ છે । જે જાણે સ્વર જોઈ વધા । પરમ્માં જાતપુત્ર તેનો કેટલો વિચાર તમજા વિનાસ જામે તેનો સ્થિતિજ્ઞ જાતપુત્ર જાણતો વધી । એ સ્થિતિજ્ઞની જોઈ અજ્ઞાત જાતપુત્ર છે । તે સ્થિતિજ્ઞની જોઈ માટે જાણથી પાતે બીજા સ્થિતિજ્ઞ એક જાતપુત્ર સાધન રૂપ છે ।

મન્યાન્ મહાવીર તમજા મહાસ્ત્ર-જુદ ૪ બંને સમજાવીત-વડેજામિતિથી થઈ વધા જ્ઞાની તેમજો બંને જુદા જુદા જાતપુત્ર જાતપુત્ર જાતપુત્ર પ્રાચીન રાજાથી પુરુષ હતો આ જાણતો વિચારતાં મહાસ્ત્ર-જુદને એક પ્રાચીનથી વીજા પ્રાચીનથી વિચાર કરતાં મન્યાન્ મહાવીરના વંશ સમજાવી જોઈથી જામે જાતપુત્ર કરવાનો પ્રસંગ જ્ઞાત જામે જોઈ એ જાત સામાજિક છે ।

બુદ્ધપિટકલા ‘મહાવગ્ગ’ નામે સૂત્રમા મહાત્મા-બુદ્ધ, ભગવાન્ મહાવીરની જન્મભૂમિ “કુડ ગ્રામ” મા તેમજ તેની નજીક ‘જાતૃઓ’ ના ગામોમા અને વૈશાલી નગરીમા જવાનો તેમજ ત્યા ‘નિગ્રન્થ’ શ્રાવક સિંહ સેનાપતિની સાથે વાતચીત કરવાનો ઉલ્લેખ આવે છે, તે ઉલ્લેખ ના આધારે ભગવાન્ મહાવીર પ્રભુના ‘જાતૃવગ્ગ’ અને તેમની જન્મભૂમિ સમ્બન્ધી આપણને ઘણુ જાણવાનુ મળે છે, તે કારણથી તે ઉલ્લેખ આ નીચે ઉતારવામા આવ્યો છે ।

જ્યાં કોટિગ્રામ [ઢેલો વિનયપિટક મહાવગ્ગ પાનુ ૨૪૧ કોટિગ્રામ] હતુ ત્યાં ભગવાન્ ગયા, કોટિગ્રામમા ભગવાન્ બુદ્ધ વિહાર કરતા હતા, અમ્બાપાલી ગણિકાએ સામત્યુ કે ભગવાન્ અહીં આવી ગયા છે, તેથી તેણે સુન્દર રથ જોડાવ્યો, ને તેમા બેસીને સુન્દર ગ્યોની સાથે વૈશાલીથી નીકળીને ‘કોટિગ્રામ’ તરફ ચાલી ।

ત્યારે તે લિચ્છવી જ્યા કોટિગ્રામ હતુ ત્યા ગયા ।

કોટિગ્રામમા ઇચ્છાનુસાર વિહાર કરી જ્યા વૈશાલીનુ મહાવન હતુ ત્યા ગયા, ત્યા ભગવાન્ બુદ્ધ વૈશાલી મહાવનની ‘કૂટાગાર શાલા’ મા વિહાર કરતા હતા ।

તે વચ્ચે ઘણા પ્રતિષ્ઠિત લિચ્છવિ ‘સસ્થાગાર’ [પ્રજાતન્ત્ર-સભાગૃહ] મા બેઠા હતા, તેઓ વધા બુદ્ધની પ્રશંસા કરતા હતા, ધર્મ અને સઘના ગુણોનુ વર્ણન કરતા હતા, તે વચ્ચે નિગ્રન્થોના શ્રાવક (જૈન-શ્રાવક) સિંહ સેનાપતિ તે સભામા બેઠા હતા

ત્યારે સિંહ સેનાપતિ જ્યા નિગ્રન્થ (નિગ્ગઠ-નાથ પુત્ર) જ્ઞાતપુત્ર હતા ત્યા ગયા, જડને ‘નિગ્ગઠનાથપુત્ર’ ને કહ્યુ કે હે પૂજ્ય ! હૂ.....
.. . । સિંહ ! તારુ ઘર લાવા સમયથી નિગ્રન્થો માટે વિસામારુપ છે,.....
..... તે સમયે ઘણા ‘નિગ્ગથ’ [જૈન સાધુ] વૈશાલીમા એક . . . લાવા કાલથી આ આયુષ્માન્ (નિગ્ગઠ) બુદ્ધ. છે ।”

“એક સમયે ભગવાન્ બુદ્ધ નાદિકાના ‘ગિંજકાવસથ’ માં વિહાર કરતા હતા [મજ્જિમનિકાય પાનુ ૧૨૭]

‘વિનયપિટક’ ‘મહાવગ્ગ’ તથા મજ્જિમનિકાયમાં આવેલા આ ઉલ્લેખોથી આપણને સાફ સાફ માલુમ પડે છે કે મહાત્મા બુદ્ધ-મહાવીર સ્વામીની જન્મભૂમિ કુડગ્રામ (પાલી ભાષામા કોટિગ્રામ) ગયા હતા, અને કુડગ્રામની પાસેની વૈશાલી વીર. ૧૨

मयरीमां भी स्यां महात्मा—बुद्धने जंबापायी नाम वैश्य बने सिन्धुनि क्षत्रिय मरुच्य आम्वा हत्त कोटिधम्मभी महात्मा बुद्ध ज्जं 'यातिध' इत्युक्त स्पेक रहेत्त हत्त सां गया हत्त जने सां 'यातिध' (इत्युक्त) लोकोन्म ईदोमा चरमं हत्त । ते स्तननी पासेव अम्वापायीं वन नाम उपाय हत्त जे अम्वापायीए बुद्ध बने सेमवा संवने सम्पन्न करेत्त हत्त । सांभी महात्मा बुद्ध वैद्यायी वय ज्जे सां सिंह ज्जे सेनापति के के विप्रम्भोन्म, भावक हत्तो तने पोखनी अनुमयी बन्धव्यो । सिंह सेनापति महात्मा बुद्धने मरुच्य जत्तां पहुँकां 'विप्रम्भ' इत्युत्त मरुच्यीर प्रमुनी पासे अनुत्त केव अम्भो हत्तो । स्यारे मयचन् महावीरे सिंह सेनापतिने 'तुं किञ्चयरी होच जत्तां अकिञ्चयरी अमम वीरमने मरुच्य ए माटे जाव के ?' एम वहीने न जचत्तुं कम्पुं हत्त । पय ते पोखनी इच्छलुत्तर धम्म वीरमनी पासे वयो जने स्यां सं अमम गांत्त बुद्धतो अनुबानी बन्धो ।

अमरत्त स्येखनी आपणा निवस्ये पुष्ट करमयी चार वत्त सिद्धं प्रचरे कल्पवती मळे छे ।

(१) बौद्धोत्तु 'कोटिधम्मज' [वीर मन्वोमां कुंडधम्म' तुं ज्ज 'कोटि धम्म' ज्जे मयचन् महावीरत्त 'यातिपुत्र' ज्जे वरसे यातिपुत्र' कळेत्त छे । ज्जो 'मारत्तय प्राचीन राजवंश' पालुं ४ केवक विधेयत्तय एव) जेनेत्तु कुंड धम्म' जचत्त छे जा बनि मन्वोमां आधिक सरखापत्तुं छे । ते उपरंत ते धम्मनी नवीक इत्युक्त—इत्युत्तयना क्षत्रियोत्तु विरासत्तय ज्जे वैद्यायी मयरीत्तु अकिञ्चत्तु होचने बीधे कुंडधम्म' ज्जे 'कोटिधम्म' ज्जे एव होचत्तु निमित्त जाव के ।

(२) कोटिधम्मभी पासे इत्युत्तु विरासत्तय अमचान् महावीरतो वंश इत्युत्त हत्तो ते कळी वय पुष्टि करे के । तमव कुंडधम्मभी जातपात्त इत्युक्त—इत्युत्तयना क्षत्रियोत्तु वंश—उपाय हत्ता । ज्जे सां इत्युत्तय क्षत्रियो रहेत्ता हत्ता ते वा जातते वय हत्त करे के । जा इत्युक्त' तो वंश ए विचारतो विदेव करे के के वा इत्युक्त यगवान् महावीरभी जग्ग—यातिपाया इत्युत्तय हत्ते ।

(३) 'इत्यु' याति 'सिन्धुनि' जोभी एक तात्त हत्ती [प्रतिक वैर छीर्ण कर महावीरभी मरुच्य वय 'सिन्धुनि' वंशवीर हत्ती ज्जो 'मारत्तय प्राचीन राजवंश' पालुं १७८] वा जातभी पुष्टि 'वैद्यायीया सिन्धुनि क्षत्रिय महात्मा बुद्धने मरुच्य आम्वा हत्ता' ते वीर्यवीर मळे छे । मयचान् महावीरभी मरुच्य वय सिन्धुनि वंशभी हत्ती ज्जे सिंह सेनापति के के मयचान् महावीरतो वंशक

હતો, તે પળ લિચ્છવિ વગનોજ હતો, આ વને વાતો જ્ઞાતૃજાતિ લિચ્છવિઓની
 એક શાખા હતી, એમ સાવિત કરે છે ।

(૪) કુંડગ્રામની પાસે વિદેહની રાજધાની વૈશાલી નગરી હતી, કુંડગ્રામ
 આ નગરીના એક પરા જેવી હતી । મગવાન્ મહાવીરનુ 'વૈશાલિક' નામ પળ આ
 નગરીના નામથી પડ્યુ હતું, વિશાલા નગરીમા સિંહ સેનાપતિ નામે જે નિર્મન્ય
 શ્રાવક લિચ્છવિ રહતો હતો, તે મગવાન્ મહાવીરની સલાહ ન માનીને મહાત્મા
 બુદ્ધની પાસે ગયો હતો, આથી સ્પષ્ટ જણાય છે કે મહાત્મા બુદ્ધ અને મગવાન્
 મહાવીર વને એકી વચ્ચે વૈશાલીમા હતા ।

ઊપરના ઉલ્લેખમાં જે 'આતિકા' શબ્દ લખેલો છે, તે શબ્દનુ મૂલ ઘળાં-
 ઓએ 'નાદિકા' કહેલુ છે, અને તેનો અર્થ 'તે નામના જલાશયપર વસેલુ એક
 ગામ એવો કરે છે, પળ તેમાં તથ્ય નથી, હર્મેન જેકોવી [જુઓ હર્મેન જેકોવી
 કૃત Sacred Books The East નામે ગ્રન્થમાલામા પ્રકાશિત
 'આચારાગ અને કલ્પસૂત્ર' નામે જૈન સૂત્રોના અનુવાદની પ્રસ્તાવના, પાનું ૧૦]
 મૂલ શબ્દ 'આતિકા' જ છે, અને તે જ્ઞાતૃવશના ક્ષત્રિયોનો વાચક છે તેમ
 સમર્થન કરે છે ।

આ 'આતિકા' શબ્દ પર ત્રિપિટકાચાર્ય શ્રીયુત રાહુલ સાંકલ્યાયને વિશેષ
 પ્રકાશ પાડ્યો છે, તેમણે પોતાના 'બુદ્ધચર્યા'* નામે હિન્દી પુસ્તકમા 'નાદિકા'-
 નો મૂલ શબ્દ 'નાટિકા=જ્ઞાતૃકા' બતાવેલ છે, અને 'જ્ઞાતૃકા' શબ્દ જ્ઞાતૃવશના

* તે વચ્ચે ઘણી મોટી નિર્મન્ય પરિપદ્ (જૈન સાધુઓની સભા) સાથે
 નિર્મન્ય 'નાટપુત્ર' (મહાવીર) નાલદામાં નિવાસ કરતા હતા ।

૧ નાટપુત્ર=જ્ઞાતૃપુત્ર, જ્ઞાતૃ લિચ્છવિઓની એક શાખા હતી, કે જે
 વૈશાલીની આસપાસ રહેતી હતી, જ્ઞાતૃમાથીજ વર્તમાન 'જયરિયા' શબ્દ બન્યો
 છે, મહાવીર તેમજ જયરિયા એ વનેનુ ગોત્ર કાશ્યપ છે, આજે પળ જયરિય,
 ભૂમિહાર વ્રાહ્મણ આ પ્રદેશમા મોટી સંખ્યામા છે, તેમનુ નિવાસ રત્તી પરગના,
 પળ જ્ઞાતૃ-નત્તી-લત્તી રત્તી થી જ વનેલુ છે ।

૧૧૧ મેં પાને નિર્મન્ય સૂત્રનો પળ ઉલ્લેખ કર્યો છે કે જે સ. નિ ૪૦૦
 ૧-૧૮ થી ઉદ્ભૂત કરવામાં આવ્યો

इतिवोनो सुख के, इस सप्रमाण बतायुं के आपण ऊपर बड़ी तेजी हम पक मारवे के के 'हस्तुजाति' सिद्धविजोगी बान्हा हती । अने बैसाखीनी बाहु बहमां रहेली हती आ हस्तुजाति आने पण बैसाखी मगरी [जिहा सुबप्पर पुरनी अंदर बसाइयी पावे के] भी आसबास जबरिया नामे जाति बसे के आ जबरिया शब्द भाषा रहिए पण हस्तुसम्बन्धी सावे बाह संबन्ध बरावे के ।

जबरिया शब्द 'हस्तु' सम्बन्धो अपभ्रंश बनाव के हस्तुमांकी 'जबरिया' शब्द केही टीरे मक्का पायो से संबन्धमां माया रहिए उक्त एडुक्कीए बीजे सुख विचार कयों के ।

हस्तु=जाति हस्तु=हस्तर-बातर-जतरिया-जबरिया जेबरियाय मम्मो 'बारिका'=हस्तुका=रतिका=रतिका=रतिका=रती जे नामकी वर्तमान रती पर पाया [जि सुबप्परपुर] के । सुखना पायुं ५९८ ॥

आ टीरे 'जबरिया' शब्द 'हस्तु' को अपभ्रंश के । एडुक्की आ रती परपवाहुं मूळ नाम पोताया उपरोक्त जेसमां आवैअ 'बारिका' शब्दकी उत्पन्न भवेहुं कयवे के ।

अ प्रकारे 'जबरिया' अने तेमनु स्थान रती ए बी शब्द हस्तु शब्दकी सावे पाह संबन्ध बरावे के अने आ संबन्धकी जबरिया हस्तुका=हस्तुका=हस्तुका के अने तेमनु स्थानीय विवाहस्थान के जे बारिका जबरिया बारिका नामकी कोठ-बाग के से वर्तमान रती परगहुं के एको एडुक्कीयो छ अभिप्राय के । बड़ी तेमबा आ अभिप्रायमां बीजीबास ए पण के के आ 'जबरियाहु' मूळ पोत्र शब्दप के से शब्दप पोत्र मपधान महावीर अने तेमबा हापुंकी इतिवोहुं पण हतुं ।

आ जबरिया=हस्तु नंकी इतिवोमा संबन्धमां बीराडुक्की बरावे के के आ 'जबरिया' जेको वर्तमानमां पोताये माझाव कहेबनावे के, तेनो हतु केता बही [पंजाबमां कमवा किनारे बहवाही एक जाति रहे के त पण हतु बही केता से देसमां तेमवे 'शपा' कहे के संयव के के त शब्द बाणीयो अपभ्रंश होन पण तेकोमा कोत्रो कोत्र माझाकोही मझी आवै के] अही तो जबरिया जातिवा जेकोमे भूमिहार माझाव कहेबाना आवै के । परन्तु बीस जेको तेमने माझाव मावता बही । तेही स्पष्ट माझाव रहे के के बासबमां तेको इतिवोड

છે । આનુ વીજું કારણ એ પળ છે કે આ--‘જયરિયા’ નામ ‘સિંહાન્ત’ વાળા છે, કે જે ક્ષત્રિયોના નામની સાથે આજ કાલ પાછલ લગાડવામા આવે છે, વઢી તેમના નામને છેડે ઠાકોર શબ્દ પળ જોડવામા આવે છે, એ પળ ક્ષત્રિય સૂત્રક જ છે, આ વશમા હાલમા પળ ઘણા જમીનદાર તથા રાજાઓ છે, દરમંગા નરેશ આ જાતિના છે, કોઈ દરમંગા ના પ્રથમ રાજા રઘુનન્દનને આ વંશમાર્જ સમાવિષ્ટ કરે છે અને વર્તમાન દરમંગા નરેશને શ્રોત્રીય બ્રાહ્મણ માને છે ।

બૌદ્ધ સાહિત્યના ઉલ્લેખથી તેમજ રાહુલજીના કથનથી આટલું અવશ્ય માનવુ જોડાએ કે ભગવાન મહાવીરનો વંશ જ્ઞાતૃવશ હતો, અને તે જ્ઞાતૃવશીય ક્ષત્રિય ‘કુલગ્રામ’ ની નજીક રહેતા હતા, વઢી આ જ્ઞાતૃવશીય ક્ષત્રિયોના ગામમા મહાત્મા બુદ્ધ આવ્યા હતા, વર્તમાનમા આ જ્ઞાતૃવશીય ક્ષત્રિય જયરિયાના નામથી પ્રસિદ્ધ છે, અને તે ઘણે ભાગે વિહાર પ્રાન્તના મુજપ્પરપુર જિલ્લાના રત્તી નામે પરગણામા રહે છે । વઢી તે જયરિયા પોતાના નામને છેડે સિંહ તેમજ ઠાકોર શબ્દનો ઉપયોગ પળ કરે છે । અને કાદ્યપ ગોત્ર હોવાને લીધે જ્ઞાતૃવશીય ક્ષત્રિય હોવાને સમ્ભવ છે, પળ આજકલ એ લોકો પોતાને ભૂમિહાર બ્રાહ્મણ કહે છે । આમા કેટલે અશે તથ્ય છે, તેની શોધ કરવાની અત્યન્ત આવશ્યકતા છે, આ સત્યશોધથી ભગવાન મહાવીર પ્રભુના જ્ઞાતૃવશ તેમજ તેમના જીવન સમ્બન્ધમા અજ્ઞાનાન્ધાકાર જે આપણી આજુ વાજુ ફેલાઈ ગયો છે, તે દૂર થઈ જશે ।

મૂલ

ઠિઈળ સેઢ્ઠા લવસત્તમા વા,
સમા સુહમ્માવ સમાળ સેઢ્ઠા ।
નિવાળ સેઢ્ઠા જહ સવ્વધમ્મા,
ળ ણાયપુત્તા પરમત્થિ નાળી ॥ ૨૪ ॥

સંસ્કૃતચ્છાયા

સ્થિતીનાં (સ્થિતિમતાં) શ્રેષ્ઠા લવસત્તમા વા,
સમા સુધર્મ્મા વા સમાનાં શ્રેષ્ઠા ।
નિર્વાળશ્રેષ્ઠા યથા સાર્વધર્મ્મા,
ન જ્ઞાતૃપત્રાત્પરમસ્તિ જ્ઞાત્રી ॥ ૨૪ ॥

सं० टीका—स्वितिमतां सुलोपमोच्छ्वां वा जीवानां चोर्ध्वानां
 देवानामिति, तन्मध्ये यथा स्वसत्तमा पञ्चानुत्तरव्यस्तदुत्तमा देवा
 सर्वोत्कृष्टस्वितिवर्तिनः प्रधाना, यदि वा तेषां सप्तलवायुष्कममविप्य-
 सत्वा सिद्धिगमनमवविप्यदिति चापि । अतस्तेऽभिधीयन्ते कथ्यन्ते
 स्वसत्तमा श्रेष्ठतमा । समानां परिपदां मध्ये यथा सौधर्मा “सास्तु
 धर्मा देवसमेत्यमर” परिषच्छेद्य “सुधर्मा तु सम्य मता इत्यभि-
 धानपदीपिका ।” बहुमि कीडास्तानि सम्यजनगोष्ठीभिरुपेतत्वात्तथा ।
 यद्य सर्वेऽपि धर्मा निर्वाणफलं दर्शयन्ति वा सर्वेभ्यो हित सर्वम
 हर्षर्शनं-सर्वेषां जीवानां हितकर्ता उत नाहितकारकोऽतः सोऽहंणीत
 धर्मो निर्वाणप्रदाने श्रेष्ठ इति भावः । यत् एव ज्ञातुपुत्रात्सर्वज्ञा-
 ष्ठीमहावीर्यत्त्वप्रकाशात् परं प्रधानमन्यच्च विज्ञानं नास्त्येव सर्वथा
 मगवानपरज्ञानिभ्योऽधिको ज्ञानीति भावः ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—[अह] वैसे [ठीक] जलुत्तरलोहि [स्वसत्तमा] पांच
 अनुत्तर निम्नलोहि निम्न करकेवाले देव [सेव] श्रेष्ठ होते हैं [समाच] सब
 समानोहि [सुधर्मा] सौधर्म-इन्द्रकी [समा] सम [सेव] श्रेष्ठ हैं, [सम्य
 धर्मा] संसारके सब धर्मोहि [निम्नानसेव] मोक्ष धर्म प्रधान हैं किन्तु
 [वायुपुत्रा] ज्ञात-पुत्र-महावीरसे [परम] बड़कर [वाची] कबी कोई भी
 [न] नहीं [अति] हैं ॥ २४ ॥

भावार्थ—उक्त स्थितिमें सर्वोच्च-स्थितिके देव प्रधान हैं, क्योंकि सुध
 पूर्वक रहते हुए इसमा यथा जलु पांचवें जलुत्तर निम्नवके देवोकि अतिरिक्त
 अन्य किसीकी नहीं है, उनके कारणर मुख भी किसी दूसरेको नहीं है, तथा
 जिस प्रकार सौधर्म-इन्द्रकी सम अन्य समानोहि सुन्दर है और सब अस्ति
 परलोक-सर्व-करक-जगत्मा आदि पदार्थों को धानदेवालोहि धर्मका फल एकमुक्ति
 ही है क्योंकि निम्नमार्गकी मुक्ति-करकेवाले भी मोक्षके सर्व प्रधान मानते हैं
 कभी भांति मगवान् भी समस्त जनिओमें परमोत्कृष्ट ज्ञानी थे ॥ २४ ॥

भाषा-टीका—अधिक आयुवाले सुखी जीवोंमें लवसत्तम अर्थात् पाच अनुत्तर विमानमे उत्पन्न देवोंका आयु सबसे अधिक श्रेष्ठ और सुखी है । इन्हें लवसत्तम इस लिए कहते हैं कि यदि इनका आयु सात लव अधिक होता तो इन्हें मोक्ष हो जाता । सभाओंमें सुधर्मा अर्थात् शक्रेन्द्रकी सभा सर्व श्रेष्ठ है, क्योंकि वहा सभ्यपुरुषोंकी गोष्ठी अधिक पाई जाती है । सारे धर्मोंकी निचोड़ सबने मोक्ष बताया है । अर्थात् धर्मका अन्तिम परिणाम श्रेष्ठ निर्वाण माना है । या जो सबके लिए हितकर हो उसको सार्व कहते हैं । वह अर्हन् होता है । उसका कहा हुआ धर्म श्रेष्ठ और निर्वाण प्रद है । इसी तरह ज्ञातृपुत्र महावीर प्रभुसे बढ़कर सर्वज्ञ ज्ञानी कोई नहीं है ॥ २४ ॥

गुजराती अनुवाद—अधिक आयुष्यवाला सुखी जीवोमा लवसत्तम अर्थात् पाच अनुत्तर विमानवासी देवोनु आयुष्य सर्वथी अधिक श्रेष्ठ अने सुखी छे, [तेमनु आयुष्य जो सात लव बधारे होत तो तेओ मोक्षे जात, ते कारणे तेमने लवसत्तम कहे छे] सभामा सुधर्मा शक्रेन्द्रनी सभा सर्व श्रेष्ठ छे । कारण के ल्या सभ्यपुरुषोनी गोष्ठी अधिक प्रमाणमा थाय छे । बधा धर्मोनी सार मोक्ष छे, अर्थात् धर्मनु अन्तिम परिणाम श्रेष्ठ निर्वाण मनाय छे, जे बधाने माटे हित कर होय तेने सार्व कहे छे, ते 'अर्हत्' होय छे । तेमणे कहेलो धर्म श्रेष्ठ निर्वाण प्रद छे । आ प्रकारे 'ज्ञातृपुत्र' महावीर प्रभुथी अधिक सर्वज्ञ कोई नथी ॥ २४ ॥

मूल

पुढोवमे धुणइ विगयगेही,
न सण्णिहिं कुवइ आसुपन्ने ।
तरिजं समुद्धं च महाभवोघं,
अभयं करे वीर अणंतचक्खू ॥ २५ ॥

संस्कृतच्छाया

पृथ्व्युपमो धुनोति विगतगृद्धिर्न सन्निधिं करोति आशुप्रज्ञः ।
तरित्वा समुद्रमिव महामवौघमभयंकरो वीरोऽनन्तचक्षुः ॥ २५ ॥

सं० टीका—पुनश्च स भगवान् यथा पृथ्वी सकलाधारा वर्तते सर्वान् त्रसस्थावरान् धारयति सा, तथैव 'सर्वसत्त्वानामभयप्रदानत

सदुपदेशवानाद्या महावीरं सत्त्वाधार इति, अथवा पूष्णी सर्वसहा, एव
 भगवानपि परिपहोपसर्गान् सम्यक् सहते, कर्मरजांसि धुनोति दूरीकरो-
 तीति भावः, अष्टविध कर्मापनयति चेति शेषः । तथा विगतगृद्धि-
 स्वाद्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु गृद्धिर्हिप्सा वा गार्ह्यं, सृष्ट्या मरमभिष्यपो यस्य
 स विगतगृद्धिः । तथा सन्निधानं सन्निधिः स च द्रव्यसन्निधिः संज्ञः ।
 धनधान्यद्विपदचतुष्पदरूपो द्रव्यसन्निधिः, भावसन्निधिस्तु कषामविष-
 यादयो वा, सामान्येन कषायास्तमुपम्यरूपमपि सन्निधिममवेन्द्रियजन्य-
 विषयं तत्र करोतीति भावः । “सन्निधाने,=अन्तिके, इन्द्रियगोचरे,
 सन्निधिरिति छन्दार्थकिन्तामणिः” । “सन्निधिः सन्निधानेऽपि पुमानि-
 न्द्रियगोचर इति मेदिनी” । “पञ्चकले सन्निधाने च सन्निधिः परिक्रि-
 स्तितो इत्यभिधानप्यदीपिका” । भगवान् करोतीन्द्रियगोचरं विषयं
 प्रगटं प्रत्युत नाक्षयतीति भावः । वीरस्यैवाशुपद्मं सर्वत्र सदोपयोगात्
 छन्दस्त्वन्मनसा पथ्यालोच्य पदार्थपरिच्छिष्टं विवर्ते करोति । छाप्यते
 सात्मरूपमनेनेति छन्दः, तन्मये तिष्ठतीति छन्दो हि स केवञ्ज्ञानर-
 हितो भवति । परन्तु भगवान् सर्वत्र । स सर्वमूतः समुद्रपारमिष-
 महामवीष संसारसमुद्र समुचीर्षं तीर्त्वा, बहुदुःसाङ्गं चातुरगतिकं
 संसारसागरं तीर्णं सर्वोत्तम निर्वाणमासादितवान् । अमम प्राणिनां
 प्रणरक्षानुकूल व्यापारं स्वतः परस्य सदुपदेशवानात्करोतीत्यमम
 करस्य मयोपपदात्करोतेः मेधर्तिमयेषु कृमः इति ‘स’ मत्स्ये रिष-
 त्वात् अरुद्धिवदजन्तस्य चेति मुमागमः । तथाऽष्टविधकर्मविशेषेणैव
 यति, मेरयति, कम्पयति दूरीकरोतीति वीरः । तथा अनन्तमपर्यव-
 सन्नं-मिष्य-दृष्य ज्ञेयानन्तत्वात् वाऽनन्तं पशुरिव बहु कृतञ्ज्ञान-
 यस्य स उच्येति ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—[वीर] भगवान् महावीर [पुढोवमे] पृथ्वीकी तरह सबके आधारभूत अथवा पृथिवीकी सदृश परिपह-उपसर्ग आदि सहनेवाले [धुणति] आठ कर्मोंकी मूल प्रकृतिओंको और उत्तर प्रकृतिओंको नष्ट करते हैं, [विगय-गेहि] अमिलापा रहित तथा जो [सणिर्हि] द्रव्य आदिका सचय [न] नहीं [कुव्वति] करते, [आसुपन्ने] और जिनका ज्ञान सदा शीघ्र उपयोगयुक्त है, [समुद्] समुद्रकी [व] भाति [महाभवोघ] पर्यायोंके समूहरूप अनन्त ससारको [तरिउ] पार होकर [अभयकरे] अपने और औरोंके द्वारा जीवोंकी रक्षा करनेवाले और [अणन्तचक्खु] अनन्त-ज्ञानयुक्त थे ॥ २५ ॥

भावार्थ—ससारके प्राणी पृथ्वीपर सब प्रकारके कार्य करते हैं, किन्तु पृथ्वी किसीपर अप्रसन्न नहीं होती, प्रत्युत सब कुछ सहती है, इसी प्रकार भगवान् महावीर भी परिपह और उपसर्ग आदि सब कुछ सहते थे, न किसी पर प्रसन्न होते थे न अप्रसन्न, जिस तरह पृथ्वी सबके लिए आधार रूप है, भगवान् भी दयालु होनेसे आधारभूत थे, महावीर प्रभु आठ कर्मोंसे रहित और बाह्य-वस्तुके ममत्वसे दूर थे, तथा छद्मस्थकी तरह जाननेके लिए उन्हें वस्तुके सोचने या विचारनेकी आवश्यकता न थी, क्योंकि भगवान् प्रतिसमय उपयोगात्मक ज्ञानसे युक्त थे, तथा अनेक दु खोंसे भरपूर ससार समुद्रसे पार होकर मुक्त होने वाले, स्वयं जीवरक्षा करनेवाले और उपदेशद्वारा औरोंकी रक्षा करानेवाले, तथा अनन्त-पदार्थोंके ज्ञाता-दृष्टा थे ॥ २५ ॥

भाषाटीका—पृथ्वीकी सदृश सब प्रकारके प्रखर परिपह और उपसर्ग प्रभुने सैही-वृत्तिसे सहन किए। तथा आठ कर्मरूपी रज मैलको नष्ट करके निर्लेप हुए। फिर उनकी बाहर और भीतरकी सब तृष्णा और आत्माएँ नष्ट होगईं। अतः अब उन्हें किसी भी पदार्थमें अनुरक्ति नहीं है। अब वे द्रव्य सन्निधि ससारोपयोगी वस्तुएँ, भावसन्निधि इन्द्रियोंके विषय और क्पाय का समग्रह न करेंगे। या वे इन्द्रियोंके विकारोंको प्रगट न होने देकर उनका सर्वथा नाश कर चुके हैं। उन्हें अब सर्वज्ञोपयोगी होनेसे छद्मस्थकी तरह सोच विचार कर बातें कहनेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि सर्वज्ञ हयेली पर धरे हुए आमलेकी तरह सब चराचर का अनन्त ज्ञान पाए हुए हैं। और फिर ससारसमुद्रको पार करने के अनन्तर सुदूर निर्वाण को पाया है जहाँ से कभी पुनरावृत्ति न होगी। क्योंकि वीरतासे आठ कर्मोंकी अनन्त कर्मण वर्गणाओंका अत्यन्त अभाव कर

मिया है । और अब केवल ज्ञानरूप अनन्तबलबुद्ध हैं । और वह बहुत सखि
अवन्तरूप है । प्रभुजी अवन्त ज्ञानरूप सखी इसीसे अपार है ॥ १५ ॥

गुजरगती अनुबाध—ते भयवान् महावीर प्रभु पृथ्वीनी पेठ सखी-
भोने आचारभूत के अने पोछाना पमित्र उपबंशबी सबनो मब बूर करगार छे,
अबवा पृथ्वीनी जेम सखी प्रकरग्य प्रकर परिपह समज उपस्य सिद्धसम्मम वृत्तिबी
सद्धम करगार छे बूढ कयैरपी रज संसभो नाच करीने मिलेप बसा छे । बढी
बुद्ध तेमज अन्तरिक सखी तुण्ड अने आसालो समये नाच कयों छे तेबी कोई
पम पचाबैयां समने आसकि रही नबी हवे समो इप्पबी संसरोपबोगी बलुबी
अने मावबी इन्द्रिय विषयो तेमज कपावनेो संघट्ट करछे यदि तेमोइ इन्द्रिय
विषयोनेो सखीवा नाच कयों छे तयो सखी होछबी छपसखी पेठे मिळार करीने
बोळबोली तेमबे आचद्वकता नबी करणके तेमने हृदयमरुद्वज्ज त्रिबोवनुं अव-
न्तरूप प्राप्त वरुं छे समज बढी संसारसमुद्रबो पार पावी सुन्दर निर्बन्ध प्राप्त
करुं छे के ज्योबी पुनरावृत्ति करबी नहि पवै । औरत पूर्वक अष्टवर्गमी
अवन्त कर्मबर्गपामोनेो अवन्त अमाव कयों छे केवलज्ञानबुद्ध छे ते सखी
अवन्तरूप छे । प्रभुजी अनन्तज्ञानरपी सखी अपार छे ॥ १५ ॥

मूल

कोह च माण च तहेच माय,
लोम चठस्थ अज्झत्थदोसा ।
एआणि वता अरहा महेसी,
ण कुवइ पाव ण कारवेइ ॥ २६ ॥

(संस्कृतच्छाया)

कोपं च मानं च तथैव मायां लोमं चतुर्थमध्यात्मदोषात् ।
एतान् धाम्स्याऽर्द्धमहर्षिर्न करोति पारं न कारयति ॥ २६ ॥

स० टीका—कोप कपायरूपमास्मेतरगुण ह्रपापयाग “दोसो
कोपे गुणोत्तरे इत्यभिधानप्यनीपिका” । “दोगो च पटिप च वा,
कोपाऽपाठा कोप रोमा इत्यभिधा०” । मानमहंकारं च, “मानो विभा

च उष्णति” “गव्वोऽभिमानोऽहकारो” इत्यभिधानप्पदीपिका” । मायां छद्मत्वं कपट, “माया तु सबरीत्यभिधानप्पदीपिका” । लोभ पुद्गलव-
स्तुसचयव्यापारं “अभिज्झा वनथो वान, लोभो रागो इत्यभिधानप्प-
दीपिका” । वान्त्वा त्यक्त्वा वा एतान् दोषान् कषायानध्यात्मदोषान्
परिहायाऽसौ भगवान् महर्षिर्जातस्तथा स्वयं पापमास्रव, “पाप, च
किंविष, वेराऽघ दुच्चरित, दुक्कत, अपुञ्जाऽकुसल, कण्ह, कुलसं,
दुरिताऽगु च” । अथवा पापमपराध “पापापराधेसु” अथवा पापं
कर्मपक “पापे च कद्दमे” । अथवा पाप युद्ध चापि, “पापे युद्धे रवे”
अथवा पाप कलिः कलह “पापे कलि” । वा पाप वैरं ह्यपि “पापे च
पटिघे वेर” “इत्यादीन्यभिधानप्पदीपिका” । न करोत्यन्यैर्न कारय-
तीत्येते कषायदोषास्त्वपि हितमिच्छस्त्याज्या एव, यथाह सिद्धान्ते—

“कोह माण च माय च, लोह च पाववड्डण,

वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छतो हिअमप्पणो” ॥ ३७ ॥

इमे चत्वारः कषायाश्चतुरो दोषान् समुत्पादयन्ति, यथा—

“कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणयनासणो,

माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सबविणासणो” ॥ ३८ ॥

एतानात्मदोषानेतैः प्रयत्नैरपनयेत् ॥

“उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे,

मायमज्जवभावेण, लोह सतोसओ जिणे” ॥ ३९ ॥

नो चेत्संसारे परिभ्रमणं, यथा—

“कोहोअ माणो अ अणिग्गहीआ, माया अ लोहो अ पवड्डुमाणा ।

चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचति मूलाइं पुणव्वमवस्स” ॥ ४० ॥

(द० अ० ८)

अथ कृपायप्रत्याख्यानस्य फलमाह—कृपायपक्षस्तान्ते षं
मते जीवे किं ज्ञययइ ? कृपायपक्षस्तान्ते षं वीररागं मात्र ज्ञययइ,
वीररागमाये पडिबले वि य ष जीवे सम्पुड्डुक्से मयइ ॥ १६ ॥
(उ० अ० २९ ॥)

वीतरागताफलमाह—वीतरागमाय मते जीवे किं ज्ञययइ ?
वी० नेहाणुबणणाणि तण्हाणुबणणाणि य बोद्धिइइ, मणुक्का मणुक्के
सइफरिसकुरसगयेसु चेव बिरअइ ॥ १७ ॥

कृपायविषयस्य पृथक्त्वफलं दर्शयति—कोहविजएण मते
जीवे किं ज्ञययइ ? को० सतिं ज्ञययइ, कोहवेमण्णिज्जं कम्म
न वयइ, पुबवदं च निजरेइ । सतिए ष मते जीवे किं ज्ञययइ ?
स० परीसहे ज्ञययइ ॥ माणविजएण मते जीवे किं ज्ञययइ ?
मा० मइव ज्ञययइ, माणवेमण्णिज्जं कम्म न वयइ, पुबवदं च
निजरेइ; मइवयाएण मते जीवे किं ज्ञययइ ? म० अणुस्सियच
ज्जययइ, अणुस्सियचेण (अणुस्सुक्खत्वेन) जीवे मिठमइवसंपहे
(मूढुमार्दवसम्पन्नो) अणु ममहाणाइ निहाणेइ (क्षययति) ॥ माभा-
विजएण मते जीवे किं ज्ञययइ ? मा० अज्जव ज्ञययइ । माभावेम
ण्णिज्जं कम्म न वयइ, पुबवदं च निजरेइ । अज्जवयाएण मते
जीवे किं ज्ञययइ ? अ० काठजुमय, मासुजुमय, मासुजुमय अवि
संवायणं ज्ञययइ अविंसंवायण (यथार्थं) संपन्नयाए षं जीवे धम्मस्स
आराइए मनइ ॥ सोहविजएण मते जीवे किं ज्ञययइ ? सो० संतासं
ज्ञययइ, सोहवेमण्णिज्जं कम्म न वयइ, पुबवदं च निजरेइ ॥ ३० ॥
सुचिएण मते जीवे किं ज्ञययइ ? सु० अकिंपण ज्ञययइ, अकिंपणेव
जीवे अरबणेस्सण पुरिसाण अपण्णजिओ मवइ ॥ ३१ ॥

कषाया अग्नय उक्ता अत एनान् शमयन्तु यथा-

“सपज्जलिया घोरा, अग्नि चिद्वद् गोयमा,
जे डहति सरीरस्थे, कह विज्झाविया तुमे” ॥ ५० ॥

{ सम्प्रज्वलिता घोरा, अग्नयस्तिष्ठन्ति गौत्तम !, }
{ ये दहन्ति शरीरस्था कथं विध्यापितास्त्वया ॥ }

“महामहप्पसूयाओ गिज्झ-वारि जल्लुत्तमं,
सिंचामि सययं देह, सिक्का नो डहन्ति मे” ॥ ५१ ॥

{ महामेषप्रसूतात् गृहीत्वा वारि जलोत्तमम् । }
{ सिंचामि सतत देह, सिक्का नो दहन्ति माम् ॥ }

“अग्गीय इ इ के वुत्ता, केसी गोयममब्वी,
केसीमेव वुवतं तु गोयमो इणमब्वी” ॥ ५२ ॥

“कसाया अग्निणो वुत्ता, सुयसीलतवो जल,
सुयधाराभिहया सन्ता मिन्ना हु न डहन्ति माम् ॥”

{ कषाया अग्नय उक्ता. श्रुतशीलतपोजलम् । }
{ श्रुतधाराभिहता सन्त, मिन्ना खलु न दहति माम् ॥ }

(उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३)

अथैतेषां वृद्धव्याख्यामाह-

क्रोधः परापकाराय कुत्सितचित्तवृत्तिभेदः, परानिष्टाभिलाष इत्यथवाऽनिष्टविषयद्वेषहेतुक इत्यर्थः । आत्मन्युत्कर्षाभिमानात्मक मान-मिति । कापट्यभाव छद्म मिथ्याबुद्धिहेत्वज्ञानभेदो दम्भश्चेत्यर्थः । परद्रव्येष्वतिशयाभिलाषो लोभः, । परानिष्टाभिलाषः क्रोधः, क्षमैव क्रोधविजये समर्थः, क्रोधावेशेन सर्वस्यान्धत्वमधैर्यत्व, हृदयशून्यता,

अ भवति । अतः कान्तिव नश्यति । मत्समो मान्योऽस्तीति मत्त
मानं । अथवाऽऽत्मन्यविद्यमानगुणारोपणोत्कर्षरूपा बुद्धिर्मनो महति
घनाये सत्यपि अनुक्षणं वर्षमाने तदगिरापो ओमोऽथवा परविषादिक
दृष्ट नेष्टु (प्रहीष्टु) यो हृदि जामतेऽभिष्यपो ओमस्य ॥ ।

इतरेऽप्याहुर्यथा—

“ओम एव मनुष्याणां, देहसंस्थो महान् रिपुः । सर्वदु
साकरं मोक्षो, दुःखद माणन्यासकः ।” “सर्वपापस्य मूलं किं
सर्वदा तुल्यमान्वितः, विरोधकृत् विषयानां, सर्वसिं कारणं तस्य ।”
“ओमात्पञ्चान्ति धर्मं च, मर्त्यादां वै सर्वैव च, मातरं आतरं इन्ति,
पितरं बान्धव सखा ।” “गुरु मित्र सखा सात, पुत्र च मणिनीं तस्य,
ओमाविष्टो न किं कुप्यादकृत्य पापमोहितः” ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—महाकाय महावीर (कोई) ओमको (व) और (खनें)
मानको (व) और (माने) मायको (ठोस) इरीमकर (बठाल) ओमे
(स्मने) ओमको अर्थान् (एकाग्रि) इन सब (अमृतत्वबोझ) अन्वयिक
अन्वयसंबन्धी बोझोंको (बंझ) कायकर (अरहा) अर्थव तस्य (मोहणी)
महर्षि हुए, और (पान) पाप (व) व (कुप्य) खने करते हैं (व) व
(कारक) औरोंसे प्रेरणसे करते हैं ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—आरकके ग्रास होनेपर कार्यका मी ब्रह्महोयता है संस्कारके
कदमेमें आरमभूत ओष-मान-आवा और ओम हैं, अतः इनके ग्रास होनेपर
संस्कार-कर्मकर्णकाभी ग्रास हो जाता है । इसलिये मन्त्रका ओषादिवा ग्रास
करके अर्थव अमृतता एवं महर्षिपणको प्राप्त हुए, क्योंकि ब्रह्मचर्य कदाकदा ग्रास
लिए बिना कोई मी महर्षि नहीं बन सकता और अमृतत्व व खने प्राप्त करते हैं
व औरोंको पापमें प्रेरित करते हैं ॥ २६ ॥

माया-दीक्षा—ओष कदाकदा पहला वेद है । इसके अन्तरात् ओषकर
वीर है वच्य उपपद्येय करने लगता है, इससे औरोंका अनिष्ट तब मी कर लगता
है, विनासी इति पद और पदार्थ हो जाती है, अनिष्ट करते समय ओषका ही

उपयोग होता है। मान दूसरा कषाय है, इसकी मात्रा का कोई प्रमाण नहीं है, इसे अहंकार भी कहते हैं, इसके कारण 'बाहरे में' यही कहता रहता है, इसके आवेशमें मात्र अपनीही बढ़ती चाहता है। माया नाम कपट करने का है, इसके दम किया करता है, सरलता का नाश कर डालता है, अपनी चिद्वृत्ति का मालिक नहीं रह पाता। पराये धनमें अतिशय अभिलाषा रखना लोभ है, जिससे किसी दूसरेका अहित करना वायें हाथका खेल समझता है।

क्रोध शान्तिसे जीता जा सकता है, शान्तिके बिना क्रोधके आवेशमें अन्धा हो जाता है। इसे अधीरता, अस्थिरता और हृदयशून्यता आ जाती है। अतः क्रोधको समभावसे नष्ट करना चाहिए।

मुझसे बढ़कर अन्य कोई नहीं, इस मान्यताके आने पर मानसे घिर जाता है, और अपनेमें अविद्यमानगुणको उत्पन्न करनेकी बुद्धि पैदा करता है, इससे अन्य सबको छोटी दृष्टिसे देखता है। स्पष्ट बात न कहना माया है। अधिक धनकी आय होने पर भी प्रतिपल जिसकी अभिलाषा बढ़ती रहे उस अवस्थाका नाम लोभ है, या पराए धनको देख कर उसके लींकार करने की इच्छाको हृदयमें उत्पन्न करना लोभ है, यह लोभ मनुष्योंके शरीरमें सबसे बड़ा शत्रु है, यह सब दुःखोंकी खान और प्राणनाशक है, सब पापोंका मूल है, तीनों वर्णोंके लोक इसके कारण विरोध खड़ा कर रहे हैं, सबके दुःखोंका कारण यही सिद्ध हुआ है। लोभसे प्रेरित होकर माता, पिता, भाई, बंधु और धर्म की मर्यादा तकको नष्ट कर डालता है। गुरु, मित्र, पिता, पुत्र, भगिनी आदिको लोभसे मार कर नाश करता है, तथा वह कौनसा अपकृत्य है जिसे लोभ वश न करसकता हो।

परन्तु भगवानने इन चारोंका वर्मन कर दिया, इनको त्याग दिया, ये चारों दोष कोई साधारण दोष नहीं हैं, बल्कि ये अध्यात्म दोष हैं, इनसे अध्यात्मिकता नष्ट होती है। इनसे अनन्त ससारमें रूलना पड़ता है। भगवान् महावीर इन कषायों को नष्ट करके महापिं बने थे। तब फिर उनमेंसे स्वयं पाप या आस्रव करने का विभाव भी जाता रहा। अब ये किसी अपराधको नहीं करते, कर्म क्रीचसे सर्व्वथा अलिप्त हैं। जन्म-जरा-मरणरूपी ससारके युद्धसे मुक्त हैं। कल-हका इनके आत्मामें अत्यन्तभाव है। ये प्रभु निर्व्वैर हैं, आशय यह है कि प्रभु स्वयं पाप नहीं करते, न किसी अन्यको पाप या आस्रवका उपदेश ही करते हैं, न कराते हैं। क्योंकि पाप करना, करना कषाय और अशुभयोगसे होता है।

प्रभुमें इनका अलग-अलग भाव है। अतः प्रभुके अनुवर्तिबोध भी वह सुस्पष्ट वर्तमान है कि-वे भी क्या सोचेंगे, जैसे रहस्यवादिमें क्या है कि-

श्रेष्ठ-मान-मावा-श्रेष्ठ प्रपञ्चो ब्रह्मणे मे प्रोक्तवान् इति हि, यदि इति
इति हि तो चारों ही कथाओंका समन करो अर्थात् स्मरण करो ।”

ये चारों कथाएँ अलग-अलग होयोंकी कहानियाँ हैं, तथापि इनमें एक एक मुख्य दोष है।

जैसे—“जो कसे प्रीति का नाश होता है, मान निवमन्य बन्ध करता है, माया-रूप बरनेसे मित्रता टूट जाती है, जोम तो प्रेम निनन और मित्रता इन चीनों का ही मायक है।

इनके हृदयों के साधन-योगों के जगिरे मानके मार्गदर्शके, मन्त्रों के सरल और उदार मार्गदर्शके तथा योगों के सम्यक्से जगत् हृदयों वहाँ से संसारमें अनन्त परिष्करण करता होगा।

क्योंकि—यदि क्रोध और मानस विग्रह न मिटा हो तथा माया, और क्रोमको बहा रहा हो तब तो ये चारों ही कवय संसारके जड़के सीपकर बहा देते हैं।

क्यापके त्याग का फल—उत्तराखण्ड के १९ वें अध्याय में तीसरे प्रश्न पूछते हैं कि—नगवन् ! क्या आपको छोड़ देनेसे क्या कम उत्पन्न होता है ?

मैत्रेय ! कृपया ज्ञानसे शीतलपत्राभ्यं उत्पन्न हो जायें । शीतलपत्राभ्यं अपने
पर सुख-सुखमें समान भाव हो जाता है ।

बीतपगता का फल-

शीतलपत्र के पानोसे क्या काम होता है ? गीता । शीतलपत्रसे केह-
नबस और तुलसी का पत्र बन कर शास्त्रा है, मसोह और मसोह सप्प-सप्प-
रस-नब और सप्पसे वैराग्यपत्रा निरप होता है ।

ब्रह्मण २ कपायके जीतने का फल—भोग के विषयों क्या प्राप्त होता है ? भोगके विषयों द्वारा के पुण्यसे प्रसन्न करता है । भोगसे उत्पन्न होनेवाले कर्मोंको न बांधकर पूर्वजन्मों के विषे हुए कर्मोंका भुवन करदेता है । कान्तिसे परिबद्ध जीतनेका अव्यक्त तत्त्व सद्भिन्नुत्पन्न उत्पन्न करता है ।

हे पूज्यनीय ! मानके विजयसे क्या लाभ होता है ? मानके विजयसे निरभिमानीता या मार्दवताका अद्वितीयगुण पैदा होता है । मान-जन्य कर्मका प्रतिवध न करके पहलेके बाधे हुए कर्मकी निर्जरा करता है ॥ मार्दवतासे क्या लाभ होता है ? इससे अभिमान रहित होजाता है । वह किसी भी पदार्थमें उत्सुक नहीं होता । कठिन स्वभावको न रख कर वह फिर कोमल और मृदुताका सम्पादन करके जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ और ऐश्वर्य्य इन आठ-मर्दोंका सहार करता है जोकि आत्मशत्रु रूप है ।

मायाका विजय करनेसे जीव क्या पाता है ? इससे प्रकृति सरल हो जाती है । कपटसे भोगेजानेवाले कर्म नहीं बांधता । और पहले प्रतिवधको तोड़-देता है । निष्कपटतासे जीवको क्या प्राप्त होता है ? निष्कपटतासे काय, मन और भाषासे सरल होकर यथार्थ भाव पैदा करता है, किसीको ठगता नहीं, ऐसा जीव धर्मका सम्यक् आराधक बन जाता है ।

लोभको जीतनेसे क्या लाभ होता है ? इसे जीतनेसे सतोपरूपी अमृतको पाता है । और तज्जन्य कर्मका बध नहीं डालता । और पहले बाधे हुए कर्मको बखेर देता है । निर्लोभतासे जीवको क्या लाभ होता है ? इससे अकिंचन भाव यानी निस्पृहताका गुण मिल जाता है । क्योंकि निष्कामजीवीको धनके लोभी कभी नहीं चिपटते ।

कषाय भी एक आग है इसे बुझाओ ! जैसे कहा भी है कि- चारों ओर आग सुलग रही है, वह सबको जला रही है, किसी भी शरीर धारी प्राणीको इसने नहीं छोड़ा, सब जीव इसमें निरन्तर जल रहे हैं । हे गौतम ! आपने उसे किस प्रकार बुझाया ।

केशिन् ! महामेषसे एक उत्तम जल पैदा हुआ है, उसी पानी को लेकर अपनी देहको निरन्तर सींचता रहता हूँ जिससे वह आग मुझे नहीं जलासकता ।

गौतम ! वह कौनसा अग्नि है, ? गौतम बोले, केशिमुने ! कषाय ही सबसे भयंकर अग्नि है । उसे ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तपके जलसे सींचकर ठंडा कर दिया है । वह जल जिनवाणीरूप मेघधारा से पाया है । उसीसे उसे बुझाया है । अतः वह आग अब मुझे नहीं जला सकती ॥ २६ ॥

ગુહ્યગતી અનુવાદ—કપાલનો પહેલો મેદ, ઓળ છે આંધેમાં જીવી
 થીવ દેવ કરે છે તેથી થીજાતું અભિષ્ઠ પવ કરી વેસે છે વિષ્ણુતિ પરમ તથા
 જાણ વની જાત છે । જાનિત કરતી વજતે જોખનોજ સપસોય જાત છે કપાલનો
 થીનો મેદ માત છે । તેની માત્રાતું કમું પ્રમાણ મથી તેને જાંઘાર વન કરે છે
 તેના આંધેમાં માત્ર પોતાનીજ વજતી રહે છે । માત્ર ગમ કપડતું છે તેથી
 રમ્મ કરે છે ઘરજાતનો માત્ર જાત છે વિષ્ણુતિ કમ્મ રહેતી મથી । પરખના
 અભિષ્ઠ અભિષ્ઠા એ જોખ છે તેથી અન્યતું અભિષ્ઠ કરી વેસતું કર
 જાવતી મથી ।

કપાલ ત્રિમૂર્તિનો સ્વાસ્થ—જોખ સામિતથી થીતિ કપાલ છે અભિષ્ઠ
 વચ્ચે જોખના આંધેમાં અમ્મ વમે છે । જીવીરજ-અભિષ્ઠ-સેમજ હરખજાવજ-
 આંધે છે તેથી જોખનો સમમાવથી જાત કરતો જોદ્દ ।

મરણી મોડું જોઈ મથી એ મામ્મજા માવથી આંધે છે અમ્મ પોતાનામાં
 ન હોવ તેજા ગુનો પોતાનામાં છે એથી ગુનિ વડે જાત છે તેથી વચ્ચે રહ્યો
 માંધે છે સ્પષ્ટ જાત ન જોધી તે માત્રા છે

પુષ્કલ વન હોવા છતાં હરેક સુધે જુધી અભિષ્ઠા તાવથી તે જોખ છે
 અમ્મ પરખ જોધને તે જાંઘે કમાની હરખમાં રહ્યો સ્વપ્ન મથી તે પવ જોખ
 છે જોખ મનુષ્યનો મોડમાં મોડો જાત છે સર્વજા વિષેપતું ર જાત છે । જોખથી
 પ્રેરિત થીતે માત્ર-વિષ્ણુ-આંધે-અનુ-અને જોધની મર્વાજા પવ રહેતી મથી । ગુહ્ય-
 મિત્ર-ગુજ-અભિષ્ઠા જોધેનો જાત જોખથી કરે છે । જોખથી સર્વ પ્રકારના અનુજ
 કરે છે ।

પરમ્મ મનામ્મે આ જારે કપાલનો જાત કરી થીનો છે જા જારે થીનો
 જોઈ સાચારજ જોખ મથી તે જો અખ્યાત જોખ છે । તેથી અખ્યાતિજાતનો
 જાત જાત છે તેથી જોખ અમ્મ સંસારમાં રજાતું વમે છે અમ્મજા મરણીર પ્રમુ
 તે કપાલનો જાત કરી મહર્મિ થમા હમે તેનો પાત્ર-અમ્મ કરત મથી કરી
 મરણી તેનો અભિષ્ઠ છે અમ્મ-જાત-મરણી મુજ છે કપાલનો અમ્મજાત મથી
 મનો છે પ્રમુ મિર્દેર છે અમ્મજા એ છે કે પ્રમુ જોતે પાત્ર કરત મથી જોઈ
 થીજાતે પાત્ર જા અમ્મજાનો સપસોય પવ કરત મથી કરાવત મથી કરાવકે પાત્ર
 કરતું, કરાવતું, તે કપાલ અને અમ્મજાનો થી-જાત છે પ્રમુમાં તેનો અમ્મજા અમાત

छे, तेथी प्रभुना अनुयायिओनुं पण ए कर्तव्य छे के तेओ पण कपायने मूके, दशवैकालिकमा कह्यु छे के—“क्रोध-मान-माया-लोभ पाप वृद्धि करनार छे, जो हित चाहता हो-तो चारे कपायोनी त्याग करो!”

आ चारे कपायो अनन्तदोष वधारनार छे, तो पण तेनामा एक एक मुख्य दोष छे, जेमके—क्रोध प्रीतिनो, मान विनयनो, माया-कपट मित्रतानो अने लोभ प्रेम-व्रिनय अने मित्रतानो नाश करे छे ।

तेने दूर करवाना उपाय—क्रोधने शान्ति थी, मानने नम्रता राख-वाथी, मायाने उदार सरलताथी, अने लोभ सन्तोषथी दूर कर नहि तो ससारमा अनन्तकाल परिभ्रमण करवु पडशे ।

क्रोध-माननो निग्रह न कर्यो होय, माया अने लोभमा वृद्धि करी होय तो आ चारे कपायो तारा माटे ससार जाळनी अनन्त वृद्धि करशे ।

कपायत्यागनुं फल—उत्तराध्ययनना २९ मा अध्ययनमा गौतम-स्वामी प्रश्न पूछे छे के हे भगवन् ! कपायना त्यागथी जीव शु पामे छे ?

गौतम ! कपाय त्यागथी वीतराग भाव उत्पन्न थाय छे अने वीतराग-भावने पामेला जीव ने सुखदुःख समान वने छे ।

वीतरागतानुं फल—वीतरागपणाथी शु पामे छे ? गौतम ! निरासक्तिथी स्नेह वधन तथा तृष्णा वधनने ते जीव छेदी नाखे छे, तथा मनोज्ञ अने अमनोज्ञ शब्दरूप-रस-गन्ध-स्पर्श इत्यादि विषयोमा वैराग्य-विरक्ति-त्यागभावने पामे छे ।

अलग २ कपाय जयनुं फल—हे पूज्य ! क्रोधना विजयथी आ जीव शु पामे छे ? गौतम ! क्रोध विजयथी जीव क्षमाना गुणने प्रगटावे छे, क्रोधथी उत्पन्न यत्ता कर्मोने बाधतो नथी । अने पहेला वाच्या होय तेने खपावे छे, शान्तिथी परिपह जीतवानो अभ्यास तथा सहिष्णुता विगेरे विगेरे गुणो उत्पन्न थाय छे ।

हे पूज्य ! मानना विजयथी जीव शु पामे छे ? मानना विजयथी निरभिमानता या मृदुताना अपूर्वगुणने प्रगटावे छे, अने मानजन्य कर्मोने बाधतो नथी, अने पहेला जे वचायु छे तेनी निर्जरा करे छे,

मृदुताथी जीव शु पामे छे ? तेनाथी जीव अभिमान रहित थाय छे, अने कोमल मृदुताने प्राप्त करी जाति-कुल-बल-रूप-तप-ज्ञान-आद्य-यने मोक्षार्थ न आग प्रकारना मद रूप शत्रुनो संहार कं

માતાન્ધ મિત્રવતી બીજ છું પામે છે ! માયાના મિત્રવતી ભરતમાવણું પામે છે અને માયાની વૈદ્યક પદ્ધતિ કમળે વંધાતો નથી અને પૂર્ણ વંધાવાં હોય તો તેને દૂર કરે છે ।

નિષ્કમ્પરતાથી બીજ છું પામે છું ! નિષ્કમ્પરતાથી મન-વચન અને કાનથી સરસ્વત અને સુંદરતા પ્રાપ્ત કરે છે અને કોઈથી સાથે તે ઠગાઈ કરતો નથી સેવે જીવરમા કમીનો સમ્પન્ન આરુણક બને છે

હે પુરુષ ! જોમના મિત્રવતી બીજ છું પામે છે ! જોમન્ત્ર મિત્રવતી સન્તોષ રૂપ જન્મતને મેઢાય છે જોમ જાન્ય કમી નાંચતો નથી અને પૂર્ણ વંધાવેલ છે તેને મિત્રેરે છે ।

નિર્જીવતાથી બીજ છું પામે છે ! તેવાથી બીજ અપ્રીયથી બને છે, અને જન્યોત્પત્તિ પુસ્તોના કહો, પરપ્રીનતાઓથી નથી બાદ છે અને તદ્દુથી રાસત્વ મંડળમયોને નિર્જીવી બધે તોલે છે અને રેસને સત્ત્વ નવારી બને છે.

કપાય પવ્વ ઇંદ્ર આગ છે તેને શાન્ત કરો—કમળે-વારે તરવ્વ આવ સઠાણી રહી છે તે જવાયે એકવન વાઢી રહી છે કપીરવાયે પ્રાણને પવ તેવે જોવેલ નથી તે જમિને હે ગૌતમ ! તમે જી રીવે જુલની નાથી, !

હે કેલી ! મહા મેકમાની ડાળવ બવેલ પાણીન પ્રવાહમાંથી તે જાત્મ પાણી કહી સત્ત્વ છું તે જમિને ડાળી ગાઈ છું, અને તેથી તે ડરેલી જામિ અને જેકમાન વાઢી સઠાણી નથી ।

ગૌતમ ! ઇ જમિ કહી ! ગૌતમે બ્રહ્મવ બાવો કેલી મુને ! કમાયેલ મર્મ કર જમિ છે જ્ઞાન-વર્ણન-જાણ-તાવ સ્ત્રી જાલથી બારાઓ તીર્થકરસ્ત્રી મહાવેલથી બારેલી છે સહસ્રમની બારાઓથી હજારેલી તે કમાવો સ્ત્રી જમિ ધાવ ડી ગાય છે તેથી તે બાગ મને જેકમાન પવ જાઢી સઠાણી નથી ॥ ૧૧ ॥

મૂલ

ક્તિરિયાક્તિરિય જેનાહ્યાણુચાર્ય,

અળ્લાણિયાણં પહિયલ ઠાણ ।

સે સલ્લચાર્યં ઇતિ જેપહ્ણા,

ઠલ્લિપ્પ સંજમ કીહરાયં ॥ ૧૭ ॥

संस्कृतच्छाया

क्रियाक्रियं चैनयिकानुवादं,

अज्ञानिकानां प्रतीत्य स्थानम् ।

स सर्ववादमिति वेदयित्वा,

उपस्थितः संयमदीर्घरात्रम् ॥ २७ ॥

सं० टीका—क्रियावादिनामशीतिर्गतं भेदाः । अक्रियावादिना चतुर्शीतिभेदाः । विनयवादिना द्वात्रिंशत्, अज्ञानवादिना सप्तपञ्चीति ३६३ त्रिपष्टिशतभेदाः पापण्डिना सर्वलिङ्गिनां “पापण्डाः सर्वलिङ्गिन इत्यमरः ।” “[कुटीसकादिकाचतुर्त्तिस द्वासंष्टिदिष्टिओ इति छत्रुव्रुती एते] पापण्डा सम्पकासिता इत्यभिधानपदीपिका ।” वा मनोनीतधर्मिणां स्थान पद वा सादृश्य स्थितिमवस्थामात्मनो ज्ञात्वा, “स्थान सादृश्येऽवकाशे स्थितौ वृद्धिक्षयेतर इति भेदिनी ।” सर्वधर्माणामन्तर्भेद रहस्य ज्ञात्वेति भावः । वा स्थितिं तेषां स्थान निकटं त्यक्त्वेत्याशयः । “अवकाशे स्थितौ स्थानमित्यमरः ।” पक्षमित्यपि सम्यक् प्रतीत्य परिच्छिद्य ज्ञात्वा च स भगवान् सर्ववाद सर्वमन्तव्य कथयित्वा सर्वेषामेकान्तवादिना स्वरूपं कथन भावं च परिज्ञाय दीर्घकाल यावज्जीवपर्यन्त सयमे धर्मे सम्यगुपस्थित स्थितवान् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह भगवान् महावीर [किरियाकिरिय] क्रियावाद और अक्रियावादके तथा [वेणइमाणवाय] विनयवादी और [अण्णाणि-याण] अज्ञानवादियोंके [ठाण] पक्षको [पडियच्च] जानकर तथा [सव्ववाय] और सब वादोंके-पक्षको (इति) सम्यक् प्रकारसे (वेयंइत्ता) समझाकर [संजमदीहराय] यावज्जीव सयममें [उवठिए] उपस्थित रहे ॥ २७ ॥

भावार्थ—संसारमें अनेक मतोंका प्रचार है, कोई क्रियासे मोक्ष मानता है, कोई अक्रिया वादी है वे मात्र ज्ञानसे मुक्ति होना मानते हैं, कोई विनय करनेमें मोक्ष मानते हैं और कोई अज्ञानसे । और भी इनके अनेक सिद्धान्त हैं,

तत्र तत्रको प्रभु जच्छे प्रच्छरसे जानकर तथा औरोंको इसका तन्त्र समझा कर संकर्ममें तत्पर होमने से अर्थात् वैसा उपदेश करते से वैसा आचरणमें भी करते से ॥ १७ ॥

भाषाटीका—किष्कावारीको १८ मत्, अकिष्कावारीको ८४ मत् विनवारीको १२ मत् और अज्ञानवारीको ६७ इस प्रकार पार्श्विकोंके १६१ मेह सर्ववर्मीकिष्कावारीको होते हैं । वीरोंने ९६ पार्श्व माने हैं । यमो-
वीर बर्मेष्ट नाम पापघ्न है । या सर्ववर्मीका नाम पार्श्व है । प्रभुने उनकी तुलना साक्षात्से कर दिखाई । जिस अग्नि परीक्षामें कोई पार्श्व न छूट सका । परन्तु प्रभुने इसके सर्ववर्मी समझाए रखवा बताया । हममें तुल्यसुखविनाय करके असक्य का स्मरण सर्वविध था । इस प्रकार असमय परसमय का मन्त्रम्य समझकर यावज्जीवतक संकर्मवर्मी एकरस होकर तत्पर (स्विर) रहें से ॥ १७ ॥

शुद्धपटी अनुवाद—किष्कावारीका १८ मत् अकिष्कावारीका ८४ विनवारीका १२ ज्ञे अज्ञानवारीका ६७ ए सर्व १६१ पार्श्विकोंका मेह पापघ्न बोझोए ९६ मेह माया है यमोवीर बर्मी पाछाई कहेंचम से तेनी तुलना साक्षात्की करी बताया से अग्निपरीक्षामें कोई पाछाई नहीं न सक्यो । प्रभुए सर्व वर्म समझाए एककालु पन बल्यम्, तेनी पोतेवाबोलेपुर्त अन्वर्तु पन बल्योने असक्यो ज्ञान सर्व विध मायो । आरीसे असमय पर-समय मन्त्रम्य समझीने उत्तम बलविष संयममां (यम्यं) यावज्जीव सुखी सावधान पये उमा ॥ १७ ॥

मूल

से वारिया इत्थी सराहमर्थ,
उबहाणर्थ तुल्यसलपट्टयाए ।
लोग विदित्ता आरं परं च,
सद्यं प्पमू वारिय सबबारं ॥ १८ ॥

संस्कृतच्छाया

स वाचयित्वा स्त्रिय सपत्निमर्कं उपपानयाद् दुःखसपार्थम् ।
लोकं विदित्वाऽऽरं पारं च सर्वं प्रमुखांरितवान् सज्जनारम् ॥ १८ ॥

सं० टीका—स वीरभगवान् स्त्रियं स्त्रीसम्पर्कं सम्भोगं च मैथुनं स्त्रीवेदपुरुषवेदोदयं, रात्रिभोजनसहितं निरन्तरं वारयित्वा परित्यज्य, उपलक्षणादन्यान्यपि प्राणातिपातादीनि ग्राह्याणि । परन्तु रात्रिभोजने तु सुतरां त्रसानामपि हिंसाऽनिवार्यसयोगेन भवत्येवेत्यनेन रात्रिभोजनं त्याज्यमेवेति भावः । यथाह—

पुरुषार्थसिद्ध्युपाये—

“रात्रौ भुजानाना यस्मादनिवारिता भवति हिंसा,
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिमुक्तिरपि” ॥ १२९ ॥

“रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा ।
रात्रिदिवमाहरत कथं हि हिंसा न सम्भवति” ॥ १३० ॥

“यद्येव तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः ।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्यं नित्यं भवति हिंसा” ॥ १३१ ॥

नैव वासरभुक्तेर्भवति हि रागाधिको रजनिमुक्तौ ।
अन्नकवलस्यभुक्तेर्मुक्ताविव मासकवलस्य ॥ १३२ ॥

अकाले भुञ्जानं परिहरेत् कथं हिंसाम् ।
अपि बोधितं प्रदीपो भोज्यजुषा सूक्ष्मजीवानाम् ॥ १३३ ॥

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः ।
परिहरति रात्रिमुक्तिं सततमहिंसा स पालयति ॥ १३४ ॥

अहिंसाणुव्रतपालको नरो रात्रिभोजनं वर्जयतीति दर्शय-
न्नाह; सागारधर्माभृते—

अहिंसात्रतरधार्थं, मूलव्रतविशुद्धये ।

नक्तं मुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्तिष्ठा त्यजेत् ॥ २४ ॥

अश्वेदरादिकृष्णकायकममेव्यञ्जनुकम् ।

प्रेतापुच्छिष्टमुत्सृज्यमप्यभलिद्वयो मुत्सी ॥ २५ ॥

अथवा घनमासाष्टान्तेन रात्रिमोजनदोषस्य पार्श्वं
दर्शयति—

“त्वां यद्युपैमि न पुन मुनिवेश्य राम, स्मिन्ने वषादिकृष्णधैर्यदिति
श्रितोऽपि । सौमित्रिरन्यथापचान्वनमास्त्र्यैक, दोषाद्विदोषपञ्चन किञ्च
कारितोऽस्मिन्” ॥ २६ ॥

लौकिकसंवाददर्शनेनावि रात्रिमोजनप्रतिषेधमाह ।

यत्र सत्यात्रदानादिकिञ्चित्सत्कर्म नेष्यते ।

कोऽप्यात्रात्मयमये, स्वहितैषी दिनात्समे ॥ २७ ॥

मुञ्जतेऽन्ध सकृद्व्यां द्विर्मप्या पशुवसरे ।

राम्यहस्ताद्वसगुणान्, ब्रह्मोपाजावगामुका ॥ २८ ॥

याऽपि स्वयन् दिनाघन्तमुहूर्त्तं रात्रिबत्सदा ।

स वप्येतोपवासेन स्वप्नन्मार्द्धं नयन् किमिव ॥ २९ ॥

तथा च—आवकस्तैकावस्यमतिमासु वट्यां प्रतिमार्ता आवको
रात्रिमुक्तिस्वागी भवति । अथाह—

समन्तमहस्यामी आवकापारे—

जस्र पान खाद्य लेख, नाशानि यो विमावर्ध्याम् ।

स च रात्रिमुक्तिविरत, सत्त्वेष्वनुकम्पमानमग्न ॥ १४२ ॥

पुनश्च—गुनिस्तु महाश्व समेत्य रात्रिमोजनात्सर्वथा विरमति
अथाह दक्षत्रैकालिके—तस्य पष्ठमत कृतम्—

अदावरे छठे भते ! यत्र रात्रिमोजनायो वेरमण, सद्य भते । रात्रि
भोजनं पचन्मामि, से जसण वा, पण्य वा साइम वा साइम वा,

नेव सयं राइ भुजेज्जा नेवऽनेहिं राइं भुंजाविज्जा राइ भुजतेऽवि अन्नेन
समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेण वायाए काएणं
न करेमि न कारवेमि करंतपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भते !
पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । छेहे भते ! वए
उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं ।

“अहावरे” इत्यादि । अथापरस्मिन् षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोज-
नाद्विरमण, सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजन प्रत्याख्यामीति पूर्ववत् । तद्यथा-
अशनं, वा पानं वा स्वाद्यं वा स्वाद्यं वेति, ‘अश्यत इत्यशनम्,’—ओदनादि,
‘पीयत इति पानं’—मृद्वीकापानादि, ‘स्वाद्यत इति स्वाद्यं’ खर्जूरादि,
‘स्वाद्यत इति स्वाद्यं’ ताम्बूलादि, ‘नैव स्वयं रात्रौ भुंजे, नैवान्यै रात्रौ
भोजयामि, रात्रौ भुजानानप्यन्यान्नैव समनुजानामि; इत्येतद्यावज्जीवमि-
त्यादि च भावार्थमधिकृतपूर्वविधम् । विशेषस्त्वयम्—रात्रिभोजनं चतु-
र्विधम् । तद्यथा द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । द्रव्यतस्त्वग्नादौ,
क्षेत्रतोऽर्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु, कालतो रात्र्यादौ, भावतो रागद्वेषाभ्या-
मिति । स्वरूपतोऽप्यस्य चातुर्विध्यम्, तद्यथा—रात्रौ गृह्णाति रात्रौ भुक्ते,
१ रात्रौ गृह्णाति दिवा भुक्ते २, दिवा गृह्णाति रात्रौ भुक्ते ३, दिवा
गृह्णाति दिवा भुक्ते ॥ ४ ॥ सनिधिपरिभोगे द्रव्यादिचतुर्भङ्गी पुनरि-
यम्—द्रव्यतो नामैको रात्रौ भुक्ते नो भावतः १, भावतो नामैको नो
द्रव्यतः २, एको द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि ३, एको नो द्रव्यतो नो
भावतः ॥ ४ ॥ तत्रानुद्गते सूर्ये उद्गत इत्यस्तमिते वाऽनस्तमिते
इत्यरक्तद्विष्टस्य कारणतो वा रात्रौ भुजानस्य द्रव्यतो रात्रिभोजनं
नो भावतः । रात्रौ भुञ्ज इति मूर्च्छितस्य तदसम्पत्तौ भावतो नो
द्रव्यतः । एवमेव सम्पत्तौ द्रव्यतोऽपि, भावतोऽपि चतुर्थो भग. पुन.

धन्यः । एतच्च रात्रिमोजनं प्रथमभरमतीर्थकरतीर्थयोः—मस्तु बहवः
बहूपुरुषापेक्षया मूळगुणत्वस्यापन्त्यै महाभूतोपरि पठित मध्यमतीर्थ-
करतीर्थेषु पुनः भजुपञ्चपुरुषापेक्षयोः गुणवर्ग इति ॥

तथा च योगध्यानेऽपि—

अथ प्रेतपिशाचाद्यैः, संहरन्निर्निरुद्धैः ।

उच्छिद्य चिन्तते यत्र, तत्र नाद्यादिनास्पद्ये ॥

तथा—

बोराब्धकररुद्धास्तैः, पठन्तो यत्र अन्तवः ।

नैव मोक्षये निरीक्ष्यन्ते, तत्र मुह्यीत को निधिः ?

रात्रिमोजने दृष्टान् बोधानाह—

“मेधां पिपीक्षिका इन्ति, यूष्णं कुर्म्यञ्जसेदरम् ।

कुर्वते मक्षिका वान्ति, कुष्ठरोगं च कोलिका ॥”

“कण्टको वास्तव्यश्च, मित्योति गहन्यवासम् ।

व्यञ्जनान्तर्विपतिस्तथाह विध्यति शुद्धिकाः ॥”

“विक्रमश्च गले बाधः, स्वरमग्राज आसते ।

इत्यादयो दृष्टबोधाः, सर्वेषां निधिः भावने ॥”

यदाहुः—

“मेहं पिपीक्षिमात्रो, हजति वमणं च मक्षिकया कुम्भम्, जूषा-

* मेधां पिपीक्षिका इन्ति वमनं च मक्षिका करोति

यूष्णं बज्जोदरार्त्तं कोलिका कुष्ठरोगं च ।

बाधः स्वरस्य भोगं कण्टको व्यनक्ति गले बाधं च

प्राकृति विध्यति अक्षिर्व्यञ्जनमध्ये मुञ्चयन्ना ।

वीर्याभां कुम्भ्यादीनां, बाधार्त्तं व्याजनवाक्यादिभ्यः ।

इत्यादिरवधौ भोजनदोषाह, चः कर्मणि च भवेति ॥

जलोयरत्तं, कोलियओ कोढरोगं च ॥ वालो सरस्स भगं, कंटो लग्गइ
गलम्मि दारु च । तालुम्मि विंघइ अली, वंजणमज्झम्मि मुजतो ॥
जीवाण कुथामाईण घायणं भायणघोयणाईसु । एमाइरयणिभोयणटोसे,
को साहिऊ तरइ ?

नाप्रेक्ष्यसूक्ष्मजन्तून्, निश्यद्यात्प्राशुकान्यपि,
अप्युद्यत्केवलज्ञानैर्नाहत यन्निशासनम् ॥

*जइवि हु फासुगदव्वं कुथूपणगावि तहवि दुप्पस्सा,
पच्चक्खनाणिणो वि, हु राइमत्त परिहरंति ।
जइवि हु पिवीलगाई, दीसंति पइवमाईउज्जोए,
तहवि खल्ल अण्णाइन्नं, मूलवयविराहणा जेण ॥

लौकिकसंवाद्दर्शनेनापि रात्रि-भोजनं प्रतिषेधति यथा—

“धर्मविनैव भुंजीत, कदाचन दिनात्यये,
वाह्या अपि निशाभोज्यं यदभोज्य प्रचक्षते ।”

तच्छास्त्रमेव कथयति—

“त्रयीतेजोमयोभानुरिति वेदविदो विदुः ।
तत्करै पूतमखिल, शुभं कर्म समाचरेत् ॥”

पुनश्चैतदेवाह—

“नैवाहुतिर्न च स्नान, न श्राद्धं देवतार्चनम् ।
दानं वा विहित रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः ॥”

* यद्यपि खल्ल प्राशुकद्रव्यं, कुन्थुपनका अपि तथापि दुष्प्रेक्ष्याः ।
प्रत्यक्षज्ञानिनोऽपि खल्ल रात्रिमक्त परिहरन्ति ॥
यद्यपि खल्ल पिपीलिकादयो दृश्यन्ते प्रदीपाद्युद्योते ।
तथापि रात्रिनाचीर्णं, मूलव्रतविराधना येन ॥

पुनश्च—“दिनसस्त्राष्टमे मागे, मन्वीभूते दिवाकरे ।
 नक्तं तु तद्विजानीयान्न नक्तं निश्चि मोक्षमम् ॥”
 “देवैस्तु शुक्ल पूर्वान्दे, मध्यान्दे अपविमिस्तथा ।
 अपराण्दे च पितृभि, सायान्दे दैत्यपान्दै ॥”
 “धन्व्यामां यक्षरक्षोभि, सदा शुक्ल कुत्सेदह ।
 सर्वविजं व्यतिक्रम्य, रात्रौ शुक्लममोञ्जनम् ॥”

आयुर्वेदेऽप्युक्तम्—

हृन्नामिषसंकोचश्चन्द्रोचिरपायत ।
 अतो नक्तं न भोक्तव्य, सूक्ष्मजीवावनादपि ॥”

परपक्षसंवादमभिधाय स्वपक्षं समर्थयते—

“संसज्जीवसंपातं, मुञ्जाना निश्चि मोक्षनम् ।
 राक्षसेभ्यो विशिष्यन्ते, मूढात्मना कथं नु ते ॥”

एतदेवाह—

“वासरे च रजन्यां च, यः सायणेन तिष्ठति ।
 दूरापुच्छपरिमृष्टः, स्पष्टं स पतुरेव हि ॥”

रात्रिमोञ्जनविरतानां सविज्ञेयपुष्पवत्त्वं दर्शयति—

“मन्दो मुखेऽवसाने च, यो द्वे द्वे पटिके स्पन्दन् ।
 निशामोक्षमत्रोपशोऽन्नात्यसी पुष्पमाञ्जनम् ॥”

ननु यो दिवैव भुंक्ते तस्य रात्रिमोञ्जनप्रत्याख्याने फलं
 नास्ति ! फलविज्ञेयो वा कश्चिदुच्यतामित्याह—

भङ्गश्च नियम द्योपामोञ्जनादिनमोग्यपि ।
 फलं पत्येन्न निर्व्याजं, न हृदिर्भविषि विन्य ॥”

पूर्वोक्तस्य विपर्ययमाह—

“ये वासरं परित्यज्य, रजन्यामेव भुञ्जते ।

ते परित्यज्य माणिक्यं, काचमाददते जडाः ॥”

ननु यदि नियमः सर्वत्र फलवान् ततो यस्य “रात्रावेव मया भोक्तव्यं न दिवसे” इति नियमस्तस्य का गति? रित्याह

“वासरे सति ये श्रेयस्काम्यया निशि भुञ्जते ।

ते वपन्त्यूपरक्षेत्रे, शालीन् सत्यपि पल्वले ॥”

रात्रिभोजनस्य दुर्विपाकफलमाह—

“उल्लूककाकमार्जारगृध्रशम्बरशूकरा ।

अहिवृश्चिकगोघाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥”

वनमालोदाहरणेनायमपि रात्रिभोजनदोषस्य त्यागमहत्तां दर्शयति यथा—

“श्रूयते ह्यन्यशपथाननादृत्यैव लक्ष्मण ।

निशाभोजनशपथ, कारितो वनमालया ॥”

शास्त्रं निदर्शनं च विना सकलजनानुभवसिद्धं—रात्रिभोजनत्यागफलमाह—

“करोति विरतिं धन्यो, य सदा निशि भोजनात् ।

सोऽर्द्धं पुरुषायुषस्य, स्यादवश्यमुपोषितः ॥”

तदेवं रात्रिभोजनस्य भूयांसो दोषास्तत्परिवर्जने तु ये गुणास्तान् वक्तुमस्माकमशक्तिरेवेत्याह—

“रजनीभोजनत्यागे, ये गुणाः परितोऽपि तान् ।

न सर्वज्ञादते कश्चिदपरो वक्तुमीश्वरः ॥ ७० ॥

अमितगतिभावकाकारेऽपि रात्रिमोक्षणस्य निषेधा कृतः ।

यत्र राक्षसपिशाचसंचरो, यत्र यन्तुनिबहो न हस्यते ।

यत्र मुक्तमपि वस्तु भक्ष्यते, यत्र धीरस्तिमिरं विभृम्यते ॥

यत्र नास्ति यतिर्बासजगो, यत्र नास्ति गुरुभ्यर्चनम् ।

यत्र संयमविनाशि मोक्षण, यत्र संस्रवति धीरगम्यणम् ॥

यत्र सर्वशुभकर्मवर्जम्, यत्र नास्ति गमनागमक्रिया;

तत्र शोपनिशमे दिनास्वये, धर्मध्यानकुशलं न भुञ्जते ॥

भुञ्जते निशि बुरासयाय के, गृद्धिदोषबलवर्तिनो जना ।

भूतराक्षसपिशाचशक्तिनी, संगतिः कबमभीमिरस्य च ॥

वस्म्यते दिननिशीयमो सदा, यो निरक्षयमसंयमक्रिय ।

शृगपुच्छशफसंगवर्जितो, यम्यते पशुरय मनीषिभिः ॥

भामनन्ति दिवसेषु मोक्षण, यामिनीषु क्षम्य मनीषिभिः ।

शानिनामवसरेषु वस्म्यन्, शान्तये गुरुषु सेवनं कृतम् ॥

भुञ्जते गुणवतैकदा सदा, मध्यमेन दिवसे ब्रिहज्जले;

येन रात्रिदिनयोरनारतं, भुञ्जते स कश्चितो मराधनम् ॥

ये त्रिवर्ण्यं वदनामसामयोर्वासरस्य पटिकस्तस्य सदा ।

भुञ्जते त्रितहपीकवाजिनस्ते भवति मवमारवर्जिता ॥

ये ध्यवस्थितगह सुसर्वा, क्षर्यरीषु रचयन्ति मोक्षणम् ।

निम्नगामिसन्निभ मिर्गसक्षे मयन्ति शिखरेषु सास्तिनम् ॥

सूचयन्ति सुमदायि पेंडगिनां, रात्रिमोक्षणमपास्तचेतना ।

पावकोद्धतशिखाकरास्ति, ते वदन्ति फलदायिकामनम् ॥

ये हवन्ति दिनरात्रिमोग्योस्तुस्यतां रचितपुण्यपापयो ।

ते मकाशतमसोः समानतां, दर्शयन्ति सुमदुष्कारिमो ॥

रात्रिभोजनमधिश्रयन्ति ये, धर्मबुद्धिमधिकृत्य दुर्धियः ।
 ते क्षिपन्ति पविवन्हिमण्डल, वृक्षपद्धतिविवृद्धये ध्रुवम् ॥
 ये विधृत्य सकल दिन क्षुधा, भुजते सुकृतकाक्षया निशि ।
 ते विवृध्य फलशालिनीं लता, भस्मयन्ति फलकाक्षया पुनः ॥
 ये सदापि घटिकाद्वय त्रिधा, कुर्वते दिनमुखान्तयोर्वुधाः ।
 भोजनस्य नियमो विधीयते, मासि तै स्फुटमुपोषितद्वयम् ॥
 रोगशोककलिराटिकारिणी, राक्षसीव भयदायिनी प्रिया ।
 कन्यका दुरितपाकसभवा, रोगिता इव निरन्तरापदा ॥
 देहजा व्यसनकर्मपडिता, पन्नगा इव वितीर्णमीतयः ।
 निर्धनत्वमनपायि सर्वदा, पात्रदानमिव दत्तवृद्धिकम् ॥
 सकटं सतिमिरं कुटीरकं, नीचवित्तमिव रंध्यसकुलम् ।
 नीचजातिकुलकर्मसंगम शीलशौचशमधर्मनिर्गम ॥
 व्याधयो विविधदु खदायिनो, दुर्जना इव परापकारिणः ।
 सर्वदोषगणपीड्यमानता, रात्रिभोजनपरस्य जायते ॥
 पद्मपत्रनयनाः प्रियवदाः, श्रीसमा प्रियतमा मनोरमा ।
 सुन्दरा दुहितर कलालया, पुण्यपक्तय इवात्तविग्रहा ॥
 अंशितव्यसनवृत्तयोऽमला, पावना हिमकरा इवागजा ।
 शक्रमन्दिरमिवास्ततामस, मन्दिरं प्रचुररत्नराजितम् ॥
 लब्धचिन्तितपदार्थमुज्ज्वल, मूरिपुण्यमिव वैभव स्थिरम् ।
 सर्वरोगगणमुक्तदेहता, सर्वशर्मनिवहाधिवासिता ॥
 ज्ञानदर्शनचरित्रभूतयः, सर्वयाचितविधानपण्डिता ।
 सर्वलोकपतिपूजनीयता, रात्रिमुक्तिविम्वस्वस्य जायते ॥

शूकरी छवरी बानरी पीवरी, रोहिणी मङ्गली छोकिनी छेष्टिनी
 दुर्मगा निस्तुता निर्धवा निर्धना, धर्बरीमोहिनी आयते मामिनी ॥
 बान्धवैरन्धिता वेदवैरन्धिता, भूपवैरुपिता व्याभिर्बिम्बिता ।
 श्रीमती श्रीमती श्रीमती धर्मिणी, वासरे जायते मुक्तिरधर्मणी ॥
 रात्रिमोहनविमोचिनो गुणा, ये भवन्ति मङ्गमाग्निना परे ।
 तानपास्य जिनन्धवमीक्षते, बभ्रुमत्र न परे अगम्ये ॥

इत्यनेकशतसम्पत्तरात्रिमोहन परिहेयमिति भावः । उपधानं तपः,
 प्रजय च प्रकर्षेण नयं न्याय्य “उपधानं विषे गण्डौ प्रजयेऽपि मनुष्य-
 कर्ममिति मेदिनी” । तद्विषयेऽस्मात्प्रपञ्चनवान्, उपोनिषत्तद्देशे मन्त्र-
 वानपि, दुःखस्यार्थं दुःखमजायमानार्थमारं प्रान्तभाग, पारं परं लोक
 “पारं परतटे प्रान्ते इति मेदिनी” । “पारं मुचि इत्यभिधानप्यदीपिका
 बौद्धकोषः” । ऐन्द्रलोक पारलोक, अथवाऽऽरं मनुष्यलोक पारं दूर-
 वसिं तीरं ‘पारं परसि तीरसि’ इति अभिधानप्य०” । अथवा नर-
 कादिक स्वरूपतत्त्वापणहेतु तत्तत्तत् ज्ञात्वा सर्वमिव सत्, मनुर्मगत्वान्
 सर्ववारं बहुस्रो निवारितवान् त्यक्तवान् एतच्छुक्तं कवित्वा प्राप्तिपा-
 लादिक निषेधादिक स्वतोऽनुष्ठाय परांश-स्थापितवान् नहि स्वतोऽ-
 स्त्वित परांश-स्थापयितुमसमित्यर्थं स्वयमधर्मे स्त्वित पराजनान्धर्मे
 स्थापयितुमसमर्थः । स्तुतिस्तोत्रमिति । “तुवागोऽपि न्यायं स्वयमेव
 विरुद्धं व्यवहरन्, परं नाहं कश्चिद्व्ययितुमवान्तं स्वयमिति । मया
 विधित्यैवं मन्त्रसि अगदाधाय सकलं, स्वमात्मानं तावद्व्ययितुमवान्तं
 व्यवसित ॥ २८ ॥

अन्वयाद्यर्थः—[ये] वस [तपहावर्ष] तपस्वी [प्रभु] भगवन् महा-
 धीरवे [दुःखजनकवद्वारा] आठ प्रकारके कर्मकारी हुएकोंको दूर करकेकेलिए

[सराइभक्त] रात्रि भोजन सहित [इत्थी] स्त्री-सभोगादि पापोंको [वारिया] छोड़कर [सव्व] तथा समस्त [आर] इस [लोग] लोकको (च) और [परं] परलोकको [विदिता] जानकर [सव्ववारं] अधिकाधिक प्रमाणमे समस्त परभावका [वारिया] निवारण किया ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो वक्ता जिस प्रवृत्तिका उपदेश करता है वह वैसा ही वर्तन भी करता है, तब ही उसके उपदेशका प्रभाव पड़ता है। महावीरप्रभुने मोक्ष-पानेका जो उपदेश किया उसमें वे स्वयं भी सलग्न रहे हैं। इसीसे कहा गया है कि-भगवान्ने आठ कर्मरूपी दु खोंका नाश करनेके लिए स्त्री-ससर्ग तथा रात्रिभोजन और १८ पापोंका स्वयं त्याग किया था। इसके अतिरिक्त घोर तप करते हुए इसलोक-परलोक अथवा मनुष्यलोक नरकलोकादिका रहस्य जानकर उन सबका त्याग किया ॥ २८ ॥

भाषा-टीका—भगवान् स्त्रीससर्ग और स्त्रीके पडौसमें रहने तकके कष्टर त्यागी थे। उन्होंने ब्रह्मचर्य्य पालन करनेके लिए नव वाड विशुद्ध शील पालन करना बताया है। यहा तक तो कहा है कि-जिस स्थान पर स्त्री बैठकर गई है, ब्रह्मचारी उस स्थान पर एक घटा तक बिल्कुल न बैठे। क्योंकि उसके अशुद्ध और गर्म परमाणुओंका प्रभाव सुशीलके लिए हानिकर है। यही ब्रह्म-चारिणीके लिए भी समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त आप रात्रिभोजनके भी प्रत्यक्ष विरोधमें थे, क्योंकि रात्रिमें भोजन करनेसे त्रस जीवोंकी हिंसाका होना अनिवार्य सयोग है। इसी कारणसे रात्रिभोजन करना मना किया है।

रात्रिभोजन इस लिए वर्जित है कि रात्रिमें भोजन करनेवालोंके लिए हिंसाका निवारण करना अशक्य है। अतः हिंसाका त्यागी रातमें भोजन न करे। मगर जो जीव तीव्र राग भाव रखते हैं उनसे इसका त्याग नहीं हो सकता। क्योंकि जिसे भोजनसे अत्यधिक अनुराग होगा वह ही प्राणी रात दिन खाता पीता रहेगा। और जहा राग बन्धन होता है वहा प्रमत्तयोग व्यापार अवश्य रहता है। और प्रमत्त प्राणी हिंसा अवश्य करेगा।

बहुतसे यह भी कहते हैं कि यदि सदाकाल भोजन करनेमें हिंसा होती है तो दिनमें भोजन न करके रातको ही खाना चाहिए? क्योंकि इस प्रकार करनेसे सदैव तो हिंसा न होगी। मगर यह बात नहीं है, यद्यपि उदरके

मरने की अपेक्षा सब प्रकारके भोजन समान हैं । परंतु अच्छे भोजनमें जितना साधारण राग मात्र है, उतना भाँस भोजनमें नहीं । भाँस भोजन में विशेष राग मात्र है । जितना भाँस खावेवाली मायको चार मिट्टने पर खड़े समान सामान्य रागमान है, उतना सोडा रागमान खुँड़े मारवेवाली विट्ठीको नहीं । विट्ठीको भाँस भोजनमें विशेष रागमान है । क्योंकि अच्छा भोजन वह जहाँ भिन्न जाता है और मांसका भोजन अतिरिक्त सामाजिककी अपेक्षा अच्छा करीररिक्तके मोहकी अपेक्षा विशेष प्रवृत्तिसे तैयार किया जाता है । इसी तरह भिन्न भोजन सब मनुष्योंको सहज ही प्राप्त हो जाता है । इसीलिए उसमें साधारण रागमान पना जाता है परन्तु एभि भोजनमें तो करीररिक्त व सामाजिक पोषण करनेकी अपेक्षा विशेष रागमान होता है । अत एव एभि भोजन सबका स्वाद ही है ।

इसके अतिरिक्त शीपके प्रकाशमें बारीक जीव जहाँसे ठीक १ नहीं शीकते तथा एभिमें शीपके प्रकाशसे बना प्रकाशके ऐसे छोटे बड़े जीव बूमने लग जाते हैं, जो बिजमें कभी बिजकाई नहीं पकते । अत एव एभि भोजनमें तो प्रकाश ही है, और एभिमें भोजन करनेवाला हीचसे कभी बच नहीं सकता । अत बिज महाभाग्यवादीने एभिमें आहार करना सबका छोड़ दिया है वही सच्चा अहिंसक है । एभि भोजनके छोटे बिज अहिंसककी सिद्धि नहीं हो सकती । अत एव कोई १ आचार्य इसे अनुमतमें भी मर्मित करते हैं ।

साधारणमांसमें कहा है कि-अहिंसकत्वका साधक एभि भोजनका साध व्यवस्था करता है । क्योंकि मूल मत की दृष्टि के लिए तथा अहिंसकत्वकी रक्षाके निमित्त एत में चार प्रकार का आहारकरना जीवनोपयोगी कभी औरोंके लिए धर्मित है ।

पुण्ये विचारके मनुष्योंका यह भी मत है कि एत होनेपर मृत प्रेत आकर आहारको ग्रहण करकेते हैं । और बहुतसे जीव ऐसे भी हैं जिनको एभिमें बैसावा क्रिय है । यदि नूँ जाति जीव भोजन में खाया जाय तो जको-वर जैसे एतोगोत्र हो जाया कुछ अवश्य नहीं । अत एभि भोजनका लागी ही उपयोग आपत्तिवर्धित दुष्प्रयोगकर इतिहास विषयके बालसे दूर सकता है ।

बनमाछाने एभिभोजनके शोष की आपदा दिखलाई भी ।

जैन रामायणमें कहा है कि-रामजी लक्ष्मण और सीताके साथ दक्षिणा-
पथमें घूमते २ कूर्चनगरमें आ निकले । वहां महीधरराजाने अपनी वनमाला
नामक पुत्रीका विवाह लक्ष्मणसे करदिया । कुछदिन रहकर वहाँसे जब तीनों
विदा होनेलगे तब वनमाला भी लक्ष्मणके साथ चलनेलगी । परन्तु लक्ष्मणने उसे
साथमें न चलनेकी सम्मति दी । यह सुन स्वामीके विरहमें कातरभाव होकर
बोली कि नाथ ! आप मुझे वापस कबतक आकर ले जाओगे ? यह विश्वास
न होनेसे साथ ही रहूंगी । लक्ष्मणने उसे विश्वास दिलानेके लिए प्राणातिपात
जैसे अनेक पापकी कड़ी शपथ ली । तब उसने उन शपथोंपर असन्तोष प्रकट
किया और रात्रिभोजनके पापकी शपथ दिलाई । लक्ष्मण वह शपथ लेकर रामके
साथमें जासिला । उस समय रात्रि भोजनका पाप चार प्रकारकी हत्याओंसे
भी अधिक समझा जाता था ।

किसीने कहा है कि—सुपात्र पुरुष दिनमें आते हैं वे रातको नहीं
आ पाते, अत दिन अस्त होनेपर उनकी आहार देनेसे वंचित रह जाता है ।
अत दानी और कल्याणकी कामना रखनेवालापुरुष रातमें भोजन करना त्याग
देता है ।

पुरुषोंके तीन प्रकार—उत्तम पुरुष मध्यान्ह समय भोजन करते
हैं, मध्यम पुरुष दोवार खाते हैं, परन्तु जो सर्वज्ञके कहे हुए धर्मसे अनभिज्ञ
हैं, वे पशुकी तरह दिनरात चरते रहते हैं ।

दो घड़ी दिन चढ़नेतक रात्रि निकट रहती है, दो घड़ी दिन बाकी
रहने पर रात्रि समीप में आ जाती है, अत सवेरे का दुधडिया घर्मारधन
और स्वाध्यायके लिए है । तथा साक्षके दुधडियेमें प्रतिक्रमणका आरंभ
होजाता है । अत उन दो दो घड़ियोंको छोड़ कर जो आहार करते हैं वे
प्रशसनीय पुरुष हैं । क्योंकि उनका आधा जन्म-समय तो उपवास करने में
ही व्यतीत हो गया है ।

श्रावककी ११ प्रतिज्ञा (प्रतिमा) ओमें छठवीं प्रतिज्ञा रात्रिभोजनके
छोड़ने की होती है, जिसमें अन्न, पानी, खानेकी वस्तु मिथई आदि, और
पान सुपारी आदि खादकी वस्तुएँ तथा चाटनेकी वस्तुएँ आदि जो रातमें
नहीं भोगता वह सब प्रसङ्गणी जीवोंकी अस्वच्छता को उत्पन्न करता है ।

छठा व्रत मुनिओंका रात्रि भोजन त्याग है—मुनिवर्ग तो महाश्रुतोंके केकर रात्रिभोजनसे सर्वथा निरक्त हो जाया है । इसवैयर्थिक्यमें इसका छठवां व्रत इस प्रकार किया गया है । और वह इसके सम्मुख बौ प्रतिष्ठा देता है कि—

मगध ! मैं रात्रिभोजन करनेका त्याग करता हूँ । और अथ प्राणी स्थाय साधवि परार्थोंका रात्रि के समय न भोजन करना न करना न करने कोभी अनुमोदन भी करूँगा । सारी जमरमरकेलिए तीनकरम और तीन बोपोंसे अर्थात् मन-बचन-कर्मोंसे रातमें व्याहार न करना न कराना, तथा अनुमोदन भी न करूँगा । हे मगध ! उस रात्रिभोजनके पापकर्म इन्होंने मैं पीछे हटाया है, उसका प्रतिष्थान करता हूँ, अपने आत्माकी छाँटसे उसे नियम समझता हूँ, शुद्धी साधने उसको इवित समझता हूँ, और आत्मासे उस पाप का त्याग करता हूँ ।

अर्द्धरात्रि महाश्रुतोंकी रक्षाकेलिए रात्रिभोजनका त्याग किया गया है—और वह भी इस व्रतके अन्तिम आश तक छोड़ा गया है ।

इसे महाश्रुत न कह कर व्रत इसलिए कहा है कि—महाश्रुतोंकी तरह इसका पालन करना अधिक कठिन नहीं है । इसीकारणसे इसे नृवृत्तमें प रण कर वृत्तवृत्तमें रचविना है ।

और इसे महाश्रुतोंके पीछे इस लिए पड़ा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके समय मनुष्य समुदायका सामान महत्त्व और वक्तव्य होता है । और मध्यके तीर्थंकरोंके समयके मनुष्योंकी बुद्धि महत्त्व होनेसे इसका पाठ सुगमता समझनेके लिए महाश्रुतोंके पीछे जोड़ा गया है । इससे वह भी सिद्ध है कि महाश्रुतोंकी भाँति ही इस व्रतका पालन भी किया जाना करे । इन्द्र-क्षेत्र-फल-भारकी तथा विजयामिन्नकी दृष्टिसे इसके अनेक प्रकार हैं जैसे—रम्भसे अथवा वि क्षेत्रसे जगदी हीपमें आकर रातके समय और मगधे देपद्विष्ट होकर इसका पालन करना आवश्यक है ।

इसके अतिरिक्त और प्रकार भी पाए जाते हैं । जैसे कि—महाश्रुति रातमें ग्रहण करना और रातमें बाल्य रातमें ग्रहण करना और दिनमें बाल्य दिनमें ग्रहण करना और रातमें बाल्य दिनमें ग्रहण करना और दिनमें बाल्य ।

इन चारों भगोंमें पहलेके तीन भग साधुके लिए अशुद्ध अर्थात् प्राप्य नहीं हैं, और अन्तिम शुद्ध भग प्राप्य है ।

द्रव्य और भावकी अपेक्षासे भी रात्रिभोजनके चार भंग बन जाते हैं । जैसे—केवल द्रव्यसे, केवल भावसे, द्रव्य और भाव दोनोंसे, तथा द्रव्य और भावसे रहित । सूर्योदय या सूर्यके अस्तका सन्देह होनेपर भी भोजन किया जाता है, वह केवल द्रव्यसे रात्रि भोजन है भावसे नहीं है । “मैं रातमें भोजन करूं” ऐसा विचार हो जाय और खाया पिया कुछ नहीं है तब वह केवल भावसे रात्रि भोजन है, द्रव्यसे नहीं । बुद्धि काम करते हुए भी रात्रिमें आहार कर लेना, यह द्रव्य और भाव दोनोंसे है और न रात्रिमें भोजन करना न करने की अभिलाषा ही खड़ी करना यह द्रव्य और भावसे रहित भग है ।

बुद्धोंके आठ उपदेशोंमें भी रात्रिभोजन वर्जित है, जैसे—

- १ ‘पाणाविपाता’ वेरमणि सिक्खापद ‘समा दियामि’ ।
- २ ‘अदिन्नादाना’ वेरमणि सिक्खापद समा ‘दियामि’ ।
- ३ ‘अब्रह्मचारिया’ वेरमणि सिक्खापद ‘समादियामि’ ।
- ४ ‘मुषावादा’ वेरमणि सिक्खापद समादियामि ।
- ५ ‘सुरामेरय-मज्झ-ममादट्ठाना’ वेरमणि सिक्खापद समादियामि ।
- ६ ‘विकलभोजना’ वेरमणि सिक्खापद समादियामि ।
- ७ ‘नच्चगीतवादित विसुकदस्सन माला गन्धविलेपनधारण, मण्डन भूषणट्ठाना’ वेरमणि सिक्खापद समादियामि ।

८ ‘उच्चाशयन, महाशयना,’ वेरमणि सिक्खापद समादियामि ।

भावार्थ—मैं किसी प्राणधारी जीवका प्राण लेनेसे विरक्त होता हूँ ।

- २ किसी दूसरेकी वस्तु विना दिए न लेनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ ।
- ३ सब प्रकारके स्त्रीसमागम से वचित होनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ ।
- ४ सब प्रकारके झूठ बोलने की प्रतिज्ञा लेकर विरक्त होता हूँ ।

५ किसी प्रकारका मादक द्रव्य या गांजा-भांग-मदिरादिक सेवन करनेसे विरक्त होता हूँ ।

६ असमय अर्थात् दोपहरके बाद भोजन करनेसे वाज आकर विरक्त होता हूँ [बौद्ध लोक दोपहर बाद कुछ नहीं खाते और रातमें भी नहीं खाते]

७ बाक्ये पात्रे छोड़ बजाये जायें बनेक प्रधरके समाप्ति देखने तथा कृम-
मात्रा पत्र के पत्राधिक कमाने तथा आयुष्य दायर करमेसे निरल होय हूँ ।

८ ऊंचे बीर बड़े आराम देनेवाले आसनों और बड़ी शय्याओंमें छवन कर
नेका आनन्द करता हूँ । इसादि—छठवें नियममें एत्रि भोजन इनके वहाँ भी वर्ज-
नीय है ।

चोर मन्त्रधरमें आँखों से कुछ नहीं देखता तब समस्त एतमें उठने-
वाले जीवोंका भोजनमें पड़ना ही संभव है अतः एतमें कोय खा-पी सकता है !

एत्रि भोजनके मतलब दोष—

“भोजनमें कीसी जाई जाये पर बुद्धि का लाल करती है, बूझ कर
जाय तो बच्चेहर हो जाय है मन्त्रीसे कम हो जाय है पेटमें अच्छी जमेसे
कोय हो जाय है । अथवा या अच्छी का दुकाना पकमें पीडा कर देता है । एक
भाजीमें निष्कृ आजाय तो वह हलक को रंक मारकर बेश देता है । पकमें
बढ़ि बाय अटक जाय तो सरका मंग हो जाय है, एतमें खनेसे वे दोष प्रकट
हो जाते हैं ।” “एतमें बरतन यक कर साफ करते समय कुंभ आदि बहुतसे
जीव मरके जाते हैं ।” “एतमें प्राणिक वस्तुएँ भी न खावी चाहिए क्योंकि
मोहरक फलसिद्धि के जीव एतमें शिक नहीं सकते ।” “सर्वके तेजमें कष्ट पड़
समा इस एत हीनो वैशेष्य तेज है वह वैशेष्य काय है, और इसी
लिए सर्वका श्रम करीयतु पडा है, तबके निरगोष्ट सब कुछ पवित्र हो
जाय है और समस्त जगत्में तबके प्रकाशमें ही तबके बनावमें हुनकमें
को भोजन पानादिक है वे न करने चाहिए ।”

“वैदक करते हैं कि जाहूति ज्ञान भय और वैराग्यन दान आदि
एत्रिमें निवास करने योग्य नहीं हैं । परन्तु एत्रिभोजन तो निस्तुल्य स्थान है ।”

“दिनके आठवें भागमें सर्वका प्रकाश मग्न हो जाय है, अतः बुद्धिमत्तावे
तब भी एत्रि समता है । और तब समस्त भी भोजन वर्जनीय है ।”

“वैदक पहले पहरमें जीव छेते हैं, यदि मध्याह्नमें भोजन करते हैं,
दोसरे पहरमें पितृभेदको भी भोजन-निवृत्ति होती है, चौथे पहरमें रेश और
बालक भोजनसे निवृत्ति हैं । अन्धामें बड़ा एतका करते हैं, अतः वे बुद्धिहर !
सब वैराग्यमोक्षी वैदका जतिष्म होनेसे एत्रि भोजन अयोग्य है ।”

आयुर्वेदमें रात में खाना पीना मना है—

“सूर्यके अस्त हो जाने पर हृदयकमल और नाभिकमल अतिशय सकुचित हो जाते हैं, अतः रातमें भोजन न करना चाहिए, क्योंकि अनेक सूक्ष्म जीव खाए जाते हैं, और रातमें खाया गया भोजन स्वास्थ्यकर नहीं होता, और भलि भान्ति जाठरीमें जाकर उसका पाक—भी नहीं बनता।”

“जो दिनरात वे समय खाने पीनेमें ही मस्त रहता है वह बिना सींग पूँछ का पशु समान है। अतः मनुष्यको दिनमें भी नियमित भोजी-भोजन सयमी होना चाहिए।”

दो घड़ी दिन चढ़े तक तथा दो घड़ी दिन रहने पर जो भोजन पान त्याग देता है, वह रात्रिभोजनके दोषोंको जाननेवाला पुण्यका भागी होता है।”

“जिसने दिनमें भोजन करनेका अभ्यास या रिवाज तो डाल लिया है, मगर प्रतिज्ञा नहीं ली है तो क्या उसे निवृत्ति रूप पुण्य नहीं मिलता? इसका उत्तर यह है कि—किसीने रक्म तो कर्जमें देदी है मगर व्याज नहीं खोला है, अतः वह वसूल करते समय व्याज लेनेका हकदार नहीं होता क्योंकि दुनियादारोंमें बोलीका मूल्य है।”

“जो दिनमें भोजन करना त्याग कर रातमें ही खाना पसंद करता है, वह मानो माणिक्यको छोड़कर काचके टुकड़ेको पसंद करनेवाला जट बुद्धि है।”

“दिनके होते हुए भी जो कल्याणकी इच्छासे रात्रिमें भोजन करते हैं वे सुन्दर और कमाए हुए ‘खेत’ को छोड़ कर मानो खारीली-नमकीन रेहीदार भूमिमें धान्य बोना चाहते हैं।”

“रात्रिमें खानेसे उल्लु-काक-विलाव-गिद्ध-राक्षस-साप-त्रिचट्ट-गोह-चमगीदड-वागुल आदि अनेक बुरी योनिएँ पाते हैं।

“जो पुरुष रात्रि-भोजन त्याग देता है वह धन्यवादका पात्र है, क्योंकि वह अपनी आधी आयु उपवासमें बिना रहा है।”

“रात्रि-भोजनके त्यागमें जो-जो गुण हैं, उनके विषयमें अधिक क्या कहा जाय उसके सब प्रकारके लाभ सर्वत्र ही जानते हैं।”

इसके अतिरिक्त अमितमूर्ति आनन्दनारमें भी अनेक दोष निखर हैं,

जैसे—“रातमें राखस और पिशाच बूस्ते हैं, बीबोंके सम्मुखों मणि प्रकाश देखा नहीं जाता जिस बस्तुका नियम किया हो उस पदार्थको भी अनवधानतासे का सफ़्त है, और राखसगण चोर अन्धकार छाया रहता है ।” “उस समय सुपात्र साधु महापुरुषोंका भी अन्धा कठिग है, जिसमें गुणवैशेष सेव सत्कार नहीं किया जा सफ़्त और संयमकर निरन्तर मिता हो जाता है, यहाँ तक कि छोटे मोटे बीब भी मजबूत कर जाता है ।” “जिसमें दानपत्रिक सुमकने—सी वर्जित हैं धोखेका आधा जाना उस समय निरन्तर बंद हो जाता है, जो एकदन्त दोषोंका घर है जिसमें निनद्य अभाव होता है, ऐसी रात्रिमें बर्गभान्तकुराह म्लान्य भोजन कभी नहीं करते ।” “जो पुरुषजनक कारण बीमके कारणके फेरमें पड़ कर रात्रिमें भोजन कर लेते हैं वे मृत प्रेतोंके संकटियों में छोड़ सकेंगे ।” “जिसने वस-निवस-संयमकी क्रियाओंपरमाणा कर दिया है, और दिनरात खाने पीनेमें ही विद्या पड़ता है, उसे बुद्धिमान सिद्ध चीय पूजका पद ही समझते हैं । मगर उसके पद्यों केते हार ही तो नहीं हैं” “बुद्धिमान् आर्यिक धृष्ट और बीबराहाके लिए दिनमें भोजन करते हैं, रात्रिमें आरामसे सोते हैं, आनीबन समय निवार कर लेखते हैं, उवा अस्मद्विन्दो लिए पुत्र जनकी सत्संयति और सत् आनन्द अल्प-मन्त्र और निनिवास्तन करते हैं ।” “पुत्रवान् और उत्तम पुत्रन सबैव दिनमें एक बार भोजन करते हैं, मध्यम-पुत्रन उत्तम दिनमें दो बार आहार करते हैं, और जो दिनरात विरन्तर करते ही रहते हैं वे मनुष्योंमें अश्वम हैं ।” “जो पुत्रन दिनके आदि और अन्तकी दो बहियोंको छोड़ कर भोजन करते हैं, इनको कभी अल्प नियमनेका मन नहीं रहता वे इन्द्रियोंके जोशों को पीतकर संछर मरके पड़ते एकदम इसके ही जाते हैं ।” “जो पुत्रन अपने पात चीपक रक्कर रातमें खाते हैं मानो वे अमानते नीचेकी और बह्येवासी बरीके पकड़ो इहकी बोरीके ऊपर फूँचका चाहते हैं” “जो रात्रि भोजनको पुत्रकायक बीजन मानता है वह अपने बड़े हुए बन्धों मानो पञ्चानक मानता है, मगर वह अनहोनी बात है ।” “जो दिन और रातके कानेमें रातपर पुत्र और पापकी माम्यता रखते हैं वे मानो धृष्ट और पुत्रके प्रसात प्रसात और अन्धकारको सामान्य देखते हैं ।” “जो बर्गबुद्धिसे रातमें जाते हैं, वे निनन्दे इहकी पद्वितीको बह्येके-

लिए मानो वज्र और आगको फेंक रहे हैं ।” “जो पुण्यकी अमिलापासे दिन भर तो खूब भूखे रहते हैं, और रात पढ़ने पर खाने लग पड़ते हैं वे फलदार लताको पुन फलकी इच्छासे मानो काट रहे हैं ।” “जो पुरुष दो घड़ी दिन चढ़े तक सवेरे नवकारसी तप रखते हैं, और दो घड़ी दिन रहनेपर चरम प्रत्याख्यान कर देते हैं, वे एक मासमें मानो दो उपवासका फल प्राप्त कर लेते हैं ।” “रातमें खानेवालोंको ये सामग्रिए मिलती हैं, उन्हें रोग और शोक युक्त तथा कलह करनेवाली राक्षसीकी तरह डरानेवाली स्त्री मिलती है, महापापसे उत्पन्न अन्तराय दुःख देनेवाली कन्या प्राप्त होती है, पुत्र व्यसनी और काले सापकी तरह डरावने होते हैं, घरमें दरिद्रता रहती है, छिद्रान्वेषक नीचपुरुषकी लक्ष्मी की तरह सकट रूप अन्धकारसे परिपूर्ण घर होता है । नीच जातिमें पैदा होकर नीच कर्म करने पड़ते हैं । समभाव-सत्य-शील निर्लोभताका अभाव रहता है, अन्यका अनिष्ट करनेवाले दुर्जनकी तरह अनेक दुःख देनेवाली व्याधिसे घिरा रहता है । समस्त दोषोंके समूहसे पीडित रहता है । इत्यादि अनेक दोषोंकी उत्पत्ति हो जाती है ।”

रात्रि-भोजन त्यागने वालोंके गुण—“कमल पत्रके समान आखों-वाली, प्रिय वचन बोलनेवाली, मनोहर लक्ष्मीकी समानता रखनेवाली स्त्री उसे प्राप्त होती है, कला और विद्याकी खान, पुण्यकी पक्की तरह सुन्दर शरीर-वाली, कन्या मिलती है ।” “व्यसन प्रवृत्तिसे रहित चन्द्रमाकी भांति उसके घर निर्मल चरित्रवान् पुत्र होता है । इन्द्रके मन्दिरकी तरह अन्धकार रहित प्रचुर रत्नोंसे शोभित मकान मिलते हैं । स्थिर वैभव पाते हैं, वाञ्छित पदार्थ मिलते हैं, रोग रहित सुन्दर शरीर धर्मसाधनके लिए प्राप्त होता है, अधिक क्या कहा जाय उसे सब प्रकारके सुख समूह प्राप्त होते हैं ।” “इसके अतिरिक्त ज्ञान-दर्शन और चरित्रकी आन्तरिक सम्पत्तिसे भी उसका आत्मा अलङ्कृत होता है, १४ ब्रह्माण्डोंका पति होकर सुर-असुर नर आदि के पूजनीय होते हैं, वैभवके पानेका इन्हें अहकार भी नहीं होता, न्यायसे धन कमाते हैं, कर्मशूर होते हैं, रात्रि-भोजनसे विमुख और त्यागियोंको ये सामग्री सयोग मिलते हैं ।” “वे बान्धवों द्वारा पूजित होते हैं, जिनकी पुत्रादि द्वारा खूब सेवा होती है, नीरोग होते हैं, लक्ष्मी जैसी शर्माली बुद्धिमती स्त्री

मिळती है जिसका समाज बर्माभा और सचरित्रात्मक होता है, वे सब कुछ दिनमें बलपूर्वक मोक्ष करनेवाले सत्सङ्गोंको मिलते हैं ।”

इत्यादि अनेक शास्त्र संमत होनेसे रात्रिमोक्षको अश्रद्धाहीन और दृष्टि समझकर छोड़ देना चाहिए । प्रभु महावीर रात्रिमोक्षके सर्व सांगी थे और बीरोंको भी सांग करनेका उपदेश करते थे तथा सबैव तपवरण किया करते थे अपार ब्रह्मता भी इनकी बाणी अनन्तवर्षोंसे छुट्ठी थी । उन्होंने संसार और मोक्षका कस्म बख्खा बा सब प्रकारके आश्रयोंसे आप रहित थे बीरोंको भी आत्मनके पापकासे सदा रोखते थे क्योंकि जो सर्व अपनी और अभीष्टिमात्र हो वह बीरोंको बर्मा और नीतिमें कबोकर स्वप्न कर सकता है । जो सर्व धर्मजन-नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाला हो वही बीरोंको पाप-कर्मके गवेसे निष्कार सकता है । किसीने कहा भी है कि ‘जो सर्व तो न्याय की बात कहता हो परन्तु न्यायके विरुद्ध आचरण करता हो तो वह बीरोंपर अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता क्योंकि ब्रह्मन्त’ कभी इन्द्रिय विप्रद्व नहीं कर सकता ।”

और प्रभुने इस लोक और परलोक को बानकर पापोंसे सर्वथा निवृत्ति प्राप्त की थी ॥ १८ ॥

शुद्धरात्री अनुवत्त—मगवान् महावीर प्रभु श्रीचंसर्व जने जीनी पजीक छेवाना पण करर झापी हउ। तेमने बलप्राप्तविह्वल ब्रह्मचर्यवु पालन कर कलुं कलुं के से स्वाग पर जी बैठी होय जा मध्याह्ने एक कज्जक सुधिमो नख बैठे करण के सेवा अछुट परमात्मो सुधीक पुखने हानिकर छे । एक ब्रह्मचारिणी माटे समजी केरुं ।

रात्रिमोक्ष सांगी—

ते उपरान्त तेमो रात्रिमोक्षका पण प्रकाश विरोपी हउ। कारण के रात्रिमोक्षकी इस जीबोनी हिसा बाब के तेमो रात्रिमां मोक्ष करवाणी ममा करवामां भावी छे हिसा झापी रात्रिमोक्ष न ब करे, से पीव तीव्र उप माव उद्धित होय के ते तेमो क्राय करी सकतो बही कारणके से जीवन मोक्ष पर अधिक प्रीति होय छे ते रात्रिके निचले राती पीतो पारहेसे क्वां राग बग्यव होय छे क्वां प्रमत्तभाव बहर रहे छे जने प्रमत्तभावपुत्र प्रणी

ઘણાઓ એમ પણ કહી દે છે કે જો ભોજન કરવામા સદા કાઠ હિંસા થઈ જાય છે, તો દિવસે ભોજન ન કરતા રાત્રેજ ખાવું જોઈએ, કારણ કે તેમ કરવાથી સદા કાઠની હિંસા થતી નથી, પરન્તુ તે વાત ઠીક નથી, જો કે ઉદર ભરણની અપેક્ષાએ સર્વે પ્રકારના ભોજન સમાન છે, પણ શાકાહારી ભોજનમા જેટલો સાધારણ અને સાત્વિક ભાવ છે, તેટલો માસ ભોજનમાં સાત્વિક-ભાવ નથી, માસ ભોજનમા વિશેષ રાગભાવ છે, ધાસ ખાનારી ગાયને ઘાસ ખાતી વચ્ચે જેટલો સામાન્ય રાગભાવ છે, તેટલો ઉદર મારનારી હિંસક વિલાહીમા નથી, વિલાહીને માસ ભક્ષણમા વિશેષ રાગ ભાવ છે. 'અન્ન ભોજન' સહજમા ઉત્પન્ન થાય છે અને મઠે પણ છે, અને માસ ભોજન અતિશય કામા-દિકની ક્ષાતર અથવા શરીરાદિકના મોહની ક્ષાતર વિશેષ પ્રયત્ને કરવામા આવે છે, એ રીતે દિવસનું ભોજન સર્વે મનુષ્યોને સહજજ પ્રાપ્ત થાય છે, તેથી તેમાં સાધારણ રાગભાવ થાય છે, પરન્તુ રાત્રિભોજનમા તો શરીરાદિક તથા કામા-દિકના પોષણની ક્ષાતર વિશેષ રાગ ભાવ આવે છે, તેથી પણ રાત્રિભોજન ત્યાજ જ છે.

દીપકદોષ-બહી દીવાના પ્રકાશમા ક્ષીણા જન્તુઓ આંધ્રથી વરાવર દેખાતા નથી, તેમજ રાત્રે દીવાના પ્રકાશથી જુદી જુદી જાતના એવા નાના મોટા જન્તુઓ ફરવા લાગે છે, કે જે દિવસે ક્યારેય પણ દેખાતાં નથી, તેથી રાત્રિભોજનમા પ્રત્યક્ષ હિંસા છે, ને રાત્રિભોજન કરનારા હિંસાથી પણ ક્યારેય બચી શકતા નથી,.

તેથી જે માન્યશાહી રાત્રિ ભોજનનો સર્વથા ત્યાગ કરે છે, તે સાચો અહિંસક છે, રાત્રિભોજનના ત્યાગ વગર અહિંસા વ્રતની સિદ્ધિ નથી થઈ શકતી. તેથી કોઈ કોઈ આચાર્ય તેનો પ્રથમ અણુવ્રતમા સમાવેશ કરે છે.

સાગારવર્મામૃતમાં કહ્યું છે કે અહિંસાવ્રતનો સાધક રાત્રિભોજનનો અવશ્ય ત્યાગ કરે છે, કારણ કે મૂલવ્રતની શુદ્ધિને માટે તેમજ અહિંસા વ્રતની રક્ષા ક્ષાતર રાત્રે ચાર પ્રકારનો આહાર ત્રિયોગે કરી ધર્મી આત્માઓ માટે વર્જિત છે.

જુના વિચારોના મનુષ્યોનો એ પણ મત છે કે રાત્રિ થતાં મૃત પ્રેત આવીને આહારને અમઢાવી દે છે, બહી ઘણા જીવો એવાં છે, કે રાત્રે તે જોવા બહુ મુશ્કેલ

पडे हे जो पद्धति बीच भोजनसां खाई प्यस हो जखेवर बेरा राजरोसो
खावो संभव रहे हे सोबी रात्रिभोजनना कासीस उपरोक्त आपतिबोधी
बचीने बर रही सके हे ।

ब्रह्मसूत्र नामकी एककल्याण पोतावा पति कर्मजमीने एत्रिमोत्रमया होपना सोपन ब्रह्मसूत्र होता । वैव रामावधमा कलेष्टुं छे के एमबन्धनी-कर्मजमी अने सीताजी साधे ब्रह्मिणमा फरता फरता कूर्ववन्तरमा भावी पद्मोष्ण झा महीनर एवाए पोतानी ब्रह्मसूत्र नामे पुत्रीवा कम कर्मज साधे कर्तुं बोडा बिचसो रज्ज बाह झांभी फरारे प्रवेव निदाह बध आवा झारे ब्रह्मसूत्र पद कर्मजमी साधे बाक्या असी झारे कर्ममे तेम व करण कर्तुं । ते सांमझीमे कामीना निरहवी हुन्वी बधां ते बोली के बाह । आप मने पात्र फरतां छई बहो के केम ते बावतनी मने निदाह व होवाजी हुं आपनी साधेव रहीष्ट कर्मज तेने निदाह जेते ते सातर प्रवृत्तिपाठ जेव पापनी मर्बकर प्रसिद्ध करी झारे तेने ते ते प्रसिद्धको पर अतन्तोह प्रवृत्ति करीने एत्रिमोत्रमया पापनी प्रसिद्ध केववाही कर्ममे पन ते प्रसिद्ध सीधरी छीपी जने ते एम साधे कई मस्या । ते समये एत्रिमोत्रमनुं आप आर प्रचरवी इस्मानोवी पन बहु माजकमा व्यक्तुं छई ।

કોઈપણ કમિયું છે કે-કુપાત્ર પુસ્તક વિવરે જાણે છે. તેઓ રાત્રે જાગતા થઈ
તેથી વિવરણ બહુ થઈ તેમજે જાણાર મેણાં થઈ લખાઈ થઈ તેથી રાત્રે તથા
કમ્પાનિની દષ્ટિ પૂર્ણ પાછામાં પુસ્તકો રાત્રે મોજાત કરાવેલો રજા કરે છે ।

पुढ्योना वण प्रखर-

હત્તમ પુરુષ મધ્યાહ્ન સમયે ધોરણ કરે છે. મધ્યમ પુરુષ બે ચતુર
આય છે. પરમ્પુ બે ચતુરજ્ઞ કશિત જમીની બનમિહ છે. તે પહ્લવી પેટે વિપત્તયે
પત્ત આપા કરે છે :

वे पदी विपक्ष कहता हूँ। एहि वजीर मन्त्र है। वे पदी विपक्ष
 पदी रहेता एहि पदी मन्त्र है। ऐसी लक्ष्मी वे पदी पदी एव तब
 लक्ष्मी मन्त्र है। जने लक्ष्मी वे पदी इति मन्त्र मन्त्र है। ऐसी है मन्त्र
 मन्त्रोने छोटी वे लक्ष्मी है। वे पदी मन्त्र मन्त्र है। मन्त्र के मन्त्र
 मन्त्रोने जीवनो लक्ष्मी तो मन्त्रोने मन्त्र मन्त्र है।

શ્રાવકની ૧૧ પ્રતિજ્ઞા (પઠિમા) મા છઠ્ઠી રાત્રિ ભોજન ત્યાગની છે । જે અન્ન-પાન-સ્નાદિમ-સ્નાદિમની વસ્તુઓનો ઉપયોગ રાત્રે કરતો નથી, તે સર્વ જીવોની અનુકમ્પા કરવાવાળો સાચો ગૃહસ્થ છે.

મુનિઓનું છટું વ્રત-રાત્રિભોજન ત્યાગ છે,

મુનિઓ તો રાત્રિભોજનનો સર્વથા ત્યાગ કરે છે, દશવૈકાલિકસૂત્રમાં રાત્રિભોજનત્યાગરૂપ છટું વ્રત આ પ્રમાણે કહ્યું છે, ધિષ્ઠ્ય ગુરુની સમીપે પ્રતિજ્ઞા કરે છે-કે હે ભગવાન્ ! હું રાત્રિભોજનનો જીવન પર્યન્ત સર્વથા ત્યાગ કરું છું, હું જીવન પર્યન્ત વ્રણ કરણ અને વ્રણ યોગે કરી અર્થાત્ મન-વચન અને કાય દ્વારા અન્ન પાણી-સ્નાદ્ય સ્નાદ્ય (મેવા વિગેરે સ્ત્રોત્રાક અને મુખવાસાદિ) એમ ચારે પ્રકારના આહાર રાત્રે કરીશ નહિ, કરાવીશ નહિ, અને કરનારને અનુમોદન પણ આપીશ નહિ, પૂર્વે જે રાત્રિ ભોજન સમ્બન્ધી પાપ કર્યું હોય તેનાથી હું નિવૃત્ત થાકુ છું, આત્મ સાક્ષીએ તે પાપને નિંદુ છું, આપની પાસે તે પાપને અવગણુ છું, અને હવેથી તે પાપકારી કર્મથી મારા આત્માને સર્વથા અલગ કરું છું, इत्यादि ।

અહિંસા મહાવ્રતની રક્ષાને માટે રાત્રિભોજનનો ત્યાગ કરવામા આવે છે, અને તે પણ યાવજીવ સુધી ત્યાગ કરેલો છે,

તેને મહાવ્રત ન કહતા વ્રત તરીકેજ ગણાવ્યું છે, તેનું કારણ એ છે કે મહાવ્રતોની પેઠે તેનું પાલન વહુ કઠિન નથી, તે સ્વાતર તેને મૂલ ગુણમા ન ગણતા ઉત્તર ગુણમાં ગણાવ્યું છે, ।

વઘી મહાવ્રતોની પાછલ તેને એટલા માટે ગણાવ્યું કે-પ્રથમ અને અન્તિમ તીર્થકરના સમયના મનુષ્યોનો સ્વભાવ ઋજુ જડ વક્ર જડ અનુક્રમે હોય છે, તેનો પાઠ સુગમ રીતે સમજાવવાને માટે મહાવ્રત સાથે તેને જોડી દેવામાં આવ્યું છે, તેથી એ સાવિત થાય છે કે મહાવ્રતોની પેઠે આ વ્રતનું પણ પાલન કરવાનું છે ।

દ્રવ્ય-ક્ષેત્ર-કાલ-માવની તેમજ મિશ્રામિશ્ર દ્રષ્ટિએ તેના અનેક પ્રકારો છે, જેમકે દ્રવ્યથી અસનાદિ, ક્ષેત્રથી અઢી દ્વીપમાં, કાલથી રાત્રે ભાવથી દ્વેષ રહિત થઈને તેનું પાલન કરવું આવશ્યક છે

ते उपरान्त बीजा पत्र प्रक्षरो के जेम के आहारानि एते ग्रहण करवाने एते खावां एते ग्रहण करवां ने दिवसे खावां दिवसे ग्रहण करवां ने एते खावां दिवसे ग्रहण करवां ने दिवसे खावां व्यचार प्रक्षरमात्रं पदग्रन्थ एतन्ने माटे अष्टादश वर्षात् अष्टादश के ते छैकटनो प्रक्षर छत्र बने ग्रहण के ।

इत्य बने भावनी जयेछाप पत्र एभिभोजनता पार माण्य नाव के केमके केवळ इत्यबी केवळ भावनी इत्य बने भाव बनेही इत्य बने भावनी रहित । सुखेव अवसा सुखेवतो सुखेह पदका छत्रा पत्र भोजन करवानो भावे के ते केवळ इत्यबी एभिभोजन के भावनी बहिः । 'तुं एते भोजन करीत' एते विचार काय ते केवळ भावनी एभिभोजन के बने पछी फई खातुं पीतुं न होय । कायका छत्रा पत्र एते भोजन करतुं, ते इत्य बने मज बनेही के बने एते भोजन न करतुं तेमज इत्य पत्र न करी ते इत्य भाव बनेही रहित प्रकार के ।

बीज मतमां एभिभोजन बर्जित-

हुइवा भाठ उपरिहोमां एभिभोजन बर्ज वस्तुं के केमके-

(१) कोई प्राणधारिनी प्राण मई केवानी हुं प्रतिज्ञा करं छुं

(२) अक्षरवाच (कोटी) को भाग करं छुं

(३) सबै प्रक्षरवा जीवमात्मका व्यपची प्रतिज्ञा करं छुं

(४) सबै प्रक्षरवा असकल वचननी निरस्तुं छुं

(५) कोई पत्र प्रक्षरवा भावक इत्य पत्रो भाव मरिउरिजवा न ऐववनी प्रतिज्ञा करं छुं

(६) असमय-वर्षात् बयोर पछी भोजन करवाही निरस्तुं छुं, (बीजी बयोर पछी तेमज एते पत्र बहिं खाता बही)

(७) वाच-याम-ताम आदि अनेक प्रक्षरवा समस्त जोवाही बिवाही तथा पूज्यमात्र-मन्त्र निकैपत्र आदि कयवावाही तेमज प्रक्षर पहेरवाही निरस्तुं छुं ।

(८) कंचा तेमज मोटा आराम बेलात आसनो तेमज मोटी चप्पामो पर दुपामो क्षय करं छुं, बगेरे ।

આમાના છટ્ટા નિયમમા રાત્રિભોજનનો પળ ત્યાગ આવી જાય છે । અને અધારામા આગ્યોથી કડ દેખાતું નથી તે વખતે રાત્રે ડહનારા જીવઢાઓનુ મોજનમા પઢવાનુ સમ્ભવિત છે, તેથી રાત્રે કોળ ચાય પીએ ?

રાત્રિભોજનના પ્રત્યક્ષ દોષ-

“ભોજનમા કીઢી ટવાઈ જાય તો બુદ્ધિનો નાશ થાય છે, જૂ ટવાઈ જાય તો જઢોદર યઈ જાય છે, માઝીથી વમન યઈ જાય છે, કરોઢિઓ આવી જાય તો કોઢ થાય છે । કાટો તેમજ ડાકટાનો ટુકઢો આવી જાય તો ગઢામા પીઢા કરે છે, શાક ભાજીમા વીંછી આવી જાયતો તેના ઢચથી વહુ પીઢા ઘાય છે, ગઢામા વાઢ અટકી જાય તો ટ્વર મંગ યઈ જાય છે, રાત્રિ મોજનથી આવા અનેક પ્રત્યક્ષ દોષો થાય છે,” । “રાત્રે વાસળો સાફ કરતી વખતે કુથુવા આદિ ઘળા જીવઢાઓનો નાશ યઈ જાય છે ।” “રાત્રે પ્રાશુક વસ્તુઓ પળ ન ટાવી જોઈએ, કારણકે મોદક, પઢાદિના જીવો રાત્રે દેઢી શકાતા નથી ।” વેદમા “વેદજ્ઞો કહે છે કે-સૂર્યના તેજમા ઋગ્-યજુ તથા સામ એમ ત્રણે પ્રકારના વેદોનુ તેજ છે । અને તેથી સૂર્યનું નામ ત્રયીતનુ પઢ્યુ છે, તેના કિરણો થી વસ્તુ પવિત્ર વની જાય છે, એટલે સમસ્ત શુભ કર્મ તેના પ્રકાશમા કરવા જોઈએ, તેના અભાવમા નહિ, ।” “વેદજ્ઞ કહે છે કે આહૂતિ-ઝ્ઞાન-શ્રાદ્ધ-દેવાર્ચન દાનાદિ રાત્રિમા કરવા યોગ્ય નથી, રાત્રિમોજન તો વિત્કુલ ત્યાજ્ય છે,” “દિવસના આઠમાં ભાગમા સૂર્યનો પ્રકાશ મન્દ યઈ જાય છે, તેથી બુદ્ધિમાનો તેને પળ રાત્રિ ગણે છે, અને તે સમયે પળ મોજન વર્જ્ય છે ।” “દેવતા પહલે પહરે જમી લે છે ઋષિ મધ્યાન્હ સમયે જમે છે, ત્રીજા પ્રહરે પિતૃલોકો મોજન પાનથી નિવર્તે છે, ચૌથા પ્રહરમા દૈત્ય દાનવ જમી લ્યે છે, સઘ્યામાં યક્ષરાક્ષસ ટાય છે, હે યુધિષ્ઠિર ! સર્વદેવતાઓનો સમય અતિક્રમી જવાથી રાત્રિમોજન અમોજન છે, ।

આયુર્વેદમાં રાત્રે ટાવા પીવાની મનાઈ છે-

“સૂર્યાસ્ત થતા હૃદય કમલ તેમજ નાભિ કમલ અતિશય સકોચાઈ જાય છે, તેથી રાત્રે મોજન ન કરવુ જોઈએ, અને રાત્રિમા સૂક્ષ્મ જીવ ટવાઈ જાય છે રાત્રે ટાધેલ મોજન તન્દુરુસ્ટીને નુકસાન કરે છે, તેમજ તેનું પાચન વરાવર યઈ અકતુ નથી ।” “જે દિવસે ને રાત્રે અસમયે ટાવા પીવામા મંસ્ત રહે છે, તે શીંગ-પૂછ વગરના પશુ સમાન છે, તેથી મનુષ્યોએ દિવસે

પણ નિયમિતમોડે તેમજ મોઝન સંઘથી વળતું જોઈએ ।” “પ્રત્યુક્તે જે મરી વિવર રહે જારે પાછું કરે છે અને જે મરી વિવર વળ્યું પડેલું અને તે જાતનો વ્યાહાર કરે નહિ, તે યત્નિ મોઝનના સોપથી મરી જાય છે ।”

“જેને વિવરે મોઝન કરી કેનામો રિવાજ પાડ્યો હોય પણ પ્રતિજ્ઞા ન કરી હોય તેને યંતું નિવૃત્તિરૂપ પુણ્ય મળ્યું નથી । કારણ જોઈએ રક્ષાનો સ્થાપી પણ સ્વાત્તંત્ર્ય નામ પાડ્યું નથી । તેથી તે મધુક કરતી વચ્ચે સ્વાત્તંત્ર્યો દુષ્કાર મરી જારણકે જુનિયાદારોમાં પણ મોકલું મુક્ય છે ।” “જે માનવ વિવરમાં મોઝન કરવાનું મુકીને યત્નમાં જાતું પસંદ કરે છે તે જાન માનવ પક્ષકર્તા પણ માનિત્વરત્નને છોડી રહેને જાનના દુષ્કારને પસંદ કરનાર જોનો જારે જાર બહુદિ છે ।” “વિવર હોવા છતાં જન્માવગ્રાપ્તિ દરજ્જા મધુક જે યત્નિ મોઝન કરે છે તે જારેજાર એક યાત્રી રીતે બેઠેલ જોતરે જોડી રહેને એક જાતી રીતી જાડી જાન મુમિમાં જાન જાવવા જાહે છે એમ ધમજતું ।”

“યત્નિ મોઝન કરવાથી જુવક જાવવા વિચારા નીચ યજ્ઞત સુદર, જાવ મીઠી જો જાતિ યોનિજો મધુકને પ્રાપ્ત જાય છે, ।” “જે જાતિ યત્નિ મોઝનનો જાગ કરે છે તે જન્માવગ્રાપ્તિ પાત્ર છે કેમકે તે પોતાની જાતિ વિવરની રૂપરસમાં જાહે છે ।” “યત્નિ મોઝનના જાવમાં જે જે જુવ રહેલ છે તે વિવરમાં જારે હું નિવૃત્તિ કરતું, તરીકે હોય તેજ જા જાવતમાં જતું જાતી જાહે છે ।”

જાડી અમિતગતિ જાવકાવાર-માં જાવ જાવો જાવ નિવૃત્તિ કરેલ છે ।

જેમકે—જે સમયે રાજાનો તેમજ વિદ્યાનો કરે છે, જે સમયે જાનુ જોનો સમુદ્ર વરાજર જોઈ જાવતો મરી દુષ્કે જાનુક વસુધી મરી હોવા છતાં પણ જાવત પડે જાવત જાય છે । કારણકે તે જાવતે જોર મંજાર રહે છે ।”

“તે સમયે જાનુ મહાપુરુષોત્તું જાવતું પણ જાવ છે । જોડી જુવરેજાતી તેજા જિવા અતિવિ તત્કાર વિનુમ જાઈ જાવતો મરી તેમજ સંઘમનો પણ નિરન્તર જાવ જતા જાય છે । જીવોના મહત્ત્વ જુવતું જાઈ જાય છે ।”

“જે જાવતે જાનારિક જુવ જાવતે જાટે જાવત છે । જે સમયે જોડોતું જાવતું જાવતું જાવ જાઈ જાય છે તે સમયે જાવત જોડોતું જાવ છે । જારે વિવરનો જાવત હોય છે । જા યત્નિના સમયમાં જાવતમાં જાવત મધુક વિનુમ મોઝન કરી જાવત નહિ ।” “જે જુવરેજાતી જિવા જિવિતી દુષ્કે જાટે

રાત્રિ ભોજન કરીલે છે તેઓ મૂતપ્રેતની સગતિને છોડી શકતા નથી ।” “જેમણે યમ નિયમ સયમની ક્રિયાઓનો લ્યાગ કરી લીધો છે અને રાત દિવસ શાવા પીવામાજ મસ્ત રહે છે, તેમને બુદ્ધિમાનો શીંગડા કે પૂછ વગરના જનાવર તેમજ ધરી વગરના પશુઓની ઉપમા અર્પે છે ।” “સંસ્કારી વિદ્વાનો સુખ મેલવવા માટે દિવસે ભોજન કરે છે, રાત્રે સુઈ જાય છે, જ્ઞાની પુરુષ સમય વિચારી વોલે છે, તેમજ આત્માની શાન્તિ માટે ગુરુજનની સત્સંગતિ-સત્શાસ્ત્ર શ્રવણ-મનન-નિદિધ્યાસન વિગેરે સમાચરીને સેવા ચાકરી કરે છે ।” “ગુણવાન્ તેમજ ઉત્તમ પુરુષ હમેશા દિવસમા એકજ વાર ભોજન કરે છે, મધ્યમ પુરુષ ધોળા દિવસમા બે વખત આહાર કરે છે, અને જે દિવસ અને રાત હમેશા ભોજન કર્યા કરે છે તે નરાધમ છે ।” “જે પુરુષ દિવસની પહેલી તેમજ છેલ્લી ઘડી છોડી વહેના દિવસનાં ભાગમા ભોજન કરે છે તે ઇન્દ્રિયોના ઘોડાને જીતી સસાર ના મારથી હલકો થઈ જાય છે ।” “જે પુરુષ પોતાની પાસે લીવો રાખીને રાત્રે ભોજન કરે છે, તે પુરુષ કુદરતી રીતે નીચાણ તરફ વહેનારી નદી ના નીરને જાણે વૃક્ષના શિખર સુધી પહોંચાડવા ચાહતો હોયની ? (અર્થાત્ નદીનું પાણી વહેતું વહેતું કદી પણ વૃક્ષના શિખરે પહોંચી શકતું નથી તેમ તેવા પુરુષનો આત્મા અધોગતિ સિવાય ઉચ્ચગતિને પ્રાપ્ત કરી શકતો નથી)” । જે રાત્રિ ભોજનને સુખદાયક જીવન માને છે, તે આગથી વહેલ વનને ફલદાયક માને છે, પરંતુ તેમ વનનું અસંભવિત છે ।” “જે દિવસ તેમજ રાત્રિના ભોજનને સમાન ગણે છે, તેઓ સુખ તેમજ દુઃખના દેનાર પ્રકાશ તેમજ અન્ધકારને સમાન ગણે છે ।” “જેઓ રાત્રિભોજનમાજ ધર્મ માને છે તેઓ સરેસર ઘૃક્ષોની હારમાળા વધારવા માટે વજ્ર તેમજ આગ ફેંકી રહ્યા છે, (ઘૃક્ષોની હારમાળા વધારવા માટે જલ સિંચનની જરૂર છે તેને વદલે વજ્ર પ્રહાર યા અગ્નિ કોઈ ફેંકે તે ઘૃક્ષ વધવાને વદલે જેમ નાશ પામે છે, તેમજ રાત્રિ ભોજનથી ધર્મ વધવાને વદલે નાશ પામે) “જેઓ પુણ્યની અભિલાષથી આશ્વો દિવસ મૂલ્યા રહે છે, અને રાત્રે શાવામાજ મચ્યા રહે છે તેઓ ફલેલા ઘૃક્ષોને તેમજ લતાઓને કાપી નાશી ફરીથી ફલવાની વાછના કરે છે એમ સમજવું । જે મનુષ્યો બે ઘડી દિવસ ચઢ્યા સુધી નવકારસી તપ કરે છે, અને બે ઘડી દિવસ વાકી હોય ત્યારે ચૌવિહાર કરે છે તેઓ માસમા

તે ઉપાસતું પદ્મ પ્રાપ્ત કરે છે એમ સમજવું । “ઇત્તિમોક્ષ કરવાને પીપે
 કમ્પા મુગ્ધ સામગ્રી પ્રાપ્ત થાય છે રોય શોક અને કમ્પ કરવાની ઇચ્છા
 માપક મય ઉપજાવે છેથી જી મહે છે તેમજ મહાપાપથી પેદા થયેલ બન્ધ
 ઇય કુચ દેનારી કમ્પા પ્રાપ્ત થાય છે જ્યારથી તેમજ કમ્પ સાપથી ચાકક
 વિહમ્મમાં પુત્ર થાય છે જરમાં રહિતા તો સદા રહસ્ય કરે છે ।” ત્રીજી
 જાતિમાં જન્મ થઈ ત્રીજી કર્મો કરવા પડે છે હીન-ચિત્ત-નપુ-સમમાન-અધિ
 પુત્રો તો અમાન રહે છે ત્રીજાનું અધિક કરનાર કુર્જનથી માપક તે કેટલીક
 જાતની અધિકથી ચેરણ્યો રહે છે સર્વ શોષણ સમુદ્ધથી પીડાતીને આશ્રમને
 અનેક શોષોની ઉત્પત્તિ થઈ જાય છે ।

ઇત્તિ મોક્ષનો જ્ઞાપ કરવાને ત્રીપે મુગ્ધ પદ્મથી પ્રાપ્ત થાય છે;
 કમલપત્રસમાન આંજાણથી વિવચન શોકવારી કમ્પોસમ્પન્ન કુન્દર ત્રી
 પ્રાપ્ત થાય તેમજ ત્રિયા કમ્પમાં ત્રિપુષ પુષ્પથી પૈંકિ માપક કુન્દર જીર
 અને નિર્મલ જરિત્રાથી તેને કમ્પા પ્રાપ્ત થાય છે ।” કોઈ પણ જાતના
 જ્વસનથી રહિત તેમજ કમ્પમાના લેવા પવિત્ર કર્મ વચ્ચે પુત્ર મહે છે,
 કુન્દના મદનથી માપક ઉપાસનાર્થ મચિરભોથી મરપૂર કુન્દોનિત્ર મદ્ય
 પ્રાપ્ત થાય છે । સ્વામી વૈભવ પ્રાપ્ત થાય છે મહોપદિષ્ટ પદ મહે છે ત્રીરોપી
 કુન્દર જીરની પ્રાપ્તિ થાય છે એ જ્ઞાપે થઈ ઇચ્છી કુચ પ્રાપ્ત થાય છે ।”
 “તે ઉપગ્રન્થ જ્ઞાન-વર્ણન જરિત્રથી પણ ઉત્પત્તિને પામે છે આપા વિષ્ણવો
 પૂજનીય પદિ થાય છે ઇત્તિમોક્ષથી દૂર છેનાર તેમજ આગીર્ણને જા
 ઇચ્છિ પ્રાપ્ત થાય છે ।” અને—“ઇત્તિ આહાર કરવાથી મૂંઝવણી-ત્રીકલી-ત્રીકલી-
 મુગ્ધ-મુગ્ધમાં રતોયી(મિત્ર)વાળી-રોહિની-કુતરી-સોફ-ફેરવાળા તેમ જ
 લોટ અંપજવાળા પુત્ર જન્મવાની વિચના જનનીયા એવી જી અનેક કાકર
 થોનિ પ્રાપ્ત થાય છે ।” “તેઓ (ઇત્તિ મોક્ષની જ્ઞાપ કરનાર) વસ્તુજનમાં
 પૂજનીય મનાય છે પુત્રો તેમજી ઇચ્છા કરે છે જન્મ અને સંવત્સરની આશુપજની
 કુચ રહે છે જીરે ત્રીરોપી હોય છે મદ્યની જેથી અને કુન્દિમલી તથા જરમ્પ
 થી મહે છે તેમજી અમાન પણ અર્ચામાં માપક હોય છે ત્રિપે મોક્ષ કર
 વાને આપા કુન્દની પ્રાપ્તિ થાય છે ।”

आवा अनेक शास्त्रोना प्रमाण साभळीने रात्रिमोजननो त्याग करवो जोइए । प्रभुए पण रात्रिमोजननो त्याग कयों हतो । तपश्चरण नम्रता अने विनय साचवता हता, तेमा नम्रता तो अपार हती, तेमनी वाणी अनन्त नय युक्त, तेमज शुद्ध हती, ते वाणी थी ससार अने मोक्षनुं स्वरूप समजाव्युं हतुं, बधा आस्रवोधी पण रहित हता, बीजाओने पण आस्रव अने पापथी रोकता, केमके जे पोते अधर्मी अने अनीति वालो होय तो ते बीजाओने धर्म अने नीतिमा केम स्थापन करी शके, अने जो पोते धार्मिक अने नैतिक जीवन व्यतीत करनार होय तेज बीजाने पापथी के आस्रवरूप खाडाथी बहार काढी शके छे, कारण के कोइए कछु पण छे के जे स्वयं तो न्यायनी बात करतो होय अने न्यायथी विरुद्ध आचरण करतो होय तो ते बीजाओ ऊपर पोतानी कांई पण छाप पाडी शकतो नथी, जे पोते अ-दान्त होय ते क्यारे इन्द्रिय निग्रह करी शके ? परन्तु प्रभुतो पोते दान्त हता, उपधानवान् हता, तप बडे शरीर शुद्ध हतु, प्रभु आ लोक तेमज परलोकनु ज्ञान मेळवी पापमय प्रवृत्तिथी सदाने माटे दूर रखा हता ।

मूल—

सोचाय धम्मं अरिहंतभासियं,
समाहियं अट्टपदोविसुद्धं ।
तं सद्वहाणाय जिणा अणाऊ,
इंदा व देवाहिवा आगमिस्संति; त्ति वेमि ॥२९॥

संस्कृतच्छाया—

श्रुत्वा च धर्ममर्हद्भाषितं, समाहितमर्थपदोपशुद्धम् ।
तं श्रद्धधाना जना अनायुष, इन्द्रा वा देवाधिपा आगमिष्यन्ति ॥२९॥
(इति ब्रवीमि)

सं० टीका—अधुना श्रीसुधर्मलामी तीर्थकरगुणान् मत्स्याय अम्-
 सामिनमाह, भुत्वा च, दुर्गतिपारणादयम्, भुतपारित्ररूपमर्हद्वापितम्
 ईत्कथित, सम्यगात्मान-सुमुपनिगदित, पापपदैः, अर्थे मयोयनै-
 कारणैरमिदेषैर्वा “अर्थो विपयायनयोर्भनकारणवस्तुषु, अभिधेये च
 शब्दानां निवृत्तौ च मयोयन इति मेदिनी ।” अथवा, “अर्थो मयो
 यने सद्दामिधेये बुद्धिष्व धने, इत्यभिधानप्यदीपिका ।” पदैर्वापकै-
 शब्दैः, “पद शब्दे च वाक्ये च व्यवसायपदसयोरिति । मेदिनी ।”
 निर्वाणैर्वा, “अप्यवगो-विरागो च पणीत अचुतं पद इत्यभिधानप्य-
 दीपिका ।” अथवा निमित्तेः, “निमित्त कारण ठाण पदं, इत्यभि-
 धानप्यदीपिका ।” वा परित्राणैः संसारादपकर्मजो वा, “पद ठाने
 परित्राणे निवृत्तौ च कारण इत्यभिधानप्यदीपिका ।” लैर्वापि नै-
 र्वाणैरुपमै वाणैर्वाणसङ्घैः शब्दैः सुसिद्धन्तरूपे मदेष्टैः श्लोकपा-
 दैर्वा “पदो धरण च वा इत्यभिधानप्यदीपिका ।” उपशुद्ध बोधसा-
 मीप्येन शुद्ध सितं वा पूतं निर्मलं, “शुद्धो केवळपूतेषु” “सुचि
 शुद्धे सिते पूते इत्यभिधानप्यदीपिका ।” वा मयोयनैरान्तराश्रयैर्बिह-
 तिमिर्वा हेतुभिरमिदेषैः शुद्ध बोधराहित्यमित्यर्थ । धर्म शब्दानां
 अन्तस्तथाऽनुतिष्ठन्तो नरा अनासुषोऽपगतसुधर्मता मुक्ता इति शेषा
 धर्मरहिता सन्त सिद्धा मोक्षगता मवेयुरिति भावः । साधुधर्मेन्द्रा
 बहूमिन्द्रा देवाधिपा आगमिष्यन्ति-त पदं प्राप्स्यतीति गणः । इति
 शब्दो ब्रवीमीति ॥ २९ ॥

नान्य निबन्धेभ्यः सारमुद्धृत्य श्रीमत्सूत्रकृत्याज्ञसूत्रगतवीरसुति-
 नामाशङ्काभ्यामस्त्वस्तिविस्तृतगमीरवुद्धस्तत्पदार्थमक्तिमावावसेत्तापति-

सरलतया बुबोधसिषाधयिषया ज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घीया नाम्नी संस्कृत-
 तटीका-हैन्दवीटीका-गुर्जरभाषाटीका यथाशक्ति-मतिरचिताऽत्र प्रमादा-
 दिनाऽथवाऽल्पधिया च भाविनीं मदीया स्वलना सशोधयन्तस्तत्त्व-
 पदार्थनयनिक्षेपसम्बन्धिभाव प्रदर्शयन्तो धीरा मा चेदनुग्रहणीयुस्तर्हि
 बहुलजनोपकारोद्योगसन्तुष्टेन श्रीज्ञातृपुत्र-महावीरप्रभुशासनसङ्घेनानुग्र-
 हतोऽहमिति सम्भावयेयमिति प्रार्थयते श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घानु-
 यायिनां लघुतमः पुष्पभिक्षुः ॥ इति श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घा-
 न्तर्गतमुनिफकीरचन्द्रशिष्येण पुष्पभिक्षुणा विरचिता वीरस्तुत्या
 संस्कृत-भाषाटीका च समाप्तेति शम् ॥

अन्वयार्थ—[समाहित] सम्यक् प्रकारसे कहे हुए [य] और [अट्ट-
 पदोवसुद्धं] अर्थ और पदोंसे निर्दोष [अरिहतभासिय] अर्हन् प्रभुद्वारा उप-
 दिष्ट [त] उस [धम्म] धर्मको [सोच्चा] सुनकर [सद्वाणा] श्रद्धा प्रतीति
 करनेवाले [जणा] मनुष्य [देवाहिव] देवोंके स्वामी [इदा] इन्द्र [व] और
 [अणाऊ] आयुरहित सिद्ध परमात्माके पदको [आगमिस्सति] प्राप्त होंगे ॥२८॥

भावार्थ—श्रीसुधर्माचार्य अपने अन्तेवासी शिष्यके प्रश्नोंका इसप्रकार
 उत्तर देते हुए यों उपसंहार करते हैं कि अर्हन् भगवान् द्वारा कहे गए धर्मका
 जो पूर्ण श्रद्धान करते हैं वे या तो आयुरहित और कर्म रहित होकर मुक्तिको
 प्राप्त करते हैं या इन्द्रादि पदको पाते हैं या पाएँगे ॥ २८ ॥

भाषाटीका—सुधर्माचार्य श्रीतीर्थकर प्रभुके गुणोंका वर्णन करते हुए
 अपने जम्बूनामक अन्तेवासी शिष्यसे कहते हैं कि—जो भव्य दुर्गतिमें पड़नेसे
 बचानेवाले ज्ञान और चरित्ररूप धर्मको अर्हन् भगवान्से भाव पूर्ण तथा परि-
 णामयुक्त अभिप्रायको सुनकर निर्धारण करते हैं, वे आयुष्यादि सब कर्म बन्ध-
 नोंसे मुक्त होकर या तो अपुनरावृत्ति-निर्वाणधाम (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं
 या आयुवाले स्थानमें अनुकूल सुख भोगनेवाले 'अहमिन्द्र' होते हैं ॥

असंख्य सुपुत्रोंका आधिपत्य मोग्यदेके लिए इष्टपदको प्राप्त करते हैं वह मैंने आई मण्यासे वैसा सुना है, वैसा तुझे कहकर सुनाया है* ।

* इस भाषामें 'अरहंत' वह प्रकृत आवाज सम्य है जिसका संस्कृत अनुवाद 'आई' होता है। कोई 'अरहोन्तर' अरवान्त' पद भी बताते हैं। वहाँ इन सबके अर्थोंपर बरि विचार किया जाय तो आसन्न वही निकलता है जो सर्व 'आई' कहका होता है ।

(१) 'आई' वाचक सब पूजा का योग्य सब होता है। इस अर्थके अनुसार अतिशय सम्पत्तीय-सौख्यीय-समर्थीय होनेके कारण वे 'आई' (अरहंत) कहकरे हैं । क्योंकि इनके पाँचों कल्याणोंमें अनेक देवों और ६४ इन्द्रोंका अनेक विष्णुसत्त्वा सम्पत्तीय यत्नार्थ होती हैं, और वे मनुष्योंकी अपेक्षा अतिशयबुद्धि महापुरुष होते हैं और अतिशयबुद्धि होनेके कारण सबका वह 'अरहंत' नाम सार्वक तथा सार्वभौम है । वैसा कि 'बचल' ग्रन्थमें भी कहा है कि—

अतिशयसम्पत्तयूषाऽर्हत्वादहन्तः, स्वर्गावतरणवन्माभिपेक्षपरिनिष्क-
मणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृत्यानां पूजनां देवास्तुरमान्ममास्त-
पूजाम्भोऽभिकत्वादतिशयत्वात्तूत्वाद्योम्पत्तावहन्तः ।

(बचसिद्धान्त)

अरिहति कवचनमसनामि अरिहति पूजसकारे,

अरिहंसि सिद्धिगमन 'अरहता' तेज वचति ।

(मूलान्तर)

भाषार्थ—जो माय पूजाके योग्य तथा अनुकरणीय महाजगत्पुरुष हो उसके 'आई' कहते हैं । जिसके जीवनमें अनेक दिव्य यत्नार्थ विघटन रूपसे परिचयित होती हैं। वैशेषिक—कार्यसे अक्षतरण जन्मोत्पन्न परिनिष्कमण (बीजाग्रहण) कैवल्यज्ञानकी उत्पत्ति मोक्षारोहण आदि यत्नान्मोके होते समान देव-अक्षर-मायक इन्द्रादिके द्वारा महात्मा उत्पन्न मनाना वा मनुष्योंके कवच अनुकरण करते हुए उनके समान आत्मिक एवं धार्मिक होय इन्द्रादि महाजगत्पुरुष को प्राप्त करने के 'आई' कहकरे हैं ।

जो वन्दना और नमस्कारके योग्य हैं, पूजा और सत्कारके योग्य हैं, सिद्धि (मोक्ष) गमनके योग्य हैं, अत एव वे 'अरहत' कहे जाते हैं ।

(२) 'रहस्य' का अर्थ एकान्त होता है, यानी समस्त पदार्थोंको निकट-वृत्ता-दूरवर्ती-सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थोंके अनन्त समूहको प्रत्यक्षमें हथेलीपर रखे हुए आमलेकी तरह जो स्पष्ट जानते और देखते हैं । अर्थात् जिसे गुप्त या प्रगट एकान्त कुछ भी अप्रगट नहीं है । इसलिए 'अरहोऽन्तर' नाम यथार्थ है । जैसे कहा भी है कि—

“न विद्यते रह एकान्तो गोप्यमस्य, सकलसन्निहितव्यवहितस्थूल-सूक्ष्मपदार्थसार्थसाक्षात्कारित्वादित्यरहोऽन्तरः ।” (स्थानाङ्गसूत्रम्)

भावार्थ—जिसके लिए एकान्त-गोपनीय पदार्थ कुछ भी न हो, ससारभरके छोटे बड़े सब पदार्थोंका जो साक्षात्कार करनेवाला हो वह 'अरहोऽन्तर' कहलाता है ।

“अथवा 'अविद्यमान' रह एकान्तरूपो देशोऽन्तश्च मध्य गिरि-गुहादीना सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां तेऽरहोऽन्तरः” (भगवतीसूत्र)

भावार्थ—जिसे सर्वज्ञताके कारण सर्ववस्तु समूह गत सर्व प्रकारके पदार्थोंका एक बहुत बड़ा समूहगत प्रच्छन्नताका अभाव हो, इस प्रकारका रह (एकान्तरूप प्रदेश) नहीं है, अर्थात् उनके अनन्तज्ञानके सन्मुख कोई ऐसा प्रदेश और वस्तु समूह नहीं है, जिसके वे ज्ञाता और दृष्टा न हों, वे तो अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनके द्वारा ससारके पूर्ण रहस्य को जानते हैं, इसीसे पहाड़ोंकी गुफा आदिका अन्तर (मध्यभाग) तकका सम्यक् ज्ञान अपने सर्वज्ञत्व द्वारा जान लेते हैं, वारीकसे वारीक तथा एकान्त और मध्यप्रदेशके जाननेवाले हैं, अत 'अरहोऽन्तर' नाम सार्थक ही है ।

(३) 'अरथान्त' ऐसी संस्कृतच्छायाके अनुसार यह अर्थ निकलता है कि—जिसके पास समस्त परिग्रहका अभाव है, और बुझापा आदि उपलक्षण-वाला अन्त विनाश नहीं है वह 'अरथान्त' है और वे वीतराग सर्वज्ञ देव होते हैं । जैसे—

“अविषमानो रज सन्धन सकस्यपरिग्रहोपलक्षणभूतः, अन्तर्ध
विनाशो वरापुपलक्षणभूतो येषां ते ‘अरयान्ता’

(भगवतीसूत्र)

भाषार्थ—भिनय आत्मरूपी ‘रज’ अप्रतिहत अविनाश होवेसे कही
रज नहीं चकता अर्थात् सीमबद्ध और अलोक्य भी जायता है, अतः उसको
‘अरयान्त’ संज्ञा इसी कारण सार्वक मान्य पाई है ।

(४) अरयान्त सम्पन्न वह अर्थात् निरुद्ध है कि—“राज-रूपक
अरयान्त-त्रिकोणवर्ती अन्तः परावर्तित कृता-रज होवेपर भी जो किसी
परावर्तित अक्षयि नहीं रहता अतएव समाप्तहीन है, इतल अरयान्त’
कह्यत है । जैसे—

“कचिन्प्रासक्तिमगच्छसु वीतरागत्वात् प्रकृष्टरगादिहेतुभूतमनो
मेतरविषयसम्पर्केऽपि वीतरागत्वादिक स्व-स्वमात्मत्ववन्तोऽर्हन्तः ।”

(भगवतीसूत्रम्)

इसके अतिरिक्त अरिहंत’ पाठ भी प्रचलित हैं जिनके अनुसार वह
जन्म होता है कि अरि-कर्मवृत्त नाश करवेसे अरिहंत कहे जाते हैं ईश
कहा है कि—

“अरिहमनादरिहन्तु (त) मरकतिर्यन्यानुपपेतावासगातारोपदुःख
माप्तिनिमित्तत्वादरिमोहसंसारैर्ननादरिहन्तः ।”

(धर्मसिद्धान्त)

“मोहरज-अंतराय-हणन गुणादो य आम अरिहंतो”

(मूल्याचार)

भाषार्थ—(कर्मका) अनुपादकन करकेसे अरिहंत कह्यत है
क्योंकि—मरक-कर्मवृत्त और मोह हन वारों पक्षियों की समझ हुआप्रसक्ति
निमित्त वह कर्मवृत्त ही है जिसमें जी मोहवृत्तवर्तते बलवान् है अतः उनको
हणन करकेसे अरिहंत नाम सार्वक दे ।”

“मोह रज और अन्तराय कर्मका हनन करनेसे ‘अरिहत’ नाम सार्थक है।”

राग दोस कसाये य, इदियाणि य पच य ।

परिसहे उवसग्गे, णासयतो णमोरिहा ॥

(मूलचार)

भावार्थ—राग-द्वेष और चारों कपाय तथा पाच इन्द्रियोंके २३ विषयोंका और २२ परिषह एव उपसर्गके विनाश करनेसे भी ‘अरिहत’ कहे जाते हैं ।

राग दोस कसाए य, इदियाणि य पच वि परिसहे ।

उवसग्गे नासयता, नमोरिहा तेण वुच्चति ॥ ९९८ ॥

(विशेषावश्यक भाष्य)

इंदिय-विसय-कसाए-परिसहे वेयणा-उवसग्गे ।

ए ए अरिणो हता, अरिहता तेण वुच्चति ॥ ९९९ ॥

अट्टविहपि य कम्म, अरिभूय होइ सव्व जीवाण ।

त कम्ममरिं हता, अरिहता तेण वुच्चति ॥ ९२० ॥

(आवश्यकभाष्य)

“रज या आवरणका नाश करनेसे भी ‘अरिहत’ कहलाते हैं । क्योंकि ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म रजके समान बाह्य और अन्तरंग त्रिकालके समस्त विषयभूत अनन्त अर्थ पर्याय और व्यजन-पर्याययुक्त वस्तुओंको विषय-करने-वाले ज्ञान और दर्शनका आवृत्त करनेसे ‘रज’ कहते हैं, इसी प्रकार मोह भी रज है, क्योंकि जैसे धूलसे भरे हुए मुखवाले लोगोंमें कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसी प्रकार मोहसे जिनका आमा व्याप्त है, उनमें भी आत्मोपयोगकी मदता या कुटिलता पाई जाती है । इस लिए रजरूप ज्ञानावरणादिकर्मके अभावसे ‘अरिहत’ कहलाते हैं । यथा—

“रजो हननाद्वा अरिहन्तः, ज्ञानदृगावरणानि रजासीव वहिरगा-
न्तरङ्गावशेषत्रिकालगोचरान्तर्गतव्यजनपरिणामाद्यन्तर्गतविषयानि

भवप्रतिबन्धकत्वाद्वासीति, पुनर्मोहोऽपि रवः । मसारवत्त्वाद्वापि रवः ।
ननानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मनां अशमामोपलभ्यतात् ।

(भवसिद्धान्त)

जबवा 'रहस्य' अन्तराय कर्मका नाम भी है बिचके छव करनेसे भी
जरीहूँ' कहे जति हैं अन्तराय कर्मका नाम छीन जातिवा कर्मके नासब
सापही नियमसे होण है । अतः जमिनामापी सम्बन्धसे यह जर्न निकलता है
कि—बिचके चारों जातिवा कर्मोंका नाश करके अजातिवा कर्मोंको भी निश्चय
बनारिना हो वे जरीहूँ' कह्यते हैं । तथा—

“रहस्यमन्तरायस्तस्य शेषपातिव्रित्तयविनाशाविनाशविनो हि प्रप-
ष्ट-बीजवत्ति-सर्क्रीकृतापातिकर्मणो-इननावरिहन्तः ।”

(भवसिद्धान्त)

(५) एक पाठ अर्कहूँ' भी बबता है क्योंकि 'स' वातुका जर्न
मंजूर कपना है जर्नात् बिचका मयसम मंजूर नह होपका है वे अर्कहूँ'
कह्यते हैं बानी कर्मकमी बीजके जल जाने पर पुनः संसारस्य मंजूरको
उत्पत्ति नहीं होती । क्योंकि—

“न रोहति भूय संसारे न समुत्पद्यत इत्यरुहः, संसारकारणानां
कर्मिणां निमूळकृत्वात् ।”

मगवती-मयचनसारोद्वार—

तथा च प्रज्ञापमासुक्तस्य कारिकायामप्येव, पुन “दग्धे बीजं
यथास्पन्द प्रसुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति
मवाङ्कुरः ॥” इति मायाटीका समाप्ता ॥

शुद्धराती अनुवाद—इहयथाचार्मवी भीटीरंकर प्रमुना शुभोय वर्धन
करता बीजाना अमृदयमा (समीपमा रह्यार) शिथिले बही रता ठे के जे
मय्य प्राणी आजाये दुर्बलीमा पडता कथावतावाय ज्ञान जने चरित्रस्य परमं
जर्नर मयकाद पातेवी मायपूर्ण तेमज परियाम शुद्ध जमिनाय मया जने

મક્તિપૂર્વક ચરિત્રવાન્ થઈને શ્રવણ કરે છે, અને ત્યાર પછી તેનું મનન કરી નિદિધ્યાસન કરે છે, તે આયુષ્યાદિ સર્વ કર્મ વધનોથી મુક્ત થઈ અપુનરાવૃત્તિ યાને નિર્વાણ પદ પ્રાપ્ત કરે છે, અથવા દીર્ઘાયુષ્ય વાળા સ્થાનમા અનુકૂલ સુખ ભોગવનાર ‘અહમિન્દ્ર’ બને છે, અથવા દેવ દાનવોના અધિપતિ એવા ઇન્દ્રપદને પામે છે, આ મેં ‘અર્હન્’ મગવાન્ જ્ઞાતપુત્ર-મહાવીર પ્રભુ પાસેથી જેવી રીતે સામભ્યુ છે તેજ પ્રમાણે તને કહી સમજાવું છું* ।

* ‘અરહત’ આ પ્રાકૃત ભાષાનું શબ્દ છે, જેની સંસ્કૃતચ્છાયા ‘અર્હન્’ થાય છે, કોઈ કોઈ એના અરહોન્તર-અરથાન્ત-અરુહન્ત-વાચક શબ્દો થાય છે, એમ તેઓનું મન્તવ્ય છે, અહીં આ ચારે અર્થ ઉપર આ પ્રમાણે વિચાર કરી શકાય ।

(૧) ‘અર્હ’ ધાતુનો અર્થ ભાવ પૂજા એવો થાય છે, તે અર્થ અનુસાર અતિશય વન્દનીય, સેવનીય હોવાથી ‘અર્હન્’ (અરહત) કહેવાય છે, કેમકે તેમના પાંચે કલ્યાણક્રોમાં દેવો તેમજ ચૌસઠ ઇન્દ્રો દ્વારા અનેક જાતની સેવા સમ્બન્ધી કેટલીયે વિલક્ષણ ઘટનાઓ વની છે, તેમજ તેમનો આત્મા મનુષ્યોની અપેક્ષાથી પર છે, જેથી તેમનામા વિશેષપણ હોવાથી ‘અરહન્ત’ નામ યથાર્થ છે, ‘ઘવલ’ પ્રથમા પળ કહ્યું છે કે—

“જે વદન તેમજ નમસ્કારને યોગ્ય છે, સેવા અને સત્કારને યોગ્ય છે, સિદ્ધિ ગમનને માટે ઉપયુક્ત છે, માટે ‘અરહત’ કહેવાય છે ।”

(૨) “રહસ્યનો અર્થ એકાન્ત થાય છે, એટલે જે સમસ્ત પદાર્થોનો નિકટનાં ચાહે દૂરના, સ્થૂલ ચાહે સૂક્ષ્મ પદાર્થોના સમૂહને હથેલી પર રાખેલ આમ-લાની માફક દેખી રહ્યા છે, જેમને માટે ગુપ્ત કે એકાન્ત એવી કોઈ વસ્તુ યા સ્થાન નથી ।”

(૩) “અરથાન્ત—” એ સંસ્કૃતચ્છાયા-અનુસાર એવો અર્થ નીકળે છે કે રથ=અર્થાત્ વહિર તેમજ અન્તર દૃષ્ટિ એ સમસ્ત પરિગ્રહનો જેની પાસે અભાવ છે એવા વીતરાગ સર્વજ્ઞ દેવને ‘અરથાન્ત’ કહે છે ।” “અથવા જેનો આત્મા રૂપી રથ અપ્રતિહત શક્તિવાળો હોવાથી ક્યાય પળ રોકાઈ શકતો નથી, અર્થાત્ ત્રણે લોક તેમજ અલોક સુધી પળ પહોંચી વળે છે, યાને જાણી શકે છે, જેથી ‘અરથાન્ત’ આ નામ પળ સાર્થક માનેલું છે ।”

(४) 'अरिहंत' सम्मनो सर्व एवो सर्व पञ्च नीकके छे के सम्म-इवना करणभूत त्रिष्येकमा अनन्त पदार्थोनि पापवा देखवा कर्ता कोई पदार्थमा भवसि मवी एवके के बीतरापसमान सीकज छे एवम्माटे अरिहंत कहेवाव छे ।'

"अथ उपरान्त अरिहंत' ए पाठ पञ्च प्रवर्णित छे जेना प्रमाणे अ सर्व पाव छे के—अरि=कमीस्वी चतुनो नास करवावी अरिहंत' कहेवाव छे ।" जेमके—

'सम्म-इव-कपाव-यांचे इन्द्रियोय १३ विषय १३ परिपह, तेमज अठ्ठ-कूळ प्रतिकूल उपसर्गना विद्यासवी पञ्च अरिहंत कहेवाव छे ।"

"रज अर्थात् अवरणोवो बाध करवावी पञ्च 'अरिहंत' कहेवाव छे जेमके-आवावरणीय-वर्णनावरणीयकमी रजनी माफक छे बाध समज अन्तरंग निष्कलना समस्त विषय भूत अनन्त सर्व पर्वार तेमज अर्जव पर्वानुपुत्र वस्तुओना विषयमा लीन छे ज्ञान तेमज वस्तववा हांकवस्म बने छे एवके रजवी माफक आत्मा ऊपर देखवा कर चढवावी ज्ञान अने दर्शनको प्रकाश बहार बीकलना देखे मवी जेमके रजवी कमादेख घोंसलाछ कोकोमा मंदल जग्याई आवै छे हवीज रीते मोहवी जेनो आत्मा बेउएम्मे छे समझमा आत्मोपबोमनी मन्दता नावे कुटिमता मजरे पड़े छे, अ करणवी रजस्व ज्ञानावरणादि कमीय जमानवीज अरिहंत' कहेवाव छे ।"

"अववा रहस्य-अन्तराव वरीनु नाम छे तेयो लज करवावी पञ्च अरिहंत कहेवाव छे अन्तराव कमीनो बाध जव चाछि कर्मोवा बाधनी छावे कापेज निबम प्रमाणे नाय छे आकारणवी अविनाशनी संवचवी अयो अर्ष नीकके छे के जेव आर चाछि कर्मोनि पञ्च अविहीन बनावी रीचा त 'अरिहंत' कहेवाव छे ।"

'अववा अरिहंत' पाठ पञ्च मवी छक छे एह' चतुनो अर्ष अंडरुं उमर्षु एवो नाव छे एवके जेवा मणरूप अंडुर नह नह यवा छे ते अरिहंत कहेवाव छे कारण के कमीहम बीज बली बवावी करीवी संतार रूप अंडुर पेश नह नाव" । इति शुभरायनुवाच ।

प्रशस्तिः ।

महावीरो देवो विदितमवकीर्तिर्जिनवरः, सदा भव्याऽऽधारो
 निजशरणगैर्वन्द्यचरणः । मुदाऽन्त्यो यस्तीर्थकर इति पदाढ्योऽस्ति
 नितरा, वचस्तत्त्वे तस्य प्रतिदिवसमेवार्पितमना ॥ १ ॥ फकीरेन्दुर्भिक्षुर्गु-
 रुरिति तमःस्तोमतरणि, सुपुष्पस्तच्छिष्यो विनययुतभिक्षुर्विधिरमूत् ।
 द्विपञ्चाङ्गेन्द्रवदे ^{१०५२}जननमभवद्यस्य कुतले, गृहीता सदीक्षा भवभयहरा-
 ऽस्मिंश्च व्रतित ॥ २ ॥ ^{१०६८}रसाष्टाङ्गेन्द्रवदे सकलमुनिवृन्देऽतिविशदा,
 स चेदानीं नाम्ना कुसुममुनिदासो शिवरुचि । 'हिमागारे देशे'
 गिरिषु बहुशीतेषु विहरन्, गतो यो यत्रास्ते विविधतरुवृन्दोऽस्ति
 विमलः ॥ ३ ॥ प्रसिद्धे राज्ये च जिनमतधराढ्येन सहिते, समेतो
 'नादोने' गुरुभिरतिपूते निवसता । कृत चातुर्मास्य कलिकलुषतापौघ-
 शमन, समाचीर्णं यत्राऽखिलजिनपथाऽऽराधनपरम् ॥ ४ ॥ 'सुमित्र'-
 स्यादौ हि हितकरसुदीक्षाऽपि नितरा, सदैव पुष्पेन्दुर्विचरति सुमित्रेण
 सहितः । जिनाज्ञासक्त परहितकरः साधुनिरतः ॥ स एवाऽयं भिक्षु
 *सकलदलदोषेन रहित ॥ ५ ॥ हिमाच्छादिते सुप्रदेशे च ^{११०२}आम्यन्,
 शिमाला (शिमला) †कुलुकादिदेशान्तरस्थ । दृगाङ्गानवचन्द्रकावदे
 प्रकाश । मुहुर्दृष्टवान् भूरिशोभा नगस्थाम् ॥ ६ ॥ सहस्रक्रोशान्तं
 पदगमनशीलो मुनिवर, सुपुष्पेन्दुर्भिक्षुः प्रथमगमन यत्र कृतवान् ।
 सुमित्रेण स्वेन गुरुचरणभृङ्गेन सहित, सुशिष्येणागम्यं नगरमभिगम्य
 प्रविततम् ॥ ७ ॥ 'कराची' सुस्थान निखिलपशुरक्षा च विदधन्,
 दयागारं कृत्वा सकलजनश्राद्धै सह मुदा । निहालेन्दुर्यत्राधिपतिरपि

अतोऽत्र विषये, मुनि स्मृते सिन्धोर्विवमविषये कोऽपि न मुनिः
 ॥ ८ ॥ बिनाशस्तकानामपि च न गत कोऽपि *मुमुनि*, सहस्र-
 ऋदेनापि विहरणमगूषत्र न यते । मुने पुण्येन्दोश्च गमनमवधय
 मयम, तव पूर्वनीत्वा दिक्षमपि सुखोत्थां च गुरुणा ॥ ९ ॥
 विहारप्रदेशोऽपि गत्वा च पूर्व, कृता धर्मशिक्षा विशेषेण तत्र ।
 अथ चातिरम्यो विहारप्रदेशो, महावीरदेवस्य अन्मासि यत्र ॥ १० ॥
 अन्य सुप्रदेशोऽनुना आस्युक्त, सदा राक्षसपायवातश्च बभूव ।
 महाकात्तिकामदिरे यत्र हिंसा, सदा आयते प्राणिनां कोटिष्वपि ॥ ११ ॥
 शराकांकचन्द्रे मिते बत्सरेऽस्मिन्महावीरतीर्थकरस्य अयन्त्याम् ।
 नदीदीर्घदामोदराख्या तटे च, समागत्य पुण्येन्दुसंज्ञो हि मिश्रः ॥ १२ ॥
 अहिसोपदेशे चित्तप्ररिप्सामे, प्रवत्सा पशूनां त्रय धूपमुग्रम्,
 वधन्वानमुत्पात्र यः क्षिप्तबाणश्च, सदा वा प्रचार प्रक्षसोऽस्ति यस्य
 सदैव बहून्यन्यकार्यं विधाय, प्रवेशे अमघन्ततो याति नृकम् ॥ १३ ॥
 यथात्र प्रथमं सुरेतरमये देशे शुभे बत्सरे बन्धकां विधौ मिते च
 शरियामामे कृत मिश्रुणा । पातुरमास्वकृतं ततश्च प्रथमं 'बंगे' गुरो
 सेवक, देशांकां विधौ समे च गुरुणा साकं गतं पुण्यक ॥ १४ ॥
 सखानन्दमये शुभे च नगरे 'कालीयकृष्ण'ऽभिषे, यत्राष्टादशसंख्य
 काश्च सप्तका जैना मता भावका । पातुरमास्वकृतं महच्च सुखतो
 आद्या मुने सेवका, यत्रालो कलिकृतपत्तनवरा वीथी च 'पोस्मक'
 की ॥ १५ ॥ सन्धि स्थानकवासिनश्च बहवः श्वेताम्बरा भावका,
 ये कुप्यति समाजकार्यमथवा यस्याधिपा प्रेमिणः । सहेतुं मुनिनेत्र

समिततरं श्रेष्ठा महान्तो मुहुर्जैनाराध्यमुनिष्वपि व्रतधरेष्वेव गुणाः
 सन्ति च ॥ १६ ॥ जैना सघसुकार्यकारिणी सभा यत्रास्ति नित्यं
 मुहुः । सभ्याःश्रावककेऽपि सन्ति सतत नेत्रेन्दुसख्या गुणाः ॥ अत्रैवं
 मुनय त्रयो नव मिते मासे निवासोऽभवत् । एवं चेन्मनुजो नवैव
 वितते गर्भे मुहुर्जायते ॥ १७ ॥ सम्प्रदायस्य वादस्य पक्षपातस्य
 बन्धनम् । त्रोटयित्वा स्वयं जातः, स्वतन्त्रश्च सदा मुनिः ॥ १८ ॥
 जातपुत्रमहावीरजैनसघे व्यवस्थितः । नीरक्षीरविभागार्हः, स्वयं तन्म-
 यता ययौ ॥ १९ ॥ महावीरस्य च प्रभोः, स्तुतेष्टीका कृता वरा ।
 दिवसे दीपमालायाः, याता पूर्णा च सवति ॥ २० ॥ कलिकाताख्य-
 नगरे, वेदाकनवचन्द्रके । श्रीपुष्पचन्द्रमुनिना, शिवाक्षिरसार्गुणैः
 ॥ २१ ॥ मुनिभिः प्रार्थ्यते शश्वन्महावीरस्य शासने । स्वयं तन्मुनि-
 चर्यायाः, मौनमाश्रित्य तिष्ठति । भवान् परिग्रहत्यागी, यद्यस्ति कथमी-
 दृशः ॥ २२ ॥ सम्प्रदायप्रवादस्य, परिग्रहरतः कथम् । सम्प्रदायप्र-
 वादस्य, पक्षं कृत्वा पुनः पुनः ॥ २३ ॥ भवन्तः स्वसमाजेन सह
 यान्ति रसातलम् । भवन्तोऽनन्तससारपापसृष्टिं कृताः कथम् ? वर्ध-
 यित्वा च स्वस्यैव पतनं कथमिच्छतः ॥ २४ ॥

भुजङ्गप्रयातच्छन्दः ।

यदा जीवहिंसापरित्यागिनश्चेद्भवन्तस्तदा सम्प्रदायस्य जाले ।
 जनान् सर्वतश्चात्र घोरे निबध्य, कथं कुर्वते ज्ञानचारित्रनाशम् ॥ २५ ॥
 अनेनाथ देहेष्वनन्तानुबन्धि-कषायस्य बन्धं कृतं तत्र नूनम् ।
 दृढं शृङ्खलाबद्धजीवा भवन्तः, पतिष्यन्ति चैव द्रुतं शर्करादौ ॥ २६ ॥
 विपक्षानुरोधे महामोह एव, समानं स्त्रिया सर्वथा त्यागयोग्यः ।
 सदा सेवनेनास्य नाशं व्रजन्ति, भवद्भक्षचर्यादिकं शश्वदत्र ॥ २७ ॥

अथोऽत्र विषये, अवि स्याते सिन्धोर्विषयविषये कोऽपि न मुनिः
 ॥ ८ ॥ बिनाशस्तकानामपि च न गतः कोऽपि *सुमुनिः, सहस्र-
 र्द्धेनापि विहरणममृष्यन्न न यते । मुने पुण्येन्दोश्च गमनममृष्यन्न
 मथम, तत्र पूर्वनीत्वा दिशमपि सुखोत्थां च गुरुणा ॥ ९ ॥
 विहारप्रदेशोऽपि गत्वा च पूर्व, कृत्वा धर्मशिक्षा विशेषेण सत्र ।
 अथ चातिरम्यो विहारप्रदेशो, महावीरदेवस्य अन्मास्ति यत्र ॥ १० ॥
 अथ सुप्रदेशोऽप्युना अस्त्युक्त, सदा राक्षसप्रायजातश्च यस्मात् ।
 महाकालिकामदिरे यत्र हिंसा, सदा आसते प्राणिनां कोटिष्वपि ॥ ११ ॥
 शरांकांकचन्द्रे मिते बत्सरेऽस्मिन्महावीरतीर्थकरस्य वसन्त्याम् ।
 नदीदीर्घदामोदराकृता तटे च, समागत्य पुण्येन्दुसंज्ञो हि मिश्रः ॥ १२ ॥
 अहिंसोपदेशः ऽथत्यक्करिग्रामे प्रवत्वा पशूनां श्रवणं यूपमुग्रम्,
 वधस्थानमुत्पाद्य यः शिष्टबाण, सदा वा प्रथार प्रसृतोऽस्ति यस्य
 सदैव बहुन्यन्यकार्यं विधाय, प्रवेश्य अमलन्ततो याति नृत्तम् ॥ १३ ॥
 यस्मात्प्र प्रथमं सुरेतरमये देशे शुभे बत्सरे, बन्धकांकविधौ मिते च
 शरिप्राप्तामे कृत मिश्रुणा । चातुरमास्वकृतं तत्तस्य प्रथमं 'वगे' गुरो
 सेवक, वेदांकांकविधौ समे च गुरुणा साकं गतः पुण्यक ॥ १४ ॥
 सर्वानन्दमये शुभे च नगरे 'कालीयकृता'ऽमिषे, यत्राष्टदशसंख्य
 काश्च सप्तका जैमा मता आवका । चातुरमास्वकृतं महच्च सुखतो
 आद्या मुने सेवका, यत्राणो कलिकृतपतनवरा धीमती ॥ 'पोलक'
 की ॥ १५ ॥ सन्ति स्थानकवासिनश्च बहवः श्वेताम्बरा आपका,
 ये कुर्वन्ति समाजकार्यमथवा यस्याधिपा प्रेमिणः । सहेतुं मुनिनेत्र

समिततर श्रेष्ठा महान्तो मुहुर्जैनाराध्यमुनिष्वपि व्रतधरेष्वेव गुणाः
 सन्ति च ॥ १६ ॥ जैना संघसुकार्यकारिणी सभा यत्रास्ति नित्य
 मुहुः । सभ्याः श्रावककेऽपि सन्ति सतत नेत्रेन्दुसख्या गुणा ॥ अत्रैव
 मुनयः त्रयो नव मिते मासे निवासोऽभवत् । एवं चेन्मनुजो नैव
 वितते गर्भे मुहुर्जायते ॥ १७ ॥ सम्प्रदायस्य वादस्य पक्षपातस्य
 बन्धनम् । त्रोटयित्वा स्वयं जातः, स्वतन्त्रश्च सदा मुनिः ॥ १८ ॥
 ज्ञातपुत्रमहावीरजैनसंघे व्यवस्थितः । नीरक्षीरविभागार्हः, स्वयं तन्म-
 यता ययौ ॥ १९ ॥ महावीरस्य च प्रभो, स्तुतेष्टीका कृता वरा ।
 दिवसे दीपमालायाः, याता पूर्णा च सवति ॥ २० ॥ कलिकाताख्य-
 नगरे, वेदाकनवर्चन्द्रके । श्रीपुष्पचन्द्रमुनिना, शिवाक्षिरसार्गुणैः
 ॥ २१ ॥ मुनिभिः प्रार्थ्यते शश्वन्महावीरस्य शासने । स्वयं तन्मुनि-
 चर्यायाः, मौनमाश्रित्य तिष्ठति । भवान् परिग्रहत्यागी, यद्यस्ति कथमी-
 दृशः ॥ २२ ॥ सम्प्रदायप्रवादस्य, परिग्रहरतः कथम् । सम्प्रदायप्र-
 वादस्य, पक्षं कृत्वा पुनः पुनः ॥ २३ ॥ भवन्तः स्वसमाजेन सह
 यान्ति रसातलम् । भवन्तोऽनन्तसारपापसृष्टिं कृता कथम्^२ वर्ध-
 यित्वा च स्वस्यैव पतनं कथमिच्छतः ॥ २४ ॥

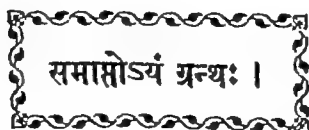
भुजङ्गप्रयातच्छन्दः ।

यदा जीवहिंसापरित्यागिनश्चेद्भवन्तस्तदा सम्प्रदायस्य जाले ।
 जनान् सर्वतश्चात्र घोरे निबध्य, कथं कुर्वते ज्ञानचारित्रनाशम् ॥ २५ ॥
 अनेनाथ देहेष्वनन्तानुबन्धि-कषायस्य बन्धं कृतं तत्र नूनम् ।
 दृढं शृङ्खलाबद्धजीवा भवन्तः, पतिष्यन्ति चैव द्रुतं शर्करादौ ॥ २६ ॥
 विपक्षानुरोधे महामोह एव, समानः स्त्रिया सर्वथा त्यागयोग्यः ।
 सदा सेवनेनास्य नाशं व्रजन्ति, भवद्ब्रह्मचर्यादिकं शश्वदत्र ॥ २७ ॥

विपश्चात्स्ववेश्याऽनुरागोऽपदेव, सदा ब्रह्मपर्यानुरक्तैर्मवन्ति ।
 महावीरदेवस्य माता स्वकीय, मुदा जैनसंघं सुबन्तव्रजं जैना ॥ २८ ॥
 यतो बन्धनान्मुक्तभावः प्रवन्तु भवाहुस्तदाऽनन्ततो वापि दुःसात् ।
 यदात्म्य प्रसंगं भवन्तश्च जैना, न चातुः स्यञ्जन्ति मृषन्ति भवसा ॥ २९ ॥
 जनो ब्रह्मचारी न कोऽप्यस्ति लोके, नितान्तं व्यभिचारवन्तं न रम्य ।
 महावीरसत्त्वोपदेशस्य सारमनेकान्तवाद् बुधाध्यानमन्ति ॥ ३० ॥
 भवन्तः सदैकान्तवादे मष्टा, स्वतन्त्रेवरेषां न द्वान्निष्ठवाक्यम् ।
 स्वकं सम्प्रदायं विशुद्धं गदन्ति, तदाऽन्यं च निर्दां हि कुर्यन्ति नित्यम् ॥
 यतो वर्धमानस्य बालो भवन्तो, विलुपन्ति मिथ्यैव किं सत्यमेव ॥
 तदैव भवन्तः हि जानन्ति सिद्धा, महाऽस्त्यपापानुरागोऽनुरक्तम् ॥ ३२ ॥
 भ्रुवन्तीह पक्षानुरागः विशेषमहं पाप्मके सम्प्रदाये प्रवृत्तम् ।
 सदा चेदृशं भावरोगं त्यजन्तु, न हि स्यात् कस्याप्यभावं कदापि ॥ ३३ ॥
 परित्यज्य मेधात्मकीं बुद्धिमुष्मां, तदा वर्धमानस्य सिद्धान्तमानम् ।
 विजानन्तु ब्राह्मण्य वीरं भवन्तु, सदाक्षेपवन्तो भवन्तो भवन्तु ॥ ३४ ॥

गुरुर्भो वीक्षायां ग्रहणसमये स्नेहकरण, परित्याज्यं चेत्यं कव-
 यन्ति मवरक्षेममनिष्ठम् । परित्याज्यं प्रतिपदविवादं च कुर्वन्,
 तथैवास्तेषां प्रथमं प्रणष्टं प्रतिदिनम् ॥ ३५ ॥ सतो धर्मे नाशः
 प्रवर्तते भवतां वृत्तिरसिद्धा अस्तत्त्वपञ्चमौ न हि सुमुक्तिं कश्चिन्नु-
 निषरः ! अतोऽनित्यं साधो ! परिहर मत्तादृशममहो ! न हि स्वात्क-
 र्स्याणं कचिदपि विशेषं प्रथमः ॥ ३६ ॥ राग-द्वेषविमुक्ततां,
 समताभावाभावात् । वीतरागा प्रवर्तन्ते, साधवो न हि चेतरे ॥ ३७ ॥
 स्वयंस्ति यदि रागश्च, द्वेषमायस्तथापरः । देहभावोऽप्यहमभावो-
 मोहमावस्तथैव च ॥ ३८ ॥ नो गतो यदि वो देहान्नुपैव वेपथ-

रणम् । तथोज्वलतरो वेपो, घूर्तत्वं प्रतिभावयेत् ॥ ३९ ॥ कैतवं
समनुप्राप्य, पापकृन्मुनिराडयम् । वीतरागा न केऽपीह, प्रवदन्तीति
योगिन ॥ ४० ॥ अद्यप्रभृतिमुनिभिर्हीयता पदवी मुहुः । माना-
पमानयोर्वुद्धिस्तुल्यैव परिधार्यताम् ॥ ४१ ॥ सर्वदा भिक्षुवर्यैश्च,
समदर्शिमिरेव च । शासन जिनराजस्य, वर्धनीय विशेषतः ॥ ४२ ॥
ज्ञातव्य मुनिभिस्तत्त्वं, मानवधर्ममाचर ! वीरशासनसेवाया, प्रवृत्ता-
श्चेतसा यदि ॥ ४३ ॥ पदवीधारण मिथ्या, प्रवृत्तिस्तत्र निष्फला ।
नाग्रहस्तत्र कर्तव्य, इति चित्ते समाश्रय ॥ ४४ ॥ जगति *बहुले-
शस्य, मान्यता च सनातने (धर्मे) । तथैव जैनधर्मेषु, (मुनिवर्येषु)
ब्रह्माचार्यस्य मान्यता । इति रोगसमृद्धि स्याद्विपरीत कथं भवेत्
॥ ४५ ॥ स्वयं वैद्यश्च रोगार्तो, नान्येषा दुःखहो भवेत् । आचा-
र्याणां बहुत्वस्य, प्रथा हेया मनीषिभिः ॥ ४६ ॥ अखिलजैनसधस्य
ह्येकश्चाचार्य एव च । कर्तव्यः सर्वथा विद्वन् । न पुनस्त विलोपयेत्
॥ ४७ ॥ समाजं कुष्ठवन्नित्य, क्लिद्यतीति विभावय । कथनेन च
किं तद्वच्छ्रवणेन च किं बहु ॥ ४८ ॥ समाजोऽद्य प्रयागस्य तीर्थ-
वत्क्रियता मुदा । धारात्रयं मिलित्वैव स्वच्छा स्याद्वादरूपिणी ॥ ४९ ॥
गगेवेय च ज्ञातव्य, मुनिभिः सुधिभिः सदा । इत्येव प्रार्थना शश्व-
त्पुण्डोर्मिभुक्तस्य च ॥ ५० ॥



परिशिष्ट नं० १ वीरस्तुति-शुर्जरगायन

कहवाकी-बांस

तार हो तार प्रभु मुझ सेवक भणी,
जगतमां पटलु सुजषा लीजे ।

दास अथगुण भयो आणी पोता तपो,
दयानिधि दीनपर दया कीजे ॥ १ ॥

भावार्थ—किसी समय श्रीविद्यापनके अग्रास हुए ठेकार प्रसन्न करते हुए, कानावरवादि आवरणोंसे ढँके जानेपर भी अपनी अर्द्धत वस्त्रों बाल कर अवादि परमात्मबुद्धिसे दोषसे रहित आत्मा अपने ही साक सन्निधे न देखकर परम निर्दोषके समाप्त २४वें तीर्थकर श्रीकृष्णपुत्र-महावीर भगवान् के नामका स्वर निर्वारित करता है, और श्रीवीरपरमात्म्याद्ये अन्तरमें बहुभूत करके प्रबन्ध रहित निगति करता है और अपनेसे प्रमुख दास विहित समर्थ समझकर मानो पुकार पुकार कर करता है कि—हे बाबू ! हे दीनदानाथे ! हे प्रभो ! मुझसे निर्वन्ध तलसावक आपकी आज्ञाओंके पालन करनेमें कहीं समर्थ है मुझे तो मात्र नामका सेवक समझ कर तार ! तार ! इस शुभ-रोचकस्मृति-दुःखसे निवार ! ओह प्रभो ! मुझ से प्रभुको ओहकर और किसे करूँ ! वह इतना ही मुनस आपकी लीजिए और मुझे मरणावधिसे पार कीजिए ! भय-कर ! मुझे वह भी कात है कि—प्रभुको तो सुबलकी कुछ भी अनिमित्तता नहीं है । परन्तु उपचारसे गतिवश आपके नाममें आश्रित होकर वह सब कुछ कहकर मैं ही अपनी आज्ञावत्ताका परिचय दे रहा हूँ, यद्यपि मैं अपनेसे अप्रत्यक्ष दास समझता हूँ । मगर वह दास तो रामदेव-अर्धनग्न-अनुग्रहार्थतादि दोष-एकमतादोष-अवाधर आदि दोषरूप अथगुणसे मरत हुआ है । तो भी मैं तैरा ही कहता हूँ । अत एव हे दयानिधि ! मायकाव्यतम ! हे दीन-रक्ष-अवरण-भूषित-तलसूत्र-सम्बद्धावादि-शून्य मायवदिर तलमार्गका निर-पक्ष-अर्धनग्न-महाविचारशील-आपकी आज्ञासे मिश्र-अनारिद्यक्य करत आदि ९ अनेक गुणोंसे पूर्ण हूँ । इसी लिए मुझ दीन-दीन पर दया कीजिए । तैरा कृपा ही आज्ञा-करणके योग्य हो आवणी । यद्यपि अर्द्ध-प्रभु बरा रूपपर

ही होते हैं तब उन्हें और नवीन कृपा क्या करनी है? तथापि अर्थोंको घर-गाठका विचार नहीं होता, इसलिए यह वचन मुझसे 'अर्थों' का ही है, और जो दयावान् होता है उसकी विशेषता इसी प्रकार वर्णन की जाती है। अतः देव! तुम कृपाके मदार हो, तुम्हारा अवलम्बन लेकर ही पार हो सकूँगा, यह सत्य और निस्सन्देह है।

राग-द्वेषे भयों मोह-वैरी नड्यो,

लोकनी रीतमां घणुंए रातो ।

क्रोध वश धमधम्यो, शुद्धगुण नवि रम्यो,

भम्यो भवमांहे हुं विषय मातो ॥ २ ॥

भावार्थ—हा तो भगवन्! यह दास कैसा है? सुनिए, यह राग-द्वेषके कीचडमें फँसा हुआ है, जगत्-सागरमें डूबा पड़ा है, गुणी जनोंसे ईर्ष्या करता है, मोहके नशेमें वेसुष है, तत्त्वकी बातोंमें विल्कुल अज्ञात है, विपर्यासका कुछ ठिकाना ही नहीं है। मोह-वैरीने भारी झपट मारी है जिसके कारण अपने उस मोहभावसे खय उसके नीचे दब गया है। तथा लोककी रीतिभाति, चाल-ढाल, अन्धश्रद्धा, उलटी टेढ़ी रूढ़ी आदिमें खूब ही मस्त है, लोकोंकी गतानुगतिकता भेडचालमें ही सदा मग्न है, अपनी गाठकी अकलसे कुछ भी नहीं विचारता, लोकोंको प्रसन्न करनेकी वही चाह लगी रहती है। लोकोंसे डरता भी खूब है इसी कारण गुप्त अनाचार सेवन करता है, तब लोकोंने भी बुगला-भक्तकी ही उपाधि दी है। क्रोधसे पारा गर्म हो जाता है, चढपरिणाममें धमधमायमान है। जिस प्रकार घोंकनीकी प्रेरणासे अग्नि तप उठता है इसी तरह क्या चल्के इससे भी अधिक क्रोधके द्वारा तप जाता हूँ। शुद्ध गुण जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-परमशुद्ध चरित्र-क्षमा-मार्दव-आर्जव आदि आत्मगुण हैं, उनमें कभी रमण नहीं करता, न कभी मैं उनमें तन्मय ही होता हूँ, अपने स्वरूपका ग्रहण भी कभी नहीं किया, सदैव तुसके समान निस्वार्थ परभाव या विभावको ही स्वीकार किया है, नरक-तिर्यच-मनुष्य-देव आदि चार गति रूप संसारचक्रमें इसी कारण मारा मारा फिरता हूँ। तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सद्यतिमें, पांच इन्द्रियोंके विषय-स्वादमें उन्मत्त और उन्मग्न हो रहा हूँ। विषयप्रसक्त हो कर इस भाति विश्वचक्रका कड़ुवा अनुभव ले रहा हूँ, मैं वही अधमदास हूँ,

अतः मुझे तार तार ! हे नाभ ! वीरवन्द्यो ! निम्नरथ ब्रह्मणे ! मुझे तार
मम दुःखसे बचा बचा ॥ २ ॥

आदर्शों आचरण लोक उपचारणी,
शास्त्र-अभ्यास पण कोई कीचो ।
शुद्ध भद्धान बली आत्म-अवलम्ब विम,
तेहवो कार्य तेणे को न सीचो ॥ ३ ॥

भावार्थ—साधक कभी कोई यह कहे कि—आवश्यक करवादि आचरण
बहुतवार सीखर किना है, मगर उस चरित्रको तो अनेकोपचारसे ही किना वा
मिचसे फिर वह आत्मामें निब तथा परमके समस्त परिचय हुआ क्योंकि अभ्यास
अनुष्ठानसे क्या हो सकता है, वह भावबर्मे नहीं हो तो उसके बिना सब कुछ
बुझा है और उसे उपचार-गणानुपस्थितासे अंगीकृत किना समझ पाता है ।
इसके उपरान्त कोई यह भी कहेगा कि—सचगोत्र-वसोनामकर्म आदिके निय-
कसे ज्ञानवरणीवके अयोपचमके बोमसे काजोंका पूर्ण अभ्यास भी तो किना
है, साजोंका पठन-पठन किना है, साजके गर्भमेंसे यथार्थ अर्थको निकल कर
अपत्तमें उसका दिव्य प्रसार किना है । तथा अप्यस्य-भावनासे स्वर्णज्ञानसुभाके
बिना उस सुतका अभ्यास किना गया परन्तु कुछ और यथार्थ अज्ञानरूपेण
भावबर्मेके बिना लेव भावबर्मेकी रुचिसे राज-बचनिक जो पुरुषार्थ किना गया
है उन सबको कारण समझना चाहिए परन्तु मूल बर्मे नहीं । बर्मे तो वस्तुकी
वस्तु है, और वह आत्माके अन्तर्गत-अस्मत्तासे परिणामिकताकी दशामें स्थित
है । उसमें से जो बर्मे प्रकट होता है, वह शुद्ध-भद्धान शुद्धप्रतीति तथा पुनः
आत्माके स्वरूपको प्रकट करनेवाली रुचि तथा आत्माके अगुण-धर्मगुणी
अवधर्मबर्मेके बिना जो आचरण किना जाता है तथा अभ्याससे बरि वह
कर्म किना जाता है । निब कर्मसे आत्माका धर्मज्ञ साधन होता है । उसे
किचीने निर्मित नहीं किना प्रपन्न नहीं किना । निबके कारण जो अत्यगुण
प्रकट हो सकता वा यह नहीं हुआ । अतः हे परमेश्वर ! इस अवमाधम
रासको सेरी ही कृपा पार कर सकती है इसलिए तार, तार, रास समस्त
तार, अपना रास समस्तकर तार ॥ ३ ॥

स्वामी दर्शन समो निमित्त लही निर्मलो,
जो उपादान ए शुचि न थासे ।
दोषको वस्तुनो अहवा उद्यम तणो,
स्वामी सेवा सही निकट लाशे ॥ ४ ॥

भावार्थ—स्वामी श्रीवीतराग है, जो अन्यके कार्यके अवर्ता ह, पर-
भावादिके अमोक्षा हैं, इच्छा लीला चपलता कौतुहल आदिसे सर्वथा रहित
हैं, क्योंकि इच्छा तो ऊनतावान् अर्थात् न्यूनतावालेमें होती है, और परमे-
श्वरतो पूर्ण आनन्दी महजानन्दी है, इसीलिए स्वामी इच्छा रहित हैं, और
लीला भी सुखकी लालसावालेको ही होती है, और लालचीपना सुखकी ऊन-
तासे होता है, इसीकारण प्रभुमें लालचीपना भी नहीं है । ऐसे निजानन्द-
विहारी स्वामीके दर्शनके समान निर्मल निमित्तको प्राप्त करके, आत्माका उपा-
दान—मूलपरिणति यदि शुद्ध न होगी तो जानना चाहिए कि यातो वस्तुका
दोष (जीव अवगुणाधृत) है, या शायद जीवका दल ही अयोग्य है,
कहना न होगा कि इस जीवकी सत्ता किस ढगकी है ? अथवा क्या अपने
उद्यममें कुछ कमी है ? क्योंकि कठोर प्रयत्न और सतत उद्यम करनेपर तो
आत्माका सुधार अवश्य होना ही चाहिए या मगर अबतक कुछ न हुआ ।
इससे स्पष्टसिद्ध है कि—यह जीव अपनी ऊनताके कारण अपने आत्मीय गुणोंका
स्मरण नहीं करता, इसलिए अब क्या करना चाहिए ? और कोई उपाय भी
तो नहीं सूझता । यही समझ कर श्रीअर्हन् भगवान् महावीर प्रभुकी सेवाको
ही मैंने आत्म स्मरणके लिए अमोघ शस्त्र (साधन) समझा है । प्रभुसेवा
ही प्रभुकी समीपताको दिलायगी । क्योंकि बहिरात्मभाव तो इस अवस्थामें
अत्यन्त दुष्ट है । परन्तु जिनराजकी सेवनासे यह दुष्टता दृष्टजायगी ॥ ४ ॥

स्वामी गुण ओळखी स्वामीने जे भजे,
दर्शन शुद्धता तेह पामे ।
ज्ञान चारित्र तप वीर्य उल्लासथी,
कर्म जीपी वसे मुक्ति घामे ॥ ५ ॥

माधार्थ—छात्री अर्थात् छात्रनपति आईन प्रभु, जीमदवीर मय्यारके गुणोंको पहचान कर जो छात्री अर्थात् छात्रको मय्यार है उसकी सेवा करता है, वह शरीर अर्थात् छात्ररूप के मय्यार सम्पूर्ण सत्कारूपकी छात्रों अर्थात् छात्रों को प्राप्त करता है । उसे दर्शनकी नियमिता होती है, यथार्थ आत्म ज्ञान भवता है, चरित्र सत्कारूपमें रमन करता है, तप तत्त्वकी एकप्रकारसे प्राप्त करता है, वीर्य आत्मसामर्थ्यसे बढ़ाव करता है उसके अन्तर्गतसे ज्ञानपरवादि कर्मोंको जीत (धन कर) ता हुआ मोक्ष-विशेषरूप में सम्पूर्णसिद्धिरूप अलुपराधति रूपमें जाकर निवास करता है ॥ ५ ॥

जगद् वत्सल महावीर जिनवर सुणी,
चिस्त प्रभु चरणने दारण वास्यो ।
तारजो वापजी ! बिरुद निज राखवा,
वासनी सेवना रखे जोषो ॥ ६ ॥

माधार्थ—जगद् वत्सल (हितकारी) वीरसुति महावीर जिन वरके गुणोंको सुनकर मेरा मन प्रभुके चरण (चरित्र) की तरफ (मनन) में बस गया है, अर्थात् हे प्रभो ! ओ परमेश्वर ! मेरा अन्तःकरण सबकुछ करके, ऐसी सत्त्विक वृद्धि तो मुझमें नहीं होय पड़ता इसीलिए तरफ मलिक आत्मन के कर करता हूँ कि वापू ! मुझ राखके आप ही पारकरवा और आप अपनी चरित्ररूप निरुद दुरिष्ठ रचनेके लिए इस राखकी सेवा (महि) के कामने मत देखवा जो आपकी आज्ञानुसार महि करता है वह निरुदनेह पार होता है परन्तु जगत्पारक ! मेरे लिए वह सब कुछ होवा हर्षन है, केवल जिसप्रकार काछी सत्त्विकसे ओह और पत्थरमी पार हो जाते हैं इसी प्रकार आपके संयोगसे पार हो जाऊंगा और मुझे अब निवमरुमसे वही एक अन्तिम आचार अवसरमें ही रह रहा है ॥ ६ ॥

विनति मानजो दासि ए आपजो,
भाव स्याद्वापता शुद्ध भासे ।
साधि साधकवशा सिद्धता अनुभवी,
“देवचन्द्र” विमल प्रभुता प्रकाशे ॥ ७ ॥

भावार्थ—प्रभो ! मेरी इतनी विनय तो अवश्य मानलेना, और मेरा यह वचन भी सरल भक्तिकी प्रेरणासे निकला है । हा वह बात मानना कि मुझे एक बार आत्मसामर्थ्य अर्पण करना, और ऐसा भाव भी प्रदान करना कि—जिसभावसे वस्तुधर्म यानी स्याद्वादकी कसौटीसे नित्य-एक-अनेक-अस्ति-नास्ति-मेद-अमेदद्वारा छहों द्रव्योंके अनन्तशुद्ध धर्म, शकादि दूषण रहित भासने लगें । साधकदशाकी साधना करके वे मेदरत्नत्रयी, सिद्धता, निष्पन्नता, वास्तविकताका अनुभव करके उसे भोगने लगें । समस्त देवोंमें चन्द्रमा के समान सिद्ध भगवान्की विमल-निर्मल प्रभुताको प्रगट करे, अर्थात् स्याद्वाद ज्ञानके द्वारा साधकता प्रगट होती है, और उस साधकतासे सिद्धता प्रगट होती है, यही एक विलक्षण सार पद्धति है ॥ ७ ॥

गुजराती भावार्थ—कोइक अवसरे श्रीजिनागमना अभ्यासे करीने ससार भ्रमण निमित्त जे ज्ञानावरणादि आवरणे आवृत पोतानी अनन्त आत्म शक्ति जाणीने अनादि परभावानुषंगता दोषने दु खे उद्दिग्ग आत्मा ते पोतानी साधकता शक्ति अणदेखतो परमनिर्यामक समान चौवीशमा श्रीवीरभगवान्नां चरण शरण निर्धारीने, भीमहावीरप्रभुनी आगल प्रार्थना सहित विनति करे छे जे-हे नाथ ! हे दीनदयाल ! हे प्रभुजी ! मुझ सरीखो जे तत्त्वसाधक तथा आज्ञानिर्वाह मा असमर्थ, तेने मात्र नामथी सेवक जाणी तार, तार । ए गुण-रोधक रूप दु खथी निस्तार, तुज सरीखा प्रभु बिना बीजा कोने कहूं ? जगत्मा एटछं सुजश लीजे, यद्यपि प्रभु तो सुजशना कामी नथी, परन्तु उपचारे भक्ति आनुरताए कहे छे जे मुज सरीखो दास ते यद्यपि राग द्वेष असयम अनुष्ठानाशसादिदोष, एकतादोष अनादरादिदोषरूप अवगुणे करी भर्यो छे, तो पण ताहरो कहेवाय छे । ते माटे हे दयानिधि ! भाव करुणाना निधान ! दीन जे हु रंक, अशरण-दु खित-तत्त्वज्ञान-ज्ञानादिसम्पदारहित-भावदरिद्री-मार्गनो विराधक-असयमसंचारी-महाविकारी-तमारी आज्ञाथी विमुख-अनादिनो उद्धत एहवा मुझ ऊपर कृपा करीजे, ताहरी कृपा तेहीज घ्राण (शरण) यजे । यद्यपि अरिहत तो कृपावतज छे तो नवी कृपा शी करवी छे, तो पण अर्थो विचारे नहीं, माटे अर्थोनु ए वचन छे, जे दयावंतनेज एम कहेवाय छे, जे हे देव ! तमे दयाना भणार छो, तमनेज अवलवे तरीश । ए सत्य ज छे ॥ १ ॥

इस केहने से राय देने मर्को बनतसा पयो गुप्ती ईर्ष्य करे के मोह के मुजितपसु से तात्परी अजायता-मिपर्यायता, हेतुयै मोहनेटी बन्तो सेबी बचानो छे तथा लोकनी के पीत केता जाक से माहे बचोव सतो के लोकनी जाक (पद्यतुष्टिकता) माहे भ्रम के लोकचनसो बची छे, कोव से ताता बन्धपरिचय सेहने बिने कमचगी रह्यो के जेम बमन बमतां बमि तये सेम तपी रह्यो के सुवगुण के सम्मर्शक-सम्बन्ध-सुवपरिच-बना-इसा-मार्ग आर्यकहि आत्मगुण, सेने बिने रम्बो बाही सम्मरी न बचो । से हम न प्रभु बन्ती भन्तो-वतुष्टिरूप मवचकमाहि इत्य-क्षेत्र-मध्य-मवचक संसार सेने बिने हुं निवच-जे पांच इन्द्रियन साह से माहे सतो-केतां नम बचो बन्तो हम संसारचक अनुभवंतुं से इहै प्रभु मुक्तने तार, तार हे बाब ! दीवचन्तु ! निष्कारण वचाक ! मुक्तने तार मव हुःखनी संसार ॥ १ ॥

कहाविह कोई कहेसे जे आत्मककरणादिक आचरण करहुं-मनी कर कर्तुं परन्तु से सब कोकोपचारबी एटके बिप तथा चरक तथा अन्तर्मा-मुक्तनी भावना भरी बिना उपचारे अन्तीकार कर्तुं, तथा कोई कहेसे के बच-गोत्र बन्तोमम कर्मादिकना बिपके कानाचरणीव उबोपक्रमय बोरे अन्तर्मास पच कीचो साज मन्वा साजना बचाई बचै पच आम्वा तथा अन्तर्मासी मावनाए एवर्तमानुमावनिना मुताम्वात कीचो परन्तु छुट बने बचनै साक्षादोपेत मन्वचनै बिना सेव मावचनीनी कबिये जे हाक-बचानिक प्रवर्तन करे के से सब करण समजवा परन्तु मूलमयै बची कर्म से बलुनी सत्त आमाने बिने स-करूपपनै परिचयमकताए रह्यो के । से माहे जे प्रपञ्चो से कर्म एहनुं छुट अद्यान छुटप्रतीति-तथा बन्ती आरमाणी सब प्रवद करारूप कनि तथा आत्माता अनुगने आर्यजन बिना जे आचरण सेने अपरसे तथा मुताम्वासे सेहनुं कर्म-जे कर्मबी आत्मानुं सावन बाब से कोई बीपन्तुं बहि, जे बन्ती अन्तर्मागुण कोई प्रपञ्च से बन्तुं बहि, से माटे अहो परदेधर ! ताहीन हवा पार उठारखे निष्कारण से माटे तार ! तार ! ॥ १ ॥

क्याही भीबीतय जे परकार्यना अकर्त परमाचरिना अभोष्य इच्छा लम्ब-वचकता रहित एटके जे इच्छा होय छे से तो कनकाबंठन छे से माटे इच्छाहित छे, बन्ती लीला पच मुपनुं अस्तव करवारने होय छे अने लम्बी-पनुं से लम्बी कनताए बाब छे । से माटे प्रभुनी सातपीपनुं मनी एहच सामीना दर्शन (मत) समाज नियम निमित्त लीने जे इ आत्मानुं बचा-

દાન=મૂલ પરિણતિ પવિત્ર નહિ થશે તો જાણવું જોઈયે જે વસ્તુ=જીવનો જ દોષ=અવગુણ છે, એટલે રહે એ જીવનો દલ અયોગ્ય હોય! એ જીવની સત્તા કેવી રીતની છે? અથવા પોતાના ઉદ્યમની સ્વામી છે? કેમકે આકરે પ્રયત્ને=ઉદ્યમ કરીને તો આત્માને સમરવો જોઈયે, તો એ જીવ પોતાની કળાશને લીધે આત્મા સમરતો નથી. તે માટે હવે શું કરવું? જે બીજો ઉપાય કોઈ નથી, તો શ્રીઅરિહતની સેવા તેહીજ નિશ્ચે નિકટ કેતા નજીકતા લાશે, કેતા પમાડશે, એટલે આ આત્મા તો હવે દુષ્ટ જેવો થઈ રહ્યો છે, પરન્તુ શ્રીજિનરાજની સેવનાથી દુષ્ટતા તજી દેશે ॥ ૪ ॥

સ્વામી જે શ્રીઅરિહત તેહના ગુણને ઓલ્હાને જે પ્રાણી શ્રીઅરિહતને મજે=સેવે છે, તે દર્શન=સમ્યક્ત્વરૂપ ગુણને પામે છે, દર્શનની નિર્મલતા પામ્યા પછી, જ્ઞાન=યથાર્થ ભાસન, ચરિત્ર=સ્વ-સ્વરૂપમા રમણ તપ=તત્ત્વમા એકાગ્રતા-વીર્ય=આત્મ-સામર્થ્ય, તેહના ડહાસથી જ્ઞાનાવરણાદિ કર્મોને જીપીને મુક્તિ=નિરાવરણરૂપ સમ્પૂર્ણ સિદ્ધતારૂપ ધામ=સ્થાનકમા જડને તે વસે છે ॥ ૫ ॥

જગત્રયવત્સલ=ત્રણ જગત્ના હિતકારી, એહવા મહાવીર મગવાન ચોવી-શમા જિનવર, તેહના ગુણ સામઠીને મારો મન પ્રભુને ચરણને શરણે વસાવ્યો છે. તે માટે હે પ્રભો! પરમેશ્વર! માહરો આત્મા તો પલટીને સર્વસાધન કરે, એહવી શક્તિ દેખાતી નથી, માટે મદ્રક ભક્તિએ કહું છું જે હે તાત! હે દીન-વન્ધો! મુજ દાસને તમે તારજો, તમારુ તારકતાનુ વિરુદ્ધ રાખવા માટે દાસની સેવના ભક્તિ સામુ જોશો મા, જે એ આજ્ઞા પ્રમાણે ભક્તિ કરે તો તરે, એ વાત તો સ્વામિન્! માહરામા થવી દુર્લભ છે, પણ તમારે સયોગે તરીયે, એહીજ નિયમા આધાર છે ॥ ૬ ॥”

“માહરી એટલી વિનતિ માનજો, એ પણ મદ્રિકપણાથી ભક્તિનું વચન છે, જે શક્તિ=એવી સામર્થ્ય આપજો, તે કહે છે, જે ભાવ=વસ્તુધર્મ, તે સ્યાદ્વાદરીતે નિત્ય-એક-અનેક-અસ્તિ-નાસ્તિ-મેદ-અમેદપણે છ દ્રવ્યના અનતાધર્મ શુદ્ધ, શકાદિ દૂષણરહિત ભાસે,=જાણપણામા આવે, તે સાધિ=નિપજાવીને સાધકદશા તે મેદ રત્નત્રયી-સિદ્ધતા-નિષ્પન્નતા-અનુભવે=ભોગવે, સર્વદેવમાહે ચન્દ્રમા સમાન, સિદ્ધમગવાન તેહની વિમલ=નિર્મલ જે પ્રભુતા, તે પ્રકાશે=પ્રગટ કરે, એટલેસ્યાદ્વાદ જ્ઞાને સાધકતા પ્રગટે, સાધકતાથી સિદ્ધતા પ્રગટે છે, એહીજ સાર પદતિ છે ॥૭॥

દેવચન્દ્ર—

वीरस्तुति—

वीर विनेश्वर चरणे जगु, वीरपणु ते मागु रे ।

मिथ्यामोह तिमिर भव मागु, बीत नगारु बामु रे ॥ १ ॥

शाब्दार्थ—वीर विनेश्वर=बीबीसवें वीर प्रभुओं के कारणे जगु=जगत्कार
करता हूँ, (वीर) वीरपणु ते=उनके समस्त वीरपणु=यह वीर मागु मागु रे=
मैं उनके पाससे बाँध द्वारा माँग केता हूँ, (कमल वीरत्व ऐसा है कि-मिथ्ये
सम्मुख) मिथ्यामोह=मिथ्यात्व मोहबीज कम तिमिर भव=अन्धकार भव
मागु=हूँ मागु कहा हुआ है और-बीत नगारु=जबकि नगारु समु-
ह=जब रहा है ।

साधार्थ—मैं बीबीसवें विनेश्वर श्रीमहावीरसावीकी धन वन्दना
करता हूँ, वीर कर्मरूप शत्रुओंको पीतनेके लिए स्वयं जो बोलाना अवश्य
जैसा श्रीवीर भगवान्‌में वीरत्व है, मैं भी अपनेलिए वैसाही चाहता हूँ, और
जिनमें मिथ्यात्व मोहबीज कर्मरूप अन्धकार भव बह होपना है, और फिर
पीतक वंश बचका है ।

परमार्थ—मैं श्रीवीरभगवान्‌की भावोंसे वन्दना करके अपने लिए वीरत्व
पानेकी माँग पेश करता हूँ, श्रीवीरभगवान्‌ केसे हैं ? जिनका कि-मिथ्यात्वमोह
मोह बह होना है, तथा कर्मरूपी शत्रुओंको पराजय करके मिथ्या बचपट्ट
बचने लग है ऐसे श्रीभगवान्‌को कर्मस्वरूप करके मैं वीरता माँगता हूँ ॥ १ ॥

छठमस्य वीरज हेतुया संगे अमिसंधिब मति भंगे रे,

सूक्ष्म धूस क्रियाने रंगे, योगी बयो उमगे रे, वी० ॥ २ ॥

शाब्दार्थ—छठमस्य=छठम अवस्थाकी वीरज हेतुया=ज्ञानोपक्रमिक
वीरवाणी हेतुया=मातृ वहीमायकी एक वधा (उत्तरे) बंगे=संकोपके द्वारा
(तथा) अमिसंधिब=अमिसंधि जनिता-बोधाभिसमिधजनिता-बोधने प्रधान-
करनेसे-अपने आप ही होनेवाली इच्छासे उत्पन्न-मति=तुष्टि, (उत्तरे)
भंगेरे=उत्तरेके उत्तरेके कारण (तथा) सूक्ष्म=आध्यात्मिक (और) धूस=आध्या-
त्मिक, क्रियाने रंगे=क्रियाय समुत्पन्न करकेके उत्पत्तिसे (वीरभगवान्‌)
योगी बयो=योगी बचपट्ट, बयोनेरे=उत्तरेके उत्तरे-म कि अवतरतीसे

भावार्थ—छद्मस्थ अवस्थाकी क्षायोपशमिक वीर्यवाली आत्मपरिण-
तिके योगसे, और योगको ग्रहण करनेकी अपनी निजी इच्छासे उत्पन्न होने-
वाली बुद्धिसे, आत्मिक और व्यावहारिक क्रिया करनेके उत्साह द्वारा श्रीवीर
भगवान् वही भारी उमगके साथ योगी हुए हैं ।

परमार्थ—इस गाथाका भावार्थ भलि प्रकार समझमें नहीं आता,
अतः गुरुगम्यतासे इसका अर्थ समझना चाहिए । तथापि यथा मति लिखा
गया है, छद्मस्थ अवस्थामें आत्माको क्षायोपशमिक वीर्यका उद्गम जब प्राप्त
होता है और उस समय उसके साथ वैसी ही शुभ लेइया मिलजाती है, अतः
फिर अन्वयरूप वीर्यकेद्वारा कर्मग्रहण करता है, इस कर्मग्रहण करनेकी दशाको
अभिसधिज कहते हैं, और तब फिर मति उपर्युक्त वीर्यको ग्रहण करती है ।

देहकम्पनरूप सूक्ष्म-क्रिया, और शरीरसकुचनरूप, एव उसका प्रसरण
करणरूप, प्रसारणकी क्रियाको स्थूल क्रिया कहते हैं, इस प्रकार स्थूल और
सूक्ष्म क्रियाके रगसे सब आत्मा वही उमगसे योगी होते हैं । अर्थात् वे
मन-वचन- और कायके योगको प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

असंख्य प्रदेशे वीर्य असंख्यो, योग असंखित कखेरे,

पुद्गल गण तेणे लेशु विशेषे, यथाशक्ति मति लेखेरे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—असंख्य प्रदेशे=आत्माके असंख्य प्रदेश हैं, (अतः उन
उन प्रदेशोंका वीर्य एकत्र करने पर) वीर्य असंख्यो=असंख्य—जो गिना न जाय
इतना आत्म-बल है, (इसीसे आत्मा) योग असंखित=असंख्य योग-मन-
वचन-काय के व्यापार, (उनकी) कखेरे=अमिलपित अर्थको पूर्ण करनेमें
समर्थ होता है, [और] पुद्गल गण=पुद्गलकी विविध वर्गणाओंको, तेणे=इसी
कारण, लेशु विशेषे=लेइया विपेशसे-भिन्न भिन्न लेइयाओंसे, यथाशक्ति=
शक्तिके अनुसार, मति=बुद्धि, अनुभवाकित रहती है, एकके पश्चात् एक
को ग्रहण करके माप करती रहती है ।

परमार्थ—आत्माके असंख्य प्रदेश हैं, और उन एक एक प्रदेशमें
असंख्य वीर्य-शक्ति है, इससे असंख्य योगकी आकाक्षा उत्पन्न होती है,
और योग सामर्थ्यके अनुसार आत्मा कर्म-वर्गणाके पुद्गलोंको यथाशक्ति
ग्रहण करता है ॥ ३ ॥

उत्कृष्टे वीरजने घेसे, योग किन्मा नवी पेसे रे,
मोग तणी मुवसाने सेसे, जातमसक्ति न सेसे रे ॥ ४ ॥

शाब्दार्थ—(केकिन) बल्लूने वीरजने घेसे=उत्कृष्ट कार्यके आवेसमें-
बल कि सबसे अधिक वीर्य-वस्तुत्व होता है तब योगकिन्मा=मन-बचन
कावस्थी योगका व्यापार, नवी पेसेरे=प्रवेश ही नहीं करता होता ही नहीं
(क्योंकि उक्त समय) योगतबी=योगिनी मुवसाने=अवस्थाको छोड़े-
करकेयमात्र भी आत्मसक्ति=आत्मबल, न सेसेरे=विपाता नहीं—योग स्थिर
ही जमीके कारण ।

साधार्थ—बल आत्मामें सबसे अधिक वीर्य प्रकट होता है तब
मन-बचन और कावस्थ कभी संबन्धन कार्य प्रवेश ही नहीं करता कारण यह
है कि—उक्त समय आत्मबल है उक्त योगके अवस्थाको छोड़के मात्र भी
विगा नहीं सकता ॥ ५ ॥

परमार्थ—उपरोक्त कथनानुसार आत्मा योगिनीसक्तिसे बलुत्तर कभी
पुत्रको ग्रहण करता है परन्तु यदि आत्मामें उत्कृष्ट वीर्य प्रकट होयवा हो
तो फिर मन-बचन-कावके योग समयमें बंद हो जाते हैं और कर्मबन्धन
रूप किन्नासे फिर आत्मामें कर्म-बन्ध नहीं होता ।

योगिनी मुवसाना केवल सब आत्मामें होता है और उक्त केतुमात्रसे
भी आत्मामें आठ बचन प्रवेश कर्मबन्धनसे निरक्त (अलग) रहते हैं । वह
रहान्त है । अत एव ज्यों ज्यों आत्मामें उत्कृष्ट वीर्य प्रकट होता रहता है
सो सो कर्मबन्धन भी कम हो जाते हैं, और अन्तमें सम्पूर्ण वीर्यत्व प्रकट होने
पर वीरमयनादकी तरह समस्त कर्मबन्धन नाश हो जाता है और उक्त
वैतम्यान्व प्राप्त होता है, अतः हे भगवान् ! मुझे वीरता जर्पन करो ! ॥ ४ ॥

काम वीर्य बढ़ो जेम मोगी, तेम आत्मा बयो मोगरि,
सूरपणे जातम उपयोगी, धाय तेह अयोगी रे ॥ ५ ॥

शाब्दार्थ—कामवीर्य बढ़े=श्री संवत्सी इच्छा होने पर, वीर्य बलसे
जेम=जित प्रचार मोगी=योग कर्ता होता है, तेम=इसी तरह, अतएव बयो
मोगीरे=अवस्था (अपने वीर्यत्वका द्वारा अपने गुणोंका) जोपी बलता है

(और) शूर पणे=शौर्य गुणके बलसे, आत्म उपयोगी=अपने भावमें उपयोगवान् रहकर, थाय तेह अयोगीरे=वह आत्मा उसी समय अयोगी गुणस्थान पर आरूढ होता है ।

भावार्थ—स्त्रीसगकी इच्छा होने पर वीर्य अर्थात् धातुके उल्लाससे जिस प्रकार जीव भोगकर्ता सिद्ध होता है, इसीप्रकार आत्मा अपने वीर्य उल्लाससे अपने गुणोंका भोगी बनता है, और शौर्यगुणके बलसे निजभावमें उपयोगवान् रहकर वह आत्मा तुरत अयोगी-गुणस्थानारूढ होता है ।

परमार्थ—जिसप्रकार कामी पुरुषमें वीर्यकी अधिकता होनेके कारण उसे प्रबल कामेच्छा होती है, इसीकारण पुरुष स्त्री की, और स्त्री पुरुष की इच्छा करती है, अथवा काम अर्थात् इच्छा, वह द्रव्यादिककी इच्छावाला जिस प्रकार द्रव्यकी इच्छा करता है, और पर-भावकी वाञ्छा करता है, इसी तरह आत्मा भी स्व-स्वरूपको न जाननेके कारण पर-पौद्गलादिक भोगोंकी वाञ्छा करता है ।

परन्तु जब आत्मामें शूरवीरताका संचार होनेपर वीरभाव प्रगट होता है, तब कर्मोंका क्षय होने पर अपने स्वरूपको जानता है । इससे उसे पर वस्तुओंपर अभाव-(अप्रीति) होता है, आत्मा निजगुणमें रमण करता है, मन-वचन और कायके योगको स्थिर करता हुआ नवीन कर्मोंको नहीं वाधता । और अन्तमें अयोगी हो जाता है । इस लिए वीरत्व प्राप्त होने पर आत्माका कार्य सिद्ध होने वाला समझ कर भगवान्‌के पास वीरता ही मांगी है ॥ ५ ॥

वीरपणु ते आत्म ठाणे, जाण्युं तुमची वाणे रे,

ध्यान विनाणे शक्ति प्रमाणे, निज ध्रुव पद पहिचाणे रे, वी० ॥६॥

शब्दार्थ—वीरपणु=शूरवीरता, (उसे,) ते आत्म ठाणे=वह आत्मगुणस्थानपर चढता हुआ, [परिपूर्ण होना चाहिए इस प्रकार] जाण्युं=में जान सकाहू, [किसके द्वारा जान सकाहू ?] तुमची=आपकी, वाणे रे=वाणी द्वारा-आपके प्रतिपादन किए हुए आगम द्वारा, (तथा) ध्यान विनाणे शक्ति

प्रमाणे—अपनी कठिने प्रयापसे प्याम और निज्ञानसे निष्—अपना हुनपर—
(परिणामकी स्मरणसे पाकर) सांख्यिक अथक पद पहिचाने—पह चाने से ।

माबार्थ—आत्मगुणस्थानपर बहतेसमय परिपूर्ण क्षणीय होयी
बाहिए बिसे में अब प्याम सख हूँ, किसलिए ? आपकी बाणी द्वारा बर्बाद
आपके उपदेशसे पुनः मेरी निजी कठि के अनुसार प्याम और निज्ञानके
साहाय्यसे यी कुछ जाना है, यायी प्याम और निज्ञानका विविध बल होता
है, सतता ही अबदा सही प्रमाणमें अपनी वीरताका स्मरणपद जीव हन
निमित्तसे पहचान केता है ।

परमार्थ—ममबानके पाससे वीरताकी बांछा का विचार करते समन
ममबानके प्रतिपादन किए हुए उपदेशका स्मरण हुआ इसके सर्व ही प्रसन्न
होकर कहता है कि प्रभो ! मेरी जो जो मूक हुई हैं उनका मुझे भय हुआ
अब तक मैं आपसे कही निवृत्ति करता रहा था कि—मुझे वीरता कर्षण करें
परन्तु मांगसे पहिचे आपने फर्माया है कि—समस्तमात्माएँ धीरे समान हैं ।
अतः जो वीरतामें पहले आपसे मांग रहा था कही वीरता मुझमें भी है ।
परन्तु चेह है कि इस बातकी मुझे जरूरी भी जरूर नहीं परन्तु आपकी
बाणीसे—आपके तत्त्वपूर्ण उपदेशसे मुझे विधात हुआ है कि वह वीरता
मुझमें भी पर्वात और अर्बुद है ।

तब वह प्रसन्न होता है कि—अब आपके समान वीरता अपनेमें यी है
तब तुम बसे कबों कही जानते थे ! और ममबानने कहा है कि—इसके अतिरिक्त
वीरता अपने आत्मामें है इसका प्रबल अनुभव हो सकता है, इसी प्रकार
गुरु परम्परासे वह विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ हो तो वसंते यी अनुभव हो
सकता है कि प्रबल प्याम और ज्ञानकी विशेषता है, इसी प्रकार
आत्मगुणकी भी विशेषता जाननी चाहिए । समस्तमात्रोंके ज्ञान और प्याम को
गुरुमतासे काय कर आत्मगुण करनेमें प्रवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि इस
राजबन्ध आश्रय कही है और हमारी चारणा भी कही है ॥ ६ ॥

आसम्भन साधन जे त्यागे पर परिणतिमे मागे रे,
असय दर्शन शान बैरागे, आनन्दधन प्रभु आगे रे, ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—[पूर्ण वीर्योत्साससे शूरवीर वन कर] आलवन=असमर्थ दशमें लियाहुआ आश्रय, (तथा) साधन=समस्त साधन-उपकारण, (उनको) जो=जो महात्मा, त्यागे=छोड़ देते हैं, पर परिणति=आत्मासे अन्य-पुद्गलादिका स्वभाव (उससे), भागेरे=दूर होजाता है, (वह) अक्षय=जिसका क्षय न हो, ऐसे शाश्वत, दर्शनज्ञान वैरागे=ज्ञान-दर्शन और चरित्रके द्वारा, आनन्दधन=आनन्दसे भरपूर, प्रभु=परम समर्थ-परमात्मा-ईश्वर, (होकर) जागेरे=(सदैव) ज्ञानसे जागृत रहता है ।

भावार्थ—सम्पूर्ण वीर्योत्साससे शूर वीर होकर जो पुरुष असमर्थ दशमें पहले लिए हुए आलवनों को और समस्त (अत्यावश्यक) उपकरणोंको भी छोड़ देताहै, उस आत्मासे पर जो पुद्गलादिका विभाव है वह दूर होजाता है, पुन वह महात्मा पुरुष जिसका कमी क्षय न होने पावे, ऐसे शाश्वत ज्ञान-दर्शन और चरित्रसे, आनन्दपदसे भरपूर परमात्मारूप होकर सदैव ज्ञानपूर्वक जागता रहता है, अथवा 'आनन्दधन' कवि कहते हैं, कि-प्रभु-आत्मा जाग जाता है, यानी अनादिकी ऊँचमेंसे आत्मा जागृत हो जाता है अर्थात् विभावदशाको त्याग कर स्वयं परमानन्दरूपमें मग्न हो जाता है ।

परमार्थ—आत्मा अनादिकालके पुद्गल सम्बन्धी आधारसे अपना कार्यकरना त्यागदेता है, तब आत्माका अखण्ड-शुद्ध-चैतन्यत्व सम्यग् ज्ञान-दर्शन और चरित्रद्वारा प्राप्त करता है । और अनादि-कालसे आत्मा जिस पुद्गलके सगमें पड़ा ऊँच रहा है, उसीसमय जग कर स्वयं अपने स्वरूपको प्राप्त करता है अथवा 'आनन्दधन' कवि कहते हैं कि-यह आत्मा पर वस्तुका संग छोड़दे और अपना निजी अवलम्ब रक्खे, तथा परानुयायीपन छोड़दे तो उस रत्नत्रय के आराधनसे यह आत्मा तुरन्त मोक्षको प्राप्त होता है, ॥ ७ ॥

गुजराती भावार्थ—चोवीसमा जिनेश्वर श्री महावीर स्वामीना चरणोमां हु वन्दन करुं अने कर्मरूपी शत्रुओने हणवामां जे योद्धापणु, अथवा जेवु श्रावीर भगवान्नु वीरपणु छे, तेवु वीरपणु हु मागु छु, वळी जे प्रभुनो मोहनीय कर्मरूपी अन्धकार-भय नष्ट थयो छे, अने कर्मरूप शत्रुओनो पराजय करवार्थी जेमनो जयपटह वाग्यो छें, एवा श्रीवीरभगवान्ने पगे लागीने हुं वीरपणु मागु छु, ॥ १ ॥

અ પાપાનો માધાર્ય મને ચણચર સમગ્રામી થતી માટે પુરુષમણી મારહો, તો પણ ચલામણિ સ્વપ્નો છે ઉપસ્થાપસ્થામાં આત્માનું ક્ષાનોપચમિ ક શીર્ષ હોય છે અને તેમી સામે તેથીજ કેટલા મટે છે દરકે ઓઢાનેર્મી થીર્ષે કમી-પ્રહણ કરે છે આ કમી પ્રહણ કરવાની દ્વાને અમિસંચિત કહે છે, અને મણિ હપર્નુષ શીર્ષને પ્રહણ કરે છે ।

દેહકમ્પયકુપ સૂક્ષ્મ કિન્ના અને શરીર સંકોચવા કુપ તેમજ તેનો પ્રચાર કરવાકુપ પ્રચારવતી કિન્નાને સ્ફુલ્લ કિન્ના કહે છે, દરકે તે મન-વચન અને કમનના મોગને પામે છે । ॥ ૨ ॥

જેની સંસ્ક્રા મ આમે તે અસંસ્કવ કહેવાય આત્માવા અસ્વય થીમા રમ્બોના સૂક્ષ્મમાં સૂક્ષ્મ આત્મસપ્ત વિનાયમાં રહેલો જે મ્મય તે પ્રવેશ કહેવાય છે । આત્માવા આપ અસંસ્કવ પ્રવેશો છે અને તે દુકે દુક પ્રવેશમાં અસંસ્કવ થીર્ષ છે તેથીજ આત્મા મન-વચન-અને કાવવા અસંસ્કવ ચોયથી કાંઠા-અમિ-કાવા વાય છે અર્ચાદ તે મોગો સામ્ય-અપદ કરવાને સમર્થ છે અને તે દેહથી પુરુષમણી છુટી છુટી વર્ણવ્યમોને ત્રિવિધ પ્રચારથી કેટલાઓથી અધિમુલ્યન કુદિ કેલી રહે છે અર્ચાદ દુક પાછી દુક પ્રહણ કરીને ચાપછી રહે છે ॥ ૨ ॥

આત્મા ચોયથી અધિકને અનુચારે કમીપુરુષ પ્રહણ કરે છે । પણ જો આત્મામાં અત્યુહ શીર્ષ અપદ જનુ હોય તો પછી મન-વચન-કમનવા મોગ સ્વ મન વંચ કમ છે અને કમીચાંકવા કમ કિન્ના થી આત્મામાં કમીર્ષ વપ્તો મથી ।

મોમની મુજતાનો કેશ વચ આત્મામાં હોય છે અને તે કેશમાવતી પણ આત્માના આઠ રુપક પ્રવેશ કમી વંચથી મિરણ રહે છે દુ અપદ છે । માટે જોમ જોમ આત્મામાં અત્યુહ શીર્ષ અપદ વાય તેમ તેમ કમીર્ષ વપ્તો વાય અને કેશદે સમ્પૂર્ણ શીર્ષપર્નુ અપદ વર્તા શીર અગચાળની પેઢે સપદા કમી-વચનમો વાજ વાય અને છુદ મેતમ્પપર્નુ અપદ વાય તેનું છે । માટે હે મનવાદ ! મને શીરપર્નુ આપો ! ॥ ૪ ॥

જોમ કમી પુરુષમાં શીર્ષનો જવારો વર્તા તેને પ્રવલ કપેચ્છન વાય છે તેથી પુરુષ જીવી અને જી પુરુષમણી રુષ્ણ કરે છે । અવવા કમ દરકે રુષ્ણ તે રમ્બાધિકરી રુષ્ણવાઓ જોમ રમ્બથી રુષ્ણ કરે છે અને પરમ્પવે થાંકે

છે, તેમ આત્મા પળ સ્વ-સ્વરૂપના અજાણપણાથી પર જે પુદ્ગલાદિક તેના ભોગની વાચ્છા કરે છે ।

પળ જ્યારે આત્મામાં શૂરાપણું અથવા વીરપણુ પ્રગટ થાય છે, ત્યારે કર્મોનો ક્ષય થતાં તે પોતાનુ સ્વરૂપ જાણે છે, તેથી પર વસ્તુપરથી તેને અભાવ થાય છે, આત્મા પોતામા રમણ કરે છે, મન વચન અને કાયના યોગને સ્થિર કરી નવાં કર્મો બાંધતો નથી, અને છેવટે અયોગી પળ થાય છે । તેથી વીર્યપણું પ્રાપ્ત થતા આત્માનુ કાર્ય થવાનુ જાણી પ્રભુ પાસે વીરપણુ માગ્યું છે । ॥ ૫ ॥

મગવાનુ પાસે વીરપણુ માગવાનું વિચાર કરતાં મગવાને કરેલા ઉપદેશનું સ્મરણ થયું । તેથી પોતેજ હ્રુશીયદેને કહે છે કે હે પ્રભો ! મારી જે ભૂલ છે, તે મને જણાઈ, અત્યાર સુધી મેં આપને વિનતિ કરી કે મને વીરપણુ આપો, પળ મારી માગણી પહલા આપે કહેલુ છે કે તમામ આત્મા મારા જેવા છે, એટલે જે વીરપણું હું આપની પાસે માગુ છુ, તે વીરપણુ મારામાજ છે, પળ તે વાતની મને ક્ષવર ન હોતી, પરન્તુ આપની વાણી થી એટલે આપના ઉપદેશથી મારી ક્ષાત્રી થઈ છે કે તે વીરપણુ મારામા છે ।

ત્યારે પ્રશ્ન થાય છે કે જ્યારે વીરપણુ તમારામા છે તો તમે કેમ ન હોતા જાણતા ? અને મગવાને કહ્યુ છે કે તે શિવાય વીરપણુ પોતાના આત્મામાં છે । તે જાણવાને બીજુ સાધન છે કે કેમ ? તેનો ઉત્તર કહે છે કે ધ્યાન કરવાથી વીરપણુ પોતામા ઉદ્ભવ થાય છે, અને તેનો પ્રત્યક્ષ અનુભવ થઈ શકે છે તેમજ ગુરુપરમ્પરાથી વિશેષ જ્ઞાન પ્રાપ્ત થયું હોય તો તેથી પળ અનુભવ થઈ શકે છે, જ્ઞાન અને ધ્યાનની જેમ વિશેષતા થાય છે તેમ આત્મ અનુભવની પળ વિશેષતા જાણવી, મુમુક્ષુઓએ જ્ઞાન અને ધ્યાનને ગુરુગમથી જાણી આત્મઅનુભવ કરવામા પ્રવૃત્તિ કરવી એ આ સ્તવનનુ રહસ્ય છે એમ હુ ધારુ છુ ।

આત્મા પુદ્ગલના આધારથી પોતાનુ કાર્ય કરવાનુ ત્યાગે, અને પુદ્ગલનું આલમ્બન જો છોડી દે તો અલ્પ શુદ્ધ ચૈતન્યપણુ સમ્યગ્જ્ઞાન-દર્શન અને ચરિત્રવદે પ્રાપ્ત કરે, અને અનાદિકાલથી આત્મા જે પુદ્ગલના સગમા ઝળેલો પ્રહેલો છે, તે જાગીને પોતાનુ સ્વરૂપ પ્રાપ્ત કરે છે, અથવા આનન્દધન કવિ કહે છે કે આત્મા પર-વસ્તુનો સગ છોડે, પોતાનું અલમ્બન રાખે, અને પરાનુ-યાયી પળ તજે તો રત્નત્રયીના આરાધનથી મોક્ષ પામે ।

[આનન્દધન]

धीरस्तुति—

धन धन जनक 'सिद्धारथ' राजा, धन त्रिशूल देवी मात रे माणी ।
 ज्यां सुत जामो गोव सितायो, वर्षमान विस्मय रे माणी,
 श्रीमहावीर भगो 'बर पाणी,' शासन जेहनो ज्ञान रे माणी,
 प्रवचन सार विचार हिए में, कीजे जर्ष प्रमाण रे माणी, रे
 सूत्र-विनय-आचार-उपस्था-चार प्रकार समाधि रे माणी,
 ते करिये मयसागर तरिये, आत्म भाव आराधि रे माणी, ३
 ज्यों कचन तिहु काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे माणी,
 त्यों जगजीव पराधर योनि, है चेतन गुण एक रे माणी, ४
 अपजो आप विषे बिर आसम, सोई इस कहाम रे माणी,
 केवल ब्रह्म पदारथ परिचय, पुद्गल मरम मिथ्य रे माणी, ५
 शब्द-रूप-रस गन्ध-न जामे, मही स्पष्ट-तप-छाह रे माणी,
 तिमिर-उद्योत-ममा-कष्टु नाहीं, आत्म अनुभव मांदि रे माणी, ६
 सुख-दुःख जीवन मरण अवस्था, ए वक्षमाण संगत रे माणी,
 इगर्बी निज विनयचढ़ रहिये, ज्यों जलमें बल्लावत रे माणी, ७

भावार्थ—'सिद्धार्थ' राजा और 'त्रिशूल' देवी एसीके बन्धवार है,
 जहां 'वर्षमान' जैसे पुत्र उत्पन्न हुए, उन्होंने अपने अंशमें उसको शिव रमा
 कर अपनी होत पूरी की और वर्षमान नामसे तो दोनों अंशमें विभक्त हुए,
 अपर नाम महावीर मन्वन्त । जो श्रेष्ठ और निरीक केवलज्ञान पुत्र है, जिसका
 इस समय शासन का प्रवर्तित हो रहा है, और मही जलमें भी १८५
 वर्ष तक बहेगा उम्हें मेरा योग और करणों द्वारा नयस्वर है जिसके
 मन्वन्त का आत्मभाव और परमात्म विचार है । यदि प्रत्यक्ष मन्वन्त और
 निर्विघ्नत्व किना ज्ञान तो यह आत्म बोधकी पूर्ति हीन ही कर सकता है ।

अत-बन्धन महावीरप्रभुसे 'सुख' निज 'आचार' और 'उपस्था'
 के चार प्रकारकी समाधि मन्वन्त प्रवर्तकोंके कल्याणके अर्थ प्रतिपादित की हैं,

जो जितेन्द्रिय संयमी सदैव अपने आत्माका विनयसमाधि-श्रुतसमाधि-तपः समाधि और आचारसमाधिमें रमण करते हैं वास्तवमें वे मन्त्रे पण्डित होते हैं।

‘विनय समाधिके चार प्रकार—विनय समाधिके चार भेद इस प्रकार हैं जिस गुरुके पाससे शिक्षण प्राप्त किया है, उस गुरुको महा उपकारी समझकर उसकी सेवा करे, उसके समीपमें रहकर विनयका समाचरण करे। गुरुके वचनका यथार्थ रूपमें पालन करे। और विनयी होनेपर अहकारी न बने। मोक्षार्थी साधक सदा हितशिक्षाकी इच्छा रखता है, उपकारी गुरुकी सेवा करता है, गुरुके समीपमें रह कर उनके वचनका पालन करता है, और अभिमानमें मदसे गर्विष्ठ नहीं बनता। वही विनय समाधिका आराधक समझा जाता है।

श्रुत समाधिके चार प्रकार—“अभ्यास करनेसे सुखे सूत्र सिद्धान्तका परिपक्व ज्ञान होगा” यह समझ कर अभ्यास करता है, “अभ्यास करनेसे मेरे मनकी एकाग्रता होगी” यह जानकर श्रुतका अभ्यास करता है। “अपने आत्माको उत्तम और सद्धर्ममें परिपूर्णतया स्थिर करूंगा” यह मान कर अभ्यास करता है, यदि मैं समता पूर्वक धर्ममें स्थिर रहूंगा तो औरोंको भी धर्ममें स्थापन कर सकूंगा। श्रुतसमाधिमें अनुरक्त रहनेवाला साधु सूत्रोंको पढ़कर ज्ञानकी, एकाग्र चित्तकी, धर्मस्थिरताकी तथा औरोंको धर्ममें स्थिर करनेकी शक्तिका सम्पादन करता है, अतः साधकको श्रुतसमाधिमें तल्लीन रहना चाहिए।

तपः समाधिके चार प्रकार—सच्चा साधक इस लोकके स्वार्थ-सुखके लिए तप नहीं करता, परलोक स्वर्ग सुखके लिए तप नहीं करता, क्रीर्ति, वर्णन (श्लाघा) के लिए भी तप नहीं करता, और पाप कर्मको बखेरने-वाली निर्जराके अतिरिक्त किसी भी अन्यकारणसे तप नहीं करता, वही तपसमाधिके योग्य होता है। तपसमाधिमें सदैव लगा रहनेवाला साधक भिन्न-भिन्न प्रकारके सद्गुणोंके भण्डाररूप तपमें सदैव तन्मय होता है। किसी भी प्रकारकी धात्रा रखे बिना कर्मक्षीण करनेवाली निर्जरा भावनाके लिए प्रयत्न करे तो तपकेद्वारा वह पुराने पापकर्मोंको दूर कर सकता है।

आचार समाधिके चार प्रकार—कोई भी साधक इस लोकके स्वार्थकी पूर्तिके अर्थ भ्रमणके सदाचारोंका सेवन नहीं करता, पारलौकिक

साधकें किए भी सहायार्थों का सेवन नहीं करता। कीर्ति-वर्ण-सम्पदें किए भी साधुके सहायार्थोंका पात्न्य नहीं करता। (अर्थात्) अहंभवेके कर्मवले सुखसिर्जनाके हेतुको छोड़ कर किसी भी साधकें किए आभारका पात्न्य न करके मात्र निर्मल ही आभार पात्न्य करता है। जो साधक इमिटेन्ड्र है, सब-रिक्तसे आत्मसमाधिमें अतृप्त करता है, महावीरके बचनोंमें अपरैको अर्पण कर पुत्र है, बाद-विवाहसे निरत और सम्पूर्ण क्षामिकभावको पाकर विरक्त आत्मा मुक्तिके निकट हो जाता है। वह साधक इन चार समग्रियोंसे आत्माका आराधक होकर-मुनिपुत्र होकर विरक्त सुसमाधिकी साधमें लज्जकर परमहितकारी और अपना एकाग्र सुखकारक व्यवसायका सब ही प्राप्त करता है। समाधिसे जन्म और मरणके बन्धों मुक्त होकर सात्वत सिद्ध होता है। बहो बड़े बहुत कम बाकी रहण् हों तो महान् अविशुद्ध उच्च और सर्वोत्तम कोटिमें 'देव' होता है ॥ २ ॥

अस्या सुखकेरी तरह है, आभूषणोंकी तरह वह पर्वतीय है, चतुर्धर जगत् और चौपटोकाई जीवबोनि चारवट्टी इसके पर्वत हैं। परन्तु चेतना पुत्र बचका एक है, जगत्त है, किसीका किसीप्रकारसे अन्तर नहीं है।

‘अपने आत्मको निजसमाधाय स्वप्न कर, सब सोई का मत्त होय इस अनुभवके पश्चात् (इस) परमात्मक (सत्त्व) हो आनन्द परमात्मको सुकाने काय केवल-अपराधकी परिचय पुत्रजनैरतिथि मरण मित्य देव। इसीका अन्त्यास चरित्र-आत्म समवत्त है, जो अवीरको जगत्त आत्मइकाको सुखक प्रयत्न करदेव है।’

‘इस आत्मामें सत्त्व-रूप-रस-गंध-स्पर्श-जात-जादा-अन्धकार-उद्योत-प्रमा-अवि कुछ भी नहीं है, और आत्म-अनुभव होनेपर बाह्य वस्तुओंका मोह और वे इस सब वस्तुएँ आत्मके प्राप्त कमी पटक ही नहीं सकती।’

‘तथा सुख-दुःख बीज-मरण-समग्रणी जगत्तएँ इव । बाह्य प्रलोके साध है, इनका पवित्र और स्वामी-अन्धके साध कोई संवन्ध नहीं निजबचनोंकी साधमें जगत्तके समान तब और पवित्र महावीर प्रभु उनके इस अन्धर निज है किन् प्रकाश प्रकाश कीचक और बंधीर बन्धों उत्पन्न होकर अमरक घानी और कीचकसे अलग रहता है।’

विनयार्थ (कुंभट)

महावीर थुई नो गुजराती काव्यानुवाद

आज सुधर्मा कहेता प्यारा जंबुने, वीरप्रभुना पंचम गणधर धीरजो,
 संयमसागर शिष्य बडा ते जंबुजी, पूछे गुरुने अम मांगो गमीर जो १
 कहो गुरु आ भवसिंधु उतारवा, कोणे आप्यो उत्तम अमने धर्म जो,
 साधु संघने अन्य पंथना सज्जनो, पूछे आवी धर्म तणो सौ मर्म जो १
 अनन्य मंगल धर्म दीधो जे व्यक्तिए, ते समजावो टळवा सौ अनर्थजो,
 गुरु ज्ञानी छो आप महा आ विश्वमां, तेथी पूछु प्रश्न तणो हु अर्थ जो १
 कहो स्वामी ते ज्ञान घरे कइ जातना, कइ पक्तिना तेना दर्शन शील जो,
 श्रवण कर्तुं के जोयुं जे आपे प्रभु, बोलो ! खोली दिलना द्वार अखिल जो २
 मधुर वाणी आ सुणी सुधर्मा बोलीया, जाणे चाली सुधा शब्दनी धारजो,
 विश्वसकळनो दुःख जाणतो नाथ जे, वीरप्रभु ते आव्या आ संसार जो १
 कर्मरिपु सहार करी ते पामीआ, अनन्त दर्शन-ज्ञान तणो मंदार जो,
 सूक्ष्म विषये दृष्टि तेनी स्थिर छे, कुशल प्रभु ते दीप्या जग मोझार जो ३
 सर्व दिशामां वसता जे त्रस स्थावरो, मान्या तेने 'नित्य' अने 'अनित्य' जो
 द्रव्य थकी तो मानी तेनी नित्यता, पर्याये तो मान्या छे अनित्य जो १
 घोर तिमिर जे विश्व महीं व्यापी रह्यु, अनन्य दीपक तेहनां छे भगवान् जो
 सर्व जीवोपर राखीने समभावने, अर्पण कर्ता धर्म तणु तो पान जो ४
 सर्वदर्शी सर्व विषयने जाणता, जीत्या चारे मति-श्रुत आदि ज्ञान जो,
 केवळजानी निज आत्मामा स्थिरते, शुद्धचरितना गातां जन गुणगान जो
 सर्वपुरुषमां पुरुषोत्तम ते जानी छे, परिग्रह केरो सग नहीं तलभार जो,
 लोक तणा तो भय तेने नहि पामता, जन्ममर्णनो स्पर्श नहीं लगाव जो ५
 प्रजा तो बहु तीव्र हती भगवान्नी, बन्धन विण ते करता सदा विहार जो,
 भवसिन्धुनी पार गया छे स्वामी ते, पाय्या ते श्री अचन्त ज्ञान मंदार जो १

महातपस्वी तपस्वा करता घोरने, सूर्य स्मृ दीपे छे तेनुं ज्ञान जो,
 वैरोचमने सूर्यसमा ते बाळता, जगत् गर्हि जे व्याप्या सहु ज्ञान जो ६
 स्वर्ग महीतो सहस्र देवो शोमता, रूपगुणमां सौधी सोमे इन्द्र जो,
 सर्वलोकनी शोम्य महीं ते शोमता, अतिप्रभावी शत्रुपुत्र मुनीन्द्र जो ।
 ऋषय आदि चौबीस तीर्थकर बया, जैधी प्रसन्नो सर्वे जेष्ठ जैन धर्मजो,
 जैनधर्मनो नेता ते महावीर छे, काश्यप कुलमां बहने भांयो मर्म जो ७
 महेरामजमो पार कवी नहीं आवतो, तेम प्रमुनी बुद्धिनो नहीं पार जो,
 द्रव्यक्षेत्रने काळ-भावना मापवी, अक्षयसागर पार ज्ञान अपार जो ।
 निर्मल अळ ठों महेरामजनु वीपतु, तेम प्रमुनी ज्ञानज्योत झळकाय जो,
 कपलकापी कर्ममुक्त पाय्या भक्ती, देवाधिप ते इन्द्र समा लेलाय जो । ८
 वीर्यवानमां अनन्त बीर्ये शोमता, जे वीर्यनी जगमां छे नहि जोड जो,
 गिरि वृन्दमां गिरि नहीं मेरु समो, मेरु सम जे सोमे जगमां जेष्ठ जो ।
 देव सकळतो मोक्ष माणता मेरु बी, तेम प्रमुणी पामे सौ आनन्द जो,
 रंग बहने गुणो रम्य छे मेरुना, गुणो प्रमुना आपे परमानन्द जो ९
 गिरिराज ते ऊँचो योजन ऊँच छे, पृथ्वी परवी सहस्र न्वाणु बाय जो,
 पृथ्वी तस्मां सहस्र योजन एक छे, अति मनोहर कडक जेने होय जो ।
 ऊँच कडके पडकनन बिराजतु, ते सो आणे ध्वजा गिरिनी बाय जो,
 गिरिराज ए व्यापक छे गज्जलोकमां, ज्ञान प्रमुना एवा व्यापक होयजो १०
 गिरिराज ते गगन टोचने पछोंचतो, नीच सो ते करे मृमिमां बास जो,
 ऊँच जघोने तिर्यक् कोके व्यास छे, विमान ज्योतिष्क फटतु तेनी पासजो
 गिरिराजनी स्थाति छे त्रिलोकमां, नन्दमवन सो आम्मां सेमो पार जो
 अनेक बन्ना कीडाखल त्यां शोमता, इन्द्रप्रेषनी कीडानो नहि पारजो ११
 देव रमे त्यां सुखविठसे विषविषना, सुंदरध्वनिजो ज्ञानवनी संमज्जजो,

પ્રતિધ્વનિ તો 'તેજ' થકો પળ તીવ્ર છે, કચનવર્ણો પૃથ્વીસમ સોહાયજો
 ગિરિરાજમા પ્રતિધ્વનિ જે થાય છે, એવી પ્રમુની ધ્વનિ દિવ્ય સમભાય જો,
 ગિરિરાજ તો દુર્ઘટ છે સૌ પ્રાણીથી, કચન રંગી દુર્ઘટ વીર ગણાય જો ૧૨
 પૃથ્વી મધ્યે ગિરિરાજ ઉમો રહ્યો, સૂર્યકાંતિ સમ સોહે પૃથ્વી માય જો,
 વિધ વિધ રહે રંગ ચિત્ર વિચિત્ર છે, સૂર્યસમા તે શોમે દશદિશ માય જો ।
 ગિરિરાજ સમ ઋપિવર્ગમા મહાવીર, ઉજ્વલ મેરુસમ શોમે તે અગ જો,
 મેરુ સમ તે અટલક્ષ્મી ઉપેત છે, સ્વય પ્રકાશી વીજો સૂર્ય નિશંક જો ૧૩
 ઉપમા પ્રમુની મેરુ વિણ ના થદ શકે, તેથી ગાયા મેરુના ગુણગાનજો,
 એ ઉપમાએ વીરપ્રમુના ગુણ તુ, સમજી લેજે દર્શન શીલને જ્ઞાન જો,
 જેવી છે આ જાતિ-કીર્તિ મેરુની, તેવી જાતિ-કીર્તિ પ્રમુની માન જો,
 ગિરિરાજ તો વ્યાપક છે મધ્યલોકમા, લોકાલોકે પ્રમુના દર્શન જ્ઞાનજો,
 ગિરિવૃન્દમા નિષધસમ લાવો નહિ, ગોળાકારે 'રુચક' વિણ નવ હોય જો,
 નૌતમ તેવી પ્રજ્ઞા પ્રમુની ધારવી, મુનિવર્ગમા શ્રેષ્ઠ વીર ગણાય જો ૧૫
 વિશ્વધર્મમા જૈનધર્મ પ્રધાન છે, દીધુ રુદ્ર ધર્મ તણુ એ દાન જો;
 સર્વધ્યાનમા શુક્લધ્યાન અતિ શ્રેષ્ઠ છે, ધરતા એવુ ઉત્તમ શુક્લ ધ્યાન જો,
 શુક્લધ્યાન બઠી ફીણસમુ છે શ્વેત તે, જેવો ઘોઠો શશ્વત્ત સોહાય જો,
 ચંદ્રસમુ તે ઉજ્વલ નિર્મલ માનવુ, શ્વેત રગથી વીર શુભ્ર ગણાય જો ૧૬
 વીર મહર્ષિ મુક્તિદશાને પામિઆ, પરમ સ્થાન એ લોક મહિં લેશાય જો,
 ભક્ષ કર્યા છે કર્મરિપુના શેપને, કર્મયોગમા કર્મવીર મનાય જો,
 ક્ષાયિક દર્શનને ક્ષાયિક ચારિત્રથી, ક્ષાયિક જ્ઞાને સિદ્ધિ પામ્યા નાથ જો
 એ સિદ્ધિ તો આદિ-અનન્તી જાણવી, વિજય કર્યો છે રાગ-દ્વેષનો સાથજો;
 વિજય કર્યાથી મોક્ષ આદિને પામીઆ, બાલ્યા જેણે સઘળા પાપ સ્થાનજો;
 પાપસ્થાનો ફરી સજીવન થાય નહિ, તેથી સિદ્ધિ જમ્બૂ અનન્તી માનજો ૧૭

શુદ્ધ મહિં તો શાસ્મલીને આળસુ, કાનનમાં નહિં નન્દમનની ઓહનો,
 શાસ્મલીને નન્દનવનના આશ્રમે, સુપર્ણ સરસા દેવ કરે પ્રમોદ ઓ
 શાસ્મલીને નન્દનવન તો ક્યાં મળે, અદ્વિતીય સ્થાનો કોઈ મહિં પંકામનો,
 શાસ્મલીને નન્દનમેવા જન્મી, વીર મુદિને જ્ઞાન ચરિત અંકમય ઓ ૧૮
 શબ્દમહીં તો મેષશબ્દ ક્યાંથી મળે : મેષતણુ તો ગમીરગર્ભન હોય ઓ,
 પ્રહોમહીં તો પદ સમ છે પ્રહ નહિં, મનહર જેની શીતલતા પ્રસરાય ઓ,
 સુગંધિઓમાં મલ્લયજસમ છે વાસક્યાં : કોઈમહીં એ પદન શ્રેષ્ઠ ગત્યાયનો,
 મેષ પદને મલ્લયજ જેવા આળસ, મુનિર્ગમાં વીરના ચિરક મય ઓ ૧૯
 સિંધુ મહીં તો સ્વયમૂ રમણ આળસો, કીઠા કરતા દેવો ઝ્યાં સ્હર્પ ઓ,
 મવનવાસીમાં મય્ય નાગકુમાર છે, મન્યરૂપથી મનપ્રમે ઉત્કર્ષ ઓ;
 સર્વ રસોમાં રૂક્ષરસને આળસો, મધુરતાથી મનહુ શીતલ ગાય ઓ,
 રૂક્ષ-સ્વયમૂ-દેવનાગ સમ વીરના, વીરમધુના પ્રપાન સપ અપ હોય ઓ ૨૦
 હસી મહિં પેરાવત સમ છે હસી નહિં, પતુ મહીં તો સિંહકેસરી એક ઓ,
 નિર્મલ જલમાં ગગાજલને આળસુ, વિહગોમાં ગરુડ એક નિર્લંક ઓ,
 પેરાવત મનગમતીશક્તી ભાવતો કમ્પા ક્યની ત્રિશક્તિ ધર વીર બોધ ઓ,
 ગરુડ-ગા-પેરાવતને હસી સમ, મોક્ષવાદીમાં વીરના મુક્તિ બોધ ઓ ૨૧
 ચોન્દાઓમાં વાસુદેવ મણહુર છે, મિત્ર પુષ્પમાં પક્ષ્વ સમ મય કોત્ય ઓ,
 શત્રીઓમાં જન્મવર્તી પ્રપાન છે, ચિરક ગુણગા ચિરકાં સ્થાનો હોય ઓ;
 વાસુ ઇણુ જલ અઘાપ્ત વીણસ્યસ્તુ, પક્ષ્વને છે મયસ્ત્રી મીઠી વાસ ઓ
 વાસુ કમલને જન્મવર્તી સમ આળસ, અપિર્ગમાં વીર મહર્ષિતાસ ઓ ૨૨
 વામ મહીં તો અમયવાનને આળસુ, સત્ય મહીં તો 'નિર્વચ' નિર્ધિત ઓ,
 સર્વ સપો માં પ્રહર્ષ્ય વિધિષ્ઠ છે, આત્મજલની આગે તેથી ઝ્યોત ઓ,
 અમયવાનથી વૃદ્ધ બતી દિસા સહુ, નિરવચથી પરપીઠા ગતી ગાય ઓ,

ब्रह्मचर्यथी उत्तमवळ तो आवतुं, लोक महीं एम उत्तम वीर मनाय जो २३
सुरपदोमा सर्वार्थसिद्धि श्रेष्ठ छे, सुधर्म केरी सभा अनुपम थाय जो,
सर्वधर्म तो श्रेष्ठ मुक्तिने मानता, जीव मात्रनो परम हेतु ते होय जो;
सर्वार्थसिद्धिना सुखनी तो वातशी, सौधर्म केरी सभा अनेरी होय जो,
रतिमुक्तिनी वाणी तो नहिं कहीशके, प्रमुसमा उत्तमज्ञानी नवकोयजो २४
परिषहो तो घरे पृथ्वी सम नाथ ते, पृथ्वीवत् ते सौनो छे आधार जो,
अष्ट कर्मने नष्ट कर्मा ते स्वामी ए, कर्यो गृद्धीने अभिलाष संहार जो;
पाम्या छे ते ज्ञान महा उपयोगनुं, प्रयास विण ते जाणे वस्तु रूप जो,
अनन्तभवने तरी गया छे वीर ते, अनन्तचक्षु नित्य अभयस्वरूप जो २५
महारिपुजे आत्मदोष ससारना, क्रोध मानने मोह लोभ पर्याय जो,
दूर करीने अर्हत् पदने पामीआ, करे करावे पाप नहीं ऋपिराय जो २६
विघ विघ पथो लोक महीं चाली रह्या, क्रियावादीके अक्रियवादी कोय जो
रमे कोई अज्ञानवाद के विनय मा सर्व पंथना ज्ञान वीरने होय जो;
क्रियावादीनी मुक्ति क्रिया मां रही, अक्रियवादी समजे मुक्ति ज्ञान जो
विनयवादितो विनय एज मुक्ति गणे, अज्ञानी तो मुक्ति गणे अज्ञान जो,
सर्व पथने समजीने आ स्वामीए, विकसाव्यो छे लोक महीं जैन धर्म जो,
ज्ञानक्रियामा मोक्ष मानता वीर ते, लीघोसंयम समजाववा सहुमर्म जो २७
मोक्ष तणो मार्ग कछो आरीति थी, करी बताव्यो जगने देवा बोध जो,
सकल पापने भस्म करीने स्वामीए, रोक्वो वहेतो कर्मरिपुनो धोध जो,
मनुष्य केरा के नरकादिक लोकना, वीरप्रमुए जाण्या पूर्ण स्वरूप जो,
स्वरूपजाणी लोक अने परलोकना सर्वलोकने छोड्या छे तद्रूप जो २८
धर्म परूप्यो अर्हते आ प्रेमथी, अर्थ पदोमा केवळ जे निर्दोष जो,
सुणी तत्व आ श्रद्धाथी जन पामता, इन्द्र सुखके मोक्ष लक्ष्मी सतोष जो २९

परिशिष्ट नं० २-प्राकृतस्तोत्रविभागे

(पद्मपापमयं वीरस्तोत्रम्)

विषाणां सन्नमन्दस्त्रिभुवनमथनालोक्तप्रत्यलोऽपि,
 प्राप्ते वाक्षिप्यसिन्धुः पितृवचनवशास्तोरसव स्त्रेसस्तावम् ।
 जैनेन्द्रो दम्भविषां पुरत उपदिशन् स्वामिनो देवतानां,
 धम्भब्रह्मप्यमोष स दिशतु भगवान् कौशल त्रैलोक्य ॥१॥ (संस्कृतम्)

ओ ओईसरपुगवेहि हियए निबिपि ज्जाइज्जए,
 ओ सवेसु पुरणवेयपमिहमायेसु गीइज्जए ।
 ओ इत्थद्विमधामल व सयल ओकत्तयं ज्ञापए,
 व बदे तिवयगुरु जिणवरं सिद्धत्थरायगव ॥ २ ॥ (प्राकृतम्)

देविंवाणवि बद्धणिअचलणा सवेवि सच्चभुणो,
 संवदा किं गातमा अवि तथा अस्सप्यसादा दुते ।
 सो सिद्धत्थमिहाणमूबदिससो ओगिंदधूडामणी
 मघाण भवदुक्खलक्खलदक्खो दिज्जा सुह सासद ॥३॥ (शीरमनी)

दुम्मे संगमके शुभे मयकले थोत्तेवसग्गावसिं,
 कुपतेवि न ओसपोषाकनुदा येण कद माणसं;
 इदे भत्तिपत्ते ण शेष बहुम योगीशरग्गामणी,
 रो बीत्ते पत्तमेशसे दिशतु मे नेइन्तपुत्तत्तण ॥ ४ ॥ (मागधी)

कपंउक्किमतिमइल जइइइण्णुहृत्तवभइय,
 उण्णत्तनमहत्तव कइयइणुहृत्तमेममाय ।
 पातग्गन सुमेग्गपगइरं वावत्तसीयायल,
 पीरम्स पणुणो जिनाम जयतु बन्धीनीगने पायइ ॥५॥ (वमाधी)

इहो वेदणरेसि जासु महया हल्लोहलेणागओ,
जज्झाई मुणिहसओ हियडए अक्खे निरुंभेविणु,
साहु ब्रोप्पिणु जासु कोइ महिमा नो तीरण माणवो,
पाए वीरजिणेसरस्सु नमहु सीसल्लडे अम्हहे ॥ ६ ॥ (अपभ्रशः)

आसाढे धवलाइ छड्डि चवण चित्तस्स तेरस्सिए,
सुद्धाए जणण मुकिण्हदशमी दिक्खायमगरस्सिरे ।
जस्सासी वइसाहसुद्धदसमी नाण जणाणदण,
मुक्खो कच्चि अमावसाइ तमह वदामि वीर जिणं ॥

कणयसमसरीरं मोहमल्लेगवीर, दुरियरयसमीरं पावदावगिनीरं;
सुगहियभवतीरं लोअलकारहीर, पणमह सिरिवीरं, मेरुसेलेसघीरं ॥

जय जय जय जणवच्छल ! नवजलहरपवणवणयसमणयण नय-
णमणपमयवद्धण ! धणकणयलक्खणयसमण ! ॥ १ ॥ समणमणम-
सलजलसय ! सयत्थसत्थत्थपयडणसमत्थ ! मत्थयनमंतनर वर ! वर-
वरयवरंग गयसग ! ॥ २ ॥ सगरगररससयगय ! गयमच्छर ! रयण-
मयणददजलण जलणजलसप्पमयहर ! हरहसधवलयरजसपसर ! ॥ ३ ॥
सरणपवणणसरन्नय नयसयगमरम्मसम्ममयसमय ! मयमयगलनहप-
हरण ! रणरणयभयम्ममसवत्त ! ॥ ४ ॥ वत्तसयवत्तगहवर ! वरक-
लसलसतसखचक्कक ! ककफलसरलनयण ! नयपमय असत्तअपमत्त !
॥ ५ ॥ मत्तगयगमण ! गयमण मणगयससयसहस्सतमतवण तवण-
यप्पहपहयर ! हयतमपरमपयनयरस्स ॥ ६ ॥ इय पढमसरनिवद्धं धण-
क्खरं गहिय मुक्कयपयङ्कु भत्तीए सथवण रइयं मुणिचंदमुणिणा ॥ ७ ॥

(वीरस्य षट्पञ्चशतश्लोकावली)

मोत्सामि विषवर्दि, अन्मुखमूषहि जहसयमुगेहि, ते तिविहा
 साहाविय, कम्मवत्तइया सुरक्या य ॥ १ ॥ देहे विमल्लुगर्भं, अम-
 यपासेहि बन्धिनं अरुणं, रुहिरं गोवल्लीराम, निधिस्स पडुरं मसं
 ॥ २ ॥ अहारा नीहारा, अदिस्सा मंसवत्तुणो, समय नीसासो अ-
 सुगधो, कम्मप्पभिहि गुणा एए ॥ ३ ॥ सिंसे बोयजमिसे, ज विन-
 कोडीसइस्साओ माण, सवसमासाणुगय, वयण वम्मावबोहकरं ॥ ४ ॥
 पुबुप्पत्ता रोगा, पसंमंती ईयवयरमारीओ, अहवुद्धी-अणसुद्धी, न होइ
 दुन्मिक्कत्तइमरं वा ॥ ५ ॥ वेद्धानुममाळ्मं दीसइ, मामड्ड दिणव
 रारुं, एए कम्मवत्तइया, सुरमयिक्क्या इमे जत्ते ॥ ६ ॥ पक्क छप
 रयणञ्जओ अ, सेववरचामरा पड्मा, पठमुहपात्तारतिं सौहासम
 उदुही असोगो ॥ ७ ॥ कम्म हिंसा हुत्त, ठप्पति अवाट्ठिअ प महरोमं,
 पचेव इदियत्ता, मणोरमा हुति छप्पिरिक्क ॥ ८ ॥ मघोदग अ वासं,
 वासं कुसुमाज पञ्चवण्णाण, सठजा प्पाहिणगर्हि, पवण्णुक्कओ नमसि
 दुमा ॥ ९ ॥ मवणवह-वाणमंतर-बोइसवासी-विमाणवासी-अ, पिड्ढति
 समोत्तरणे, अहण्णव कोळिमिठ तु ॥ १० ॥ इत्तेहि जत्तेहि, बोहिनि-
 मिठ संसयत्तीहि, अविरहिय देवेहि विजययमूक्क समाकाळ ॥ ११ ॥
 पठइह कम्मप्पमिह इकारस कम्मसंत्तए जाए, मव वस य देव जमिए
 पठतिसं जहएस वंदे ॥ १२ ॥ पठतीसविणाइस्या एए मे वप्पिआ
 समासेण विंत्तु मम विणवत्तमा सुअन्यण बोहिणारुं अ ॥ १३ ॥

(पञ्चविंशविंशवाणीगुण्यस्तवणम्)

ओअणगमत्तमागइ सवमासाणुवाइणि वारि, पणतीसवरगुणकि-
 चयेण मुनिओ विणवाण ॥ १ ॥ मेहमणोहरसुगुहिरनिग्गोसं १ वत्त-

धंससोहिल, २ मुहुमुहुरमालओसियपमुहरायराय भवविरायं ३ ॥ २ ॥
 सकयपमुहसलक्खण, सक्कारजुअप्पुडक्खरपयाई, गामाण.....चउ-
 वचारपरं ४ उदात्तसरं ५ ॥ ३ ॥ पडिरवपूरिअगयणइ ६ सरलणु-
 कूलत्तओ सुदक्खिवण्णं ७ इअ सत्त सइअइसय.....सामि जिण-
 वयण ॥ ४ ॥ तह अत्थासय अडवीसअइसय अप्पगथसुमहत्थं १
 अवाहयाभिघेयं पुढावरचक्क अविरोहा ॥ ५ ॥ सिद्धत्थसूइसिद्ध सिद्धं-
 व... उत्तमाविकखं ३ परदूसणाविसयओ अवहरिन्नुत्तराइसया
 ४ ॥ ६ ॥ संसय असमवेणा संदिद्ध ५ सोअजणमणाइहरं ६ देस-
 द्दाइ पत्थावुचिअ ७ उदिअत्थतत्तपरं ८ ॥ ७ ॥ अविकिण्णपसरि-
 अमसदिद्ध धिकारातिवित्थरविओगा वरसबधपसरणा ९ मिहपइवक्काइ
 सकखं १० ॥ ८ ॥ अइमिद्धमहुरिमगुण सुहियं सबेसिं धयगुडाइव
 ११ नियविसए कयसोआरलोअवित्थिण्णअच्छरिअं ॥ ९ ॥ जमगा-
 इगुणविसेसो अतुच्छ अभिघेअओ वुदारत्थं अप्पयपरमूमि अणुसारि
 देसणाइहिं अमिजाय ॥ १० ॥ तिहुअणपरससणिज्ज परमंमावेहय च
 अविलव, १७ सथुइपरनिंदरहिअ १८ धम्मत्थव्भासपडिवद्ध ॥११॥
 लिंगवयणकालतिए परुक्खपच्चक्खवकारगाज्झत्थो, उवणयवयणचउक्के
 अविपरीअत्थं अतुरिअ च ॥१२॥ पत्थिअवत्थिसख्खा वण्णणाणेगजाइ
 सुविचितं २२ चत्तपयवण्णवक्क २३ वयणतरओ विसेसजुअ ॥१३॥
 अभिघेएमणमती अविवममोणादरो अविक्खेवो, किलिकिचिय मिच्छा-
 भय रोसायसुजुगवमसइकरण च ॥ १४ ॥ इअ विवमामाइमण-
 दोसविरहिअ सत्तसाहसोवेअ आ अत्थसिद्धिमच्छिन्नहेउमायासरहिअं
 २६ च ॥ १५ ॥ इअ सबवयणपणतीसइसयसाहिअवओ जिणो
 थुणिओ, सद्धम्मकित्तिविज्जाणदयरं..... हेउगिरं ॥ १६ ॥

धंससोहिलं, २ सुहुसुहुरमालओसियपमुहरायराय भवविराय ३ ॥ २ ॥
 सक्कयपमुहसलक्खण, सक्कारजुअप्पुडक्खरपयाई, गामाण.....चउ-
 वचारपरं ४ उदात्तसरं ५ ॥ ३ ॥ पडिरवपूरिअगयणंइ ६ सरलणु-
 कूलत्तओ सुदक्खिवण्णं ७ इअ सत्त सद्दअइसय.....सामि जिण-
 वयण ॥ ४ ॥ तह अत्थासय अडवीसअइसयं अप्पगंथसुमहत्थं १
 अद्वाहयाभिघेय पुद्वावरचक्क अविरोहा ॥ ५ ॥ सिद्धत्थसूइसिद्ध सिद्धं
 वउत्तमाविक्खं ३ परदूसणाविसयओ अवहरिञ्चुत्तराइसया
 ४ ॥ ६ ॥ संसय असभवेणा सदिद्ध ५ सोअजणमणाइहरं ६ देस-
 द्वाइ पत्थावुच्चिअ ७ उदिअत्थतत्तपरं ८ ॥ ७ ॥ अविकिण्णपसरि-
 अमसदिद्ध धिकारातिवित्थरविओगा वरसवधपसरणा ९ मिहपइवक्काइ
 संकत्थं १० ॥ ८ ॥ अइमिद्धमहुरिमगुण सुहियं सवेसिं घयगुडाइव
 ११ नियविसए कयसोआरलोअवित्थिण्णअच्छरिअ ॥ ९ ॥ जमगा-
 इगुणविसेसो अतुच्छ अभिघेअओ वुदारत्थं अप्पयपरमूमि अणुसारि
 देसणाइहिं अभिजाय ॥ १० ॥ तिहुअणपरसंसणिज्ज परमंमावेहयं च
 अविलंब, १७ सथुइपरनिंदरहिअ १८ धम्मत्थव्भासपडिवद्ध ॥११॥
 लिंगवयणकालतिए परक्खपच्चक्खवकारगाज्जत्थो, उवणयवयणचउके
 अविपरीअत्थ अतुरिअं च ॥१२॥ पत्थिअवत्थिसरूवा वण्णणागेगजाइ
 सुविचित २२ चत्तपयवण्णवक्क २३ वयणतरओ विसेसजुअं ॥१३॥
 अभिघेएमणमती अविब्भमोणादरो अविक्खेवो, किलिकिंचिय मिच्छा-
 भय रोसायसुजुगवमसइकरण च ॥ १४ ॥ इअ विब्भामाइमण-
 दोसविरहिअ सत्तसाहसोवेअ आ अत्थसिद्धिमच्छिन्नहेउमायासरहिअं
 २६ च ॥ १५ ॥ इअ सबवयणपणतीसइसयसाहिअवओ जिणो
 थुणिओ, सद्धम्मकित्तिविज्जाणंदयरं..... हेउगिरं ॥ १६ ॥

धियमोहमहावीरो भरगो 'तिथ्यकरो' 'महावीरो' ।

असमसमो असमसमो निरंतरं कुण्ठ कृष्ण ॥ १ ॥

श्रीवीरसप्तविंशतिमवस्तोत्रम्

तिस्रसिद्धत्यसुखंसीदक सप्तहरण कण्ठनिह, भवसत्तापीसकृद्
 जेज, बद्धमात्र पुणामि जिष ॥ नवसारो सुम्गामे पद्मे १ बीष भवे
 पटु । सुहृत्मे २ । तदृष मरिह तिबद्धी ३, विमिन्नाह चठत्पय बंमे
 ४ ॥ कुत्सगि कोसिजदियो, पचमि ५ संसारचठरसङ्गमे ६ ।
 धूणाह पूसमिचो सचमि ७ सोहृमि अहृमय ८ ॥ नवमे अमिज्जोओ,
 चेइभगाममि ९ वसमि ईसामे १० । इगवसमि अमिभूह, मदिरि ११
 बारसमि सणकुमारो १२ ॥ तेरसमे १३ सेभविम्य, मारदायो मरिह
 चठवसमे १४ ॥ रायगिहि भावरदियो, पनरसमे १५, सोरुसे बमे
 १६ ॥ रायगिहि विस्समूर्ह, सचरसि १७ अहृरसे महासुखो १८ । गुण
 बीसे पोअणपुरि, तिविहु १९ बीसे तमतमाय २० ॥ पटु । इगवीसे
 सौहो, २१ पक्कह बुवीसममि २२ तेबीसे । मूमापुरि विममिचो
 पब्बी २३, सोहृमि चठवीसे २४ ॥ पणपीसे छचम्माह, नदयो २५
 पाजयमि छवीसे २६ । मत्तिमकुडमामे, सत्तापीसे महावीरो २७ ॥
 मगसिरबइवसमि बय कत्तिममावसि सिब सिमास्यदे, छट्टि पुह
 विसाहवसमी माणु मबो चित्तेरसिप । इमसिरिबीरविजेंद्रो पुमिमो
 मत्तिमरमिरदेविन्द्रो, वरधम्मविसिबिद्धि विज्जण देठ मह सिद्धि ॥

श्रीमहावीरस्तोत्रम्

अइज्ज समणो मयबं महारि मिणुत्तमे । सोगनाथे सम्युदे,
 लोगतिभयिबोहिण ॥ १ ॥ वच्छरं ण्णिज्जणोद्द संपूरियविपासण ।
 गालपयसामाउत्त पुठे सिद्धवरइणो ॥ २ ॥ विषा रत्तं च रट्ठ,

पुरं अतिउरं तहा । निक्खमिक्खा असारओ, पवइए अणगारियं ॥ ३ ॥
 परीसहाण नो भीए, भेरवाण खमाखमे । पचहा समिए गुत्ते, वंभयारी
 अकिंचणे ॥ ४ ॥ निम्ममे निरहकारे, अकोहे माणवज्जिए । अमाए
 लोमनिम्मुक्को, पसते छिन्नबंधणे ॥ ५ ॥ पुक्खरं व-अलेवे अ, सखो
 इव निरंजणे । जीवे वा अप्पडिग्घाए, गयण व निरासए ॥ ६ ॥
 वाएवा अपडिवद्धे, कुम्भो वा गुत्तइदिए । विप्पमुक्को विहगुव,
 खग्गिसिगवएगगे ॥ ७ ॥ भारंडे वाऽपमत्ते य, वसहेवा जायथामए ।
 कुंजरो इव सौंढीरे, सिंहो वा दुद्धरिस्सए ॥ ८ ॥ सागरो इव गमीरे,
 चदो वा सोमलेसए । सूरु वा दित्तेउल्ले, हेम वा जायरूवए ॥ ९ ॥
 सव्वसहे धरित्ति व, सायरिंदुव सच्छहे । सुट्ठु हुअहुआसव, जलमाणे
 स तेयसा ॥ १० ॥ वासी चदणकप्पे य, समाणे लेट्ठुकचणे । समे
 पूयावमाणेसु, समे मुक्खे भवे तहा ॥ ११ ॥ नाणेण दंसणेण च,
 चरित्तेणयणुत्तरे । आलएण विहारेण, महवेणज्जवेण य ॥ १२ ॥
 लाघवेण च खंतीए, गुत्तीमुत्ती अणुत्तरे । संजमेण तवेण च, सवरेण
 मणुत्तरे ॥ १३ ॥ अणेगगुणमयाइण्णे, धम्मसुक्काण ज्ञायए । घाइ-
 क्खएण सजाए, अणतवरकेवली ॥ १४ ॥ वीयरपय निग्गथे, सव्वन्नू
 सव्वदसणे । देविंददाणविंदेहि, निवत्तियमहामहे ॥ १५ ॥ सव्वभा-
 साणुगाए य, भासाए सव्वससए । जुगव सव्वजीवाण, छिदिउ मित्तगोयरे
 ॥ १६ ॥ हिए सुहे अ निस्सेसकारए पावपाणिण । महवयाणि पचेव,
 पण्णवित्ता समावणे ॥ १७ ॥ ससारसायरे बुद्धुजतुसंताणतारए ।
 जाणव देसिय तित्थ, सपत्ते पचमिं गइ ॥ १८ ॥ सेसिवे आल्ये
 निच्चे, अरुये अयरामरे । कम्मप्पवचनिम्मुक्के, जए वीरे जए जिणे
 ॥ १९ ॥ से जिणे वद्धमाणे य, महावीरे महायसे । असखदुक्ख-

स्निग्धाय, अम्हाण बैठ निम्बुइ ॥ २० ॥ इण परमपमोआ संयुओ
वीरमाहो, परमपसमवाणा बैठ तुल्लण मे । असमसुइदुहेसु समा-
सिद्धिमवेसु, कणयक्यबरेसुं सत्तुमिसेसु वा वि ॥ २१ ॥

पमन्नीव सह पहाण, सीसेहिं जिनेसरण सुगुरूप ।
वीरविणयुव एव, पढठ क्य अममसूरीहिं ॥ २२ ॥

परिशिष्ट नं० ३-वीरस्तुतिः-संस्कृतस्तोत्रविभागे

नमदमरशिरोरुहस्रसामोदनिर्मिद्वमन्वारमाभारजोरजितदि परित्री
कृतावन वरतम संगमो दारतारोदितान्ननायांबलीलापदेहेक्षितमोपेहि-
ताक्षो भवान् । मम वितरतु वीर निर्बाणसम्मोधि बात्याक्तारो भर-
वीक्षसिद्धार्थमाभि कमाकृत्वा,—वनवरतमसज्जमोदारसारोदितान्नना-
य्यांब लीलापदे हे क्षितमो दितक्षो भवान् ॥ १ ॥ समवसरवनम वस्याः
सुरस्केतुचक्रनक्रनेकपेधेन्दुस्त्वामरोत्सर्पिसालग्रयी, सदवनमदक्षो-
ष्टृष्णीक्षप्राम्यक्षोमातपत्रमभागुवराराद् परेतद्वितारोचितम् । प्रमितरतु
समीहित साईतां संहतिर्महिमायां भवाम्मोषिसम्भ्रान्तमभ्यात्सली सेवि-
त्य—सदवनमदक्षोष्टृष्णीक्षप्राम्यक्षोमातपत्रमभागुवराराद् परेतद्वितारो-
चितम् ॥ २ ॥ परमततिमिरोग्रमानुपमा मूरिमंगेगम्भीरा मृक्ष विद्येवर्ष्ये
निष्ठाप्ये मित्तीर्ष्याचरा, महति मतिमते हि से क्षस्वमानस्य वार्त्ता । सदा
तन्वतीतापदानन्दधानस्य सामानिन । जननमृतिवररुनिप्यारसंसारनी-
राकरान्तनिमज्जज्जगोषारमौर्भारतीतीथकृत्, महति मतिमतेहितेक्षस्व
मानस्य वा संसदातन्वती तापदानं दधानस्य सा यन्नि म् ॥ ३ ॥
धरमग्नयनाकिमारीजगोरोजपीठसुठचारहारसुखद्विभारकमाम्मोत्रदे,
परमवपुतराज्या रावमज्जसिताराति आराधिते मद्रसिनी हारवय

लक्ष्मदा । क्षणरुचिरुचिरोरुचश्चत्सटासंकटोत्कृष्टकण्ठोद्भटे सस्थिते
मव्यलोक त्वमम्बाम्बिके, परमव सुतरा गजारावसन्ना शितारातिभा
राजिते भासिनीहारतारावलक्ष्येऽमदा ॥ ४ ॥

वीरस्तवः

त्रिजगदीक्षण ! केसरिलक्षण ! क्षणमपि प्रमुवीर ! मनोगिरौ ।
गुणगणान्मम मास विरज्यतामुदयिता द्रयितादयि तावकात् ॥१॥
भृशमदभ्रमदभ्रमदभ्रमप्रथमनः सुमनः सुमनः स्तुतः,
असुमतः सुमतः सुमतोऽवदातपरमः परमश्चरमो जिनः ॥ १ ॥
चलनकोटिविघट्टनचञ्चलीकृतसुराचल ! वीर ! जुगद्गुरो !
त्रिभुवनाशिवनाशविधौ जिनप्रभवते भवते भगवन् ! नमः-॥१॥
जयति यः सुरसङ्गममानहत्, जगति वीरजिनो जगतीसुहृत् ।
भवतु भीतिहरो मम सर्वदा, स शरणं शरणं गुणसम्पदाम् ॥१॥



महानन्दशुद्धाश्रित देवदेव, महीनाथसिद्धार्थपुत्र पवित्रम् ।
यथाकामित ढत्तवार्षिक्यदान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
चतुष्पष्ठीदेवेन्द्रयोगीन्द्रवन्द्यं, सुधाशालिसशुद्धवाक्यं वरेष्यम् ।
दयासागरं शुद्धसन्मार्गयान, त्रिकालं स्तुवे श्रीजिनं वर्धमानम् ॥
अनन्तोत्तरजानचारित्रलीन, जरारोगसम्मोहसन्तापहीनम् ।
क्षणोद्धूतनिर्मूलमायावितान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
शमस्वादपाथोधिससर्गसक्त, सदा कर्ममर्मप्रपञ्चप्रमुक्तम् ।
प्रचण्डप्रतापेन भास्वत्समान, त्रिकालं स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
मनोहारिकल्याणवर्णं विशालं, विदीर्णान्तरारिप्रणालिं कृपालम् ।
गमीरं विशालैर्गुणैर्वर्धमानं, त्रिकालं स्तुवे श्रीजिनं वर्धमानम् ॥

अपस्वीयसन्वोहनीनादिमृत, मयग्राप्तिरिक्त ममशक्तिमृतम् ।
 सप्तस्वर्गिनिष्ठाणसङ्गमीनिवाम, त्रिक्रमस्तुवे श्रीधिन धर्ममानम् ॥
 इत्थं भक्तिवशेन मुग्धमतिना श्रीवर्धमानः स्तुतः, प्रोक्षेद्दृष्टि-
 त्रकान्तिकस्ति श्रीज्ञातपुत्रो जिन । याचे नैव कस्तत्रपुत्रविम्ब
 नो काममोगमिमं, किन्त्येक परमोत्तमं शिवपद श्रीवासचन्द्रार्चितम् ॥

(वीरजिनस्तवनम्)

विष्णुर्भीष्ट ! रत्नशिखरे गरिमवस्थावपनारो लम,
 सङ्काच स्तुवयाम्भव परिहरन् क्मात्सूर्य ! दुःखसङ्गमम् ।
 निस्तन्द्र तपन्दास्य दुरितसूदारिक्य । वीर ! सिद्धे,
 रम्यश्रीविरसोऽस्तकामनिकृति मद्राज्यं सहरम् ॥ १ ॥

[चतुर्गुणमात्रक पदम्]

तनुते यजुर्ति अम्भशिवाजी मुदिता हुतम्
 स स्तुवे वीरतन्द्राविम्ब भावेन मात्स्न्या ॥ २ ॥ [भुक्तम्]

सत्त्वाङ्गनृणां भुक्त्यै, वा नीरुक्तनवे गता ।
 तारमानार छापास स पाताळर रक्ष ताः ॥ ३ ॥ [शूलम्]

तत्कष्टान्तरीलावलीलाञ्ज श्रीवरा रताः ।
 धाररावधुतौ वीर रवीन्द्राम सुरास्तव ॥ ४ ॥ [चक्रम्]

सञ्ज्ञासदमसेद्व्याकुविशयेयुः समिस्ताव ।
 वरेष्मान्त विधेष्ट सरणं शुशुखेष्टव ॥ ५ ॥ [श्रीङ्गरी]

सम्पामीक्ष विद्यस्तबाह्मवदन्त पनारव ।
 वपवत्स्या वन्दिवधो, वरिवर्त्ति वन्दी वरः ॥ ६ ॥ [वामरम्]

धरणे निरुद्धामतमस्य चरणारुरः ।
 रसिष्ठव भूपासं, सेवनेऽनस्पमानस ॥ ७ ॥ [हस्तम्]

तत्त्यजेऽत्र तकाश्चण्डपाश्वर्षमिन्द्रस्तुताहस ।

सर्वदोषैस्तत्क्षयाशां, शान्ताघ ददतो विशाम् ॥ ८ ॥ [भलम्]

तरीवाचरसि ज्ञानोदारनि शेषभूस्पृशाम् ।

शान्तितुष्टिकरापारभवाब्धौ विश्ववन्दित ॥ ९ ॥ [धनु.]

तम्यतिक्रम्यतेऽत्यन्तमोहदुःखमयीगितः ।

तवेन सेवयाऽवश्यं, भवैः स्थिरशिवस्थित ॥ १० ॥ [शम्यां खड्गः]

तमह विनमामीततन्द्र वीर सता मत ।

तपो यस्त्व व्यधा विश्ववित्त वीतरिपोऽत्मः ॥ ११ ॥ [शक्तिः]

तप शमरमारामतर शं गुणसत्तम ।

मम गुप्तश्रितावीश ! मरणक्लेशहृदिश ॥ १२ ॥ [छत्रम्]

तविधे लसत्यमोहाशय चारुरुचायशः ।

शक्राली त्वन्नतेर्ज्ञानमासुराऽपपरा सुमी ॥ १३ ॥ [रथपदम्]

तधीत्यवीतसाराज्ञा प्राणिनां प्रास्तमी. शुभा ।

भाराग्रेऽशेषभाचारीन् शिवदा तव रहसा ॥ १४ ॥ [पूर्णकलशा]

तत्त्वसार तरसा ना त्वयि राज्य दधीरसा ।

साराद्भुतेऽमोहधीरा रज्यते वीर मोदतः ॥ १५ ॥ [अर्धभ्रमः]

तरसाऽस्तमोहत्वेत तत्त्वेह प्रशमान्वित ।

तन्विमान्यवनीतात ततानीष्टान्यसारत ॥ १६ ॥ [कमलम्]

तवाही वन्दते माऽनुकम्प यः साऽय भावतः ।

तस्य नानागुणस्याऽन्यो, नभ्यो नोदितैतनसः ॥ १७ ॥ [शर]

तत्पर सतत शिथ्रीषामि त्वां दारितांहसम् ।

सम्पदादाऽपससार, रसाऽन्यन्तमस मत ॥ १८ ॥ [त्रिशूलम्]

नमाज्जायितस्तर्मास्तु, नेहमन्तदयान्वित ।

तथा त्वत् सुरेक्ष त्वं, केतुयोधिभिः हित ॥ १९ ॥ [वज्रम्]

मत्सेऽष्टादशविप्रचक्रविमल वीर । स्वयं संमिय,

मन्त्यैव कुलमण्डनोऽस्त महाज्ञानातनुभीशुम् ।

मुक्तभीत्युतचन्द्रशेखरगुह्याभ्यपसावावमु,

त तावाव वरं स धान्ततम स मासा तत् सन्ततम् ॥ २० ॥

[परिचिन्त्यम्]

चक्राज्जोमुलशुलक्षलसहिते सुभीकरीचामरे,

सीरे मल्लशरसने अंसिख्या क्षत्त्यातपत्रे रत्न ।

कुन्मार्धभ्रमपङ्कजानि च धरक्षस्मात् त्रिशूलसनी,

वित्रैरिमिरभिप्लुताः शुभभिर्मा वीर ! त्वमेषि मिमे ॥ २१ ॥

इति वीरस्तवः

(अथ वीरस्तवम्)

वित्रैः खोप्ये जिह वीर, विप्रहृद् परिव मुखा ।

प्रतिबोमानुलोमपादः, सत्राचैश्चातिचारुभि ॥ १ ॥

धन्वेऽमन्तवर्म वेधं, यः क्षमाय यमास्तव ।

क्षयेनम यथा येनापाङ्गुला ममसाङ्गुला ॥ २ ॥

[प्रतिबोमानुलोमपादः]

वास्तवा तव मयाऽहं न चैवावमतामस ।

समतामववापेनं यमामावस्तवा सदा ॥ ३ ॥ [अनुलोमप्रतिबोमः]

वरदानवरादिन्व न्निदिरावगवारव ।

माभ्यवेध मयान्मास सन्याया मन्वेऽप्यया ॥ [अर्थप्रतिबोमानुलोमः]

श्रीद वीर विरेम त्वं दमिताक्ष गताऽशुभे ।

वीभाक्षमारम्भितारे रक्ष मां सदरं गवि ॥ ५ ॥ [अर्धभ्रमः]

गीरता जनता रन्दे ! घीरतास्थिरतारसा ।

सारतारश्रुताऽवन्ध्या, सुरताजनतावकी ॥ ६ ॥ [मुरजबन्धः]

ये पश्यन्ति तवेहास्यारविन्द भक्तिघन्धुराः ।

न पतन्ति भवे शस्यास्ते विदो भगवन्नराः ॥ ७ ॥ [गोमूत्रिका]

नमासाररसामान मारिताक्षक्षतारिमा ।

सातामयायामतासारक्षया म महाक्षरः ॥ ८ ॥ [सर्वतोभद्रः]

तिर्यगूनरसुराकीर्णा भासतेननते समा ।

त्वन्माहात्म्यात्कृताश्चर्य या श्रिता ततता श्रिया ॥ ९ ॥ [पदम्]

रेगौराङ्गोरुगीर्गङ्गगौरीगुरुरोगरुक् ।

गोरंगागाररागारिरैरीरोरै गुरु गिरिम् ॥ १० ॥ [द्व्यक्षरः]

लाललालेललीलालं ततता ततिता तते ।

ममाममामममुमाऽननानेनोननानन ॥ ११ ॥ [एकाक्षरपादः]

कककिकाककंकौक. केकाकोकककेकिकम् ।

कककाकुकाकौकैकककु. कौकककाककाम् ॥ १२ ॥ [एकाक्षरः]

मरुभूमौ तप ऋताविव चारुसरोवरम् ।

कुत सुकृतहीनानां सुलभ तव शासनम् ॥ १३ ॥ युग्म [असंयोगाक्षरः]

सारणि पुण्यवन्ध्याया ज्यायमौक्तिकमुक्तिक (१)

कामधेनुर्नयविदा, वोधोल्लासनसालसा ॥ १४ ॥

सार स्याद्वादमुद्रायास्त्रिपदी भवतोऽञ्जसा ।

सा मे सुहृदि कान्तैकाखिलेन रहितैवसा ॥ १५ ॥ [द्वाभ्यां खङ्ग.]

मीसिद्वार्धकुसुमोमदिवाकर ! निरञ्जन !

म के कृतैकान्तवादिमत तीर्थं तव भिता ॥ १६ ॥ [सुष्ठुम्]

का मा त्वमि मम्पासी धन्या भवेत्ता चेत्ता ।

मता त्वमरसाकममकासा गङ्गासागरम् ॥ १७ ॥ [त्रिशुम्]

त्रिशलाकुक्षिपाशोत्तराब्जस ! जगद्धिमो !

मोगास्तुषमिव त्वकास्तत्त्वा मोक्षदिवृक्षया ॥ १८ ॥ [ह्रस्वम्]

सुरासुरनरास्तुम्भं, नमस्तन्ति जिनोत्तम !

मनःप्रसादसन्दर्भ (१) वञ्जिताऽऽशुमवासना ॥ १९ ॥ (पनुः)

कव कर्तुं जनो मोहम्यपोहमहह क्षम ।

मनसा सादरं वस्त्रां, न स्तौति तिमिराण्डम् ॥ २० ॥ (छर)

वास्त्ये मेरुक्षिर कम्पसम्पत्प्रविष्टविष्णु ।

मनोवाऽनोकहन्त्याळ ! मम तामी मवाऽऽभवम् ॥ २१ ॥ (भक्ति)

मानितात्यक्रमामार रमात्माकन्दमाधव !

वधमार्गे ममाकास सक्त्रमा धीं प्रतानिमा ॥ २२ ॥ [अष्टदशकम्]

वन्यमान ! वनस्थान ! ध्याममीनकन्दन !

शानस्थान ! जिन ! मीन ! वनमेन 'वनस्थान' ॥ २३ ॥

[षोडशदशकम्]

अय हेमवपु श्रीक ! जगन्मोहापहारक !

अराहिबीनसिद्धाह ! अन्मनीरभिनाविक ॥ २४ ॥

[सप्तदशकम्]

तुम्य नमोऽस्तुमन्येस्वितिकाय मीतिवन्त्याय वाचक ! सुरसुत !

वीर ! नेत ! विषाकृताविपुलमण्डप ! हेमरूप ! कस्याप्यपीकरजवत्

गतेवमीन ॥ २५ ॥

[अष्टदशकम्]

भस्माकृत्यपथो जिनेश्वरत्तरो भव्याब्जमित्रः क्रिया-
दिष्टं तत्त्वविगानदोषरहितैः सूक्तैः श्रवस्तर्पणः ।
जन्माचिन्त्यसुखप्रदः सुरचितारिष्टक्षयो वः सदा,
दाता शोभनवादिधीः कजदलायामेक्षणः संविदा ॥ २६ ॥

[कविनामगुप्तः]

श्रीमद्धामसमग्रविग्रह मया चित्रस्तवेनाऽमुना,
नूतत्त्वं पुरुहूतपूजित ! विमो ! सद्यः प्रसद्यैधि माम् ।
ख्यातज्ञातकुलवतस ! सकलत्रैलोक्यकृष्णान्तर-
स्फारकूरतरज्ज्वरस्मरतरत्सरब्धरक्षारतः ॥ २७ ॥

वीरस्तवः

मुक्तोमन्दोदयोर्बी शमद कलकलाऽऽसातमोहारिदोऽश्री-
मुक्तोमन्दोदयोर्बीश मदकलकलासाऽतमो हारिदोऽश्रीः ।
नीरागो वर्धमानाऽयमहजयमयासामहीनः सुधीरा-
नीरागो वर्धमानाऽयमहजयमया साम हीनः सुधीरा ॥

प्रवरकुण्डनराधिपनन्दनं, वरमहाव्रतपञ्चविकाशकम् ।

कृतसुराधिपमोक्षमहोत्सवं, चरमतीर्थपतिं सुतरा स्तुवे ॥ १ ॥

कणयसमसरीरं मोहमल्लेगवीरं, दुरियरयसमीरं पावदावग्निनीरम् ।
(सुगहियभवतीरं लोअलंकारहीरं, पणमह सिरिवीरं मेरुसेलेसधीरम् ॥

त्रिदशविहतमानं सप्तहस्तांगमानं, दलितमदनमानं सद्गुणैर्वर्धमानम् ।
अनवरतममानं क्रोधमत्यस्यमानं, जिनवरमसमानं सस्तुवे वर्धमानम् ॥

मक्षितो मतिजुषो मज्जन्ति ये, वर्षमानमहमानमामि तम् ।
जन्तुजाततमसो निष्ठातन, वर्षमानमहमानमामितम् ॥

श्रीवर्षमान नतमाममक्षोष यन्ति, सैरं यक्षांसि मुक्ता तत्र क्षोषयन्ति ।
शुद्धा चकोरनिकरा क्षतक्षो धयन्ति, चन्द्र पुतामपरदेवयक्षोषयन्ति ॥

मोहादतीतस्तु सवेष्ट ! वीर ! सुवीर ! सौमाम्यमुदममादात् ।
मुक्ष्यगनालोभन ! यः स्तुते अ, सुवीरसौ माम्यमुदममादात् ॥१॥

(वीरस्य सप्तविंशतिमघोत्कीर्तनस्तवनम्)

पूव त्व न्यस्यारमूपति १ रम्भः सौषर्मवृन्दारक २ व्युत्वा नाम
मरीचि ३ रत्र मुमना सेपक्षमे ४ कौशिक ५ देव माद्रिवि ६
पुष्पमित्र ७ इति यः सौषर्मकस्ये सुरो ८ अमिघोत्त ९ स्त्रिदसो
द्वितीयतविपे १० विमोऽमिमुज्यान्ध ॥ ११ गीर्वाणस्तु समस्तुमारत-
विपे १२ विप्राप्रणीर्गमतो, मारुद्वाभयूही १३ चतुर्थतविपे सेसो
१४ द्विजस्तावर । १५ माकी पचमके सुराक्ष्यवरे १६ श्रीविश्व
मूर्तिर्नृप, १७ शुके निर्वाकुवरो १८ अ मरते विष्णुस्त्रिप्रभोऽ-
मर १९ ॥ सप्तम्यां मुवि नारको २० मृगपति २१ सूर्यावनी नारकी,
२२ अकी च मियमित्रक २३ मुरवर शुके २४ मृपो मन्दन २५ ।
श्रीपुष्पोत्तरके विमानकवरे श्रीमाणतत्सर्गगेनाकी २६ कीर्तितसप्तविंश
तिमसो भूयाः स वीर ! जिये ॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

(द्वाप्तनाधीशपर्ययामत्रिनस्तवनम्)

श्रीप्रेक्षस्य ! त्रिनशुद्धापकस्ये भवन्त त्रिन । यो जगप । मह-
मतिरोचितसर्गपापकृतो म चकोऽपि मरः दद्याप ॥ १ ॥ निवस्तहृत्पत्त

मनस्यपोपजनिर्भवान् स्वीयवचांस्युवाप । यतिप्रियः क्षितविश्वतापशिलं
 वचः शीततम ललाप ॥ २ ॥ शुभा भवदृष्टिरितानुतापहेला जनं यं
 भगवन्नवाप । मत्ताशयः कोऽपि न हि प्रलापविपत्तिपत्तिस्तमरिस्तताप
 ॥ ३ ॥ जज्ञे भवान् वीर ! लसत्कलाप ! यस्याशये प्रीणितसत्कलाप ।
 कृत्येष्वनैर्षद्विवदीयलापतिग्मद्युतिस्तं प्रणताचलाप ! ॥ ४ ॥ इति
 मुदितमनस्को भूर्धगाचार्यनामाऽक्षरकमलनिबन्धैर्बन्धुरैः संस्तुतो यः ।
 कमलविजयसङ्ख्यावद्विनेयाणुरेणौ, स भवतु मयि देवो दत्तदृष्टिः
 सतुष्टिः ॥ ५ ॥ इति षोडशदलकमलबन्धवन्धुरं श्रीशासनाधी-
 शवर्धमानजिनस्तवनम् ॥



अनवरतमभरनरवरशतनतपदकमलयमल ! मलदलन ! अनपशद-
 चरणचयमय ! ततरभरधरणधवल ! जय ॥ १ ॥ जयसरसवचनवश-
 ज्ञन ! समधन ! सदवयवसरलकरचरण ! जलजदलनयन ! गतमल !
 शशधरवरवदन ! गजगमन ॥ २ ॥ जय सदय ! सनय ! भवदवकवलन
 [शमन] नवजलदसमयसम ! अचलवल ! सकलमयहर ! शमदमल-
 यमवन ! जगदवन ! ॥ ३ ॥ अदमतमकरणगजगणखरतरखरनखर-
 नखरभवधरण ! अवतमसमसममधमयमपहर मम समयतपनपद !
 ॥ ४ ॥ हतसततभवजगमचर मत कर लसदमय दहन कमनग !
 अपनय मम भवरसमरमशरणजनशरण ! गतमरण ! ॥ ५ ॥ असदय-
 वशभवदवकरगतरसदलपटलहरणखरपवन ! मम वचनमनसमहमह-
 रवतर कनकनगवदतरल ॥ ६ ॥ जनमथनमदनधनमदफणधरगरल-
 दरदमनपतगवर ! हतशकलमव मम जननजलगतलवणकणवदमलय
 ॥ ७ ॥ नमदमलनयनकजवनदशशतकरवहलाहनभवदहन ! अकरणगम-

परबकरपञ्चमम् । अय परमपदसदम् ॥ ८ ॥ इति मकरिचित-विमल-
स्तरमाज्या महावीर ! शुभमाशुदेवसुरिस्तुत । केवलमखरं देहि ॥ ९ ॥

त्वया चितान्मदेवर्द्धिर्वभमानप्रमायत । त्वमि देवाधिदेवत्वं वर्द्ध
मां । प्रमायत ॥ १ ॥ आस्तस्यमी तमो हर्तु, वर्द्धमान ! प्रमो,
वदाम् । देहिन्त्य विधेहि त्व वर्द्धमानप्रमोदयाम् ॥ २ ॥ वीरो
चिन्यति पादु, सन्बान काञ्चनमियम् । विप्रज्येषु निस्सीर्मा तन्वा न
काञ्चन मियम् ॥ ३ ॥ वरिबल्यति च श्रीमन्महावीरं महोदयम् ।
सोऽमुते चितसम्मोहमहावीरं महोदयम् ॥ ४ ॥

श्रीवीरजिनस्तवनम्

अय श्रीसत्सिद्धार्थ ! श्रीवीर शतनन्दन ! सुमेरुवीर ! यम्पीर !
महावीर ! जिनेश्वर । ॥ १ ॥ बोऽप्रमेयप्रमाणोऽपि, सप्तहस्तप्रमोषित-
पुर्जेन्दुवर्णवर्णोऽपि सार्धपर्वसवणः । ॥ २ ॥ सदस्य कौशिके श्रेष्ठे
सर्पे च क्रमसंयुति । पीयूषवृद्धिदद्या मं, दद्या दिद्या विदुर्बुधा
॥ ३ ॥ विद्वत्प्रतिष्ठोत्संगरज्जुशुभ्रकीर्तिना, सनाथ येन नाथेन, विश्व
विश्वम्भरातलम् ॥ ४ ॥ यक्षै चक्रे नम सेबाहेवाकोत्सुक्रमानसै ।
वीराय गत्वैराय मर्त्यामस्यासुरेश्वरै ॥ ५ ॥ यस्माद्वेपादबो घोषा-
क्षिप्र क्षीमा समासने । घोषा पूषमयूलेम्ब, इव हर्मसम्भवाद्
॥ ६ ॥ यदेहपुतिसन्धोहसन्देहितवपुर्वशी, रवि- लघोतपोत्पुत्वाहम्बर
विहम्बनाम् ॥ ७ ॥ मणिर्ना चत्र निचले, स्युर्षीहृदिसिद्धय । त वध-
मानमाग्रीमि वर्द्धमानमुमावन ॥ ८ ॥ इति वस्ये वास्तव पठति वीर !
मिनचन्द्र ! आसरोमात्र । यास्यपवर्गं स ह्रुतमस्यगर्भीरिर्गर्जयी ॥ ९ ॥

सकलकमलदलकरपदनयन ! प्रहृतमदनमद ! भवभयहरण ! सत-
तममरनरनतपदकमल ! जय जय गतमद ! मदकलगमन ! ॥ १ ॥
अमलकनकनगवर ! गतरमण ! क्षतजननमरण ! अमरससदन ! श्रमण-
कमलवनतपन ! गतभव ! भवभयमपहर मम जनमहन ! ॥ २ ॥ अभ-
यद ! भवदरजलधरपवन ! सबलमदनवनदहनजलधर ! व्यपगतमद !
शशधरवर वदन ! जगदधहर ! जय ततनयसमय ! ॥ ३ ॥ तरलकरण-
हयवरदमनकर ! कनककजनवकगमन ! वरवच ! प्रथमपरमपदमप-
दर धवलध्वज ! धनधनवररव ! जनगरण ! ॥ ४ ॥ परमपद-
रमण ! कमनकजरद ! शशधरकरहरनगधवल्यशः परमतकजगज !
सकलजनमन फलकरलसदमरनग ! रचय शम् ॥ ५ ॥

सिरिवद्धमाण सिरिवद्धमाण सिरिवद्धमाण जिणचंद । परमाणव पर-
माणव परमाणवणसि वेदिज्जा ॥ १ ॥ सुहसायर सुहसायर सुहसायर
भवसमूहनिम्महण ! जयणायग जयणायग जयनायगइं निवारिज्जा ॥ २ ॥
रयणायर रयणायर रयणायर नाणदसणसिरीण, सुरमोहण सुरमोहण
सुरमोहणय पय कुज्जा, ॥ ३ ॥ सरणागय सरणागय सराणागय वज्ज-
पंजरपइठ्ठ, कमलासण कमलासण कमलासण सरिसमहहुज्जा ॥ ४ ॥
सव्वविजय सव्वविजय सव्वविजय थुणियगरिठ्ठपहो, महसययं महसययं
महसयय सिवपय नयसु ॥ ५ ॥

परिशिष्ट नं० ४-हिन्दी कविता विभाग

(महावीर प्रभाती)

श्रीमहावीरजी कृपा करो अब, मैं आधीन तुम्हारा ॥ देका ॥ सिद्धार्थराजा के
नन्दन, त्रिशला अगज प्यारा ! कचनवरणी कन्या सोहे, रहे जगत् से न्यारा

॥ १ ॥ समय लेकर समीप कीपी कर्मिणी छकछरा ! केवलज्ञान प्रपन्न
 भयो जब लोकाश्लोक निहाय ॥ २ ॥ गुरवर आनें दर्शनपात्रे बापी
 जसुतधरा । अद्या प्रतीति-प्रकथ सुमेधा नाथे प्रमदपसार ॥ ३ ॥ समय
 सरभमें साहिब बैठे भीर है परिवह वारा । जिन कानो भुम जसुत सरापी,
 पीवत पीवत हारा ॥ ४ ॥ धातुसम्पदा गुरवर सोहे, समान्तर भवपरा ।
 जिनकी करपी जदिक दीपती ज्ञानत जावन हारा ॥ ५ ॥ कर्मद्वन्द्वी
 जहाँ प्रभु जपम्बो, पाम्बो कठिनुमभारा । ज्ञान सुमट मेरो मुस छरो ह
 है तारनहार ॥ ६ ॥ कर्म केजीर पवी पय बेदी आरों कीकीरा । मोह
 मतवाज निपवनिपयीली जन्ममरेबहु-जगारा ॥ ७ ॥ पर उपचारी निर
 मुम्हारा आप सिखा बहु ताका । केहै अपराधी कर्म बुर कर, पतुने मुनि
 सिद्धारा ॥ ८ ॥ बंरकोसियो आप जबासो भीर मन्त्र मन्त्रारा । बन्दीनेव
 प्रभो ! आप जवधारे, भीर सिद्ध जगारा ॥ ९ ॥ अवसेतो जक रमते
 छको ताको भेजमुम्हारा । जोहासे ये जयमाजी तारे तारे तीरे वारा
 ॥ १० ॥ बदीह्म पर जगज्जन्त्र कोप्यो करणा सिद्ध मुम्हारा । इष्टादिक
 प्रभु बहुत समारे दे धी सेवक वारा ॥ ११ ॥ ई सेवक दरभाजत
 वारे ये छे साहिब म्हारा । कविजगज्जन्त्र कर कोटी बि, जगज्जन्त्र
 निवारा ॥ १२ ॥

(महावीर प्रभुकी उपव्यास का जोड)

घोटमज्जानी बुद्धि हैं निर्विक आपदि करो सहाय भी महावीरजी जेने
 तप किया तेहने कर्म नी निवार । बली बली रंहु भीवीर मुहायरा ॥ १ ॥
 औजिबजासव एव मव बुद्ध मेज्ज भुल करे धरा सेव्या छत्रि ज्ञान
 वाय किया नी पावे जगज्जन्त्र बुद्धि बुर पत्तन । बली बली ॥ २ ॥ वारा
 वरसे भीरजीने तप किया जने बली तेरे पाव । ये कर कोटी सेवक पीवने
 आपमदे छाव ॥ ३ ॥ जब जोमाही भीरजीरा जामिए, एक किया छ याव ।
 पावे जबा बली जगज्जन्त्र जामिए, वारे एक-एक याव ॥ ४ ॥ बहतर
 याव जवज जम दीपती ज होय याही ज्ञान । तीव बहारीमाव होय २ किया
 होय होय याही जज्ञान ॥ ५ ॥ याव-यावयाव-विजगज्जन्त्र जामिए, होय-बह-बह
 ज्ञान होय । सिक्में वारनो भीरजीने किया इस सोके ज्ञान ज्ञान ॥ ६ ॥ तीव
 जगज्जन्त्र प्रतिज्ञा वारपी, तुहा वारे नी वारा, होयसे वेव भीरजीरा पदवारा

आयबिल उनतीस उदार ॥ ६ ॥ नित भोजन वीरजीए नहीं कखो, न
लियो चौथो आहार । थोडो तप बेलो कियो, सगलो तप चौविहार ॥ ७ ॥
मनुष्य पशु देवे जे दिया, सखा परिषद ते आप, दोय घडी उपरात नींद
नवी, लही, षट् दोय तेरे पाख ॥ ८ ॥ वीरजी कीधा तीनसे पारणा, अने
वली उनपंचास, इण वले स्वामी केवल पामियो, विचखा देश मंझार
॥ ९ ॥ वारा परिषद नर नारी सांभले, वीर तणो समास, शूरवीरोए तप
कियो, षट् ऋतु मन हुलास ॥ १० ॥ गणधर ग्यारा जाणिए, चवदा
सहस्र अणगार, सहस्र छतीस वीरजी रे साध्विया, ते प्रणमूं सुखकार
॥ ११ ॥ लाख श्रावक पढिमाधरें, ऊपर उनसठ हजार, तीन लाख तेहनी
श्राविका, अरुपुनी सहस्र अठार ॥ १२ ॥ धन्य त्रिशलादेवी मातने, धन्य
सिद्धार्थ राय, ज्ञातनन्दन धन्य जन्मिया, नाम लियां जाय पाप ॥ १३ ॥
गौतम आदिक सातसो केवली, अजिया चउदासौ सार, निजकर दीक्षित
एटला पहुचां मुक्ति मझार ॥ १४ ॥ (कलश) इम वीर जिनवर सकल
सुखकर, एवा दुकर तपकरी । संयम पाली कर्म गाली स्वामी शिवरमणी
वरी । सेवक यूं जपे वीर जिनवर ! चरण सेऊ तुम तणा । संसार साम्ह
पडत राखो, ढालो स्वामिन् ! दुखमना ॥ १५ ॥

(दीवाली)

पूर्व दिशामें हुई पावापुरी, धन्य धान्य ऋद्धि समृद्धि भरी, हस्ती-
पाल वसे तिहा भूपाली, वीर मुक्ति विराजे दिन दिवाली ॥ गौतमने सेवाकी मन-
मानी, एक रातमें हुए केवल ज्ञानी, चौदाराजु रखा भाली ॥ वीर० ॥ १ ॥
अठारह राय हुआ भक्ता, दोय दोय पोसा कीना लगता । वीर सन्मुख रखा
निहाली ॥ वीर० ॥ २ ॥ दिन दोयरो सयारो सीसो, सोला ग्रहर लगे उपदेश
दीधो । प्रभु मुक्ति गया कर्मने वाली ॥ वीर० ॥ ३ ॥ सातसे चेला ने चवदासो
चेली, जाने मुक्ति महलमें दिया मेली, ज्यारा कर्मारा बीज दिया वाली,
वीर० ॥ ४ ॥ प्रभु तीसवर्षवये संयम लीधो, निज आत्म कार्यने सिद्धकीधो,
वर्ष ब्यालिस दीक्षा पाली, वीर० ॥ ५ ॥ एक राणी वरी हुई एक बेटी,
जिके मुक्तिगयां दुख दिया मेटी, जामाता हुआ ज्यारो जमाली, वीर० ॥ ६ ॥
प्रभुने एक वहन अने एक भाई, जिके खगें गया समकित पाई । श्रावकना

अथ सुद पादो भीर ॥ ७ ॥ अथमदत्तने देवानन्द्या यत्ता वनर्वा निरली
 पने छाया दोऊ शुक्तिपद् दुःख दिया जाली भीर ॥ ८ ॥ सिद्धार्थ
 निष्ठका एणी सावे संघारो निबो समस्त आणी १२ वै देवलोके वपुष्पा
 पादो भीर ॥ ९ ॥ शिख एतमें भीरे शुक्ति पायी केवळज्ञान निबो
 मोक्षमन्त्रापी ज्यातो आपजपो वनकरवाली भीर ॥ १० ॥ सुभर्मा कापी
 हुला पाद यणी कांटी वसुधैति महिमा यणी शिवमर्मा निबो वनवाली,
 भीर ॥ ११ ॥ ज्यारि पडे बंधू वैरागी : आठराणी परांने प्रभाते कष्टी ।
 सोत्त वरमि काटी कर्म जाली भीर ॥ १२ ॥ आठमें मामिपी वैरागे भीपी
 अस्ता विवासावे लोकांतीपी माता पिताने संयम पच निबो हस्ती भीर
 ॥ १३ ॥ प्रमथ नच एकावो केडो शिखरो बंधू कर्नर ठे हुजो केडो
 पांचसे भुं वैराज्य पावा लक्ष्मी भीर ॥ १४ ॥ लीट शिव सम्प्रेरशिखर
 धीष्ट अद्यपद निरवार दोव लीष्ट, काङ्क्षूज्य लीष्ट जम्मा जाली भीर
 ॥ १५ ॥ महाभीर यए शुक्ति पावापुटी कर्तिक वटी जगज्जने शुक्तिरो
 पुस्ततां मचतां मंगळ जाली भीर ॥ १६ ॥ शिव शिवालीरोपावो यवो
 धनि मोक्ष पच नहुं कालो ज्यारो आपजपो लीळावपापी भीर ॥ १७ ॥
 सुवैद्यपी बोदी सर्वज्ञपी अणि एवंचंद्र कहीं मारै मजमैवटी शुक्तिने बोड
 बोदी लंकसापी भीर ॥ १८ ॥

(शिवाजीका दिन बडा)

बोडू—मचन करो मयकां का पचवर मोतम जाली अप जपडे सारन
 सरन मिठ बड करो प्रणामि ॥ १ ॥ लीलापी शिव जालिबो एको कयेयें भीर,
 धौतय केवळ पात्रिबो शुक्ति यवे महाभीर ॥ २ ॥ लीलापी का शिव बडा
 मठ कर मोडे पाप निम्बा निकसा परहरो करो शिवाजीरो अप ॥ ३ ॥
 लीलापी शिव जालिबो ॥ प्रेक ॥ सामाजिक लीला करो पकिम्यको दोष्टक
 हम आत्म लखवाळको कृष्ण मठ करो कथाक ॥ ४ ॥ नच मज्जेने वनकापी
 बेक धम्मराय राम भीर एमीये जालिये लीला लीलाय यव ॥ ५ ॥ कर्तिक
 मरी जगज्जना कर्मका आत्म दोष भव जीवने करणे भीर पणुता मोक्ष
 ॥ ६ ॥ देवदेवी वना जालिवा जाली जगमग ज्योति । जगरण एक करो सिर्हा,
 रमां लपी वचोत ॥ ७ ॥ सीह कयेने बाकने, ज्वावो कृष्ण वर । जालिवा

पणो भायो इस्यो, पाम्यो केवल ज्ञान ॥ ८ ॥ मोक्ष नगर का दायका, भगवान्
 श्रीमहावीर, तेहना मुख आगल हुआ, गौतम स्वामी बजीर ॥ ९ ॥ मोटा
 जिन शासन धनी, पहुँचा शिवपुर ठम । गौतम लब्धि तणा धणी, जगमें
 राख्यो नाम ॥ १० ॥ तिन कारण मगलीक दिन, नाम जपो मनवीर । आरंभ
 समारंभ छोड़िने, निर्मल पालो शील ॥ ११ ॥ वार २ मानुष देही, पामसी
 नहीं रे गवाँर, होरा डाढा राखही, मंत्र यंत्र निवार ॥ १२ ॥ झाडा झपटा
 मत करो, मत करो पद्म काय घात, चारं जाप जपो भला, मोटी दिवाली की
 रात ॥ १३ ॥ काया रूपी देहरो, ज्ञान रूप जिन देव, तस सज्जाय शंखझलरी,
 कर सेवा नितमेव ॥ १४ ॥ दया रूपी दिवलो करो, सवर रूपी वात, समकित
 ज्योति उजाली ने, ज्यों मिथ्या तम नश जात ॥ १५ ॥ सवर रूप करो
 ढाकणो, ज्ञान रूपी करो तेल, आठ कर्म प्रज्वलित करो, घोर अघेरो ठेल
 ॥ १६ ॥ काया हाट तेल जालणो, ज्ञान वस्तु मर्हि सार, स्मरण करो जिनराजनो
 बाणिज्य परठपकार ॥ १७ ॥ धीरज मन घर धूपणो, तप कर अगजरज खेय,
 सरधाधूप ज्ञान जल थकी, इम सेवा निजदेव ॥ १८ ॥ सीमंघर आदि देखने,
 जघन्य जिनेश्वर वीश, अढाई द्वीपमें परगठ्या, उत्कृष्ट एकसो सितेर ॥ १९ ॥
 मजन करो भगवान् को, ज्यू थारो सुधरे काज, काल अनन्त गयो धृषा,
 भवसर लाध्यो हाथ ॥ २० ॥ हिंसा से देव राजी हुए, भोला ! यह मत भूल,
 साचोमन नवकारनो, एम चढावो फूल ॥ २१ ॥ दुख कोईने देणो नहीं,
 प्रवचन सामो निहार, जिनवरना गुण गूथिने, ऐसी चढावो माल ॥ २२ ॥
 धानशील तप भावना, मनवच काय सुध्याय, ज्ञान दर्शन चरित्रना, यह तू
 अक्षत चढाय ॥ २३ ॥ करण करावण अनुमोदना, इणवो जीव न कोय, नव
 तत्व धारो निर्मल, एहवो नैवेद्य होय ॥ २४ ॥ अवली गत संसारनी, धन
 लक्ष्मी के काज । टिचकारा करता थका, धीठा कूटे छाज ॥ २५ ॥ टिचकारा
 करता थका, दाव पाछा धीरे जाय, लक्ष्मी इम करता थका, किम पैसे घर
 भांय ॥ २६ ॥ लीपणो ढोलणो मांढणो, करो जीवारो जंतन, भव भव माहि
 होहिलो, मानव भव रतन ॥ २७ ॥ वाणी श्री जिन देवकी, मुख उघाढे मत
 भाय, यज्ञा करजो जुगत स्यु, ज्यों शिव मगल थाय ॥ २८ ॥ भाख्यो दिवाली
 दिन मोटको, बांधे पापना पूर । इम करता रे प्राणियां, शिवपुर करे दूर
 ॥ २९ ॥ ज्ञान रूपी दिवलो करो, तपस्या कर सज्वाल, नियम व्रत कर

मंडका निनद निवेक पी पाछ ॥ ३ ॥ अयाकपी आनख करो बैरान्न इत
 बरएत, उपसय मोन भाखी छत्रमन मोठीचत ॥ ३१ ॥ भाव विभाठी इव
 करो सतरो मनकक पार अप उप सेव भावई, सरो इतो तुमजर ॥ ३२ ॥
 वीरकी रिह बासिये जग्न निजवर माहीं बयैप्याव मनभाहरो अजर अमर
 पर पाही ॥ ३३ ॥ पूजे विभाठी के दिने बही केवबी मचीपात एव कामने
 पिम पूजयो धये पुन्यना छठ ॥ ३४ ॥ पर विभाठी बासिये जगजगै बर
 हाउ, इन तुम मत सज्जाकरो वीरे अनिरी बात ॥ ३५ ॥ बर कुंडल बन
 बाकक बिन बाकक ज्यो तोव तैतो नेह करो बनीई, ज्यो मुक्ति मुक्त होव
 ॥ ३६ ॥ जान्वा बचा सुदका करे, तो बीको मतिउत जो अंसवति जगती
 करली छ अजानीछत ॥ ३७ ॥ प्यान साप्याव मली करो, पुनो मोक के
 पाक आन्यो दिक्के मोरछो वीरको मत पाछ ॥ ३८ ॥ बर विभाठी
 जानने छार पाछ मत कूर बयैप्याव प्यामो सहा नयो बने मो छत
 ॥ ३९ ॥ बैत्र सुरी तरस रिसे जगम्या भी बयैमान अर्तिक बरी अजगम्या
 पान्वा मोह निदाव ॥ ४० ॥ मज्जुप जग्न छे होछिओ पान्यो नारन सेत
 कोम मिसो सावा लयो चेत सके तो चेत ॥ ४१ ॥ बैरकरो सुख लयी
 प्यामो हाव बन बेर, होव बरी छत पाचई बरकरवाली केर ॥ ४२ ॥
 अंग कपापने केरमें बीव हवा मत पाक । तयो जनि जगमक करो, इरी
 विभाठीने मान ॥ ४३ ॥

(महावीर स्तवन)

वीर जिनेन्द्र शस्तन जनी बिन त्रिभुवनसायी । जगारे बरन कमल
 नित नित बरुं, प्रभर्तु शिरसायी । सुर सिंहाी बनरी पिता घत निम्ह बन
 कइना बने आसु पुनी कुमर पद तपका परमाया । बरिज बड प्रभु पुन नया
 है छत्रमन केवल हाव तीरं ननवर केवली बिन सातन परमप ॥ १ ॥
 बैरकोह दकमें वीर सागर पूर्वनिधि पाए कुंडलचतु बयरी मै बरी मो
 जिनवर आए । पिछ सिंहायी पुन मत विराजयेवी अम्दा बनरी दुधिये
 जगतेरी भीरीर जिनम्हा । जगारे बरन कमल सिंहपोह जगपाहवा बर सात
 तन केवन करी घोबदा त प्रभर्तु जगमान ॥ २ ॥ बहुतेर बरुंओ आन्यो
 पानो तुमचरी तीसबर्षकेवलपदे रज्य अनिमह बायी । उपसर्ष परिरह तहन
 कय पुनी समस्त भीतो जगमजगती जगमय जान वीर मान छ रोनी

ज्यारा मातपिता स्वर्गति लखाए, पुनी लियो सयम भार । तपसा कीधी
 आकरी, साढा बारह वर्ष मझार, ॥ ३ ॥ नव चौमासी तप कियो, इक कियो
 छमासी । पाच दिन ऊणा अभिग्रह । षठ् मास विमासी । एक एक मासी
 तप कियो, प्रभु द्वादश विरिया । वहत्तर पक्ष दोय २ मास छविरिया करियां ।
 दोय अढाई दिन दोय ए वली डोढमासी दोय । भद्र-महाभद्र शिवभद्र तप
 करी, इम सोलह दिन होय, ॥ ४ ॥ मिक्खुनी पडिमा अष्ट भकिनी द्वादश
 कीनी । दोयसे ने गुणतीस छठम तप गिनती लीनी । ग्यारह वर्ष छमास
 पचिस दिन तपसा केरा । ग्यारह मास उगणीस दिवस पारणा भलेरा । इन
 विधि स्वामी तप कियोए पछी उपज्यो केवलज्ञान । तीस वर्ष ऊणां विचरिया,
 ते प्रणमूं वर्धमान, ॥ ५ ॥ प्रथम 'अस्थि' बीजो 'चम्पा' दो कहिए, 'वैशाला'
 ने 'वाणिज' दो मिल । द्वादश लहिए । चतुर्दश 'नालंदे' पाडे 'मिथिला'
 छमणिया, 'भइलपुरमें' दोय, सबे मिल अडविस गणिया । एक 'आलमिका'
 एक 'सावथी', एक अनार्य में जाण, चरमचौमासो 'प्रावापुरी' जहा पहुचे
 निर्वाण ॥ ६ ॥ मुनिवर चवदे सहस, सहस छतीस आर्यिका, इकलख गुणसठ
 सहसश्रावक, तीनलाखश्राविका, अधिक अठारह सहस ग्यारह गणधर की
 माला, गोतमस्वामी शिष्य बडा, सती चन्दनवाला । ज्यारे केवलज्ञानी
 सातसौ, प्रभु पहुँचे निर्वाण । शासन वतें स्वामीनो, अब्द इक्किस सहस प्रमाण
 ॥ ७ ॥ पूर्वी तीनसो धार, तेरासौ अवधि ज्ञानी, मन पर्यय पांचसे जान,
 सातसौ केवलज्ञानी ॥ विक्रिया लब्धिरा जान, सातसो मुनिवर कहिए । वादी
 चारसौ बडे, भिज मिन चरचा लहिए ॥ एकाकी चारित्र लियो, एकाकी
 निर्वाण । चौसठ वर्ष तक चालियो, दर्शन-केवल ज्ञान ॥ ८ ॥ बारह नरवल
 वृषभ, वृषभ दश ज्यो ए हय वर, बारह हय एक महिष, महिष पाचसौ सुं
 गयवर । पाचसैं गज हरि एक, सहस हरि इक अष्टापद, दश लख अष्टापद
 एक राम, दोय राम एक वासुदेव । दोय वासुदेव एकचक्री, कोड चक्री इक
 सुर लियो, कोढी सुरा इक इद अनन्तासु नहीं नमे, चिटी अगुली अग्र जिनेंद्र
 ॥ ९ ॥ आप तणां प्रभु गुण अनन्त, कोई पार न पावे, लब्धि प्रभावे कोडि,
 काय कोढी सीस बनावे । सिर २ कोडा कोढी वदन, कोड कोड जिभ्यानी,
 जिभ्या २ सु कोड २ गुण करे सुज्ञानी । कोडा कोढी मागर लगेए, करे ज्ञान
 गुण सार । आपतणा प्रभु गुण अनन्त, कोई कहत न आवे जी पार ॥ १० ॥
 वीर १९

बबरे एतु व्येक भरे बसरा कमिनां छबै जीवनी रोमएव गही बबै
 निमिना । एक बसह तप करे गुन बन करे अकम्त पूज्य प्रसाद बबै
 अकम्त कहे बही जाबै अम्त । संवत् १८६२ ए-मास हू सुपतिर बंद ।
 अम्तपुरे गुणव्यमिना बन १ वीर विर्भव ॥ ११ ॥

वीरस्तुति-परिक्षिप्त नं० ५

शान्तरसपूर्ण शान्तिप्रकाशः

प्रार्थनाद्वयम्-

मेमसहित वन्हीं प्रथम, जिनफ्द कमळ बनूप ।
 ताके सुमरत अघमनर होयत शांत सरूप ॥ १ ॥
 पूर्व मममि लोकेह, विद्याद्विजयकं छुमम् ।
 यज्ञ स्तुता यज्ञ बीचा आवन्ते शान्तिरूपकाः ॥ १ ॥
 तुम शरवे आयो प्रभु, राख छेऊ निज डेक ।
 निर्विकल्प मम सिद्धिणी देवो विमल विवेक ॥ २ ॥
 करं ते अमो । अस्तः, धरन्तो निजयलुका ।
 अल्पनाटीतसिद्धेय । बोर्ब निरर मिमीछम् ॥ २ ॥
 ककं वंदना माजयुत विविध शोष बिर आर ।
 रतन । रतन सम देव मुझ जान अबाहर सार ॥ ३ ॥
 कृपा स्वीर्ज त्रिबोणेन समर्थ प्रणम्यमहम् ।
 वेदि मे राज । विज्ञान एतुर्ब हर्म परम् ॥ ३ ॥
 उपाध्याय अव्ययन भुति निशिदिन करत अम्पास ।
 बीनजन्तु मुझ बीजिय, राम दम दानमिछास ॥ ४ ॥
 मुताअवबसनिष्ठा विमलमन्त्रिधरता ।
 उपाध्यायः प्रदत्तः, हर्म शान्ति वर्म परम् ॥ ४ ॥
 सो साधु बाबा हरो कर्मपात्र एवजीत ।
 निपुण जीहरी ज्यी लखयो आतम रतन पुभीत ॥ ५ ॥
 कर्मपात्र रमै जित्वा वसन्तिअजगु ।
 आतमरं हर्म वैरा, लीकित दानजगु ॥
 साधवः कृपा अहम्, मम बाबा हरन्तु ते ॥ ५ ॥

अधिक प्रिय नव रसनमें, है रस शान्ति विशेष ।

स्थायी भाव निर्वेदसे, मेटो सकल कलेश ॥ ६ ॥

नवस्वपि रसेष्वत्र, प्रेष्ठ शान्तो विशेषत ।

निर्वेदात्स्थैर्यमायात, कृत्स्न क्लेशं हरत्वयम् ॥ ६ ॥

विकलमति अभिलाष अति, कपटक्रिया गुणचोर ।

में चाहत कछु शान्त रस, तुमसे करी निहोर ॥ ७ ॥

महेच्छुर्विमति खामिन् ! निर्गुणो दम्भसयुत ।

त्वा प्रणिपत्य याचेऽह, किञ्चिच्छान्तं रस प्रियम् ॥ ७ ॥

कापे जाचुं जायकर, तुम सम नहीं दातार ।

करुणानिधि करुणा करी, दीजे शान्त विचार ॥ ८ ॥

गत्वाऽहमत्र क याचे, त्वत्समो नहि दायक ।

दयानिधे ! दयां कृत्वा, शान्ति मे यच्छ सस्थिराम् ॥ ८ ॥

में गुलाम हौं रावरो, मेरो विगरत काज ।

ताहि सुधारे वनि रहे, मेरी तेरी लाज ॥ ९ ॥

दासोऽस्मि ते प्रभोऽह वै, कृत्य नश्यति मेऽधुना ।

साफल्ये तस्य मे ते वै, लज्जा स्थास्यत्यसशयम् ॥ ९ ॥

शान्ति छवि निरखत रहूं, जान्चूं नहीं कछु और ।

अरजी हुकम चढाय द्यो, पख्यो रहूं तुम पौर ॥ १० ॥

नान्यत्किमप्याह याचे, याचेऽह केवल विभो !

लोकेऽस्मिन्वीक्षणं शुभ्रा, शान्तेरस्तु सदा मम ॥

आवेदने मयाऽऽदेशस्त्वया देय प्रभो ! ह्ययम् ।

भूत्वा चैव कृतार्थोऽह, द्वारे तिष्ठामि ते सदा ॥ १० ॥

जिहिं गुणतें खुश होहु तुम, सो गुण नहिं लवलेश ।

तुम चर्णन आश्रित रहूं, सो बुध देहु जिनेश ॥ ११ ॥

प्रसादस्ते गुणेन स्याद्येन खल्पोऽपि मे स न ।

। मतिर्जिनेश ! सा देया, यया स्यां चरणाश्रित ॥ ११ ॥

तडफत दुःखिया में अति, पलक परत नहिं चैन ।

अव सुहृष्टि करि निरखिण, ढीले रहे वने न ॥ १२ ॥

निरुद्धोऽपीव सुखेन शुभं प्राप्नोति न शक्यम् ।
 अशुनेनः सुखमप्यहं सिद्धिर्नोऽपि लभे क्वते ॥ १२ ॥
 यह सम्बन्ध बळो वर्यो हम् तुमसीं सम्बन्ध ।
 त्यागे ताहि न संग रको, पिता पुत्र छलि बहो ॥ १३ ॥
 मया त्वया न सम्बन्ध । जातः सङ्गः शुद्धोभवः ।
 वो क्षात्र्यस्य सद्य एवः विप्रेषाऽशोऽपि पुत्रक ॥ १४ ॥
 मेरुदु कठिन कळेस्य तुम, परमात्म परमेश ।
 दीन जानिकर बकसिये दिन दिन ज्ञान विद्योप ॥ १५ ॥
 परमस्थान् । परेक । त्वं किं ईश्वरं विनाशय ।
 दीन ज्ञाता न वेदि त्वं विन ज्ञानं शुभं मय ॥ १६ ॥
 कृपा करो निर्बुद्धि ये अस्तु त्वं अनुभव रीति ।
 अशुभ और शुभ वेचके करुं न कबहु प्रीति ॥ १७ ॥
 कुन कृपा न निर्बुद्धो वेनेहोऽनुभवकम् ।
 श्रीरामाऽशुभं शुभं वेन कृप्यो वो तत्र संसृतिम् ॥ १८ ॥
 सब प्रकार भगवन्त हो सुमहु परीव विनाश ।
 आरत-रुद्र कुम्भागतो बकसि वकसि महापज ॥ १९ ॥
 शत्रु त्वं दीनवर्गोऽपि सम्बन्धेष्वर्चसंयुतः ।
 नार्थमैश्वर्यकृपायाव सचो वारव यां प्रयो ॥ २० ॥
 धर्मं शुद्ध व्यापत रहं, दोष व्यान सुखकार ।
 या जग ममता अद्विष्ट ते दीजे पार बतार ॥ २१ ॥
 व्यापामि सुखं व्यापं धर्मं शुभं न निक्षयः ।
 विचारन निमो । यां तु, कोकलम्भोदधनराय ॥ २२ ॥
 करुणा करिके मेरिये विषय वासना रोग ।
 में कुपधी वैष्णव प्रबल छलि मत जोग जयोग ॥ २३ ॥
 दयां विचारन वेन । त्वं विवैद्यमर्ष हर ।
 अमोघमार्गस्य सम्बाधो बोधोऽनोम्यं न १२५ भो ॥ २४ ॥
 में गरजी जरजी करुं, सुनिहो जग प्रतिपाद ।
 बाद सतावे दास की यह दुःख दीजे दास ॥ २५ ॥

निवेदयाम्यहं एष्यां, शृणु^२ त्वं लोकपालक । ।

तर्पस्तु बाधते दास, दुःखमेतद्विनाशय ॥ १९ ॥

प्रभु तव सन्मुख हो रहूं, जगकुं देऊं पृष्ठ ।

कृपादृष्टि अस करहु तुम, ज्युं भव जावे छूट ॥ २० ॥

लोकं तु पृष्ठत. कृत्वा, त्वत्समक्ष. प्रभो ह्यहम् ।

स्यामेव तु कृपादृष्टि, कर्तव्या भवमोचनात् ॥ २० ॥

मैंने जे कुकरम किये, दीखत हूं सब तोय ।

महर करो ज्युं दीन पे, फेर न दुःख दें मोय ॥ २१ ॥

मया कृतानि पापानि, सर्व्वाणि देव । पश्यसि ।

तथा दीने कृपा कार्या, बाधन्तां नो यथा पुन ॥ २१ ॥

विपत्ति रही मो घेरके, सुनी न अजहु पुकार ।

मेरी विरिया नाथ तुम, कहां लगाई वार ॥ २२ ॥

नाधुनाप्यशृणोर्लाप, विपन्मां परित स्थिता ।

मम वारे त्वया नाथ ! विलम्ब कियते कथम् ॥ २२ ॥

ऐसी विरियां में किधौ, टरि गये दीनदयाल ।

विना कहां कैसे रहूं, अब तो करि प्रतिपाल ॥ २३ ॥

इन्द्रया किल वेलाया, दीनबन्धो । कुतस्त्वगा ।

उक्त्या विना कथं स्थयामधुना रक्ष मा विभो ॥ २३ ॥

जो कहलाऊं और पे, न मिटे मम उर झार ।

मेरी तेरे सामने, मिटसी मनकी रार ॥ २४ ॥

अन्येनोक्तौ न शान्त स्याच्चित्तोद्वेग कथंचन ।

समक्ष एव चातस्ते, मनोवादो* विनङ्क्ष्यति ॥ २४ ॥

दुष्ट अनेक उधार के, थकि रहे किधौ दयाल ।

धीरे धीरे तारिये, मेरो भी लखि हाल ॥ २५ ॥

गतिं ममाऽपि सवीक्ष्य, शनैः सन्तारय प्रभो !

उद्धार्याऽनेकदुष्टान्वा, जात. श्रान्तो दयानिधे ! ॥ २५ ॥

॥ इति प्रार्थनाश्चम् ॥

॥ अथ रागमिवारणाङ्गम् ॥

अरे जीव भव वन विषे, तेरा कषण सहाय ।
 जाके कारण यखि रह्यो ते सब तेरे नाय ॥ २१ ॥
 अकारण्येऽन रे विष ! छुआन कोऽपि ते नय ।
 मरने विषसे मियाँ तब ते छति वो भुमि ॥ २२ ॥
 संसारी को बेकले, सुखी न एक क्षिणार ।
 अब तो पीछा छोड़दे, मत घर सिर पर भार ॥ २३ ॥
 यस्य संसारिने बीरं न कोऽपि दुःखयाम्मुनि ।
 अनुसृति कसेरानी छीनें मा घर मरकम् ॥ २४ ॥
 झूठे जनके कारणे तू मत कर्म बंधाय ।
 तू तो रीता ही रहे धन पेछा ही जाय ॥ २५ ॥
 निष्कारणसुखसिख कमीबन्धं दु या दुःख ।
 रिछो ब्रह्मति बीन ! त्वं मोक्षन्ते हीतरे वनम् ॥ २६ ॥
 तन धन संपत् पायके, भग्न न हो मन भाय ।
 कैसे सुखिया होयगा, सोवत *अप खगाय ॥ २७ ॥
 तनु निरत निमृति न कल्या हस्त या मय ।
 यदि प्रज्जान लेवे किं त्यागति त्वं कर्षं दुखी ॥ २८ ॥
 दण्ड देख मुळे मति बह पुत्रख वपाय ।
 देखत देखत ताहरे, जासी बिर न रहाय ॥ २९ ॥
 भूति दृष्टा प्रमाद त्वं मेरं नाश तु प्रहसि ।
 बंस्वसि पद्मचक्षे वा न स्मिरेरं करणि न ॥ ३० ॥
 सूर्येगे कानादि घन ठगसम यह संसार ।
 भीटे यक्ष्म उच्चारिके मोह फाँसी गल डार ॥ ३१ ॥
 प्रिय मोक्ष गके मोहपाये क्षिप्त भिमे जगत् ।
 ह्यादिबनहार तं करिष्मति प्रवक्ष्या ॥ ३२ ॥
 किधी मूख सोकी सग्यो करे न तनक विचार ।
 वा माने तो परपछे अतछयको संसार ॥ ३३ ॥

भूताऽऽविष्टोसि यद्वा हि, विवेकं न करोषि वै ।

नो प्रत्येति परीक्षस्व, ससार स्वार्थसङ्गत ॥ ३२ ॥

काया ऊपर तादरे, सयसुं अधिकी प्रीत ।

यातो पहले सवनमें, देगी दगो नचीत ॥ ३३ ॥

यस्मिन् काये तव प्रीतिरभ्यधिका विशेषत ।

सर्वेभ्य प्राक् स एव त्वा, प्रवसयिष्यते ध्रुवम् ॥ ३३ ॥

विषय दुःखनको सुखगिने, कहूं कहां लग भूल ।

आंख छतां अन्धा हुआ, जाणपणामें धूल ॥ ३४ ॥

विषयोत्पन्नदु खानि, सुखरूपेण मन्यसे ।

कथ ब्रूयास्तव भ्रान्ति, प्रमाद वा घृणुष्व भो ! ॥

नेत्रे सत्यपि चान्धत्व, धिग्ज्ञान मम निष्फलम् ॥ ३४ ॥

नितप्रति दीखतही रहे, उदय अस्त गति भान ।

अजहुं न भयो ज्ञान कछु, तू तो बडो अयान ॥ ३५ ॥

उदयास्त गतिर्मानोर्नित्यशो दृश्यते ध्रुवम् ।

नो जात ज्ञानमद्यापि, मूढोऽतीव प्रदृश्यसे ॥ ३५ ॥

किसके कहे नचीत तू, सिर पै फिरे जु काल ।

चांधे है तो चांधले, पानी पहली पाल ॥ ३६ ॥

निश्चिन्त कस्य चोक्तेस्त्व, काल शीर्षे तु तिष्ठति ।

चधान चेदभिप्सा ते, जलात्पूर्वं वृत्ति *खलु ॥ ३६ ॥

आया सो सब ही गया, अवतारादि विशेष ।

तू भी यों ही जायगा, यामें मीन न मेष ॥ ३७ ॥

आयातो यो गत सोऽपि, ह्यवतारादिकोऽपि च ।

एव त्वमपि यातासि, नास्त्यत्र कोऽपि संशय ॥ ३७ ॥

यह अवसर फिर ना मिले, अपना कारज सार ।

चुकते नाम चुकायदे, अब मत राख उधार ॥ ३८ ॥

न लब्धावसरो ह्येष, स्वकार्य साधयाऽधुना ।

कुरु कृत्यानि सर्वाणि, नावशिष्ट तु रक्ष वै ॥ ३८ ॥

कैसे पापिन्ध हो रहा, मेडा मात करार ।

मिपजी खेती प्रेय क्यों चादी सटे गबौर ॥ ३९ ॥

प्रमत्तोऽपि क्व भातरावाक्यमुत्तमन्तिकम् ।

प्रतिरुच्छति रोमर्षं * कर्म सञ्जातफलम् ॥ ३९ ॥

धर्मविहार कियो नहीं, कीन्हो विषय विहार ।

गांठ काय पीते बड़े आंके जग हटवार ॥ ४० ॥

कर्मचारः ह्यो वाञ्छ मिहारे मिपने कुटा ।

॥) ओकपने समपसा, नृप्यही रिक्ताओ पता ॥ ४० ॥

काज करत पर, परलके, अपना काज बियार ।

सीत बिहारे जयतुका, अपनी झीपरी बार ॥ ४१ ॥

मिन्मन् त्वं क्व कर्म कुर्वे परकृष्णम् ।

कुर्वीं मित्रं तु सम्मान्य ओकसीतं व्यरोहसि ॥ ४१ ॥

नहिं विचार तैने किया करना या क्या काज ।

तव्य होयगा कर्मफल, तब उपखेणी काज ॥ ४२ ॥

आसीति तव कर्तव्यं कुटा वाञ्छ मिचारणा ।

कर्मविपककाले च जीर्णं वाक्कति वै चचे ॥ ४२ ॥

झूठी संसारिणकी कुटेगी जब काज ।

तव सुलिया तू होयगा हमले बलगा भाज ॥ ४३ ॥

वसतंसारिभोयानां बदा नक्षति वै चविः ।

एतेभ्यस्तु वृषभ्यां तथा लौक्यमवाप्स्यसि ॥ ४३ ॥

अपनी पूजी सीं करो, मिच्छा कार विहार ।

वांध्या सोही मोगले मत कर बीर लघार ॥ ४४ ॥

अरभीमैव मितेन कर्मचार मित्रम् ।

वदमेव हि मुञ्चतः क्वचयम्यतु मा कुर्व ॥ ४४ ॥

मया कर्म कृत्वा काहके करसी कार विहार ।

देखा पड़सी पारका किम होसी सुटकार ॥ ४५ ॥

कर्म नृपते कुटा नहिं कर्म मिचारति ।

उदारस्तु कर्म आनी वातर्ष्य आत्तरस नत् ॥ ४५ ॥

विषय भोग किम्पाक सम, लखि दुःख फल परिणाम ।

जब विरक्त तू होयगा, तब सुधरेगा काम ॥ ४६ ॥

भोग किम्पाकतुल्योऽस्ति, तदन्ते वीक्ष्य सङ्कटम् ।

विरक्तस्तु यदा भावी, तदा कार्यं तु सेत्स्यति ॥ ४६ ॥

परे ! मन मेरे पथिक, तू न जाव वहाँ ठोर ।

वटमारा पांचों जहां, करै साहकौ चोर ॥ ४७ ॥

मम पाथ मनस्त्वं रे ! गच्छ मा तत्र कर्हिचित् ।

दस्यवो यत्र पद्मापि, साधु चौरं प्रकुर्वन्ते ॥ ४७ ॥

आरम्भ विषय कषायकौ, कीनी बहुतिक वार ।

कारज कछु सरिया नहीं, उलटा हूवा रघार ॥ ४८ ॥

भोगारम्भकषायास्तु, बहुशो विहितास्त्वया ।

कार्यसिद्धिस्तु नो जाता, जात प्रत्युत् लज्जित ॥ ४८ ॥

चारों संज्ञामें सदा, सुते निपुण चित्त लाग ।

गुरु समझावें कठिनसौ, उपजे तउ न विराग ॥ ४९ ॥

प्रबोधयति सज्ञाभिर्गुह्यतस्मिर्ध्रुवम् ।

ज्ञानाय चित्तवैराग्य, जायते ते तथापि नो ॥ ४९ ॥

खैर हुआ जो कुछ हुआ, अब करनो नहीं जोग ।

बिना विचारे तैं किया, ताका ही फल भोग ॥ ५० ॥

अस्तु जात तु यज्जात, प्रमादं नाधुना कुरु ।

असमीक्ष्य कृतं यत्तु, भुंक्व तस्य फल ध्रुवम् ॥ ५० ॥

इति रागनिवारणाङ्गम्

अथ द्वेषनिवारणाङ्गं कथ्यते

बुरो कहे कोऊ तो भनीं, तो तू भला जु मान ।

बूरा मीठा होतहै, सब बनिहै पकवान ॥ ५१ ॥

अप्रिय *वक्ति यस्तुभ्य, त्व तु जानीहि तत्प्रियम् ।

†बूरा ‡मिष्ट भवत्यत्र, पक्काण तेन जायते ॥ ५१ ॥

* 'बुरा' इति भाषायाम् । † 'भला' इति भाषायाम् । ‡ 'बुरा' । इति शब्दस्य दीर्घोकारत्वेन प्रयोगस्तदा भाषाया शर्करापर्यायः ।

कटु तीक्ष्ण अति विषमरी, घाही घाल समान ।
 अशुभकर्म शुभमह मिथो, यों जिय चुकटी जान ॥ ५२ ॥
 कटुखीना विषोपेता अक्षतुल्या हि गालिका ।
 कुत्सेति तां विवागीहि, स्फोटो मित्रः कुम्भीना ॥ ५३ ॥
 कटुक वचन कोऊ कह दिया छोरो कु दिखमें तीर ।
 समदृष्टि यों समझके, मोय आम्हो अतिवीर ॥ ५३ ॥
 कटुकि परसम्प्रेष्य वापवद्विजति सा ।
 समदृष्टिर्विवागीनाज्जलोर्ध्वं वीरसुत्सका ॥ ५३ ॥
 बैरी होता सो कबहु, नहीं कहता कटु बात ।
 सखान वीरवत माहरो, राज छलि कटुक कबात ॥ ५४ ॥
 अमनिस्यहर्षं अदुर्धनविजयता कटु ।
 सखनो रहते मेज्जं कभूतवति रोमहृ ॥ ५४ ॥
 सबगुण्य सुनिके आपणा रे मन ! चुकटी घार ।
 मो गरीबकी आनिके छीना घोस उतार ॥ ५५ ॥
 आत्मनो दोषमाकर्ष्यं सर्वं धारव है यव ।
 आत्मज्येन तु यां वीर्यं वीर्याङ्गातोऽप्यसित ॥ ५५ ॥
 में भूख्यो शुभ राइकीं इनमें बरं बताय ।
 दुर्जन जानि तेरे नहीं सखन सो बर्खाय ॥ ५६ ॥
 दुमायें निरुहते नूनं यवा चारं अवोचवत् ।
 आपते दुर्जनो वारं सखनकु मिज्जनते ॥ ५६ ॥
 जान अक्षत शूरज बुझा में भूख्यो निजकाह ।
 निम्हा कप मखाछले हने दिआह राह ॥ ५७ ॥
 अक्षं नते हि जोबानें जातोर्ध्वं निरुहताम्बका ।
 निम्हाप्रपीपमादाव आतोर्ध्वं मार्गदर्शका ॥ ५७ ॥
 सुनि निम्बकके वचनकीं खित मति करे उबाट ।
 यह दुर्गन्धित पवन अति बहती कूं मति उडट ॥ ५८ ॥
 निम्बकोष्ठेति समाकर्ष्यं गच्छति या कुह वापये ।
 अग्नि या त्वं लब्धे । पृथिव्यर्धं धर्तं वनीत्यम् ॥ ५८ ॥

कुवचन शर क्या कर सके, तू होजा पाषाण ।
 तेरा कुछ चिगरे नहीं, वाका ही अपमान ॥ ५९ ॥
 सखे ! पाषाणवद्भूया कूकिषु किं करिष्यति ।
 न स्यात्ते कापि वा हानिर्ह्यपमानस्तु तस्य च ॥ ५९ ॥
 कुवचन गोलीके लगे, जो ले मनको मार ।
 आपही ठंडी होयगी, होजा शीतल गार ॥ ६० ॥
 कूकिगोलीसमाधाते, मन शान्तं करोति यः ।
 भविता सा खयं शीता, शान्तस्त्व भव हे सखे ! ॥ ६० ॥
 तैने ऊपरसौं कही, मैंने समझी ठेठ ।
 खटका सबही सिटगया, एक रह गयो पेट ॥ ६१ ॥
 उपरिष्ठात्त्वया प्रोक्त, तत्त्व बुद्ध मया किल ।
 चिन्ता कृत्वा विनष्टा मेऽवशिष्टा समता खलु ॥ ६१ ॥
 रे चेतन सुलटी समझ, तेरा सुधरा काज ।
 कुवचन घर वर ताहरी, इणने सौपी आज ॥ ६२ ॥
 सम्यक् चेतन ! बुध्यस्व, सिद्ध कार्यं तवाद्य वै ।
 तावक कूकिनिक्षेपोऽनेनेदानीं समर्पितः ॥ ६२ ॥
 होगी सोई नीसरे, वस्तु भरी जिहि माहिं ।
 याका गाहक मत वने, तेरे लायक नाहिं ॥ ६३ ॥
 यस्मिन् वस्तु यदेवास्ति, निस्सरिष्यति तत्किल ।
 नोचित ते समस्त्येद्गाहकस्त्वस्य मा भव ॥ ६३ ॥
 अपणा अवगुण सुणकरी, मत माने जिय रीस ।
 मनमें तू यों समझले, मुझको देत असीस ॥ ६४ ॥
 आत्मदोष समाकर्ण्य, चित्ते खेद तु मा कृथा ।
 आशिष मे ददालेष, कार्या चैषा विचारणा ॥ ६४ ॥
 क्रोध अगन दिल मत लगा, सुनि अयथारथ बोल ।
 क्षमारूप जल छिडकिए, नेक न लागे मोल ॥ ६५ ॥
 असदुक्त वच श्रुत्वा, क्रोधाग्नौ क्षिप मा मन ।
 तिष्ठ वारि क्षमारूप, भवेत्तापो न कश्चन ॥ ६५ ॥

दुर्मन शुप हो है नहीं तू तो छिन शुप साथ ।
 तूय बिन परिहे अगनि कहु, भापहि होय समाध ॥६१॥
 न तुम्हीं दुर्मन स्वाछ त्वं तु तुम्हीं भव छम्म् ।
 मिलुबे पठितो बन्धिः कवमेवोपधाव्यति ॥ ६१ ॥
 तू तूय सम कहु वचन सुन कोय अगन मत द्यस्त ।
 तपछ मीर सम करहु मन तब मिलिहै शिवराज ॥६२॥
 बुला तुयमिमी कृकि कुबलि मा प्रीपव ।
 कब मीरसम ज्ञान सुखिरज्जं तदैवधि ॥ ६२ ॥
 आई आई कर गासिबी कोय बंठाछ समान ।
 न तर पिछनि बंठाछिमी पहो पकरै मान ॥ ६८ ॥
 उपेक्ष सवे । प्यकि भव कोपं स्वपाकवत् ।
 स्वपाकवत्तुपया नोवेदुहीण वल्लवन्वसः ॥ ६८ ॥
 प्रभु सहस्य नहीं होयेंगे रे जिय साँची जान ।
 कोय करी ज्युं होगयो साधु रजक समान ॥ ६९ ॥
 ईशोऽपि नो सहानः आसत्य मम्यक विर । ॥
 पश्य कोपं निचलेनं साधू रजकयां यतः ॥ ६९ ॥
 मासम वल्ल मेका छबी इणने दीना भोय ।
 कहुक वचन साधुन करी निबछ जातिके मोय ॥ ७० ॥
 निबछ दीन मायेव आत्मवर्जं मलीयसम् ।
 कहुसिवाक्येनाऽऽहु, तद्वचनइयमर्थ ॥ ७० ॥
 जीहरी चौके मति करे कुंजडी के संग घर ।
 छलन पिछरसी ताहरा भाजी सटै गर्वोर ॥ ७१ ॥
 निवर्त शाकभिक्षेभ्या एभिष्टत्वं हि मा नर ।
 ममिता रजभिक्षेपो आध्वर्षं मूढ । एतस्म ॥ ७१ ॥
 साक्षाकी घाली आई यह निचार धित छार ।
 मयिबी सम इनकी भिया मोय समझ्यो मतधार ॥७२॥
 बुला आत्मकपयि ॥ निते विगत तत्त्वम् ।
 आत्म्यं आत्मवदोति एवमुक्तं नरं मन ॥ ७२ ॥

किरतघनी बननो न ह्यौ, दइ गारि इण मोहि,
अस आतम शीतल करौ, मम उधार तव होहि ॥ ७३ ॥
दत्ता मम गालिरेतेन, कृतघ्नो भवितासि नो ।

एव कुर्या यदा शीत *स्व तदोद्धारमाप्नुयाम् ॥ ७३ ॥

गाली एक ही होत है, बोलत होत अनेक ।

रे जिय ! तू बोले नहीं, तो वही एक की एक ॥ ७४ ॥

गालिरेका प्रतीवादेऽनैका सैव विजायते ।

विचार्यैव तु मा ब्रूहि, सा स्यादेकैव चित्त ! ह ॥ ७४ ॥ -

अनन्तकाल पहले प्रभु, देख रखे यह भाव ।

परिहै कटु वच श्रवणमें, ते किम टाल्यो जाव ॥ ७५ ॥

प्रागेवानन्तकालाद्वै, जिनो भाव निरैक्षत ।

कटुक्लिपतन श्रोत्रे, शक्य वारयितु कथम् ॥ ७५ ॥ -

इति द्वैपनिवारणाङ्गम्

अथ धैर्यधारणाङ्गम्

अय दिल चाहे परमपद, उर धीरज गुण धार ।

निन्दा स्तुति रिपु प्रिय, एक हि दृष्टि निहार ॥ ७६ ॥

निर्वाणेच्छामनस्ते चेत्तदा धैर्यं गुण धर ।

निन्दास्तुति रिपुप्रीतौ, समदृष्ट्या विलोकय ॥ ७६ ॥

धीरज धर भ्रमको तजो, एह पुद्गलको ख्याल ।

पर परछांही पर रही, तू तो चेतन लाल ॥ ७७ ॥

धैर्यं कृत्वा लज भ्रान्तिमेतत्पुद्गलनायकम् ।

चेतनोऽपि प्रिय ! त्वं तु, त्वयि बिम्ब पर गतम् ॥ ७७ ॥

चञ्चलताको छोडिदे, धीरजकी कर हाट ।

कर विहार गुण माल को, ज्युं होवे बहु ठाट ॥ ७८ ॥

लक्ष्त्वा स्थैर्यं विधेहि त्व, धैर्यहृद सखे ! मम ।

आद्रियस्व गुणप्राप्त, येन सर्वं सुव भवेत् ॥ ७८ ॥

निजगुणमें जिय ठहर तू परगुण पद मति धार ।

पर रमबीसे राखि करि, मत कहजाये आर ॥ ७९ ॥

शिवात्मनो गुणे बीब । या यात्मान्वगुणे पवम् ।

परब्रह्ममगुरुरास्य सख, मम मा बारधाम्माह ॥ ७९ ॥

सम रजनी नाथो नहीं, दीपककी कही बात ।

पूरण ज्ञान उघोत बिन, हृदय भरम नहीं जात ॥ ८० ॥

प्रोक्ष्य चर्तुं प्रदीपकं वसति हि निराश्रया ।

पूर्वज्ञानमिच्छतेन, निव्य भो वाति उग्रमा ॥ ८० ॥

सदास्वयं सुखोप कर बहे न कहूँ दिख पीब ।

या विधि सुख भति अनुमते, क्यों न कैसे सुख कीज ८१

बो बराबाम सन्तुष्टो ब्रह्म विते न वस वै

सुखपदे न ममो वा सोऽस्तिशौक्यं लभेत्तुम् ॥ ८१ ॥

मोह जमित सुख विकल पन धयवा सुखको रूप ।

यिने दुहुँ सम बीर धर, ती न परे सबरूप ॥ ८२ ॥

मोहबुद्धयैक्यं न वा तत्रसुखं विपि ।

मन्वते वा तर्ज बीरो मयकृते न मज्जति ॥ ८२ ॥

अपने अपने गुणनमें धिर हैं सब ही वस्तु ।

तू पुनि धिर कर अपनकीं तो सुख छहे समस्त ॥ ८३ ॥

सर्वान्येष हि वस्तुनि स्थिराभ्यात्मगुणेषु न ।

स्थिरं कुर्यात्समात्मानं जनेषाः सर्वशौक्यकम् ॥ ८३ ॥

सुखबुद्ध दोनों फिरत हैं भूप छाँह क्यों मीत ।

हर्ष शोक क्यों करहिं भन । धीरज धार नपीत ॥ ८४ ॥

आवाऽऽपनिमे मित्र । आम्बते सुखकुलके ।

रह्य ते कुर्ये हि तं हर्षशोभी नृतिं वर । ॥ ८४ ॥

अनहोनी दोबे नहीं होनी नाहिं उल्लास ।

दीखी परसी आगले क्यों होमी आ साथ ॥ ८५ ॥

जमाय्यं वो भवैव न भाव्यवाक्ये न वदितुम् ।

वसिष्ठने तु वज्रार्थं श्रवते वा तथामताः ॥ ८५ ॥

चाह किप कछु ना मिले, करिके जहँ तहँ देख ।

चाह छाँडि धीरज घरहु, पद पद मिलत विशेष ॥ ८६ ॥

इच्छयाऽऽप्नोति नो किञ्चित्पश्य कृत्वा तु मानव ।

विहायेच्छा कृते धैर्ये, विशेषाप्ति. पदे पदे ॥ ८६ ॥

सुनि उझले मति रे जिया ! कर विचार चुप साध ।

यही श्रमोलिक औषधि, मेटे भव दुःख व्याध ॥ ८७ ॥

श्रुत्वोत्पत मनो मा त्व, मौन धृत्वा विचारय ।

अमूल्यमौषध ह्येतद्भवतापाऽऽभयाऽपहम् ॥ ८७ ॥

रे चेतन ! संसार लखि, दृढ कर नेक विचार ।

जैसी दे तैसी मिले, कूपकी गुंजार ॥ ८८ ॥

चेतन ! वीक्ष्य संसारं, कुरु धृत्वा विचारणाम् ।

लभ्यतेऽत्र यथादत्त, कूपप्रतिध्वनिर्यदा ॥ ८८ ॥

चञ्चलताकौ छाँडीकै, काट मोह गल फांश ।

सम दम यम दृढता किये, निज गुण होय प्रकाश ॥ ८९ ॥

त्यक्त्वा चापल्यमाच्छिन्धि, गलपाश च मोहजम् ।

शमे दमे यमे दाढ्यै, कृते स्वगुणभासनम् ॥ ८९ ॥

अभिलाषाकौ त्यागिके, मनकौ रख मजबूत ।

तब कुछ सूझे अगमकी, यह सांची करतूत ॥ ९० ॥

अभिलाष परित्यज्य, मानस कुरु निश्चलम् ।

तदायत्यासुकर्तव्य, द्रक्ष्यते च यथार्थत ॥ ९० ॥

चो तो ह्यां ही वस्तु है, जाकी तेरे चाय ।

क्षण इक धीरज धारले, सहजे ही मिलजाय ॥ ९१ ॥

अभिलाषोऽस्ति ते यस्य, तद्वस्त्वत्रैव विद्यते ।

क्षण धैर्यं कुरु खान्ते, विनाऽऽयासेन लप्स्यते ॥ ९१ ॥

मतकर परगुणमें रमण, ज्यों न लगे गल तोप ।

निश्चल रह निज गुणनमें, आपही होगी मोक्ष ॥ ९२ ॥

रमसाऽन्यगुणे मा त्व, येन दोषो भवेन्नहि ।

निश्चल स्वगुणे भूया, स्वतो निर्वाणमेष्यसि ॥ ९२ ॥

निश्चयतास्तु होयया, रे मिय ! ब्रह्म समान ।
 तुम का ही घूत होत है, नाथ चरे पय पान ॥ ९३ ॥
 स्नेह्यैव ममिता जीव । ब्रह्मसुखो ब्रह्मसमम् ।
 सर्पितेन तुने सायग्रीवरति बभूव न ॥ ९३ ॥
 जो तू चाहे अमर पद, करि रहता अकल्पार ।
 सास्र न बांका होयगा, जीवत ही मगमार ॥ ९४ ॥
 बबमरपरेष्व से वैष्णवग्रीवुरण वै ।
 यदि मनस्तु जीवता वैव केवल बभूव ॥ ९४ ॥
 श्रीरज गुण धारण किये सब ही तुम कट नाथ ।
 जैसे ठंडे कोहसे, लप्ता कोह कटाप ॥ ९५ ॥
 एतद्वैष्णवगुणे सर्व तु वे बभूवति उत्तरम् ।
 बबा सीतेव कोहेव तस्याऽऽवशिष्यते सुखम् ॥ ९५ ॥
 सब जिम निर्मल मधुर सुख करत लतको अन्त ।
 हम श्रीरज गुण नार छवि करो ब्रह्म बुधवन्त ॥ ९६ ॥
 निर्मल मधुर नारि सुखदापमिष्यन्तम् ।
 एवं बहुर्यं वैष्णव वीर्य पूनीत वै तुया ॥ ९६ ॥
 कला बहल अठ बहल है नहीं शक्तिमन्त्रक नाम ।
 जन्म मरण मति वेहकी, यों छवि श्रीरज छान ॥ ९७ ॥
 हानिहरी कलायाव बहीनुसम्पत्तय न ।
 वैहलेन मति जन्म सुखु वीर्य इति वर ॥ ९७ ॥
 सुखदुःख दोनों एकसे ही समझानको फेर ।
 एक शम्भु हो अर्ध क्यों छाव टकेकी सेर ॥ ९८ ॥
 सुखदुःखे छये वै तु गोबमेरस्तु लक्ष्मणे ।
 कोके "काव टकाकी धीरे" इपनीकमन्त्रकम् ॥ ९८ ॥

* "काव टका की सेर" एवं वाक्य कोके इपनीकमन्त्रक तत्त्वा—यम
 इत्येव कथा प्रसूयिता मिकलीति प्रयोजनी । कलायन्त्रकपत्रमुनेः किञ्चि-
 त्कालमस्तुमन्त्रकमिति मिकति इति न द्वितीयोऽर्थः ।

सुखदुःख दोऊ वेदे मति, वेदे तो सम भाव ।
 जैसे मकरी जालकौ, पूरै अरु खा जाय ॥ ९९ ॥
 सुखदुःखानुभूति मा, कुरु नो चेत्समानत ।
 द्रुताजाल यथा पूर्ण, कुरुतेऽश्नासि तच्च वा ॥ ९९ ॥
 समताको धारण किये, क्यों न डटे मन लहर ।
 भरणी सुण २ कर मिटे, स्थापां हंदा जहर ॥ १०० ॥
 समताधारणे किं वा, मानसोर्मिर्न शाम्यति ।
 पश्य सर्पविष श्रुत्वा, गारुडी नश्यति ध्रुवम् ॥ १०० ॥
 इति धैर्याङ्गम्

अथानुभवविचारज्ञानाङ्गम्

कूकस विषय विकार सम, मति भखि मूढ गवॉर ।
 अनुभवरस तू चाखिले, गुरु मुख करि निर्धार ॥ १०१ ॥
 मूढ ! ग्रामीण ! मा भुङ्क्ष्व, भोगान्कूर्चकसन्निमान् ।
 गुरोर्मुखानु सम्प्राप्य, ह्यनुभूतिरस पिव ॥ १०१ ॥
 किये पाठ अनुभव विना, न मिटे भीतर पाप ।
 बाहर शीशी घोयके, करी चहै तू साफ ॥ १०२ ॥
 अनुभूत्या विना पाठात्पाप नश्यति नान्तरम् ।
 काचकूर्पी वहिर्धावाग्निर्मला कर्तुमिच्छसि ॥ १०२ ॥
 अल्पमार पापाणको, जिमलागत जल माहिं ।
 तिमि अनुभव विच कर्मको, बहुवन्धन है नाहिं ॥ १०३ ॥
 अल्प एवाश्मनो भारो, यथा तोये प्रतीयते ।
 अनुभूत्या तथा कर्मवन्धो भूरिर्न जायते ॥ १०३ ॥
 मन वच-तन थिरतैं भयो, जो सुख अनुभवमाहिं ।
 इन्द नरिन्द फनीन्दके, ता समान सुख नाहिं ॥ १०४ ॥
 स्थैर्ये देहमनोवाचामनुभवे तु यत्सुखम् ।
 तादृक् सुखं न शक्य, मानवेन्द्रफणीन्द्रयो ॥ १०४ ॥
 अनुभवसौ प्रभु मिलतहै, अनुभव सुखको मूल ।
 अनुभव चिन्तामणि तजि, मति भटके कहुं भूल ॥ १०५ ॥
 वीर २०

बहुभूषाः प्रभोः प्राप्तिः तैव भूतं सुखलव व ।
 अकृषा विम्वामनि भूषाऽनुमृतिं वापि ना जय ॥ १ ५ ॥
 अति अगाध संसार भद्र विषय भीर यम्भीर ।
 अनुभव विन पार न छहत् कोटि करहु तद्वीर ॥ १०९ ॥
 मयो मरोऽस्मम्यबोऽत्र विषया बहु वारिषत् ।
 कोमुपायेऽपि पारं नो बाधनुमृतिमन्तर ॥ १ ६ ॥
 जिहि विचारते पाप है मनकी धिर सुखठीर ।
 ठाकी अनुभव जानिये अनुभव नहीं कुछ बीर ॥ १०७ ॥
 मन्-स्वैर्षे सुखस्यान केवाऽप्योति निषाणः ।
 पुण्यकलुषं तं न परम्बतुमनो न हि ॥ १ ७ ॥
 बिना विचारे ज्ञानके तू अहसको रोह ।
 मिथ्या यों ही पचत है क्यों न करे अथ जोह ॥ १०८ ॥
 बिना ज्ञानविचारेण व्याघ्रध्वजो वनु ।
 स्पर्धं येऽमराप्योति कुर्वते हि न निषारणम् ॥ १ ८ ॥
 मन मतङ्ग यज्ञ करनकी ज्ञानछुटा विर धार ।
 समापमसे बांधकर, छडा भुंखड डार ॥ १०९ ॥
 मनो मवं वरं कर्तुं, विरि ते ज्ञानगुणि वर ।
 समा सम्येन वच्चा न द्विप ज्यैः वृष्टाङ्गम् ॥ १ ९ ॥
 अमतो मन एवि डारिडे, ज्ञान मुकुरके म्यान ।
 बिहु सुम उपयोगसे कर्म तुखकी ज्ञान ॥ ११० ॥
 अममनो एवि उगिब आपवर्णके वडे ।
 सिङ्गुव उपयोगेन कर्मतुलनिभावनम् ॥ ११ ॥
 सीसा सम संसार है शुद्ध कृपा वादिस्व ।
 ज्ञान मेव विन किम छके आपनपो सुपविज ॥ १११ ॥
 संसारो वर्णवस्तु, मास्कोऽस्ति गुरोः ह्य ।
 सिङ्गुवस्तुवोवस्तु, ज्ञानोत्रं विद्या न हि ॥ १११ ॥
 विषय-वासना करत जो बाधे ज्ञान अगीश ।
 मेघाठका जल समथमे छिममें होय कवीश ॥ ११२ ॥

भोगानां वासनाया चेज्ज्ञानमुद्धृतते सखे ।

सद्यस्त्रिषष्टिसङ्ख्याया, षट्त्रिंशज्जायते ध्रुवम् ॥ ११२ ॥

जो तु चाहे ज्ञान सुख, तो विषयन मनफेर ।

और ठौर भटके मती, अपने ही में हेर ॥ ११३ ॥

व्यावर्तय मनो भोगाद्बोधसौख्यं यदीच्छसि ।

रे रे ! त्वं आम्य माऽन्यत्र, तदाऽऽत्मनि च मार्गय ॥ ११३ ॥

ज्ञानरूप दीपक कने, न बचे कर्म पतङ्ग ।

जो रहे तो दोनोनमें, झूठो एक प्रसङ्ग ॥ ११४ ॥

अन्तिके ज्ञानवीपस्य, नो कर्मशलम स्थिर ।

तिष्ठतो यदि तौ द्वौ वा, मृषैकस्तु प्रसङ्गक ॥ ११४ ॥

ज्ञान सञ्चरे जिहि समै, न रहे कर्म समाज ।

और न पेंछी डट सकै, जहां बसेरा वाज ॥ ११५ ॥

यदा सञ्चरति ज्ञान, कर्मजालं तु नो तदा ।

इयेनवासो भवेद्यत्र, तत्र तिष्ठन्ति नो खगा ॥ ११५ ॥

घर नहिं छूट्यो एकसौं, छूट्यो कर्म कुदंग ।

ज्ञान तणे सत्सङ्गथी, देखो ठाणायंग ॥ ११६ ॥

गृह त्यक्त न चैकेन, त्यक्त कर्म तु कुत्सितम् ।

सत्सङ्गोत्पन्नबोधेन, पश्य स्थानाङ्गसूत्रकम् ॥ ११६ ॥

क्षण इक ज्ञान विचारले, विषय दृष्टि कौ फेर ।

मेरी मेरी त्यागदे, यों होवे सुरक्षेर ॥ ११७ ॥

भोगादृष्टि परावृत्य, क्षण चिन्तय बोधकम् ।

त्यज सद्यो ममत्व च, सर्वं सम्यग्भविष्यति ॥ ११७ ॥

आठ पहर ढिंग राखले, ज्ञान सरूपी ढाल ।

मोह अरीके विषय शर, लगे न ताकी भाल ॥ ११८ ॥

सरक्षाष्टासु यामेषु ज्ञानरूप तु चर्मकम् ।

विषयेषुर्न-मोहारेर्मस्तके न लगिष्यति ॥ ११८ ॥

माया मोह निवारके, विषयनसौं मनखीच

जो सुख चाहे आपणा, तो रहो ज्ञानके बीच ॥ ११९ ॥

मायामोहं निवार्यैवं निबन्धेभ्यो यगो हर ।

बान्धवस्मरणमूर्तं चेदि, ज्ञाने विहर मे सखे ॥ ११९ ॥

मेव अहे विम घामके, तत्त भुंसे जिम स्वाम ।

सोग गडरिषा खास तज आपमपो पडिखाम ॥ १२० ॥

य्य कुद भवणे हवेव ज्ञपमेवतिमगत ।

। ओम्मेवीपति कपला काप्यार्थ परिबोधव ॥ १२१ ॥

कामपेसु अद कप्यतद, हण भव सुख वाठार ।

इयमव परमय पुहुममे साम करत निस्तार ॥ १२२ ॥

कप्यतः कामपेसुथ ओम्मेवप सुखपरी ।

निस्तारयति बोधसु जयसव परम व ॥ १२३ ॥

जगत् मोह पांती प्रयस कटे न और सपाय ।

सत्सङ्गति कर घानकी, सङ्गस मुक्ति हो जाय ॥ १२४ ॥

मोहपातो हवो ओके चिन्त्यते बान्धवगतः ।

कुद बोधस सत्सङ्ग मुक्तिः सात्त्विकमेव हि ॥ १२५ ॥

विष पारस अद घानके, अन्तर ज्ञान महन्त ।

यह सोहा कङ्कम करत, यह सुख देय अनन्त ॥ १२६ ॥

पारसकमि बोधे व आसीहि महन्तरम् ।

सोई छर्न करोमेव स त्वनन्तपुनः ॥ १२७ ॥

प्रथम ज्ञान पीछे दया यह विममवक्तो सार ।

ज्ञान सङ्गित किरिया करुं, तव तत्तकं भव पार ॥ १२८ ॥

वैमलिकान्तसारोऽर्थं पूर्ण ज्ञान एतो दया ।

सकला वैमलिकान्तोऽर्थं तदा सा भवपारया ॥ १२९ ॥

अधोपसेहार

अस्ति आद्यस परमादिपो अङ्गुष्ठास मुस नाम ।

बालोद्यम कसु ना बने किम सुचरे मुस कम ॥ १३० ॥

अर्थ व अङ्गुष्ठासकम प्रमत्तस मुसकम ।

अनोद्यमो न ये अविश्वार्थ अर्थ ह ऐक्यति ॥ १३१ ॥

दर्शन पुनि निश्चल नहीं, नहीं निश्चल चरित्र ।
 मन भ्रमतो निशिदिन रहे, नहीं ठहरे एकत्र ॥ १२६ ॥
 सम्यक्त्व निश्चलं मे नो, चारित्रमपि नैव च ।
 नित्य भ्राम्यति चित्तं तु, तदेकत्र न तिष्ठति ॥ १२६ ॥
 ऐसी करी विचारणा, रे जिय ! अवतो चेत ।
 चार चरण गुरु 'रतनजी', ऐसो करि सङ्केत ॥ १२७ ॥
 एव जाते विचारे तु, चेत जीव ! किलाधुना ।
 चतुर्वर्णगुरु 'रतनजी', सङ्केत कृतवानिभम् ॥ १२७ ॥
 चार वर्ण गुरु 'रतनजी', तास मेद चौवीस ।
 तामे मेद जु तेरवें, करी ज्ञान वक्रसीस ॥ १२८ ॥
 चातुर्वर्ण्यगुरु 'रतनजी', तद्भेदा युगविंशति ।
 त्रयोदशे तु मेदे च, ज्ञानदान व्यधादसौ ॥ १२८ ॥
 ज्ञान पाय हुलसी मती, शुक्ला छठ मधुमास ।
 संवत् रस-अग्नि के भू, रच्यो शान्ति परकाश ॥ १२९ ॥
 ज्ञानं प्राप्य मतिर्हृष्टा, रसाऽऽम्यङ्केन्दुरब्दके ।
 सिते षष्ठ्या मघी "शान्तिप्रकाशो" रचितो मया ॥ १२९ ॥

आशिर्वचनम्

अरिहंत-सिद्ध-गण-ईशजी, उपाध्याय सब साध ।
 पंच परमगुरु दीजिये, निर्मल ज्ञान समाध ॥ १३० ॥
 अर्हन्सिद्धोऽथवाऽऽचार्य, उपाध्यायो मुनिस्तथा ।
 पञ्चैते गुरवो दधु, शुद्धबोधसमाधिकौ ॥ १३० ॥

इति श्रीमज्जैनाचार्यमञ्जुलालकृतशान्तिप्रकाश समाप्तः ॥

"सुसंस्कृतानुवादस्तु, कृतः पुष्पेन्दुभिक्षुणा
 शान्ते वीररसं प्राप्य, मोक्षः सञ्जायते ध्रुवम्"

रणीया यत्नेन, नात्र कार्यो विचारणा ॥ १९ ॥ वार्ताऽन्याप्यस्ति चात्रैव,
 लेखगृद्धि प्रजायते । वास्तवज्ञानशून्यं स्यात्काठिन्य विदुषा भवेत् ॥ २० ॥
 इति शका भिया नैव, प्रत्येकविषयस्य हि । प्रमाण स्पष्टरूपेण, न निर्दिष्टमिह
 स्फुटम् ॥ २१ ॥ जिज्ञासूना विजिज्ञासा, दृढाय एनुरूपत । तदा तेषा
 विनिर्देशोऽवश्य स्यात्प्रकट पुन ॥ २२ ॥ हेतुस्तृतीयो ज्ञातव्यो, विवेचनमवा-
 प्यति । प्रस्तुतविषयस्यापि, *सम्प्रदायानुसारत ॥ २३ ॥ लक्ष्ये विशेषं
 संस्थाप्य, सूक्ष्ममात्रैकदृष्टि । प्रत्येकस्यात्र लेखस्याऽनुमवाच्छास्त्रतस्तथा
 ॥ २४ ॥ सर्वसिद्धान्तत सार्वर्भौमस्य व्याप्तिरूपत । अस्ति सम्भावना चास्य,
 ज्ञानं सम्यक्त्वपूर्वकम् ॥ २५ ॥ कस्यचिदेतुतक्षिते, शङ्कोत्पत्तिर्मवेष्ट हि ।
 विचारणान्तरं तेषा, शङ्का स्यान्निर्मूलिका ॥ २६ ॥ सर्वत्र मेऽस्ति विश्वासो,
 नैवं शका कदापि हि । चतुर्थी च सुवार्तेय, कस्याऽपि विषयस्य च ॥ २७ ॥
 प्रतिपादयितुं शक्यत्कयापि भाषया भवेत् । चतुर्विधत्व सामग्र्या, अपेक्षा
 जायते ध्रुवम् ॥ २८ ॥ विज्ञेया सा च सामग्री, निम्नलेखक्रमेण च ।
 निर्णयस्तत्त्वसघाना, प्रथमानुयोगरूपत ॥ २९ ॥ विचारार्थं च वस्तूना,
 साक्षाद्विषयवर्णनम् । कथनोपकथनाच्चेति, नान्यो हेतुर्मनागपि ॥ ३० ॥ शास्त्रे
 पूर्वानुयोग च, धर्मकथानुयोगकम् । कथ्यतेऽत्र विचारेण, तत्त्वज्ञानार्थिभिर्मुदा
 ॥ ३१ ॥ “धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् । पूर्ववृत्तकथोपेतमितिहास
 प्रचक्षते” ॥ ३२ ॥ दृष्टव्यैतयेतिहासोऽपि, चेतसा कथ्यतेऽधुना । स्थानाङ्गेऽपि
 कथा सेय, चतुर्धाऽभिनिगद्यते ॥ ३३ ॥ मुख्य फल कथायाश्च, तत्त्वनिर्ण-
 यमेव हि । य शब्दो यत्परश्चास्ते, तदर्थोऽपि स एव हि ॥ ३४ ॥ लक्ष्ये
 धृत्वा पदार्थं य, शब्दस्य कस्य चैव हि । प्रयोग यदि कुर्वीत, स शब्दश्चार्थवान्
 भवेत् ॥ ३५ ॥ सर्वेषा सम्मत चेद, सिद्धान्तं सस्फुट सदा । तदा सम्पद्यते
 भाव, सर्वत्रैव विचारय ॥ ३६ ॥ वक्ता बोधयितुं य हि, वाञ्छयोच्चार्यतेऽ-
 सकृत् । श्रोत्राऽपि शब्द स एव, ज्ञायतेऽर्थसमन्वित ॥ ३७ ॥ ततोऽन्यार्थ-
 प्रतीतेश्च, श्रोतुर्भवति विभ्रमः । भोजनावसरे यद्वत्सैन्धवेति पदात्तत ॥ ३८ ॥
 जन्यते लवणाऽऽवोद्यो न चान्योऽर्थोऽप्रतीयते । अस्थाने हयबोधश्च, तद्वद्वक्ष-
 मधारय ॥ ३९ ॥ श्रोत्रैव सुविचार्यार्थो, नान्योऽर्थं प्रतिपद्यते । अवोद्यार्थ-
 ज्ञापकत्वे, सति शास्त्रप्रमाणकम् ॥ ४० ॥ प्रमाण तु तदैतत्स्यात्प्रमाण-

निपवस्य च । वास्तविकं च *सद्यः च येन ज्ञानं प्रजायते । आत्मा-
 धर्म्ये परं योऽहं रमतेऽहर्निशं पुमान् । तत्पदाम्मोजसुमेऽस्तु त्रिकलं मम
 बन्धना ॥ ४१ ॥ अस्मानैकिकमिधस्य दहंमहृत्स्वमुत्तमम् । सुखं विद्वद्वते
 निर्व्यं मिथ्यमानन्दपूरितम् ॥ ४२ ॥ आत्मन्वापेक्षया विधे मिथ्यसिद्धताऽस्ति
 च । अयतो हि जगद्भगौ मिथ्यमयं कतोऽस्ति च ॥ ४३ ॥ एकैकप्रणी मिथ-
 यस्तत्त्वज्ञानन्दमय एव हि । अस्माकन्वाप्रिवक्ष्येयमवतत्पुनितकथा ॥ ४४ ॥
 अग्निराग्नुं तमानन्दं मिथ्यवर्णं हि वाचनम् । तान् चर्मान् प्राप्तिवो वैवाच-
 न्वाज्ञेवोदपीपद्व ॥ ४५ ॥ आत्मन्वापेक्षया सन्ति प्राप्तिवः बहवः समे ।
 व्यक्तिवापेक्षया किन्तु यद्य सत्त्वप्रमिति ॥ ४६ ॥ आत्मन्वापेक्षमिहमर्थ-
 मानवा सुममोदयन् । आत्मार्थकावुपायांवाऽनेकान् विरचयन्ति ते ॥ ४७ ॥
 आत्मानन्दवर्णुपावेष्टु मनुष्यरचितेषु च । सर्वोक्त्य उपावस्तु, यमै इवास्ति
 केवळम् ॥ ४८ ॥ आत्मन्वस्य कर्तुं हि, सुखं प्रलेकप्रामिनाम् । समर्थ-
 म्वात्मवस्तुस्वमस्ति प्रलेकवेदिवाम् ॥ ४९ ॥ सुखं वास्तविकं स्वमस्ति प्रलेक-
 विधम् । मयैवात्मनधर्मज्ञ सत्त्वेवं सुस्मृतोचिता । तथालयेव तन्मूर्तमस्मै-
 तदनुमारत ॥ ५० ॥ मनुष्यव्यापकाः प्राणी प्रवीणकरतोऽस्ति नद ।
 आत्मानन्दमिहविधिं च कर्तुं शक्नोति मिथितम् ॥ ५१ ॥ एतावदेव च परमन्-
 यदुक्तं सत्त्वाः । अनन्यानुमर्षं प्राप्ता आत्मन्वस्य ये नराः । ते सप-
 चाङ्गमिधमस्य भरन्वाते कृते वाङ् । आत्मन्वापेक्षया त्वस्यैव स्वमस्य वि-
 यताः ॥ ५२ ॥ तेन यमैकक्रीय भावनेवेतद्य यद्य । आत्मनो लौकिकमन्-
 मयानुं शक्नुवन्ति च ॥ ५३ ॥ लोकेऽन्वप्राप्तिववाप्त प्रसप्तचवतः वाङ् ।
 अत्यैकिकप्रमातुर्वैर्मैवज्ञानन्वतुमिच्छाः ॥ ५४ ॥ परमिह मनुष्यात्मवेदितुं
 क्षमं विद्व । विज्ञानन्वमवा मृता तथैव्यनन्वसम्पदा ॥ समस्तमिधप्रतिमाऽ-
 नन्वदन्वमिधवैवम् । उपावेवं सुखं च मिथ्यां पारवन्ति च ॥ ५५ ॥
 यो यमोऽस्ति सुखां वैवाचोकिधमन्वसम्पदा । अगिह्वैरुपरवैरुमोऽस्तीति
 मिथ्यामताम् ॥ ५६ ॥ इयं सुखिरवाचमन्वसम्पदावतवतुचमिधवी । अनन्वतत्-
 क्येष्टु यथावाद्यमवर्तते ॥ ५७ ॥ आत्मीयावन्ततत्त्वैष्टु, यद्य सुविर्गुणमपः ।
 अत्यैकिकसक्ये वाचमन्वतत्त्वसम्पदाः । अवन्तव्यक्तवर्गन्तं सत्त्वावतत्त्वम् ।

अलौकिकानन्दरूपे, नित्याऽवस्थाऽस्य ते स्थिरा ॥ ५८ ॥ विचित्ररूपेयं
 सृष्टिरस्त्यलौकिकवस्तु च । स्थिरा नित्या च नाऽस्तीति, सृष्टिर्नामागमा जगुः
 ॥ ५८ ॥ अस्त्यलौकिकसामर्थ्यमृतालकरणेषु च । मर्गस्य धर्म एवैक, सर्वो-
 त्कृष्ट विभूषणम् ॥ ६० ॥ धर्ममीमांसका लोकेऽनेके समभवन्निह । ते लौकिक-
 परिष्काररूपेण हितकाक्षिण ॥ नैजधर्मविचारात्मकप्रसादेन मञ्जुना । एतन्म-
 हीतल चाल, चक्रिरेऽल कृपालव ॥ ६१ ॥ इदानीं समये चंपामलौकिकप्रसा-
 दिनाम् । निम्ननिर्दिष्टनामानो, भवन्तीक्षणगोचरा ॥ ६२ ॥ वेदान्त साख्य-
 योगौ च मीमांसा द्वितयी पुन । न्यायो वैशेषिको शैवो, वैष्णवस्तात्रिकास्तथा ॥
 स्वामीनारायणो जैनो, बौद्धो मोहम्मद पुन । ईशायी पारसीयश्च, यद्वदी-
 यादय परे ॥ ६३ ॥ एषा तदितरेषां, भिन्नभिन्नमताधिताम् । धर्मालङ्कार-
 भूतानामुद्देश्यं त्वन्ति केवलम् । आत्मानन्दाधिगमनमित्य तत्त्वविदो विदु
 ॥ ६४ ॥ उद्देश्ये सर्वधर्माणामेकीभावमुपागते । तत्साधनानि सर्वाणि,
 भजन्तीहैकरूपताम् ॥ ६५ ॥ पृथक् पृथक् देशकालावाधारीकृत्य ते ननु ।
 अन्योऽन्यभिन्नरूपैश्च, सम्प्रवृत्ता भवन्ति च ॥ ६६ ॥ तत्रार्हताना तद्देश्य, ज्ञानं
 केवलमात्मन । किं च तस्य हि कैवल्यप्रापण केवलोदयात् ॥ ६७ ॥ एतदेवा-
 भिमन्यन्ते, योग-वेदान्ति-वैष्णवा । स्वामिनारायणश्चापि, जैनेनेत्यभिहोच्यते
 ॥ ६८ ॥ “जे एग जाणइ से मन्त्र जाणइ” एकं जानाति यो नाम, सर्वान्
 जानाति स ध्रुवम् ॥ ६९ ॥ वेदान्तीया भगवती, श्रुतिरप्याह तद्यथा ।
 “आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति” ज्ञाते सत्यात्मन ज्ञात, भवतीदम-
 शेषत ॥ ७० ॥ “अप्पा सो परमप्पे”ति, जैना अभिदधत्यथ । वेदान्त-
 कान्तसिद्धान्तभारतीत्यमुदीर्यते ॥ “अहं ब्रह्मास्मि” “तत्त्वमसि” “प्रज्ञान
 ब्रह्म” “अयमात्मा ब्रह्म” ॥ ७१ ॥ अहं ब्रह्माऽस्म्यसि त्वं तत्, प्रज्ञानं ब्रह्म
 कीर्यते । अयमात्माऽपि तद्ब्रह्म, सच्चिदानन्दरूपि यत् ॥ ७२ ॥ सन्ति वेदस्य
 चत्वारो, भागास्तेषु चतुर्षु च । अस्त्येकैकं महावाक्यं, दर्श्यते तद्यथाक्रमम्
 ॥ ७३ ॥ “अहं ब्रह्मास्मि” ‘यजुषः’ साम्नस्तत्त्वमसीति च । “प्रज्ञानं ब्रह्म”,
 ऋग्वेदः “स्यायमात्मेत्यर्थव ॥ ७४ ॥ चतुर्ध्वेतेषु वाक्येषु, वाक्य
 तत्त्वमसीति ह । उपयोगितरं शश्वन्मननीयं च विद्यते ॥ ७५ ॥
 जैनानेकान्तसिद्धान्तनियमश्चायमस्ति च । “नाणे पुणं नियमा आया” ज्ञानेन
 नियमेनात्मा, वर्वतीति विदेदिसम् ॥ “प्रज्ञानं ब्रह्म” इत्येतद्देवान्तेनाभिधीयते

विपन्नस्य च । बालमिदं च *सख्यं च देव इदं प्रचक्षते । आत्मा-
 भन्दे परं मोक्षं रमतश्चर्निष्ठं शुभम् । तत्पदाम्भोजयुग्मेऽस्तु विघ्नं मय
 बन्धना ॥ ४१ ॥ अस्माभ्योऽपि विधाय दर्शनदूरयमुत्तमम् । तुल्यं मित्रवत्
 विद्यं विधमायम्यपूरितम् ॥ ४२ ॥ आनन्दापेक्षया निधेः सिद्धिस्तोषकाऽस्ति
 च । यमतो हि यम्यस्यै विधायकं यतोऽस्ति य ॥ ४३ ॥ एतेऽप्यपी वि-
 द्माऽऽस्मानन्दमय एव हि । अस्थानम्-प्रियतोषामतस्तानपितस्तथा ॥ ४४ ॥
 अपि यन्तु तमानन्दं विधाय हि पावनम् । तन्तु चर्मच प्रमिनो वैद्या-
 न्दन्वैशोदपीपदन् ॥ ४५ ॥ आनन्दापेक्षया सति प्राप्तिः सरसाः सुखे ।
 अविद्यापेक्षया किन्तु, मया संतुष्टप्रमिनः ॥ ४६ ॥ आनन्दस्यामिदं सर्वं
 मानवा सुप्रबोधान् । आनन्दपदपाशांवाऽनेकान् निरचवन्ति ते ॥ ४७ ॥
 आनन्दानन्दवर्तुपात्रेषु, मनुष्यवर्तितेषु च । सर्वोत्कृष्ट उपावस्तु, यन् एकसि
 केवळम् ॥ ४८ ॥ आनन्दस्य अक्षरं हि, तुल्यं प्रत्येकप्रमिनाम् । तान्मर्त्य-
 मात्मनस्तुत्यमसि प्रत्येकवेदिनाम् ॥ ४९ ॥ तुल्यं वास्तविकं कस्मसि प्रत्येक-
 हिनाम् । यन्निष्ठाचनधर्मस्य सर्वेषां तुल्यतोषिता । समानमेव सम्पूर्वमस्त-
 एवमुपरत ॥ ५० ॥ मनुष्यकारणं प्राणी प्रवीणकरतोऽस्ति नत् ।
 आरमायगमिदं हि स कर्तुं सज्जोसि विविधम् ॥ ५१ ॥ एतावदेव च परम-
 चतुस्तु सज्जता । अमन्तुसुखं प्राप्ता आनन्दानन्दस्य वे मया । ते अपि
 आनन्दविषयका नरकाते कृते सन्त । अस्तान्मसावनायमं स्तुतिं सन्तु वि-
 गताः ॥ ५२ ॥ तेन यमीकरुणेन साधनेवेतर मया । आत्मनो ज्योतिर्यम-
 मर्षां चतुस्तु ॥ ५३ ॥ ज्योतिर्यमपि विद्यायां प्रकाशयतः सन्त ।
 ज्योतिर्यमपि तन्मर्मकायमप्युद्दिष्टा ॥ ५४ ॥ परमिह मनुष्यायमेति पद-
 यन् विद । विद्यानन्दमया मूल्या तन्मर्षागन्धसम्पदा ॥ समस्तविधाप्रतिमाऽऽ-
 नन्दानन्दमिदं नम् । उपादेवं सुरम्यं च विद्यां पारवन्ति च ॥ ५५ ॥
 यो यमोऽस्ति मृषां सैवाभ्योऽपि यमसम्पदा । अमिदुदेतिद्वर्त्तरूपोऽस्तीति
 निमायवताम् ॥ ५६ ॥ इदं सतिरगायमन्तस्तान्मन्तुवन्ति यी । यमन्तस्त-
 क्तेषु यवास्तस्यप्रवर्तते ॥ ५७ ॥ आत्मीयान्तस्तत्तेषु, य सतिर्विद्वत्पदा ।
 जन्मैकिकसकृदे यान्तस्तत्त्वसाक्ष्यता । यमन्तस्तत्त्वपर्यन्तं सज्जतायतस्मता ।

अलौकिकानन्दरूपे, नित्यावस्थाऽस्य ते स्थिरा ॥ ५८ ॥ विचित्ररूपेय
 सृष्टिरस्त्यलौकिकवस्तु च । स्थिरा नित्या च साऽस्तीति, सृष्टिमीमांशका जगुः
 ॥ ५८ ॥ अस्त्यालौकिकसामर्थ्यमृतालकरणेषु च । सर्गस्य धर्म एवैक, सर्वो-
 त्कृष्टं विभूषणम् ॥ ६० ॥ धर्ममीमांसका लोकेऽनेके समभवन्निह । ते लौकिक-
 परिष्काररूपेण हितकाक्षिण ॥ नैजधर्मविचारात्मकप्रसादेन मञ्जुना । एतन्म-
 हीतलं चाल, चकिरेऽल कृपालव ॥ ६१ ॥ इदानीं समये चवामलौकिकप्रसा-
 दिनाम् । निम्ननिर्दिष्टनामानो, भवन्तीक्षणगोचरा ॥ ६२ ॥ वेदान्त साख्य-
 योगौ च मीमांसा द्वितयी पुन । न्यायो वैशेषिको शैवो, वैष्णवस्तात्रिकास्तथा ॥
 स्वामिनारायणो जैनो, बौद्धो मोहम्मद पुन । ईशायी पारसीयश्च, यद्वदी-
 यादय परे ॥ ६३ ॥ एषा तदितरेषां, भिन्नभिन्नमताश्रिताम् । धर्मालङ्कार-
 भूतानामुद्देश्यं त्वस्ति केवलम् । आत्मानन्दाधिगमनमित्य तत्त्वविदो विदुः
 ॥ ६४ ॥ उद्देश्ये सर्वधर्माणामेकीभावमुपागते । तत्साधनानि सर्वाणि,
 भजन्तीहैकरूपताम् ॥ ६५ ॥ पृथक् पृथक् देशकालावाधारीकृत्य ते ननु ।
 अन्योऽन्यभिन्नरूपैश्च, सम्प्रवृत्ता भवन्ति च ॥ ६६ ॥ तत्रार्हताना तद्देश्य, ज्ञानं
 केवलमात्मन । किं च तस्य हि कैवल्यप्रापणं केवलोदयात् ॥ ६७ ॥ एतदेवा-
 भिमन्यन्ते, योग-वेदान्ति-वैष्णवा । स्वामिनारायणश्चापि, जैनेनेत्यमिहोच्यते
 ॥ ६८ ॥ “जे एग जाणइ से सब जाणइ” एकं जानाति यो नाम, सर्वान्
 जानाति स ध्रुवम् ॥ ६९ ॥ वेदान्तीया भगवती, श्रुतिरप्याह तद्यथा ।
 “आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति” ज्ञाते सत्यात्मन ज्ञात, भवतीदम-
 शेषत ॥ ७० ॥ “अप्पा सो परमप्पे”ति, जैना अभिदधत्यथ । वेदान्त-
 क्रान्तसिद्धान्तभारतीत्यमुवीर्यते ॥ “अहं ब्रह्मास्मि” “तत्त्वमसि” “प्रज्ञान
 ब्रह्म” “अयमात्मा ब्रह्म” ॥ ७१ ॥ अहं ब्रह्माऽस्म्यसि त्व तत्, प्रज्ञान ब्रह्म
 कीर्यते । अयमात्माऽपि तद्ब्रह्म, सच्चिदानन्दरूपि यत् ॥ ७२ ॥ सन्ति वेदस्य
 चत्वारो, भागास्तेषु चतुर्षु च । अस्त्येकैकं महावाक्यं, दर्श्यते तद्यथाक्रमम्
 ॥ ७३ ॥ “अहं ब्रह्मास्मि” “यजुष” साम्रस्तत्वमसीति च । “प्रज्ञान ब्रह्म”,
 ऋग्वेद “स्यायमात्मेत्यधर्णव” ॥ ७४ ॥ चतुर्ष्वेतेषु वाक्येषु, वाक्य
 तत्त्वमसीति ह । उपयोगितरं शश्वन्मननीयं च विद्यते ॥ ७५ ॥
 जैनानेकान्तसिद्धान्तनियमश्चायमस्ति च । “नाणे पुण नियमा आया” ज्ञानेतु
 नियमेनात्मा, वर्वर्तीति विदेदिमम् ॥ “प्रज्ञान ब्रह्म” इत्येतद्वेदान्तेनाभिधीयते

चार्यसिद्धान्ते, स्थितिरेषा सनातनी ॥ ९४ ॥ निर्दोषः पूर्णगुणवानात्मानन्द-
 गुणाश्रितः । स्वतन्त्रः सर्ववित्साक्षी, शरीरगुणवर्जितः ॥ ९५ ॥ तथात्मा
 करपादादिमुखादीन्द्रियवर्जितः । स चावयवादिभेदेन, कल्पनाकरणेऽपि च
 ॥ ९६ ॥ सदानन्दमयो नित्यो, वासनारहितो विभुः । श्लोकोक्तात्मतत्त्वस्य,
 कल्पनावयवस्य च ॥ ९७ ॥ केवलानन्दरूपश्च, नास्त्यत्र च विकल्पनम् । जन्म-
 मृत्युजरादिभ्यो, व्यतिरिक्तश्च सर्वदा ॥ ९८ ॥ जन्मोत्पत्तिप्रभङ्गादिभेदशून्योऽ-
 स्ति निर्मलः । जन्मादिप्रिविधो भेदस्तद्विधं चात्मरूपकम् ॥ ९९ ॥ ब्रह्मा-
 चार्यस्य मते, ज्ञेय तत्त्वदर्शिभिः । सज्जनमतसिद्धान्ते, नात्मा कर्तैति निश्चयः
 (निश्चयनयेनेत्याशयः) ॥ १०० ॥ साङ्ख्यशास्त्रविदश्चाह, *कर्तोऽहंकार एव च ।
 न कर्तृत्वं चात्मनश्च, निर्लेपत्वादविक्रियात् ॥ १०१ ॥ किन्तु पुरुषोऽकर्तैव,
 प्रवदन्ति मनीषिणः । ईश्वरः सर्वविभित्यो, रागद्वेषादिवर्जितः ॥ १०२ ॥
 ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः, इत्येवं वर्णयन्ति च । जैनाश्चेत्यथ योगशास्त्रं, †क्लेशकर्म-
 विपाकतः ॥ १०३ ॥ आशयेनापरामृष्टश्चेश्वरः पुरुषोत्तमः । रागद्वेषादयो
 भावाः, न स्पृशन्ति सद्येश्वरम् ॥ १०४ ॥ ‡सर्वज्ञत्वमीश्वरे चास्ति, आत्मा
 चैतन्यरूपवान् । एव निगद्यते शास्त्रे, चानन्तो निष्कलोऽव्ययः ॥ १०५ ॥
 निर्विवादः सदात्मास्ति, चैतन्यगुणः सयुतः । निष्क्रियो निष्कलस्तद्वद्व्या-
 पको गुणतः पृथक् ॥ १०६ ॥ तन्माया जगता कर्त्री, विच्छक्तिर्गुण-
 विग्रहा । §सत्यज्ञानमनन्तश्च, ब्रह्मेति श्रुतिसम्मतम् ॥ १०७ ॥ ब्रह्म-
 स्वरूपे पापपुण्ये, न त्तो दुःखसुखे तथा । नास्ति किञ्चिज्जगत्सिन्ध्यापकत्वं
 विना स्थितम् ॥ १०८ ॥ सच्चिदानन्दरूपेण, ¶शिवोऽहं नेतरं क्वचिद् ।
 केवलज्ञानसम्पन्नोऽर्धव मोक्षानुभावकः ॥ १०९ ॥ इति जैनमतं शश्वज्जागर्ति
 प्रभुरीश्वरः । इदमेव मतं ज्ञेयं, सहजानन्दस्वामिनः ॥ ११० ॥ अक्षर-
 स्थानमात्मैव, स्वयं चाक्षयरूपवान् । आत्मानं च विजानीयादक्षरं परमं
 परम् ॥ १११ ॥ तज्ज्ञानं सत्यमित्युक्तं, तदन्यत्सकलं मुधा ।

* “अहंकारः कर्ता न पुरुष इति साख्यः” । † “क्लेशकर्मविपाकागर्थपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।” ‡ “तत्र सर्वज्ञवीजम् ।” § सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म । ¶ न पापं न पुण्यं न दुःखं न सुखं न, चिदानन्दरूपं शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

भावयामिस्वके यत् शून्यं मिथ्यामयं च तत् ॥ ११२ ॥ प्रथमियुगम-
 यिषो देवबन्धवयो मुहुः । असम्प्रदायके निधं निव्यवन्मत्तं चतुः
 ॥ ११३ ॥ राजाऽनया दक्षमेन भारतेऽन्य मुच्यिष्याम् । जगतामग्रमन्त्रस्य
 शिष्यमन्त्रास्ये मुखा ॥ ११४ ॥ माहृम्महोऽपि वरति भवेऽस्मिन्वरप्रदीवते ।
 वैतम्भमेव तस्यर्षं वाग्यस्त्रिचिह्निभास्यते ॥ ११५ ॥ सुदा निरञ्जना सार्धं
 निराश्वरोऽतिघण्टिमान् । तेजोमयो ह्यनन्तश्च सर्वज्ञ इति निधनः ॥ ११६ ॥
 मोमिनाक्षयश्च सत्तर्तं कुमार्तं वासभीषणम् । पद्मकेतुं पुराऽर्धं च सुदा-
 र्धौ निजात्मनः ॥ ११७ ॥ त्रिमिस्रश्चाहृष्टमर्तं तच्छतुर्धाकाशकपरि ।
 त्रिमुर्विराजते च हि, मच्छास्य वरिष्ठीरितः ॥ ११८ ॥ मच्छास्य तं प्रपद्मन्ति
 तथा भूम्यन्तेऽधिके । निवनातकीर्तिर्बुद्धोऽपि स्वर्गं समुत्तमानिति ॥ ११९ ॥
 “प्रमैवात्मा” कमलमिन्द्र, प्रलेकं प्राप्तिनो मुने । स्वापधीर्षं च प्रमैवात्मेदमान-
 समान्तवैः ॥ १२० ॥ तत्त्वज्ञापय राजा ह्य, दत्तनेन प्रदीवत । जैनो वेदान्त-
 नोभौ च सर्वज्ञबौद्धौ तथा पुनः ॥ १२१ ॥ अनुमद्य वैकृतायाः कुर्वन्
 स्तीति निमादव । त्रिंशु वै वैकृतायास्तु, तत्त्वानन्दविह्वले ॥ १२२ ॥
 मित्रं च साधनं कर्तुं, मित्रकर्मिस्तथा पुनः । मित्रो देवस्यैवा कालो त्रिमिषा
 पश्यति पुनः ॥ १२३ ॥ गीमांतवैविधिर्यथा त्रिमित्रं ज्वैसाधनम् । अत
 एव बहिर्यथा ज्ञाते मत्तकर्मिणाम् ॥ १२४ ॥ मेवासेवमिन्वा कर्तुं तथापि
 तस्मिन्वान्वनम् । कुर्मत्त्वमेवमायं च ज्ञाते प्रेमसाधनः ॥ १२५ ॥ वैवाचा-
 दुर्मिहृष्टं बौद्धास्तत्त्वबोधीन् ॥ “बोले वचस्पर्कं ग्रहं धर्मं कमलमालिङ्गम्
 ॥ १२६ ॥ वैवाच्ये प्रवर्तयिष्यो निवमाऽपि महात्मनि । प्रत्येकं धर्मोपेतिहि,
 ववापरोपकारिता ॥ १२७ ॥ प्रेमालिखाम्बामिति सर्ववामाम्बामिरीवे ।
 निवमोऽपि यत्स्वार्था तथा धर्मं समानता ॥ १२८ ॥ उपनोपिरोपमोवच
 कुर्वन्तीति निवाम्बताम् । वैराग्यकृत्तर्तं तत्त्वत्समत्वं तुल्यमेव च
 ॥ १२९ ॥ सर्वत्र आप्य वैकृतेष्विति सन्धार्यता मुहुः । यद्विदां वर्ये
 राज्ञः ज्ञेयार्ता वर्येण तथा ॥ १३० ॥ †सर्वप्रमिमिरिजेवं समं माव
 समानता । स्वापधीर्षं च न्यूनाधिमनितया निवयता ॥ १३१ ॥ ‡मचीति

* “कमलमोपरतिटिपिषाजज्ञाद्वयः समासायाः । † “प्रमैवात्मे सञ्च
 यूपयु” ‡ वाग्यवत्त्ववैभूतेषु” मित्रकर्मिणाम् “न्यूना धर्माणि भूतानि धर्मादे ।
 बहवैव १८-३ ॥

नियम चैव, ज्ञायतामित्यतः पुन । सर्वं मित्रवदापश्येदात्मवत्सर्व-
 प्राणिषु ॥ १३२ ॥ ज्ञानी जनो निजात्मान, जीवात्मान तथैव च । एकी-
 भावेन सम्पश्येदिति ग्राह्य श्रुतिर्मुहु ॥ १३३ ॥ देहमीमांसकानां च, अने-
 कान्तिकदृष्टित । औदारिक तेजस च, कार्मण यच्च कथ्यते ॥ १३४ ॥ शरीरं
 चैव वेदान्तमतालम्बनतत्परा । स्थूल सूक्ष्म कारण च, त्रिविध वर्णयन्ति च
 ॥ १३५ ॥ ज्ञानविज्ञानयोर्यच्च, कारण प्रोच्यते बुधै । जैना यज्जाग्रत स्वप्नं,
 तुरीय प्रवदन्ति च ॥ १३६ ॥ वेदान्तेऽपि तथैवास्ति, त्रिधाऽवस्था स्वरू-
 पतः । तथा संसृतिमीमांसाज्ञानज्ञाः प्रवदन्ति च ॥ १३७ ॥ मनसः
 परिणामेन, वन्द्यो मोक्षो हि जायते । सृष्टिः सङ्कल्पतो ज्ञेया, वेदान्तम-
 तशालिनः ॥ १३८ ॥ मानसिक तु जैनानां, *परिणाममथाऽपि वा । अर्घ्य-
 वसाय च वेदान्ते, सकल्प चैकमेव हि ॥ १३९ ॥ प्रत्यक्ष दृश्यते चैक,
 साधनामेदभावत । साध्यश्चात्मा हि प्रत्यक्ष, ज्ञायतेऽमेद एव हि ॥ १४० ॥
 अनुभवेऽप्येवमेव, प्रत्येक च मुमुक्षुभि । जीवात्मनि प्रेमभाव, स्थापनीयं
 सदैव हि ॥ १४१ ॥ सर्वावस्थासु सर्वत्र, ममैवास्ति स्वरूपकम् । पठित्वेदममे-
 देन, प्रेमैव स्थाप्यता सदा ॥ १४२ ॥ एतत्प्रमाणतश्चात्मानन्दात्ते साधनानि च ।
 कुर्वन्समन्वय सर्वामेदभावेन सर्वदा ॥ १४३ ॥ चलैस्तिष्ठन्नुपविशन्निवन्त्वा-
 दन्त्स्वसन्त्स्वपन् । सर्वक्रियासु सर्वत्र, शुद्धश्चैतन्यरूपवान् ॥ १४४ ॥ अह-
 मात्मा चेदृशी वै, भावना स्थाप्यता मुहु । न चैतावद्धि विज्ञान, भूतमात्रं
 मदीयकम् ॥ १४५ ॥ स्वरूप प्रत्युतैव च, ज्ञातव्यं च विशेषतः । ज्ञातव्यं
 प्रतितान्भक्त्या, प्रेमभावप्रवर्षणम् ॥ १४६ ॥ कर्तव्यमित्य ये चैव, पुरुषा
 जगतीतले । स्थापयन्त्यमेदभाव, वीतरागास्त एव हि ॥ १४७ ॥ पूर्णाश्च
 कृतकृत्याश्च, ते सन्ति भुवि चोत्तमा । वीतरागो देवदेवो, महावीर प्रताप-
 वान् ॥ १४८ ॥ धन्योऽस्ति योहि निष्पक्षपातेन सुन्दरो मुहु । मार्गोऽमेदा-
 त्मको भावो, दर्शितो जनतामुदे ॥ १४९ ॥ विनि स्वार्यतया यो हि, प्रकटं
 कृतवान्मुहु । सत्यस्वरूप एवास्ति, स एव परतः पर । स्वतन्त्रत्वस्य
 यथास्ति, द्वारमेतत्प्रधार्यताम् ॥ १५० ॥ भावार्थ — जो पुरुष केवल आत्मा-
 नन्दमे ही अहर्निश रमण करते हैं, उनको त्रिकाल वन्दना है । इस

अधौकिक मित्रके सुखस्य नीर सौम्यवर्णस्य हृदयस्य नीर एव केवलमेव स्पर्शितवा नगर जाता है कि अधौकिक मित्र आत्मन्त्रके परिपूर्ण है । अर्थात् अधौकिक मित्रमें आत्मन्त्रकी अपेक्षासे एकता है । अतएव उसके बड़े बड़े मित्र नहीं हैं । मित्रके प्रत्येक प्राणी आत्मन्त्रमय हैं, उन्हें आत्मन्त्र ही मित्र है अतः वहीकी इच्छामें सम्यग्न है । उस आत्मन्त्रकी प्राप्त करकेके सिधे साधन हम ही मित्रके बड़े हैं । और जब बर्माको प्राप्तिमेंनि अपने 'आत्मन्त्र' के सिधे ही उत्पन्न सिधे हैं, और आत्मन्त्रकी अपेक्षा अतएव सब प्राणी समान हैं । तथापि अधौकिक अपेक्षासे बड़े मित्र सब तो मनुष्य एक जगह प्राणी है और वह आत्मन्त्रकी अभिवृद्धिके सिधे अनेक आत्मन्त्र एवं सुख्य उपायोंकी रचना करता रहता है । मनुष्यके ऐसे हुए आत्मन्त्रकी अभिवृद्धिके उपायोंमें बड़े ही एक सर्वोत्कृष्ट उपाय है । प्रत्येक प्राणीके अन्तर्गत आत्मन्त्रका सकल सम्यग्न है । प्रत्येक प्राणीके आत्मन्त्र साधन सम्यग्न है । प्रत्येक प्राणीका वास्तविक सकल भी समान है । तब तो इस अपेक्षासे साधन हम बर्माका होना भी सम्यग्न ही श्रेष्ठ है, और उसके बहुत-तर सम्यग्न समान ही हैं । मनुष्य कुछ ऐसा प्राणी है कि वह आत्मन्त्रकी अभिवृद्धि बहुत बड़ी कर सकता है । इतना ही नहीं बल्कि जो जो मनुष्य आत्मन्त्रका अवगत अनुभव प्राप्त कर चुके हैं वे वे मनुष्य अपने पीछेकी अर्थात् भविष्यकी मनुष्य कतिके सिधे पाया हुआ आत्मन्त्र साधन हम बड़े मृतकवाली मनुष्य कतिके सिधे कथारक रूपसे छोड़ पड़े हैं । इस बड़े कभी उपकरण वा साधन हुए इतर मनुष्य आत्मन्त्रकी अधौकिक आत्मन्त्रत्वकी प्राप्त कर सकते हैं । अतएव अन्य प्राणी इस प्रकार मित्रकी अधौकिक प्रगतिसे आगमिष्ठ होते हैं । परन्तु मनुष्य ऐक्यता प्राणी तो करे मित्रात्मन्त्रमय नम कर उस अपने आत्मन्त्र हुए अधौकिक मित्रके अप्रतिम आत्मन्त्रमें सुख्य तथा असाधनकी अभिवृद्धि कर सकता है । मनुष्योंका जो बड़े है वही अधौकिक आत्मन्त्रकी अभिवृद्धि साधनी हम है । वह एव अवगत असाधन अवगततरणके रूपमें ज्योंकी ज्यों बड़ी आ रही है, और हुए हमसे अवगत तरणमें अवगत तरण रूपसे अधौकिक तरणमें अवगत असाधन तक आगत करणमें ही—एक करणमें ही अधौकिक आत्मन्त्र रूपसे स्थिर नीर निकल रहेगी । एव यीमांतक प्राणी भी वही करण करते

हैं कि यह सृष्टि अलौकिक वस्तु है, और यह निश्चय तथा शाश्वत है। इस सृष्टिके अलौकिक सामर्थ्योंसे भरपूर अलंकारोंमें धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट अलंकार है। जगत्में अनेक धर्ममीमासक हो गये हैं, और वे अलौकिक अलंकार रूपसे अपने धर्मविचाररूप प्रसादीसे इस भूतलको अलंकृत कर गये हैं। इन अलौकिक प्रसादियोंमें इस समय वेदान्त, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, शैव, वैष्णव, स्वामी-नारायण, मुस्लिम, इसाई, यहूदी, पारसी आदि मुख्यतासे दृष्टिगोचर होते हैं। इनका तथा इनके अतिरिक्त और और अनेक धर्मालंकारोंका हेतु केवल आत्मानन्दको ही प्राप्त करनेका है। सर्व धर्मका हेतु एक होकर उनके साधन भी एक ही हो जाते हैं, और वे अलग अलग देश-कालपर आधार रखकर अलग अलग रूपोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं। जैनका हेतु केवल आत्माका पहचानना और उसे मोक्ष तक ले जाना ही है। वेदान्तिक, वैष्णव, स्वामीनारायण, तथा योगीजन भी यही कहते हैं। जिनमें जैन कहते हैं कि—‘एगं जाणइ से सव्व जाणइ’ जो एकको जानता है वह सबको जानता है। वेदान्तकी भगवती श्रुति भी कहती है—‘आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।’ एक आत्माके जाननेसे यह सब कुछ जाना जा सकता है। जैन कहते हैं कि—“अप्पा सो परमप्पा” आत्मा ही परमात्मा है। तब वेदान्त कहता है कि—‘अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।’ ‘मैं ब्रह्म अर्थात् परमात्मा हूँ, तू भी वही है’ प्रकर्ष तथा सम्यग्ज्ञान ही ब्रह्म है। ‘यह आत्मा ब्रह्म है’। वेदके चार खंड हैं, इन चारों खंडोंमें एक एक महावाक्य है। ‘प्रज्ञानं ब्रह्म’ यह ऋग्वेदका, ‘अहं ब्रह्मास्मि’ यह यजुर्वेदका, ‘अयमात्मा ब्रह्म’ यह अथर्ववेदका और ‘तत्त्वमसि’ यह सामवेदके छांदग्योपनिषद्का महावाक्य है। जैन सिद्धान्तका नियम है कि—“नाणे पुण नियमा आया।” ‘ज्ञानमें नियमसे आत्मा है’ वेदान्त भी यही कहता है कि—“प्रज्ञानं ब्रह्म” ‘प्रज्ञान ही आत्मा है’ जैन कहते हैं कि—जन्ममृत्यु रूपक सृष्टि कर्मके द्वारा चलती है, और वे कर्म जड हैं। इन कर्मोंका नियामक आत्मा है। यानी आत्मा कर्मजन्य सृष्टिका अधिष्ठान है। वेदान्त कहता है कि—मायाके द्वारा ये जन्मादि हैं और इसका नियामक आत्मारूप ईश्वर है। जैन कहते हैं कि—कर्मों-

पापिच प्रलय होनेपर आत्माका मोक्ष होता है । वेदान्त कहता है कि मामो-
 पविच प्रलय होनेपर आत्माका मोक्ष है । जैन कहते हैं कि—आत्माका
 मोक्ष होनेपर ‘अपुनरावृत्ति’ संसारमें पुनरागमन नहीं होता अर्थात्
 आत्माके फिरसे जन्म मरणके चक्रमें नहीं आना पड़ता । वेदांत कहता है
 कि—“न पुनरावर्तते” आत्माकी पुनरावृत्ति नहीं होती । मीठाजीने भी
 कृष्णचमड़ीने कहा है कि—‘अज्ञाना न निवर्तते तद्वत् परम मम’ ‘बाह्य
 मये बाह्य फिर जाना नहीं पड़ता’ वही येरा परमब्रह्म है । अज्ञान पर
 आत्माके नामको परमब्रह्म कहते हैं का मोक्ष कहते हैं । बाह्य ; जानेपर
 फिर वापस नहीं आना होता । जैन कहते हैं कि—एगो आत्मा आत्म
 ब्रह्म गुण पर्यायकी दृष्टिसे एक है । वेदान्त कहता है कि “एकोऽयम्”
 मैं एक हूँ । जैन कहते हैं कि—“तथा जल न मिश्रते, वह तल न बदलता”
 तर्क आत्माके स्वरूप तक नहीं पहुँच सकता और मति उस आत्माके
 स्वरूपको ग्रहण नहीं कर सकती । वेदान्त कहता है कि—“सतो वाचो
 निवर्तते अज्ञान्य ममसा छा” बाह्यसे वाणी वापस फिर जाती है वह
 अज्ञान-अज्ञान मम द्वारा अज्ञान्य है । मानार्थ यह है कि—मम और वाणी
 उस आत्म का बर्तन नहीं कर सकते । जैन कहते हैं कि—आत्माको सम्पूर्ण
 या अक्षय रूपमें ज्ञानने वाले मनुष्य केवल ज्ञानको पाते हैं । वेदान्त कहता
 है कि—“कैवल्यपदमस्तुते” आत्मा केवल पदका अनुभव करता है ।
 वेदान्त कहता है कि—अक्षय विषयमें उचितानन्द परमसर्वव्यापक है ।
 जैन कहते हैं कि—अक्षय विषयमें आनेसे मरता नहीं जाननेसे ज्ञान
 नहीं आनेसे ज्ञान नहीं मेहन करनेसे मेहित नहीं होता और बने-
 बहुत हाथ पीत नहीं सकता, ऐसा सत्त्वितानन्द स्वरूप जीव कायामिकतासे
 लवन रूपमें भरे पड़े हैं । आकाश परीत हृषी कउन आदि कोई
 भी स्थान जीवसे जाती नहीं है । अर्थात् वेतन्यककपुत्र जीवकी दृष्टिसे
 वेगनेपर वेतन्यदेव समस्त लोकमें भरपूर है । वेदान्त कहता है कि आत्मा
 सर्व सर्वज्ञ है जैन भी नहीं कहते हैं कि आत्मा अनन्त स्वयमय है ।
 वेदान्त कहता है कि ज्ञान सत्त्वित है । जैन कहते हैं कि आत्मा सर्व
 सुख-मुक्त आत्म स्वरूप है और सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी है । वेदान्त और
 सांख्यार भी नहीं कहते हैं । ब्रह्माचार्य मत्तपर्यंत कहते हैं कि—निर्दोष

पूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो, निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्व्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा ॥
 आत्मतन्त्र अर्थात् मात्र आत्म-स्वरूप निर्दोष है । पूर्णगुण विग्रह है । पुन
 जडात्मक शरीर और गुणसे भिन्न है । इस आत्म स्वरूपके हाथ, पैर, मुख,
 उदर इत्यादि अवयवोंकी कल्पना करने पर मात्र आनन्द ही है अर्थात् सम्पूर्ण
 आनन्दमय भेद भाव रहित है । आत्म-तत्त्वके अवयवोंसे श्लोकमे की गई कल्प-
 नामें केवल आनन्द ही इसके अवयव हैं । यह स्पष्टतासे समझमें आ जाता है ।
 इस आत्म-स्वरूपमें जन्म, जरा और मृत्यु रूपी भेद नहीं है । उत्पत्ति,
 स्थिति, प्रलय रूप त्रिविध भेदसे यह आत्म-स्वरूप भिन्न है । जैन कहता
 है कि—निश्चय नयसे तो आत्मा अकर्ता ही है । सांख्य शास्त्र कहता है कि—
 “अहकार कर्ता न पुरुष ।” कर्ता, घर्ता अहकार है पुरुष नहीं, अर्थात्
 आत्मा कुछ नहीं कर्ता, प्रत्युत अकर्ता है । जैन कहता है कि—“ईश्वर सर्वज्ञ
 होता है, तथा उसमें राग द्वेष आदि कुछ भी नहीं हैं । योग शास्त्र कहता
 है कि—“क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।”
 क्लेश, कर्म, विपाकके आशयोंके साथ असंस्पृष्ट-अलिप्त है, वही पुरुष
 विशेष पुरुषोत्तम और ईश्वर है यानी ईश्वरको राग द्वेष क्लेश कर्मविपाक
 नहीं छू सकते । “तत्र सर्वज्ञबीजं” उस ईश्वरमें सर्वज्ञत्व होता है ।
 आत्मा अनन्त तत्त्व रूप है । वेदान्त कहता है कि—“सत्यं ज्ञान-
 मनन्त ब्रह्म ।” ब्रह्म स्वरूपमें पाप, पुण्य, सुख या दुःख नहीं है । पुन-
 वेदान्त कहता है कि—“न पापं न पुण्यं न दुःखं सुखं न । चिदान-
 न्दरूपं शिवोऽहं शिवोऽहं ॥ “मेरा आत्म-स्वरूप शिव है, और उस
 शिवस्वरूप आत्मामें पाप, पुण्य, सुख दुःख नहीं है, क्योंकि वह
 सच्चिदानन्द रूप है । जैन कहते हैं कि—केवलज्ञानी यहा ही मोक्षका
 अनुभव करते हैं । इसीसे मिलता जुलता स्वामीनारायण मत प्रवर्तक,
 श्री सहजानन्द स्वामीका भी यही मत है कि—‘अक्षर धाम यहीं
 है, आत्मा स्वयं अक्षर स्वरूप है । जो आत्माको यहांके लिये
 भी अक्षरधाम समझता है उसीकी समझ सच्ची है, और जो अक्षरधामको
 किसी अन्य स्थल आकाशादिमें समझते हैं उनकी समझ मिथ्या है ।
 प्रणामीपथ अर्थात् खीजडापथ प्रवर्तक महेरात ठाकुर तथा श्री देवचन्द्रजी
 वीर २१

मनो सम्प्रदायको निजानन्द सम्प्रदाय कहते हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर पता चलता है कि भारतके बग़ारमा पुरुषोंका विद्युन्त आत्मानन्दके पानेका ही है। मुहम्मद साहब भी नहीं कहते हैं कि जयतमें जो भी कुछ बैठकर प्रतीत होता है वह तुम्हारी रक्षा ही है, तुम्हारा विरज्य निरावार, तेजोमय और सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ है। मोमिन तो कपड़ों तुम्हारे अपने पाठ ही देखते हैं। तुम्हारा अर्थ भी तुम ही होता है। जिसिस्तुतुहस्तुतुह भी नहीं उपदेष्टा है कि नीचे आध्यात्मपर प्रभु निराजमान हैं। वह प्रभु भयंकर आत्मा है, और परम भक्त जब प्रभुको प्राप्त करते हैं। अविनाश भूमिकाओं सर्वोत्कृष्ट कीर्तियों पानेवाले तुम्हारे ही स्पष्ट कह पाते हैं कि प्रेम ही आत्मा है। अतः जयतके प्रत्येक शब्दोंमें अनेक प्रेम रहती। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो वैव वैदान्त बोध साक्ष्य और आदि सब एकताका ही अनुभव करते हैं। एकता पानेके लिये अर्थात् आत्मज्ञानमें अभिप्राय करनेके लिये सबकोके मित्र मित्र बनें यीमांशकोंने मित्र मित्र देव काकी मित्र-मित्र पदविते समस्तता है। अतएव दृष्टिसे देखा जानेपर सब मतोंकी निजानोंमें मेव आन पड़ता है। तथापि जब किस्मोंका समन्वय किया जाय तो वे मेव ही अनेक मात्र बचने लगते हैं। वैव विते रोज नद्वन्द्व कहते हैं और उन्हें पांच चीज कहते हैं और बोली उन्हें पांच बम कहते हैं। वैदान्तके सम सम उपरति विविधा बदा और समान भी ऐसे ही हैं। परमहंसोंके कर्तव्य करने योग्य विषय भी अन्तमें एक ही हैं। प्रत्येक व्यक्ति कीर्ति क्या परोपकार, प्रेम आदिके सामान्य और सर्वमान्य विषय भी पृथक् जमीन समानता तथा उपबोधिताका उपयोग करते हैं। समस्त वैदान्तके अन्त भी सबमें समान रूपसे ही पाये जाते हैं। इन्हीं पुरुषोंके कर्तव्य और दृष्टि जाहते हुए वैवोंका कर्तव्य “मिति मे सख्य भूयेष्टु” सब प्राणियोंके साथ मित्रता बर्ताने समान मात्र रहना चाहिये गूणाधिक्य होना चाहिये। वैव भी कहते हैं कि—

‘मित्रता बहूना सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।’ ‘तबको मित्रकी दृष्टिसे देखना चाहिये ।’ आत्मवत्त्वमूलेषु’ इन्हीं पुरुष अपनी आत्माके समान सब जीवोंको देखते हैं। वैव यीमांशकोंकी तरफ दृष्टि जाहनेपर वैव पुरुष-

तासे, औदारिक, तैजस, कर्मण शरीर कहते हैं । इसी प्रकार वेदान्ती भी उन ही शरीरोंको स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर कहते हैं । जैन जिसे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और उजागर या तूयावस्था मानते हैं, उन अवस्थाओंका वर्णन वेदान्ती भी उसी प्रकार करते हुए सन्तोष प्रगट करते हैं । सृष्टि भीमासकोंके कथनको देखते हुए जैन यह कहते हैं कि—“परिणामो बन्धो परिणामे मोक्षो ।” “मनके परिणामसे ही बन्ध और मोक्ष है ।” वेदान्ती सकल्पसे सृष्टि मानते हैं । जैनोंका मानसिक अध्यवसाय और परिणाम तथा वेदान्तका सकल्प एक ही बात है । इन प्रमाणोंसे आत्मानन्दकी अभिवृद्धिके साधनोंका यानी धर्मोंका समन्वय करते हुए वे सब अमेद भावमें प्रत्यक्ष समाये हुये दीखते हैं । साधन अमेद होनेसे साध्य आत्मा भी प्रत्यक्षमें अमेद ही समझा जाता है, और अनुभवमें भी यही आता है । अतः प्रत्येक मुमुक्षु जीवको प्रत्येक जीवमें प्रेम भाव रखना चाहिये, और सब जगहोंमें ही सर्वत्र मेरा ही स्वरूप है, यही पाठ पढ़कर अमेद प्रेम रखना चाहिये । हलते, चलते, उठते, बैठते, खाते, पीते इत्यादि सब क्रियाओंमें शुद्ध चैतन्य आत्म-स्वरूप हूँ यही भावना रखनी चाहिये । इतना ही नहीं, बल्कि—जगत्के सब भूत भी मेरे ही स्वरूप हैं । यह जानकर उनके प्रति अमेद प्रेमकी वर्षा करनी चाहिये । इस प्रकार जो पुरुष सब जगत्पर अमेद भाव रखते हैं, वे ही वीतराग हैं, पूर्ण हैं, और कृतकृत्य हैं । धन्य उस वीतराग देवको है कि जिसने निष्पक्षपातसे ऐसा सुन्दर अमेद मार्ग जगत्के कल्याणके लिये निस्वार्थभावसे प्रगट किया है । ज्ञातार्थस्य पदार्थस्य, ज्ञान प्रवोधनाद्भवेत् ॥ १५१ ॥ तदनुवादरूपं हि, विज्ञेयं न प्रमाणता । प्रबन्धस्याय आत्मस्य, निर्णेतु यस्य कस्यचित् ॥ १५२ ॥ विचारोऽत्र प्रकर्तव्यो, नान्यथा सिद्धिरुच्यते । यथोपक्रमप्रारम्भाद्युपसंहार-समाप्तिकौ ॥ १५३ ॥ अभ्यास स हि विज्ञेयो, यद्विचारं समभ्यसेत् । अपूर्वं नूतन किञ्चिद्वन्धो विनिरूपितम् ॥ १५४ ॥ फल सुपरिणाम चाप्यर्थवादस्तथैव च । प्रशसात्मकवाक्य च, सोपपत्त्युपपादनम् ॥ १५५ ॥ सम्प्रदायोक्तवाक्य च, प्रकृतमकरन्दकम् । तद्रसास्वादन सम्यक्, कर्तव्यं रसतत्त्ववत् ॥ १५६ ॥ कुतस्त्वमस्त्वजीवास्तु, भव्यमुख्यरसस्य हि । आस्वादनार्थमेवात्र, प्रवृत्ताथ तृपार्दिता ॥ १५७ ॥ सुवार्तेय द्वितीयाऽस्ति, तच्चेष्टा करणेऽपि च ।

॥ १८० ॥ त्रिशलाया समुद्भूय, चतुर्दशविध पुन । महास्वप्नं प्रदष्टं च,
 स्वर्णवृष्टिरसख्यका ॥ १८१ ॥ जन्मोत्सवं सुराणा वै, शक्रस्यागमनं तथा ।
 विधातुमुत्सवं सर्वे, सुरेन्द्रसेवन पुन ॥ १८२ ॥ प्रतिक्षणसपर्याया, सामग्या
 च मुहुर्मुहु । नेयमल्पस्य वीर्यस्य, वार्तास्ति सुप्रबुध्यताम् ॥ १८३ ॥
 स्वसयमस्य वेलायां, तेनानन्तस्ववीर्यत । ऐश्वर्यस्यानुकूलत्वप्रतिकूलस्वयातना
 ॥ १८४ ॥ इति परिपह जित्वा, सम्प्राप्य विजय तथा । जिनत्वं तेन सलब्धं,
 तदाऽसख्यसुरासुरै ॥ १८५ ॥ नरैर्नरेन्द्रैर्देवेन्द्रै, समुत्कृष्टशयोपशमात् । एत-
 द्धारैव सद्भावाऽनुभवश्च कृतो महान् ॥ १८६ ॥ “स्वयन्तु भगवान् वीर”
 इति निश्चित्य मानसे । रागाद्यान्तरिकाब्जानून्, विनिर्जित्य विभूर्जिन ॥ १८७ ॥
 अतश्चानन्तरूपेण, प्राप्त्यनन्तरमेव हि । भगवद्बीरदेवस्य, समग्रैश्वर्यरूपकम्
 ॥ १८८ ॥ सुस्पष्ट लक्षण चास्ति, विवरणत्वं तदाधिकम् । निरूपणत्वमेव च,
 नावश्य तस्य वर्णनम् ॥ १८९ ॥ “समग्रस्य च धर्मस्य”, लक्षण सनि-
 रूप्यते । तथा साधनसामग्या, धर्मो नाप्रोच्यते बुद्धे ॥ १९० ॥ दुर्गतौ
 यतमान यो, जीव धारयते मुहु । स एव धर्मो विज्ञेयो, यतोऽनन्तसुखोद्भवः
 ॥ १९१ ॥ दुर्गतौ पतित तद्वदुदन्त जीवमित्यपि । सरक्षत्युन्नतिपथि, तिरो
 भाव करोति न ॥ १९२ ॥ “स चात्मपुरुषार्थस्य, धर्म इत्युच्यते बुधैः ।”
 तदाऽऽत्मपुरुषार्थस्य, धर्मसंज्ञा ब्रुवन्ति च । एतदृष्ट्या तु भगवान्, सदा वीरो
 हितावह ॥ १९३ ॥ धर्ममूर्तिस्तथा साक्षादभूदिति निशामय । “परमेष्ठी
 परज्योतिर्विरागो विमल कृती । सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्व्व शास्त्रो-
 पलाल्यते ॥” इत्युक्त्यनुरोधेन, भूत्वा सर्व्वोपदेशकः ॥ १९४ ॥ सच्छास्त्र-
 द्वादशाक्षस्य, गिरा प्रख्यानक पुन । विधाय शास्त्ररूपे च, कृतवान् परिणतं
 मुदा ॥ १९५ ॥ “आप्तोपज्ञमनुलक्ष्यमदृष्टेष्टविरोधकम् । तत्त्वोपदेशकृत्सार्व्व,
 शास्त्र कापथघटनम् ॥” शास्त्रमित्य च निरवयं, प्रदाय भगवान् जिन ।
 स्वीयामृतमयं रूप, तथेष्ट सकल पुन ॥ १९६ ॥ अनेकान्त समाश्रित्य, श्रेष्ठो-
 पदेशकैरपि । तथाऽऽदर्शमयाऽनन्त, चरित्र न प्रदर्श्य च ॥ १९७ ॥ एवं
 चानुपम दिव्य, श्रावकश्रवणार्हकम् । गृहिधर्ममनागारं, साधुधर्मरहस्यकम्,
 ॥ १९८ ॥ कृतकृत्य भव्यसृष्टे, कृतवान् य समासतः । विनिर्वाणपथादर्शो,
 भूत्वा भव्यात्मना मुहुः ॥ १९९ ॥ कर्मणवर्गणानां च, भारमुत्तार्य यत्नतः ।
 लघूस्तान् कृतवान् सर्वान्, वर्धमानो नयान्वित ॥ २०० ॥ त्रयात्मक ययो

शिष्टं, रत्नं मयप्रदायकम् । तत्तन्निष्केपसंज्ञं वै महीरत्नं महत्त्वम् ॥ ११० ॥
 परिपूर्णं तदाऽप्यासीद्यत्तुल्यमहत्त्वयोः । कतुरसेव वै तद्वत्प्रशस्यमाने केचने
 तथा ॥ १११ ॥ वयैव हनिदसीह, सैवमस्यद्विचारणात् । स्वासीपुताऽप्य-
 येन प्रत्येकं कतुमावतः ॥ ११२ ॥ किमिन्मुखवत्प्रभावेन विमर्शवन्महो-
 करोत् । निगद्यते पुनः स्पष्टं मयवाहीरस्यामिनाः ॥ ११३ ॥ निर्वाणं परमाणेन
 सह मयहारिकी दया । किमनुवर्तितकृपेण तथा पुन्यकमावतः ॥ ११४ ॥
 आसीद्यतः सहसेतु, कयत्प्रमत्तमावतः । शार्ङ्गस्वर्णवीर्यं तेषां समुज्ज्व-
 ल्यदति चेत् ॥ ११५ ॥ तत्प्रयापयामूर्तं हि, तत्प्रसन्नदयाप्रभे । ह्येवमपि
 विद्यते तान्त्रिकमत्तं तत्र हस्तद्वयम् ॥ ११६ ॥ एहायमेव कृमिभे कर्णार्थक-
 रविनि । कुर्मन् परिप्लुतं त्वयासीत्कारं तत्र निशाधन ॥ ११७ ॥ (१) 'वीरस्तु-
 तमयान् प्रमु', निरुपबन्धितः अति । पूर्वं पर्यायमेव यास्तुर्नवकञ्ज न सेवन्म् ॥
 कुत्वाऽप्य हर्षनावैकं कान्तुमभवत्तथा ॥ ११८ ॥ कर्णं प्रतिष्ठां कृतवान्,
 वाक्मे भवन्ती पिता । वीरतत्त्वावदन्तमर्हद्दीक्षां सुखं वन्म् । बोध्यायं न
 चाहं वै लोकोमि कदापि हि ॥ ११९ ॥ वतो मे कवयो धाता मोहद्वया-
 तुराम्भवत् । न तु समतवा दत्ता हवि विम्वारोऽनवत् ॥ वतोऽहमनयो-
 स्थत्वे संन्यासं संन्यासं मत्तम् ॥ १२० ॥ वरिण्यामि प्रसंगेऽपि न हेनोऽप्य-
 नयोर्नयः । हृदये पुनरावतः श्वाभ्यहनिदि मे यति ॥ १२१ ॥ इत्याद्ये
 न भवैतत्तात्पर्यं चेत्तदा कृताः । वीरनकाऽप्यथा ऐका, संचारखरैरेभिर्ही
 ॥ १२२ ॥ वदनवाऽप्यथा विद्या कर्म्यते नो निरुत्तमय । पित्रोऽप्यां विना
 एवसीवासीर्नयं न कर्हिचित् ॥ १२३ ॥ कोऽपि काल्पा एहायमं मुनिवर्णं
 न वारयत् । वदन्वाऽप्यथा तेषां नवाकपाक्यं एवो ॥ १२४ ॥ विद्यावा-
 न्तकन्येन सेवानाव किन्नाक्यम् । संस्थाप्य वर्यं तत्र मौक्तिकं न विम्वारयत्
 ॥ १२५ ॥ तीर्थहरोऽपि मयवात्, प्रभवे वीरयेऽपि यत् । सेवानवेस्थाप्यं
 वै कृत्ये विम्वारयत् ॥ १२६ ॥ कर्मतां किं न वीरस्य चापिनयेवमनुत्तम् ।
 आदर्शकं सेवाना, पितृणां किमवकायम् ॥ १२७ ॥ महर्षं निवदयति
 एवमहकाऽप्यनयोऽवकायम् । प्रतिनयेहं प्रातरं न कतुमोहारसीक्य ॥ १२८ ॥
 कन्दीवर्णवाप्यं प्रातरं मगवात् रहः । एवमिन् विम्वारयोऽप्यनयं मयवोऽ
 'विम्वारोऽप्यना । वनासीऽप्यनयोऽप्यनयं मयवाकां प्रपन्नं न ॥ १२९ ॥ वीरिसेनां
 करोम्यथा तथा ज्योतीऽप्यवीर्यः । निर्वाणं न प्रमु कृत्य खर्चं तु मोहवीरिणः

॥ २२१ ॥ भवन्तं ज्ञायते शुद्धं, स्वर्गारोहणयोगत । पितुर्मातु स्फोटकोर्ध्वं,
 लवणक्षेपणै सम ॥ २२२ ॥ भविष्यति न सन्देह, इति कृत्वा दया भवान् ।
 मदीयकथनेनैव, समुषित्वा गृहे पुन ॥ २२३ ॥ अब्दद्वयसुपर्यन्त, दर्शनार्थ-
 मुदारताम् । दर्शयेच्चेन्महान् देवानुग्रह स्यान्मयि प्रभो ! ॥ २२४ ॥ तथैव
 भगवान् वीर, कृतवाञ्छान्यथा क्वचित् । आतु पूज्यतमस्यापि, चेच्छया
 वापि सम्मत ॥ २२५ ॥ त्यागोऽनुकूलगमन, नोचितोऽथ निवृत्तित । तथापि
 भगवान् वीर, स्वयं च जगदीश्वर ॥ २२६ ॥ ज्येष्ठो भ्राता दर्शनेन, विनयेन
 च तोषित । तद्वच्च सुखिन कृत्वा, ज्येष्ठभ्रातु सुसेवनै ॥ २२७ ॥ पाठोऽपि
 पाठितस्तेन, वर्षद्वयमभूद्गृही । भ्रातुराज्ञानुरोधेन, दीक्षाऽपि नैव धारिता
 ॥ २२८ ॥ एव समयमसकल्प, हित्वा निर्वाणद ध्रुवम् । प्राशुकभोजी भूत्वा
 च, गृहमेवाश्रयत्पुन ॥ २२९ ॥ घन्योऽसि ! भगवँस्त्व हि, नाऽप्रसन्न कृतोऽ-
 नुज । अत पाठसिम् लोक, स्वयमाप विना श्रमम् ॥ २३० ॥ भगवद्दी-
 रवत्स्वस्य, भ्राता पितृसम स्मृत । इति ज्ञात्वा सेवया च, सुखिन त विधाय
 च ॥ २३१ ॥ सन्तुष्टत्वेन सस्थाप्यस्तथा मान्योऽनुजो मुहु । तेऽपि रक्षया
 प्रयत्नेन, वर्मोऽय व्यावहारिक ॥ २३२ ॥ तद्गार्हस्थ्ये च वैराग्यमष्टाविंशति-
 सख्यके । वयस्येव सुसम्पन्ने, पित्रो स्वर्गतयोस्तदा ॥ २३३ ॥ तदा वर्षद्वयं
 स्थित्वा, गृहेऽध्यात्मस्वरूपके । चिन्तन योगिचर्याया, समारम्भोऽप्यकारि च
 ॥ २३४ ॥ तेनास्माद्योगत सम्यग्बोधिता दीक्षणेप्सव । दीक्षाधारणत पूर्व,
 गृहिघर्मे समभ्यसेत् ॥ २३५ ॥ विशेषतो योगचर्या, यया विशदया सदा ।
 चर्याया च सुभाविन्या, स्याज्जिज्ञृत्तिर्यथाक्रमम् ॥ २३६ ॥ इत्थ तस्या स्वयं
 ज्ञान, जायेत तदनन्तरम् । सहिष्णुतायास्त्यागस्य, भवेज्ज्ञान तथा पुन
 ॥ २३७ ॥ अद्यावद्विक्रियज्जातमुदारोत्तीर्णता यदि । अभिप्रायोऽस्ति मे चाद्य,
 सच्चर्याया विपाकत ॥ २३८ ॥ भूत्वा दृढस्तत पादौ, घर्तव्यस्ताद्युसाधने ।
 न तु पूर्व ततश्चैवं, विज्ञाना गतिरीदृशी ॥ २३९ ॥ (३) राजनैतिक-
 शिक्षाया, शिक्षको यत्र कालके । अमात्यनृपतीना च, पुत्राणां भूभुजा
 पुन. ॥ २४० ॥ यदाऽभूज्ज्ञानमेतद्धि, नरराजसिद्धार्यकत् । महिष्या त्रिश-
 ल्याऽदर्शि, स्वप्रश्नतुर्दणविध ॥ २४१ ॥ यौवने सार्वभौमश्च, चक्रवर्तो भवि-
 प्यति । एतद्वृत्तान्तश्रवणाच्छ्रेणिकेन्दुप्रद्योतनौ ॥ २४२ ॥ दधिवाहनप्रभृतिराज-
 पुत्रा समागता । भगवद्दीरसेवाया, सलमाश्च मुहुर्मुहु. ॥ २४३ ॥ क्षत्रिया-

विष्टं, रत्नं वयप्रमाणकम् । तत्पनिक्षेपसंज्ञं वै परमीरत्नं महत्त्वकम् ॥ ११ ॥
 परिपूर्णं तवाऽऽप्यासीद्वस्तुत्वमहत्त्वबोः । अमुरखेन वै तद्वस्तुत्वमहत्त्वबोः
 तथा ॥ १२ ॥ वनेनै कविबन्धुह, सैवमन्यद्विचारणात् । स्वासीपुष्पकन्या-
 येन प्रत्येकं अनुभाषतः ॥ १३ ॥ किञ्चिन्मुसलत्वभावेन विमर्षजमतोऽ-
 करोत् । निम्नपते पुनः स्पर्शं, मणवद्गीरकामिनः ॥ १४ ॥ विमर्षं परम्यर्षेन
 सह व्यवहारित्री दृष्टा । किञ्चिद्व्यतिक्रमेण तथा पुष्पकमवतः ॥ १५ ॥
 आसीपताः सहस्रेण, वयस्त्वम्कन्यामाश्रितः । गार्हस्पतीवर्गं सेवां समुज्ज-
 तवाऽपि चेत् ॥ १६ ॥ तत्त्वमप्यप्यमूर्तं हि तपस्तपस्वत्तवे । सुत्रेऽपि
 निबते व्यक्तीमत्ता तत्र हस्तताम् ॥ १७ ॥ पृथग्ये बहुविधे कर्मावर्षक-
 रूपिणि । कुर्वन् परिचरं त्वासीत्कन्यं तत्र निष्ठापय ॥ १८ ॥ (१) वीरस्तु-
 त्प्रथमं प्रभुः, पितृव्यमिति । प्रति । पूर्वं गर्मावर्षे मातुर्बन्धुत्वं च सेवयम् ॥
 कुण्डल्य दर्शयन्तं श्लाघ्यमुपवतसया ॥ १९ ॥ कन्यं प्रतिज्ञं कृतवान्,
 यत्नने कन्यी पितृ । जीवतश्चावद्वस्तुत्वमहत्त्वबोः सुष्ठवमम् । बोधयन्तं च
 व्याहं वै कौटिल्ये कदापि हि ॥ २० ॥ वयो मे कन्ये याता मोहद्वन्द्व-
 दुपपन्नान् । न तु समतवा दृष्ट्वा इति विम्यापरोऽभवत् ॥ २१ ॥ वयोऽवयवमो-
 स्तत्त्वे संन्यासे संयमे प्रभुम् ॥ २२ ॥ परिप्यामि प्रसंगेऽपि न हेतोऽप्य-
 नकोर्ननः । इदमे पुनरावतः स्थाप्यमिति मे मतिः ॥ २३ ॥ पुन्यार्थं
 च मवैतस्मात्सर्वं चेतसा कृतः । जीवन्मन्त्राणां पीड्य, संचारस्यैवेदिकी
 ॥ २४ ॥ वदन्मन्त्राणां पीड्य कन्ये वो निष्ठापय । पित्रोऽपि निना
 तद्विशीवासीन् च कर्हिचित् ॥ २५ ॥ कोऽपि कन्या दृष्टारम्भं मुनिवर्षं
 च चारयेत् । वदन्मन्त्राणां सेवां जवाक्यापत्तं तयो ॥ २६ ॥ विज्ञाना-
 वदमकत्वेन सेवायाच किञ्चिद्वस्तुत्वम् । संस्थाप्य दर्शने तत्र मीळिकं च निष्ठापयेत्
 ॥ २७ ॥ तीर्थहरोऽपि मणवत् प्रकमे जीवयेऽपि वत् । विद्यवमेत्वापत्तं
 वै कुर्वते विधनवन ॥ २८ ॥ कन्यतां किं च वीरस्तु, कामिनयेदमभुतम् ।
 आचर्य्यं सेवयाः पितृणां किञ्चिद्वस्तुत्वम् ॥ २९ ॥ महत्त्वं निबधयति
 तस्मात्त्वमहत्त्वबोऽभवत् । प्रतिज्ञेऽपि जातरे च अमुमोदरसीकृत्य ॥ ३० ॥
 वन्द्यवयवमामात्रं प्रसरे मणवत् सहः । एकस्मिन् निबधयेऽपि मरीचोऽ-
 विमयोऽप्युप । तस्मात्त्वमहत्त्वबोऽभवत् मणवत् प्रभुः च ॥ ३१ ॥ वीरिणेऽपि
 करोम्यत् तथा वीरिणोऽप्यवत् । निर्वैदं च प्रभुं ज्ञाना सर्वं तु मोहपीडितः

॥ २२१ ॥ भवन्त ज्ञायते शुद्ध, स्वर्गारोहणयोगत । पितुर्मातु स्फोटकोर्ध्व,
लवणक्षेपणै सम ॥ २२२ ॥ भविष्यति न सन्देह, इति कृत्वा दयां भवान् ।
मदीयकथनेनैव, समुपित्वा गृहे पुन ॥ २२३ ॥ अब्दद्वयसुपर्यन्तं, दर्शनार्थ-
मुदारताम् । दर्शयेच्चेन्महान् देवानुग्रह स्यान्मयि प्रभो ! ॥ २२४ ॥ तथैव
भगवान् वीर, कृतवाज्ञान्यथा क्वचित् । आतु पूज्यतमस्यापि, चेच्छया
वापि सम्मत ॥ २२५ ॥ त्यागोऽनुकूलगमन, नोचितोऽथ निवृत्तित । तथापि
भगवान् वीर, स्वयं च जगदीश्वर ॥ २२६ ॥ ज्येष्ठो आता दर्शनेन, विनयेन
च तोषित । तद्वच्च सुखिन कृत्वा, ज्येष्ठभ्रातु सुसेवनै ॥ २२७ ॥ पाठोऽपि
पाठितस्तेन, वर्षद्वयमभूद्गृही । भ्रातुराज्ञानुरोधेन, दीक्षाऽपि नैव धारिता
॥ २२८ ॥ एव समयमसकल्प, हित्वा निर्वाणद ध्रुवम् । प्राशुकभोजी भूत्वा
च, गृहमेवाश्रयत्पुन ॥ २२९ ॥ धन्योऽस्ति ! भगवँस्त्व हि, नाऽप्रसन्न कृतोऽ-
नुज । अत पाठमिमं लोक, स्वयमाप विना श्रमम् ॥ २३० ॥ भगवद्दी-
रवत्स्वस्य, भ्राता पितृसम स्मृत । इति ज्ञात्वा सेवया च, सुखिन त विधाय
च ॥ २३१ ॥ सन्तुष्टत्वेन सस्थाप्यस्तथा मान्योऽनुजो मुहु । तेऽपि रक्षया
प्रयत्नेन, यमोऽयं व्यावहारिक ॥ २३२ ॥ तद्गार्हस्थ्ये च वैराग्यमष्टाविंशति-
सख्यके । वयस्येव सुसम्पन्ने, पित्रो स्वर्गतयोस्तदा ॥ २३३ ॥ तदा वर्षद्वय
स्थित्वा, गृहेऽध्यात्मस्वरूपके । चिन्तन योगिचर्याया, समारम्भोऽप्यकारि च
॥ २३४ ॥ तेनास्माद्योगत सम्यग्बोधिता दीक्षणेप्सव । दीक्षाधारणत पूर्व,
गृहिधर्मे समभ्यसेत् ॥ २३५ ॥ विशेषतो योगचर्या, यया विशदया सदा ।
चर्याया च सुभाविन्या, स्याद्विद्वत्तिर्यथाकमम् ॥ २३६ ॥ इत्थ तस्या स्वयं
ज्ञान, जायेत तदनन्तरम् । सहिष्णुतायास्त्यागस्य, भवेज्ज्ञान तथा पुन-
॥ २३७ ॥ अद्यावधिक्रियजातमुदारोत्तीर्णता यदि । अभिप्रायोऽस्ति मे चाद्य,
सच्चर्याया विपाकत ॥ २३८ ॥ भूत्वा दृढस्तत पादौ, घर्तव्यस्ताधुसाधने ।
न तु पूर्व ततथैव, विज्ञाना गतिरीदृशी ॥ २३९ ॥ (३) राजनैतिक-
शिक्षायाः, शिक्षको यत्र कलके । अमात्यनृपतीना च, पुत्राणा भूभुजा
पुनः ॥ २४० ॥ यदाऽभूज्ज्ञानमेतद्धि, नरराजसिद्धार्थकात् । महिष्या त्रिश-
लयाऽदर्शि, स्वप्रथतुर्दशविध ॥ २४१ ॥ यौवने सार्वभौमश्च, चक्रवर्ती भवि-
ष्यति । एतद्वृत्तान्तभ्रवणाच्छ्रेणिकेन्दुप्रद्योतनौ ॥ २४२ ॥ दधिवाहनप्रभृतिराज-
पुत्रा समागताः । भगवद्दीरसेवाया, सलमाश्च मुहुर्मुहुः ॥ २४३ ॥ धत्रिया-

क्रोधकरण, क्षेत्रविध्वसन तथा ॥ २६४ ॥ प्रतिद्वन्द्विनामिदं कर्म, तेषां सुगम-
मस्ति हि । ध्यानमग्नौ बने सस्थः, कायोत्सर्गे व्यवस्थितः ॥ २६५ ॥ तत्क्षणेऽ-
ज्ञानावस्थाश्च, रज्जुभिस्ताडयन्ति च । निर्माय तस्य पार्श्वे तु, चुल्हिका पायसं
यदा ॥ २६६ ॥ पाचयन्ति क्षणे तस्मिन्, तापयन्त्यग्निस्तथा । यः च वीरतया
नर्वः, सोऽटवाजः च दुःखभाग् ॥ २६७ ॥ एकमेव कोप्यवोधो, विनोदेन शला-
कया । वशस्य तीक्ष्णया कर्णे, भेदितो रक्तधारया, आहतश्च ततः काये,
दुर्बलत्वमजायत । तथाऽप्यनुग्रहस्तस्मै, कृतस्तेन महात्मना ॥ २६८ ॥ नानिष्टं
प्रोक्तवाँस्तस्मै, किञ्चिदपि च दुःखतः । दृष्ट्वा समानया तद्वत्समभावनया तथा
॥ २६९ ॥ यातना सहनशीलोऽप्यभूदादित एव स । ध्यानावस्था दृढा जाता,
मानसीवृत्तिरीदृशी ॥ २७० ॥ मेरुवत्तस्य सञ्जाता, ध्यानवृत्तिः सुनिश्चला ।
सागरवच्च गम्भीरा, सूर्यवत्सा प्रकाशिका ॥ २७१ ॥ सहिष्णुता ममुत्पन्ना
स्वर्गेऽपि तत्प्रशसनम् । समाया शक्र इन्द्रोऽपि, प्रशसां कृतवान्मुहुः ॥ २७२ ॥
दुर्विदग्धा समाया ये, ज्ञानशून्या सुरास्तथा । विश्वासः नैव कुर्वन्ति, दर्शना-
शेन वर्जिता ॥ २७३ ॥ देवाङ्गनासहस्राणि, गृहीत्वैकं समाययौ । परीक्षार्थं
भगवतः, संज्ञमश्वात्रवीत्सुरः ॥ २७४ ॥ “ध्यानव्याजेत्यादि” चेति, वाक्यं
तद्विवृद्धार्थम् । ध्यानं तु केवलं देव ! व्याजमात्रं प्रदर्श्यते ॥ २७५ ॥ नेत्रे
सम्मील्य भगवन् ! प्रिया कामपि ध्यायसे । देव ! त्वदग्रे कामोऽपि, हावभावसु-
विभ्रमैः ॥ स्त्रियं कटाक्षपातं हि, कुर्वन्ति स्म मनोहरम् ॥ २७६ ॥ किञ्चिदु-
न्मील्य नेत्रे च, दृश्यता नो जगत्प्रभो ! कामवाणार्दितास्तास्तु, सम्पीड्य हृदयं
मुहुः । स्थिता क्षिप्रं गृहीत्वैव, बाहुं स्ववशमानय ॥ २७७ ॥ भवान् दयालुः
पद्मस्यरक्षणे सम्प्रवर्तते । परं नो मन्मथो देव ! सन्तापं कुरुते रहः ॥
तत्प्रतीकारहेतुश्च, भवानेव हि दृश्यते ॥ अतो वयं भगवतः, शरणं च समा-
गता ॥ २७८ ॥ वचनार्थमतः स्वामिन् ! तवाङ्के पतिता वयम् । देहि नो स्थानं
भगवन् ! ज्ञात्वा त्वां हि कृपानिधिम् ॥ २७९ ॥ शरणागता इति ज्ञात्वा,
दीनानां त्राहि भारत ! महान् खेदस्य विषयो, यच्च वा रक्षतीश्वर ! ॥ २८० ॥
न किञ्चिच्छ्रयतेऽस्माकं, न चोत्साहं प्रवीयते । त्राता भूत्वा न कुरुते, रक्षामपि
दयापरः ॥ २८१ ॥ सुस्पष्टं ज्ञायतेऽनेन, मिथ्याकारुणिको भवान् । वर्षतस्ते
वयं कुर्मः, सेवां न त्वं प्रसीदसि ॥ २८२ ॥ कर्णान्ते ते न यूकाऽपि, चलते
किमतः परम् । वयं पराजयं मत्वा, ज्ञातवन्तस्ततोऽधिकम् ॥ २८३ ॥ नान्योऽ-

त्रिनिपुणतरो कठोरहृदयोऽपि यः । तत्समो नास्ति संसारे वरिपद्मे इवा
 निये । ॥ २८४ ॥ एषमुपस्थाप्य चाभ्यस्तो व्यावृत्तिमिमांसाः । समाश्रित्य
 समार्यं तदा गच्छ कस्यचनं प्रति ॥ २८५ ॥ अतोऽस्माकमियं शिक्षा तामा
 यिके च संसारे । अपि प्रतिक्रमये समाराधयके हृदये ॥ २८६ ॥ एषवीर्ये
 इहो वर्मा वतः स्थापयन्मया । भूया निपुणतरोऽस्ति नः स्थापयन्मया
 ॥ २८७ ॥ इत्युपदेशं सम्यक्तो ज्ञायतां मनसा इवा । ज्ञाय धारयामताम्
 इत्यप्यम्—अपार्ताम्भरव्यापनाप्रति वीरस्य लङ्घितोः । कपानस्त स्थापयन्,
 निष्कामवीर्यं ततः ॥ निर्वाणसि संसारे, उपयर्वाजतेन च ॥ २८८ ॥ कर्तुः ।
 सम्यक्पितामहमेवैव तच्छरणावयता । तेषामाह्वानमासी हि, एतेति च वचा-
 नीतः ॥ २८९ ॥ तस्य ध्यानं उपयर्वा तेषां रक्षा कृताऽपि च । मतोऽ-
 स्माकमप्यस्य सुरसंज्ञि तान् समान् ॥ २९० ॥ स जनेन्द्रो हि सकल
 हृदयान् विधातुं वै । पञ्चकतोऽस्य निपाताह्वयार्थं च तस्य हि ॥ २९१ ॥
 सुरवं पदपद्मं सम्यक् ज्ञायताम् । शङ्कोम्यहं च जेतुं तं तेनेत्युक्तं यथा
 मयुः । ततो रक्षितव्यं च वीरः सद्यश्चान् जितः ॥ २९२ ॥ इदं
 मयवे वेदे यत्कृत्स्नं ज्ञेयं कथं । यथा तत्पुण्यो जतो वीरमेकं तपस्विनम्
 ॥ २९३ ॥ परस्तु बुद्ध्यात्म्यं सम्यक्कथयन् विदुः । कुलोर्ध्वपदं वचोर्ध्वं तप-
 स्यति निष्कथः ॥ २९४ ॥ सम्यक्कथितो बुद्ध्या निष्कथं पठितो मुनिः । तदा
 तदा यथा बुद्ध्या युक्तं कथयन्मया । स्थापयति च तं ह्यस्य वीर्यमय
 मया वै ॥ २९५ ॥ उवाच नेत्रको इहो बुद्ध्यात्म्यं तदा । इति बुद्ध्या
 ज्ञायतेन ज्ञायते कथयन्मया ॥ २९६ ॥ सतं प्रति च ज्ञायते वै कुर्वन्मया
 विचारं च । ज्ञेयवैद्यसमाधिहृदयपत्नी कस्योपपन्नः ॥ २९७ ॥ नेत्रहरिण
 प्रति तं तेनोऽस्तीत्यर्थमयः । पातितो वै तस्मिन् पातनेपतिपुत्रमयं
 ॥ २९८ ॥ अथ बुद्ध्या यथाज्ञानो कस्यमेव मया । कस्यार्थं च यो
 ज्ञायतेन ज्ञायते अपाहं ह्यः ॥ २९९ ॥ तदा पितृमहर्षेण इवो इत्या
 ज्ञेयतः । ज्ञेयवैद्यस्य वैद्या तस्मिन्पतिपुत्रमयः ॥ ३०० ॥ तमज्जन्तं
 पालुपापान्मुखात् कथमा मुहुरः । निमोः त्वं हि ज्ञेयवैद्यस्य वैद्या यमि
 ॥ ३०१ ॥ च कुर्वन्मया कथयन्मया । तस्मिन्पतिपुत्रमयः । ज्ञेयवैद्यस्य वैद्या
 यमि ॥ ३०२ ॥ अथ ज्ञेयवैद्यस्य तस्मिन्, यद्वैद्यस्य तस्मिन्पतिपुत्रमयः ।
 ज्ञेयवैद्यस्य वैद्या यमि ॥ ३०३ ॥ ज्ञेयवैद्यस्य वैद्या यमि ॥ ३०४ ॥ ज्ञेयवैद्यस्य वैद्या यमि ॥ ३०५ ॥

दृढये चावधार्यताम् । अपुनरावृत्त्य भावस्य, पन्था तेनैव दर्शित ॥ ३०४ ॥
 अथ मनुष्यवन्मूकपशुरक्षणम्-मनुष्यवन्मूकपशुरक्षयत्स्वय जिन, । यदा
 हि वाममार्गणा, प्रसारमधिक ह्यभूत् ।, तदा ते दयया हीना, व्याजाद्यजाच
 कोटिश । पशवो बहवस्तैश्च, हता मूका निरागसा ॥ ३०५ ॥ तस्मिन्काले
 च शमिना, घातकास्ते तपोवलात् । अवरुद्धाश्च वीर्येणानन्तशक्त्या तथा पुन.
 ॥ ३०६ ॥ न हन्तव्या न हन्तव्या, घोषणेयं मुहु कृता । अवरुध्य भीषणं
 काण्डं, ससारस्थितप्राणिनाम् ॥ ३०७ ॥ रक्षिताश्चानन्तजीवास्तथाऽसिघात-
 नादपि । तस्यायमुपकारस्तु, धर्मोऽय च पुरातन ॥ ३०८ ॥ मुद्राङ्किता कृता-
 स्तेन, तत्स्मृतिर्वर्ततेऽधुना । महोदयो वालगङ्गाधरतिलकसंज्ञकः ॥ ३०९ ॥
 नेता श्रीभारतस्यासीद्भन्यचाट्टं प्रदत्तवान् । जैनसमाजवृन्देभ्यो, नैतच्चा-
 ल्पमहत्त्वकम् ॥ ३१० ॥ अपकर्तृपशुद्वारो, मनुष्य इव सत्कृत । हिंसकादेरप-
 कर्तुं, पशोरप्यपकारणम् ॥ ३११ ॥ सदोपेक्षैव मद्भावा, कृता तेतिति सस्फुटम् ।
 हिंसावृत्तिरताना तु, पशूना वृत्तिपाणवीम् ॥ मोचयित्वा समावेश्च, दत्त्वा
 बोधमनामयम् ॥ ३१२ ॥ सदाचाराधिकार च, ददाति स्म न सशयः । यथा
 चण्डकौशिकेन, विपाक्रान्तमहोरगे ॥ ३१३ ॥ वेदना दशजा शश्वच्छान्त्या
 सर्वं विशोढवान् । कृपया त च सन्मार्गे, सदाचारे तथा पुन ॥ ३१४ ॥
 स्थापयित्वा प्रबोधेन, श्रीमुखेन च भाषितम् । चण्डकौशिक ! बुध्यस्व,
 शान्तियुक्तो निशामय ॥ ३१५ ॥ शब्दा एवं प्रकथिता, नरकाद्येन रक्षित ।
 पतनतोऽवन जातो, जगद्गुरुप्रसादत ॥ ३१६ ॥ शान्त्यैव सुबोधितोऽपि,
 सुप्तावस्था गतोऽप्यसौ । क्षिप्त जागरितो बुद्धो, विवेकसमशक्तित ॥ ३१७ ॥
 साधयति स्म कार्यं च, किं मया श्रूयतेऽधुना ॥ एव विचारितस्तेन, किं शब्दोऽयं
 कृपामय ॥ ३१८ ॥ पूर्णा दया च तस्याऽस्ति, न वा चेति विचार्यते ।
 एतद्वाक्यकदम्बानां, न जाने स्वाशय पृथक् । एतद्बुधिरपानेन, सितां च शर्करा-
 मपि ।, तिरस्करोति स्वादेन, नो लब्धा चेदृशी मया ॥, शाते मयाद्य
 संचार, शान्तेरस्य च नाङ्गिषु ॥ ३१९ ॥ आगा नामापि नास्त्यत्र, मृत्युमयस्य
 का कथा । परमस्ति क्षमायास्तु, पराकाष्ठेति धारय ॥ ३२० ॥ अपकारकारि-
 ण्यपि, क्षमा स्वाभाविकी कृता । आवश्यकधिकानन्ता, शान्त्याख्यकवचोपरि
 ॥ ३२१ ॥ सन्मार्गे मा च ह्यानेतुं, कियच्छृङ्खल्यो महानपि । समालोचनपूर्वं
 हि, तस्मै स्वदर्शन वमौ ॥ ३२२ ॥ जातिस्मृतिक सङ्घातं, ज्ञानं गतजन्मस्मार-

तिमिरं यतो अथोरहस्योऽपि न । तत्समो वाति संसारे परिपक्वो दवा-
 विधेः ॥ २८४ ॥ एवमुक्त्वा आत्मन्तो आवाहुहिमयावसाः । तमाभिन्न
 समार्गं च पद्य सप्तर्षेण प्रति ॥ २८५ ॥ अतोऽप्यहमिदं शिखा घाम-
 यिके न संसरे । श्रेयसे प्रतिक्रमये समाराधनके हवे ॥ २८६ ॥ रक्षणीये
 हरी नर्यो नतः स्यात्तन्मयाऽपि । भूया निपवत्तत्तद्विजयः स्यात्तन्मयाऽपि
 ॥ २८७ ॥ इत्युपदेशं सञ्जातो ज्ञायतां मनसा हरा । अथ धारणागतान्
 रक्षकम्—अथार्थम्भरन्मयावसाऽपि वीरस्य सङ्गोः । कथानस्य समपत्,
 निष्कर्मवीर्यं तदा ॥ निर्वाहति संसारे, उपन्यासमेव न ॥ २८८ ॥ अर्थः
 सन्तापितावात्म्यैर्नरा ठण्डरणाक्ताः । तेवामावावमाही हि, नृपति न नरा-
 न्तः ॥ २८९ ॥ तस्य आत्मं उपन्यासं तेषां रक्षा कृताऽपि न । महतोऽ-
 साम्बकद्वयं सुरक्षयति तान् मया ॥ २९० ॥ स नर्मो हि कृष्ण
 क्षमत्वं विना न वै । पञ्चमतोऽसमिपातद्वयार्थं न तस्य हि ॥ २९१ ॥
 सरथ पदपदस्य समाम्बस्य कवीर्यम् । शङ्कोर्माह न केतुं तं तेनेत्युक्तं नरा
 प्रभुः । ततो रक्षितार्थं न वीरः सद्यश्चान् जिना ॥ २९२ ॥ एकदा
 मनवे देहे मत्करीष योषाकम् । नरा तत्पुत्रो वातो श्रीमन्मेकं उपलिम्ब
 ॥ २९३ ॥ परस्तु वृद्धावाक्ये सम्ममानमव विरः । कृतोर्ध्वपदं नर्मो उप-
 क्षयति निजसः ॥ २९४ ॥ तन्मयावृत्तो नृप निस्सुखं पतिष्य मुनि । तदा
 च नरा युक्तः युक्तः सङ्गममन्त्रके । स्वापवति न तं रक्षा नोद्यमय
 प्रहस्य वै ॥ २९५ ॥ उवाच मेरुषो ह्यो वृद्धस्यवातरक्षणा । इति युद्ध
 समायेन क्षणं कृतवान्मुन ॥ २९६ ॥ अर्धं प्रति न आत्मं वै कुर्वन्ति
 निवार्य न । कोपादेससमाभिदक्षपत्नी सतपोवत्तत् ॥ २९७ ॥ नेत्रहारेण
 प्रति तं तेनोऽसतीक्ष्णरमन । पतिता येन तजितो वातयेवप्रियुम्बम्
 ॥ २९८ ॥ अप्यं कुर्वं नराह्यो करमन्त्रेण प्रह न । करधपत्तं न मां
 माहीमेव नार्थं नपाए च ॥ २९९ ॥ तदा पितृमहर्षेण दत्तं हरा
 कनेत्रतः । द्विपदधीतस्य कैना तस्मोपतिप्रक्षितचप ॥ ३०० ॥ उपन्यासं
 वातुपाधाम्मुपवात् कथना मुद्रा । निमोः त्वं हि नम्यतरत्तनीयेन हपा मयि
 ॥ ३०१ ॥ न कृत्रिया वातनिधी एतुं मे कृपणीयते । भीमद्वयवत्तत्तत्,
 नार्धं मित्रप्रहम् ॥ ३०२ ॥ प्रमिद्विनिधि तजितो वदधनप्रतिपक्षम् ।
 नर्मोऽप्यमोचनीयं न प्रमं नोपदेष्टवम् ॥ ३०३ ॥ इत्येव तर्जं पात्रा

दृढये चावधार्यताम् । अपुनरावृत्य भावस्य, पन्था तेनैवं दर्शित ॥ ३०४ ॥
 अथ मनुष्यवन्मूकपशुरक्षणम्—मनुष्यवन्मूकपशुरक्षणं तत्स्वयं जिन । यदा
 हि वाममार्गाणां, प्रसारमधिकं ह्यभूत् । तदा ते दयया हीना, व्याजायज्ञाच्च
 कोटिशः । पशवो बहवस्तैश्च, हता मूका निरागसा ॥ ३०५ ॥ तस्मिन्काले
 च शमिना, घातकास्ते तपोबलात् । अवरुद्धाश्च वीर्येणानन्तशक्त्या तथा पुनः
 ॥ ३०६ ॥ न हन्तव्या न हन्तव्या, घोषणेयं मुहुः कृता । अवरुध्य भीषणं
 काण्डं, ससारस्थितप्राणिनाम् ॥ ३०७ ॥ रक्षिताश्चानन्तजीवास्तथाऽसिघात-
 नादपि । तस्यायमुपकारस्तु, धर्मोऽयं च पुरातन ॥ ३०८ ॥ मुद्राङ्किता कृता-
 स्तेन, तत्स्मृतिर्वर्ततेऽधुना । महोदयो बालगङ्गाधरतिलकसंज्ञकः ॥ ३०९ ॥
 नेता श्रीभारतस्यासीद्धन्यवादं प्रदत्तवान् । जैनसमाजवृन्देभ्यो, नैतच्चा-
 ल्पमहत्त्वकम् ॥ ३१० ॥ अपकर्तृपशुद्धारो, मनुष्य इव सत्कृत । हिंसकादेरप-
 कर्तुं, पशोरप्यपकारणम् ॥ ३११ ॥ सदोपेक्षैव सद्भावा, कृता तेतिति सस्फुटम् ।
 हिंसावृत्तिरताना तु, पशूना वृत्तिपाशवीम् ॥ मोचयित्वा समाधेश्च, दत्त्वा
 बोधमनामयम् ॥ ३१२ ॥ सदाचाराधिकारं च, ददाति स्म न सशय । यथा
 चण्डकौशिकेन, विषाक्रान्तमहोरगे ॥ ३१३ ॥ वेदना दशजा शश्वच्छान्त्या
 सर्वं विशोढवान् । कृपया तं च सन्मार्गे, सदाचारे तथा पुन ॥ ३१४ ॥
 स्थापयित्वा प्रबोधेन, श्रीमुखेन च भाषितम् । चण्डकौशिक ! बुध्यस्व,
 शान्तियुक्तो निशामय ॥ ३१५ ॥ शब्दा एव प्रकथिता, नरकाद्येन रक्षित ।
 पतनतोऽवन जातो, जगद्गुरुप्रसादत ॥ ३१६ ॥ शान्त्यैवं सुबोधितोऽपि,
 सुप्तावस्था गतोऽप्यसौ । क्षिप्त जागरितो बुद्धो, विवेकसमशक्तिः ॥ ३१७ ॥
 साधयति स्म कार्यं च, किं मया श्रूयतेऽधुना ॥ एव विचारितस्तेन, किं शब्दोऽयं
 कृपामय ॥ ३१८ ॥ पूर्णा दया च तस्याऽस्ति, न वा चेति विचार्यते ।
 एतद्वाक्यकदम्बानां, न जाने स्वाशयं पृथक् । एतद्बधिरपानेन, सिता च शर्करा-
 मपि । तिरस्करोति स्वादेन, नो लब्धा चेदृशी मया ॥ ज्ञाते मयाद्य
 संचारः, शान्तेरस्य च नाडिषु ॥ ३१९ ॥ आशा नामापि नास्त्यत्र, मृत्युभयस्य
 का कथा । परमस्ति क्षमायास्तु, पराकाष्ठेति धारय ॥ ३२० ॥ अपकारकारि-
 ण्यपि, क्षमा स्वाभाविकी कृता । आवश्यकधिकानन्ता, शान्त्याख्यकवचोपरि
 ॥ ३२१ ॥ सन्मार्गे मां च ह्यानेतु, कियच्छ्लाघ्यो महानपि । समालोचनपूर्वं
 हि, तस्मै स्वदर्शनं वमौ ॥ ३२२ ॥ जातिस्मृतिकं सञ्जातं, ज्ञानं गतजन्मस्मार-

कम् । ओषोऽयं चातिपापात्मा सञ्चरिजात्वं मां पुनः ॥ ३२३ ॥ पश्चिदवाप्त
 बोधो निहृद्यवामिति स्थितिः । अन्त्ययेपात्रं बन्धो विमो । बन्धिरुहात्
 मम् ॥ ३२४ ॥ वीपण्यसंशयस्यैवं मोक्षं मामिति प्राप्य । प्राप्य
 विवं विरुदां विवेकपद्मं गतः ॥ ३२५ ॥ सम-संवेद-निर्वेदं, बन्धव्यात्मकं
 रसम् । विवक्षात्ते सुखेनैव जातुःस्तिमकम्पकम् ॥ ३२६ ॥ स्वातोक्त-
 सकर्मन्तं परमुक्तसमाधिना । सन्नेहमायाः आरम्भं कृतवान् सन्नि-
 तत्परः ॥ ३२७ ॥ अन्त्यस्तपातीनमहानाम् । पञ्चमके विने । सुखाऽन्त्यसहस्य-
 रक्षार्थाविरुदावतः ॥ ३२८ ॥ अन्त्योऽस्ति सपर्यैत्वं हि, पञ्चमपि सङ्गुणवत् ।
 आहवर्ग्यविचारं च बन्धु तेन्वोऽपि तान्मुखाः ॥ ३२९ ॥ अन्त्यत्वार्थक्या
 नके मातुःकमपि भावतः । बन्धवत्तन्माया स्यात्, सिद्धं ज्ञातं पुनरुक्तम्
 ॥ ३३ ॥ कथा मम त्रिधाः ज्ञाताज्ञातान्येयं हि वेद्विदम् । इत्युक्तेन अन्त्य
 रेण्योऽस्ति तान्मुखावतः ॥ ३३१ ॥ 'ओषोऽयं चातिपापात्मा सञ्चरिजात्वं मां पुनः'
 कम् । प्रहातवातेष्वेव हि ज्ञाताः परितोऽस्ति । वीरान्त्यविद्वेदोऽवे,
 तेन्व्यात्मतपोवत् । चित्तमन्व्यात्मतपोवत् । इत्युक्त्यावतपोवतः ॥ ३३२ ॥
 बन्धो मन्तो मुक्त्य पञ्चामिति कथ्यताम् ॥ अथास्युद्धानामुद्धारम्-
 पश्चिदोऽस्युद्धारोऽस्ति, इति सिद्धावतपोवतम् । संस्थाप्य सन्त्योऽस्ति मां
 प्येषु लव यन्तु ॥ ३३३ ॥ सुखवर्ग्यविचारस्य सुखवर्तो निधानतः । 'इति
 मन्ति बन्धव्या सञ्चरिजात्वं निवर्तते' इति कथ्योऽनुवादं च उच्चार्य-
 निमायता ॥ ३३४ ॥ सुखवर्ग्यविचारस्य संस्थाप्यमातुःकम् । तं च
 निर्मलतवे ले 'इतिरेककथो वना ॥ ३३५ ॥ आह्वयं चाऽन्त्योऽस्ति
 सुनिवर्तते स्वात्मतपोवत् । इतिहासिकवत्तम् तु चातयेऽप्यपि तत्त हि ॥ ३३६ ॥
 संस्थाप्यवतपोवतः, सुखवर्ग्यविचारस्य च । इत्युक्ते भूयते चाति तत्र हेतुरर्थ
 पुनः ॥ ३३७ ॥ कथा 'तन्मुखा' देवोऽपि तद्वर्तते अस्ति तत्त । तस्मैवनेव
 मन्त्यस्य सुखवर्ग्यविचारम् ॥ ३३८ ॥ कथा कथं तन्मुखा न तेषु तस्य
 चातम् । यत्तन्मातुःकहिद्विहातपोवतम् ॥ ३३९ ॥ तं हि तान्मा निवर्तो-
 क्युत्तपुनरुत्तिनविधिम् । अतीतो धर्मिके तद्द्विहावहारिके पुनः ॥ ३४ ॥
 वो निवातेऽस्ति चातयेः कर्हिनिवर्तिनानाऽवता । चातवत्त पञ्चमपि
 चीत्तं यत्तवातः ॥ ३४१ ॥ आतीवध्याप्यमेवेव निधानो निवर्तताम् ।
 जातोऽयं तस्य निवेन इत्युक्त्यावतपोवतम् ॥ ३४२ ॥ चित्तवर्तं अन्त्येव

मूल तद्विनाशितम् । प्राचीनव्यवहारस्य, सन्मतेन स्थिरं पुरा ॥ ३४३ ॥
 श्वाखिलावतारैस्तैरेवं निर्वहणं कृतम् । यथा शासनपतेर्वीरभगवतः शास-
 णदनु ॥ ३४४ ॥ अयं सारतरश्चेत्य, विचारस्य हृदा पुनः । अथ शत्रूणामुप-
 ष्यपि-परोपकारिता-शत्रु प्रत्युपकारस्य, करणे रक्षान्स्वयं प्रभुः । सङ्गमः
 ग्लूपाणिश्च, व्यन्तरीकटपूतना । दानवैः पशुभिश्चैवोपसर्गं च महत्कृतम्
 ॥ ३४५ ॥ इति शत्रुगणैर्दत्तां, यन्त्रणां दारुणा तथा । सहित्वा साम्यभावेन,
 कृत परिषहे जयम् ॥ ३४६ ॥ षण्मासान्तं च सततं, ददन्कष्टं महाऽसुर ।
 तदाऽवस्थगितो भूत्वा, हारितः स गतस्तथा ॥ ३४७ ॥ तदा तन्नयनाम्भोजा-
 दश्रुविन्दुद्वयं त्रिकम् । पतितं च यथा न्याये, इत्यवेहि च मानसे ॥ ३४८ ॥
 “कृतापराधेऽपि जने” इत्याद्युक्तं पुरैव च । अभिप्रायोऽस्ति तस्यायमपराधगुरुस्तथा
 ॥ ३४९ ॥ पात्रोऽयं सञ्चितस्यास्य, कुत्सितस्य च कर्मणः । भावि तत्परिणाम
 हि, कथं सक्षयति कुत्र वा ॥ ३५० ॥ दुस्तहं यद्भवेच्चैतदेतदर्थं निशामय ।
 अहो विज्ञायते चाद्य, शत्रूपरिशिवस्पृहाम् ॥ ३५१ ॥ कृतमाध्यस्थभावेनौदार्य-
 गाम्भीर्यशौर्यकम् । इति गुणसमूहानां, वैलक्षण्यं क्षमा वरा ॥ ३५२ ॥
 महिमा चेति नान्यस्मिन्वीराद्विज्ञे प्रदृश्यते । अनार्यदेशेऽपि तथा, विहारो
 भ्रमणं तथा ॥ ३५३ ॥ निरन्तरं नावरुद्ध, धर्मात्मसदृशं मुहुः । दर्शनम-
 नार्यसधेभ्यो, धर्मकोटिनयाय च ॥ ३५४ ॥ म्लेच्छदेशेऽपि तस्यासीदनि-
 वार्यभ्रमणं मुहुः । तत्राऽपि च भवन्ति हि, कश्चिज्जानाति दूरग ॥ ३५५ ॥
 देशान्तरस्थं कश्चिच्च, मेदकं तस्करं तथा । ज्ञात्वा घ्नन्ति च वध्मन्ति, कूपाधो
 लम्बयन्ति च ॥ ३५६ ॥ ते केचित्तच्छरीरे च, मृगयारसिका मुहुः । सारमेया-
 नवोधाश्च, लगयन्ति च ते पुनः ॥ ३५७ ॥ स्वतीक्ष्णनखाघातैर्दन्तैश्च तच्छ-
 रीरके । क्षतं कुर्वन्श्च जातास्ते, सशङ्का स्थगिता रह ॥ ३५८ ॥ परं स्वयं
 स गिरिवदचलोऽभूदवनीतले । तथाऽधमा नराश्चेद, दृष्ट्वा धैर्यं सहिष्णुताम्
 ॥ ३५९ ॥ प्रभावाद्भाविता भूत्वाऽऽश्चर्ययुक्ताश्च तेऽभवन् । ततः पराजिता
 जाता, पतितास्तत्पदाम्बुजे ॥ ३६० ॥ ततश्च श्रद्धया जैने, भूत्वा श्रद्धालवो
 मते । महाव्रताऽणुव्रतयोर्लोनां ससाधने मुदा ॥ ३६१ ॥ अनन्ता यातनां
 भुक्त्वा, मिथ्यावादिष्वनार्यकेष्वनिवार्यजनेष्वत्र, जैनधर्मस्य चोत्तमा ॥ सत्कारः
 स्थापितस्तेन, सत्यं सत्याग्रहात्मनाम् । कठोरहृदयानां च, लब्धवान् विजयं
 तथा ॥ ३६२ ॥ चर्ययाऽनया नश्च, शिक्षा सञ्जायते परा । भगवतो वीर-

देवस्य सुपुत्रो निमग्नो भवेत् ॥ ३६३ ॥ अनाध्वमसिवां राघवोद्यमां वीर-
 क्षामिनः । बर्धेऽप्यनादिघट्टेऽपि मर्या न प्रचरेदिति ॥ ३६४ ॥ तत्राशोक-
 नगच्छादस्मैरक्षम्येवविद्या । अग्निनो मे न तत्रापि यमोऽनैकान्तिकस्य हि
 ॥ ३६५ ॥ संस्वापिद्यो मूलतरुर्ह्येव धीवीरक्षामिनः । शुचमैसाप्यनुग्रामिनः
 हृष्टवाम्य इयापरः ॥ ३६६ ॥ इत्यभिषमर्हं वक्ष्ये मरीया मुनिध्यातरः ।
 न वत्तं ध्यानमत्रापि कदापि न हि सम्मतम् ॥ ३६७ ॥ मूला प्रभुतदेवस्य
 धामस्य वागरस्य न । पिण्डोत्पद्ये मोहवद्ये समत्तया प्रमादके ॥ ३६८ ॥
 इत्या कथयितुं तं न नोचितं म्यानतां यतम् । तत्रैतत्प्रारब्धं हेवं प्रार्थनाय
 मुवेदिरम् ॥ ३६९ ॥ वागवलीति पाद्वैद्य क्षेत्रं मयवतः परम् । वीरस्य
 पुत्रिभिरपुटी निरुत्तर्तं मयवे पुनः ॥ ३७० ॥ विहारतटीज्जात्रय मन्त्रके
 वर्तते न वा । पुष्कलदेव भावतं मुनिप्रमगमिष्यति ॥ ३७१ ॥ बर्धेप्रवारा
 भवने नायातथ बहामने । मयवतो वीरदेवस्य वैद्यविद्यतइत्यम् ॥ ३७२ ॥
 शास्त्रस्य प्रचारः स्यात्तत्रा हि कारत्वं वदः । तच्छब्दवचनद्वयार्थं वाचि
 तस्य न पूज्यवात् । प्रवच्छ मे अनाद्यर्धेष्टजन्ममुनि मानवाः ॥ ३७३ ॥
 तेषु बर्धेप्रचारोऽपि न भवेदिति निन्दते । शोचनीया सुवर्तेयं सहाप्रवश्य
 आतरः । एतदुक्तविक्रमेऽपि मयस्तथैवमर्तं परम् । कैतं तस्य मोहवार्त्तं
 मयवति परिचनो महान् ॥ ३७४ ॥ कातर्त्तं मयतां नाम संवत्सति
 नवैन्मवत् । अतो हि विदुषां तद्विज्ञानाऽऽपचमुनीवपि ॥ ३७५ ॥ सुवर्त्त
 प्रतिज्ञायां कल्पनां सर्वैरुच्यते । व्याकृतानवाचस्पत्यं, संन्यासवारिणां
 तथा ॥ ३७६ ॥ चिन्तयामि सद्यः सम्भवत्प्रचारस्य क्षेत्रम् । मयवता
 वीरदेवेन धर्मं कुत्र विज्ञातम् ॥ ३७७ ॥ जैनधर्मं तथा राघवप्रियवार्त्तं
 तथा कुत्र । मयवतो तेऽपि चास्तेव रोपस्य परियार्त्तः ॥ ३७८ ॥ तन्वीक-
 विष्णुवात्र न वा चेति विचार्यताम् । नय मत्तःशूद्रस्याग्रति-तमस्य-
 इत्याग्रति वीरैक-वीरैकविक्रम् ॥ ३७९ ॥ पूर्णवेति काव्ये न इहवेति
 विदुष्यका । पराजैव तथा वादीतप्रार्थना न वर्जिता ॥ ३८० ॥ वीरैक यति-
 गणवा पूर्णवत्तं सामाविकम् । मुनिवैद्यः पुनिकेति स्यादिति वीरैक पुनः
 ॥ ३८१ ॥ काव्यविक्रं परितः न वीरैकस्यऽप्यनुमतम् । कैव संतारकमन्त्रं
 न हि तद्विष्णुविक्रं ॥ ३८२ ॥ इतोऽतिरिक्ते तस्यापि ह्यवाचमवत्तथा ।

यदा भव्यानुभावेभ्यो, भक्तेभ्यश्चापि जायते ॥ ३८३ ॥ नगराच्च वहिर्देवो,
निर्जने कानने स्वयम् । वीरश्च भगवान्स्वामी, समायातोऽतिपुण्यत ॥ ३८४ ॥
एकादिदेवैः सर्वैश्च, समवसरणनिर्मितम् । महान् कलरवो जातो, नगरेऽपरिमिता
जनाः ॥ ३८५ ॥ धर्मानुरक्ता श्रोतारो, जिज्ञासव इतीतरे । तेभ्योऽति-
रिक्तपद्मादिश्चापदा पक्षिणस्तथा ॥ ३८६ ॥ आयान्ति समितौ ते तु, रचिते
समवसरणके । महत्सम्मेलन जात, तदा ते जातिभावनाम् । स्वाभाविकं पाश-
विक, ल्यक्ता हि वैरभावनाम् । शान्तिच्छटा नीतवन्तो, जातास्ते धर्मतत्पराः
॥ ३८७ ॥ उपदेशानन्तर भूषा, सार्वभौमास्तथाऽपरे । राज्यसत्ता परित्यज्य,
गृहीतमुनिसुव्रता ॥ ३८८ ॥ गृहिणोऽपि गृहे स्थित्वा, पञ्चाणुव्रततत्पराः ।
तृष्णाभार समुत्तार्य, सम्यक्त्वभावमागता । जीवन सफल जाता, कुर्वन्तस्ते पदं
परम् । औदात्तिन्य रूढभाव, भोग्यं कर्मोपमुज्य च ॥ ३८९ ॥ अन्ते निवृत्ति-
मार्गं च, लब्ध्वाऽक्षयसुख पुन । अनेकानि प्रमाणानि, लभ्यतेऽनेकशस्तथा
॥ ३९० ॥ अथ शास्त्रार्थप्रकरणम्—अथ शास्त्रार्थवृत्तीना, वादिना प्रतिवादि-
नाम् । ऋजुवाञ्छुकानद्याश्च, तटे श्यामाकक्षेत्रगे ॥ चतुष्टयानन्तमापन्ना, सद्धर्म-
प्रतिपत्तये ॥ ३९१ ॥ गोरखमण्डले ग्रामे, 'पडरोणेति' विश्रुते । पावापुर्यां चोपवने,
आजते स्म जगत्प्रभु ॥ स्याद्वादमहावाचा, महानादेन शब्दिता ॥ ३९२ ॥
दिशा कुर्वन्तदा काले, कस्यचिद्वाक्ष्यस्य हि । महाध्वरोत्सवो जातस्तत्रैकादश
पण्डिता ॥ ३९३ ॥ आहूतास्तेनेन्द्रभूतिर्महामान्यश्च वेदग । आसीत्तस्यामवै-
द्यत्राश्चत्वारिंशच्छतसहस्रगा ॥ ३९४ ॥ वेदाध्ययनसम्पन्ना, विद्यार्थिन इति
स्फुटा । अगणितानां च देवानामायव्ययाद्धि गौतम ॥ ३९५ ॥ ज्ञानं जातं
तथैवात्राऽनेकान्तवादवित्तथा । समायातो जिनेन्द्रश्च, सर्वज्ञो विश्वरक्षकः
॥ ३९६ ॥ शास्त्रार्थं तेन साक वै, शर्मा समवसरणकम् । गच्छति स्म तदा-
ऽऽयान्त, दृष्ट्वा तं जगत् प्रभु ॥ ३९७ ॥ आगन्तुकस्य सन्निधौ चार शिक्षणाय
च । स्वभाविगणधरस्य, स्वागतं चेन्द्रभूतये ॥ ३९८ ॥ तत्कमानसिकं भावं,
तस्य सशयशसिनम् । तन्निवृत्तिं कृता तेन, तथा सवेदिनी मुहु ॥ ३९९ ॥
शिक्षा दत्ता प्रभावोत्था, चार्हती चोपकारिणी । तदिन्द्रभूतये तद्वद्वेदवेद-
मिताय च ॥ ४०० ॥ महानुभावश्रेष्ठेभ्य सुप्रदत्ता गरीयसी । हेयं ज्ञेयमुपादे-
यमिति च त्रिपदी मता ॥ ४०१ ॥ ज्ञानोत्पादयित्री सा, सोत्पादव्ययध्रौव्यकम् ।
पह्दव्यात्मकं चैव, द्वादशालिगिरा सह ॥ ४०२ ॥ चतुर्दशात्मकं पूर्वं, यदुक्त

देवस्य सुपुत्रो निर्भयो यजेत् ॥ ३६३ ॥ अथार्च्यमस्तिनां सप्तशोचनं वीर-
 स्तमिनः । धर्मोऽप्यवसिष्ठोऽपि यत्ना न प्रचरेदिति ॥ ३६४ ॥ तत्रावोक्त-
 नरास्तुष्टयस्मैशरस्मैवविद्या । प्रमिनो ये न तत्रापि धर्मोऽन्यच्छिष्टम् हि
 ॥ ३६५ ॥ संस्थापितो मूढतरुर्लोक्य भीवीरस्तमिनः । सुधर्मस्याप्यनुगमिनः
 इत्यवाम् ववापरः ॥ ३६६ ॥ इत्यदिदमर्थं वक्ष्ये यदीवा मुनिधातः ।
 न वर्तन् पालनमत्रापि कदापि न हि सम्मतम् ॥ ३६७ ॥ भूया प्रभुतरेकस्य
 प्रमस्य नयरस्य च । पिण्डोऽप्यो मोहयते ममतायां प्रमादके ॥ ३६८ ॥
 कृत्वा कर्मद्वितं स न मोचितं म्हावतां पतम् । तत्रैतत्प्रकारं क्षेत्रं प्रदीयान्
 मुनेरिदम् ॥ ३६९ ॥ वातपरीति पार्थिवस्य क्षेत्रं मयवतः परम् । वीरस्य
 कुम्भिवपुर्गो निवर्तत मयवे पुनः ॥ ३७० ॥ विद्वत्परीकृताप्रय मन्त्रके
 वर्तत न वा । पुष्कलस्त्रेण मायार्तं मुनिभ्रमप्यसिद्धपि ॥ ३७१ ॥ धर्मप्रचारं
 भवचे मायातव यवानये । भवतो वीरदेवस्य वैश्वविजयसदृशम् ॥ ३७२ ॥
 साधनस्य प्रचार स्वातन्त्र्यं हि कारणं वर । तच्छास्त्रमवतल्लक्ष्यं यत्र
 तस्य न पूज्यमानम् । प्रसज्य वे अवाधारैस्तज्जन्ममुनि माययाः ॥ ३७३ ॥
 तेषु धर्मप्रचारोऽपि न भवेदिति चिन्तने । लोचनीया सुवर्तेन सहाप्रपन्न-
 प्रवतः । एतदुच्यतेऽपि भवन्तस्मैव परम् । कैव तस्य मोदयार्थं
 त्रयसि परिचयो महान् ॥ ३७४ ॥ ज्ञातव्यं भवतां माय संवसति
 यन्मेवम्बत् । जतो हि विदुषां तद्विद्वत्पुत्रसुवीरपि ॥ ३७५ ॥ पुनरस्य
 प्रसिद्धिनां वक्तव्यं सर्वसम्पत्ते । व्याख्यायकास्तपतीनां, संन्यासधारिण्यं
 तथा ॥ ३७६ ॥ चिन्तयामि सदा सम्पन्नप्रचारस्य क्षेत्रम् । भवत्यस्य
 वीरदेवेन सर्वं कुरु निष्ठाश्रमम् ॥ ३७७ ॥ लैवधर्मं तथा सपक्षिधर्मार्थं
 तथा कुरु । भवन्तो तेषुपि चास्त्रेण योगस्य परिसार्वथाः ॥ ३७८ ॥ सन्तुष्ट-
 विद्ययात्र न वा चेति निषार्ज्यताम् । नव भक्त्यापुहस्त्वान्प्रति-ज्ञमप्यन्य
 इत्यागमि वीर्यक-सौकरिकानिहम् ॥ ३७९ ॥ पूर्णवेति जगन्मो न इहवेति
 विदुष्यकाः । सरस्व तवा वासीतप्रसंसा न वर्धित ॥ ३८० ॥ वीरस्य यत्रि-
 मायया वृष्टिपन्न सामाधिकम् । सुविक्रितुं पूषिकेति सदासि योविष्य पुनः
 ॥ ३८१ ॥ सामानिकं पवित्रं न सौकरिकस्याऽप्यनुगतम् । कैव संसारकमन्तं
 न हि तद्विपरिणति ॥ ३८२ ॥ इतोऽतिरिक्ते तस्यासि ह्यवापनवत्प्रवा ।

यदा भव्यानुभावेभ्यो, भक्तेभ्यश्चापि जायते ॥ ३८३ ॥ नगराच्च वहिर्देवो,
निर्जने कानने स्वयम् । वीरश्च भगवान्स्वामी, समायातोऽतिपुण्यत ॥ ३८४ ॥
शक्रादिदेवैः सर्वैश्च, समवसरणनिर्मितम् । महान् कलरवो जातो, नगरेऽपरिमिता
जना ॥ ३८५ ॥ धर्मानुरक्ता श्रोतारो, जिज्ञासव इतीतरे । तेभ्योऽति-
रिक्तपश्चादिश्चापदा पक्षिणस्तथा ॥ ३८६ ॥ आयान्ति समितौ ते तु, रचिते
समवसरणके । महत्सम्मेलन जात, तदा ते जातिभावनाम् । स्वाभाविक पाश-
विक, त्यक्ता हि वैरभावनाम् । शान्तिच्छटा नीतवन्तो, जातास्ते धर्मतत्पराः
॥ ३८७ ॥ उपदेशानन्तरं भूषा, सार्वभौमास्तथाऽपरे । राज्यसत्ता परित्यज्य,
गृहीतमुनिमुव्रता ॥ ३८८ ॥ गृहिणोऽपि गृहे स्थित्वा, पश्चाणुव्रततत्पराः ।
तृष्णाभारं समुत्तार्य, सम्यक्त्वभावमागता । जीवनं सफलं जाता, कुर्वन्तस्ते पदं
परम् । औदासिन्यं रक्षमाव, भोग्यं कर्मोपभुज्य च ॥ ३८९ ॥ अन्ते निवृत्ति-
मार्गं च, लब्ध्वाऽक्षयसुखं पुनः । अनेकानि प्रमाणानि, लभ्यन्तेऽनेकशस्तथा
॥ ३९० ॥ अथ शास्त्रार्थप्रकरणम्—अथ शास्त्रार्थवृत्तीनां, वादिनां प्रतिवादि-
नाम् । ऋजुबालुकानद्याश्च, तटे श्यामाकक्षेत्रगे ॥ चतुष्टयानन्तमापन्ना, सद्धर्म-
प्रतिपत्तये ॥ ३९१ ॥ गोरखमण्डले ग्रामे, 'पडरोणेति' विश्रुते । पावापुर्यां चोपवने,
भ्राजते स्म जगत्प्रभु ॥ स्याद्वादमहावाचा, महानादेन शब्दिता ॥ ३९२ ॥
दिशा कुर्वन्तदा काले, कस्यचिद्वाङ्मणस्य हि । महाध्वरोत्सवो जातस्तत्रैकादश
पण्डिता ॥ ३९३ ॥ आहूतास्तेनेन्द्रभूतिर्महामान्यश्च वेदग । आसीत्तस्याभवं-
शछात्राश्चत्वारिंशच्छतसहस्रगा ॥ ३९४ ॥ वेदाध्ययनसम्पन्ना, विद्यार्थिन इति
स्फुटम् । अगणितानां च देवानामायव्ययाद्धि गौतम ॥ ३९५ ॥ ज्ञानं जातं
तथैवात्राऽनेकान्तवादवित्तया । समायातो जिनेन्द्रश्च, सर्वज्ञो विश्वरक्षकः
॥ ३९६ ॥ शास्त्रार्थं तेन साकं वै, शर्मा समवसरणकम् । गच्छति स्म तदा-
ऽऽयान्तं, दृष्ट्वा तं जगत् प्रभु ॥ ३९७ ॥ आगन्तुकस्य सन्निष्टाचारं शिक्षणाय
च । स्वभाविगणधरस्य, स्वागतं चेन्द्रभूतये ॥ ३९८ ॥ तत्कमानसिकं भावं,
तस्य सशयशसिनम् । तन्निवृत्तिं कृता तेन, तथा सवेदिनी मुहुः ॥ ३९९ ॥
शिक्षां दत्ता प्रभावोत्था, चार्हती चोपकारिणी । तदिन्द्रभूतये तद्वदेदवेद-
मिताय च ॥ ४०० ॥ महानुभावश्रेष्ठेभ्यः सुप्रदत्ता गरीयसी । हेयं हेयमुपादे-
यमिति च त्रिपदी मता ॥ ४०१ ॥ ज्ञानोत्पादयित्री सा, सोत्पादव्ययध्रौव्यकम् ।
पण्डित्यात्मकं चैव, जगत्पतिरिति तदा ॥ ४०२ ॥

कृतम् ॥ ४२१ ॥ निजाधीनो जनो यश्च, न कुर्यात्स्वममं नरम् । स धनी
निन्दितो ज्ञेयः, इति जानीहि सस्फुटम् ॥ ४२२ ॥ अथ सदाचारिशिष्यान्-
सदाचारवत् शिष्यान्, प्रति जागृयते पुन । यस्तस्य चरणाम्भोजसमीपं सुसमा-
हितः ॥ समागत्य च दीक्षाया भागवत्या प्रसादकम् ॥ ४२३ ॥ भगवत् प्राप्तवा-
न्शश्वत्तमेवामेदभावत् । कुर्यात्तमुजतं चैव, भाविन सोऽपि स्वस्य च ॥ ४२४ ॥
अध्यात्ममार्गं सम्मापुं, योग्यत्वमुपलब्धवान् । तथाऽभयकुमारस्य, धन्यस्य च
महामते ॥ ४२५ ॥ शालिभद्रातिमुक्तस्याद्योरुदाहरणानि च । श्रेणिकेन नृपेणैव,
मगधेशेन चैकदा ॥ ४२६ ॥ उत्कृष्टक्रियायाश्च, साधना धन्यस्वामिनः । दृष्ट्वा च
भगवान् पृष्ठो, धन्यनान्नो मुनेरथो ॥ ४२७ ॥ सुक्रियोत्कृष्टपात्रस्तु, मुनीश सम्प्र-
तीयते । परं भगवता चेदं, गदित तन्निशामय ॥ ४२८ ॥ श्रुतचारित्रपारीणचतुर्द-
शसहस्रकम् । मुनीनां सपरिवाराणां, मुक्तमालामणेर्निभम् ॥ ४२९ ॥ यथोचितमिदं
श्रुत्वा, चोत्तरं श्रेणिकस्य हि । समस्तमुनिस्सह च, जाता श्रद्धा समाधिया
॥ ४३० ॥ अथ पितुर्मित्रं प्रति—मित्रं प्रति पितुश्चैकवारं छद्मदशास्त्रपि ।
भूमण्डले भ्रमन्नस्मिन्नेकसंन्यासिनो मठे ॥ ४३१ ॥ निवसितुं निशामात्रमिच्छया
समुपागतः । मठाधीशो मित्रपुत्रः, ज्ञात्वा तत्प्रेमरदिमना ॥ ४३२ ॥ वद्धो भूत्वा
बाहुपाशे, गृहीत्वा तं च सङ्गतः । तथेयं च कृता तेन, प्रार्थना भगवन् ! पुनः
॥ ४३३ ॥ भवान्मित्रं च सिद्धार्थराजस्य तनयोऽस्ति च । अतो मनस्तनुश्चैव,
स्थानं चेदं तवैव हि ॥ ४३४ ॥ अतश्चागामिनि वर्षे, चातुर्मास्यव्रतं महत् ।
अत्रैव कृत्वा पूतं हि, कुरु स्थानं मदीयकम् ॥ ४३५ ॥ मौनावस्थास्त्रयपि भगवान्,
ददौ वै स्वीकृतिं पुनः । शेषकालं यापयित्वा, तन्मठस्य च सन्निधौ ॥ ४३६ ॥
तृणमयीं कुटीं स्थित्वा, कृत्वा ध्यानं स्थिरं पुनः । कायोत्सर्गे लभ्यो जातश्चातुर्मास्ये-
षदेव हि ॥ ४३७ ॥ व्यतीते दिवसे जातो, दुर्भिक्षस्तु मह्यस्ततः । तृणाभावाच्च
पशवः, क्षुधार्ता वेदनोदये ॥ ४३८ ॥ तदा तत्पर्णशालायास्तृणपुञ्जं मुहुर्मुहुः ।
निष्क्रान्त्य भक्षयामासुस्ते तदा कालयोगतः ॥ ४३९ ॥ नावरुद्धा मठाधीशो, दृष्ट्वा दं
वृत्तमद्भुतम् । आश्चर्ययुक्तोऽभूत्स्मिन्नैतादृशं कदापि हि ॥ ४४० ॥ निस्पृहत्वं मया
दृष्टं, न कृतं गृहरक्षणम् । परं तस्य मनोभावः, ज्ञातवान् क्रमशः प्रभुः ॥ ४४१ ॥
ज्ञात्वाऽप्रियकरं स्थानं, विहारं क्षणिति कृतम् । शान्तिर्भग्ना न मे भूयादिति तेन
विचारितम् ॥ ४४२ ॥ “सकटं सकटं ठाण”, दूरतः परिवर्जयेत् । सिद्धान्तस्येति
सारं वा, स्थापनं कृतवान्सुहृद् ॥ ४४३ ॥ अथ धर्म्मार्द्धिचलितान् प्रति—
वीर. २२

यत्नान्ते बन्धैश्चण्डालस्थितानि विविधिनयते । कर्त्तुमिच्छित्स्मरे राजपुत्रापीतः
 सुभेयिकः ॥ ४४४ ॥ तनवद्वयस्य वैद्योऽस्ति मेघकुमारवामनः । सुभोऽनेन
 वीरस्य संवेप्यत्यत्रिभुवो ॥ ४४५ ॥ वीजोत्तमस्तथा तस्य वीक्षितस्तद्वपसः ॥
 सर्वमुनीनां पयातु तद्यत्तन्मनवपसः ॥ ४४६ ॥ परन्त्यामवर्षे कर्त्तुं कर्त्तुं
 यन्ति यन्ति च । मुनयोऽनुपयोग्यविद्यायाः समवस्थाप्य ॥ ४४७ ॥ तेभ्यो
 र्यमज्जगत्पदस्यो मुहुर्मुहुः । कातस्तत् पराभूव व्याकुलोऽमुष्मन्मनः
 ॥ ४४८ ॥ निष्ठाडमात्मस्थायको निषादे तत्परोऽभवत् । किं मेघमुनीर्न च
 पारम्पर्याद्वत् ॥ ४४९ ॥ अस्तीर्षं व्यतीतं स्वाचोऽस्मी मुनिर्वत् । अतरेण
 हि दत्तैर्, धर्मोपकारे मुनः । यत्त च जवनी कर्त्तुं च निष्ठाप्यति सुभेयः
 ॥ ४५० ॥ अत्रुरथैव सम्भूय रक्षितः पारम्पर्यतः । मेत्वं विनिर्दिष्टात्, गच्छं
 पूर्वमेव तत् ॥ ४५१ ॥ सद्यः काव्यति मत्तवैव तद्यत्पारतोऽभवत् । अद्य मुनो
 सुसंमनाश्च ज्ञान्ति कर्त्तव्यं ॥ ४५२ ॥ [न ज्ञान्ति कर्त्तव्यं च निम्नार्थमतः
 परम्] निश्चयस्तत्र प्रार्थि, मुनिर्मेघकुमारकः । वीरस्य चरण्याम्भोज
 बन्धुनायं सामागतः ॥ ४५३ ॥ गुरो गच्छं सुभुवस्य कथा तस्य सुवैरः ।
 कर्त्तुं धिरबभूवपु, कुमारः कश्चिन्न च ॥ ४५४ ॥ स तन्वेद्यही भूत्वा च
 तस्य च सद्गुणमयः । संसारखरो वीरो निष्ठागत च कृतकः ॥ ४५५ ॥
 सर्ववृत्ते निश्चयन्तं विद्या पुनरुत्तमः । राज्ञो कर्त्तुं सुवीर्यं च पारम्पर्य
 तत्तव ॥ ४५६ ॥ कथा निष्ठा न ज्ञान्तिर्नैव कर्त्तव्यत्वात्तम् । ज्ञाने
 निष्ठा मुनिष्ठिता निष्ठाऽपीत्यस्ति कथा ॥ ४५७ ॥ परं निवेद्यत्वात् सर्ववत्
 ज्ञानात् । तथा स्मरपूर्वकं ज्ञानं ज्ञानं पारम्पर्यं तव ॥ ४५८ ॥ तत्र कर्त्तुं
 महति च निष्ठापादप्रहारकम् । एतवन्तं प्रतिमुखं मेघनाथो मुनेर्हत् ॥ ४५९ ॥
 चातिस्फोटोऽमरपूर्वजन्मप्रवगतस्य च । तिर्नमावप्यस्य कर्त्तुं समस्तस्य स्फुटः
 वपम् ॥ ४६० ॥ पूर्वसंवेदिनी तद्वशा चातेत्यमहुषः । तद्यः कोपी पुनर्वातो
 वीजार्थविनाशः ॥ ४६१ ॥ तवैक्यत्वात्पर्वन्तं ज्ञानं स्तोत्रं गुरोः । कर्त्तुं
 ज्ञानिष्ठित्यर्थं ज्ञानिष्ठित्यर्थोऽभवत् ॥ ४६२ ॥ कर्मप्रवर्तनं चेत्तं मुनिर्न कृत-
 कमुप । मयश्चोर्वैरवयवः कृतकमुत्तमं तव ॥ ४६३ ॥ मयश्चोर्वैरवयवः
 वामित्वं प्रमरकाजके । मया चोर्वैरवयवः वीरवैरवयवः ॥ ४६४ ॥ मय
 म्भोवेकारकवत्तवः प्रीयते । निपुणः कश्चिद्वत्तव कर्त्तव्यं च कर्मते
 ॥ ४६५ ॥ मय काहर् प्रति-वत्तववत्तववैरवयवः शब्देविनाम् । कश्चि

श्रावका ये च, जैनधर्मानुगास्तदा ॥ ४६६ ॥ *वज्रात्मकविधौ स्थूलसूत्रज वसन-
मुदा । तत्तत्सामयिका लोका, धारयन्ति स्म तन्मुहु ॥ ४६७ ॥ तत्क्षौमयुगलं प्राहु-
स्तत्कालीना नरा भुवि । निर्माय वसनागारं, स्थूलसूत्रस्य तै पुन ॥ ४६८ ॥ ततो-
ऽन्यद्वर्जयित्वा च, धार्यतेस्म तदेव हि । प्रति ससारिण सर्वावरान्खस्य स्वकीयकम्
॥ ४६९ ॥ द्विसप्ततिमिताब्दान्त, चायुक्त समासत । सज्ञानानन्ततेजोभिश्चतुर्थ-
समयस्य हि ॥ ४७० ॥ सृष्टिमुद्भासयामास, भव्याना कोटिशो विभु । शंकाऽऽ-
काङ्क्षा विरहिता, विविकित्सा विवर्जिता ॥ ४७१ ॥ अमूढदृष्ट्युपगूहश्च, स्थिति-
भावस्तथेतर । स्ववात्सल्यमहिम्नैतान्, कृतवान्स प्रभावितान् ॥ ४७२ ॥ स्त्रिय,
शृङ्गास्तथा नीचास्तयोच्चाश्चैत्यमेदताम् । धर्मसाधनसमानाधिकारत्वः स्थिरीकृतम्
॥ ४७३ ॥ तन्महत्त्व कियच्चेति, विचारय मुहुर्धिया । भगवन्महावीरेण, यत्किंचिद्दर्शित
खलु ॥ ४७४ ॥ आदर्शरूप तस्याद्यतुलना कर्तुमक्षम । इतिहासपुराणादिजावे
भुवि गवेषणे ॥ ४७५ ॥ नान्यत्र कुत्रचिल्लभो, दृश्यते तस्य नैव हि । प्रत्ये-
कस्य समुल्लेखो, लक्षश कोटिगस्तथा ॥ ४७६ ॥ व्याख्यानस्य निबन्धस्य, जायते
रचना बहु । कोऽनन्तसुगुणान्वक्तु, प्रभो शको भवेन्नर ॥ ४७७ ॥ अतोऽस्य
लेखने शब्दद्विषयो न प्रपूर्यते । एतदर्थं केवलं च, समुल्लेखनक कृतम् ॥ ४७८ ॥
कृत्वा चाशामह कुर्वे, दृष्टान्तैरेभिरन्वहम् । पाठका स्फुटरूपेण, ज्ञायेरन्सर्वथा
यथा ॥ ४७९ ॥ भगवांश्च महावीरो, वर्धमानस्तथापर । शासनाधिपतिस्त्रिद्वर्द्ध-
मूर्तिर्जिनेश्वर ॥ ४८० ॥ तीर्थङ्करो वीतराग, साक्षाद्वर्द्धमप्रवर्तक । जगदुद्धार-
कश्चासीत्तन्मतिश्च स एव हि ॥ ४८१ ॥ सन्ति ससारणा सर्वे, समवसरणे
स्थिता । यदा मुन्योर्द्वयोस्तेजोलेखयथा च विर्हिसनम् ॥ ४८२ ॥ हातु तेजस्त-
देवाणु, भगवन्तमुपरि तदा । न क्षमो निर्घृणश्चास्य, गोशालस्य विशेषत ४८३
शत्रुभाव गतस्यापि, क्षमादृष्टि स्वभावत । कृता यैरादर्शरूपो, देवाधीशोऽ-
प्यसंख्यया ॥ ४८४ ॥ दयादेव्या स्मारकोऽय, सन्देहो नात्र कस्यचित् ।
'धर्मस्य च समग्रस्य', लक्षण तत्र वर्तते ॥ ४८५ ॥ न वा पूर्णतया चेद, विचा-
रेण विभाव्यताम् । समग्रस्य च धर्मस्य, लक्षण प्रतिपादितम् ॥ ४८६ ॥ अथ यश-
सश्च समग्रस्य-भगवन्महावीरस्य, दिगन्तव्यापिनी शिवा । कीर्तिर्या वितता
लोके, तद्विषये निगद्यते ॥ ४८७ ॥ पारमार्थिकदृशा वक्तु, शक्यते चेदग पुन । न
केऽपि सन्ति ससारे, प्राणिना भगवद्गणै ॥ ४८८ ॥ सुगन्धभावं न जायन्ते, न

[illegible]

श्रावका ये च, जैनवर्मानुगास्तदा ॥ ४६६ ॥ *वस्त्रात्मकविधौ स्थूलसूत्रज वसन-
मुदा । तत्तत्सामयिका लोका, धारयन्ति स्म तन्मुहु ॥ ४६७ ॥ तत्सौमयुगलं प्राहु-
स्तत्कालीना नरा भुवि । निर्माय वसनागारे, स्थूलसूत्रस्य तै पुन ॥ ४६८ ॥ ततो-
ऽन्यद्वर्जयित्वा च, धार्यतेस्म तदेव हि । प्रति ससारिण सर्वाचरान्खस्य स्वकीयकम्
॥ ४६९ ॥ द्विसप्ततिमिताब्दान्त, चायुरुक्त समासत । सज्ञानानन्ततेजोभिश्चतुर्थ-
समयस्य हि ॥ ४७० ॥ सृष्टिमुद्गासयामास, भव्याना कोटिशो विभु । शंकाऽऽ-
काङ्क्षा विरहिता, विचिकित्सा विवर्जिता ॥ ४७१ ॥ अमूढदृष्ट्युपगूह्य, स्थिति-
भावस्त्वयेतर । स्ववात्सल्यमहिमैतान्, कृतवान्स प्रभावितान् ॥ ४७२ ॥ स्त्रिय
श्रद्धास्तथा नीचास्तथोष्वाश्चैत्यमेदताम् । धर्मसाधनसमानाधिकारत्व, स्थिरीकृतम्
॥ ४७३ ॥ तन्महत्त्व क्रियञ्चेति, विचारय मुहुर्धिया । भगवन्महावीरेण, यत्किञ्चिद्दिशित
खलु ॥ ४७४ ॥ आदर्शरूप तस्याद्यतुलना कर्तुमक्षम । इतिहासपुराणादिजादे
भुवि गवेषणे ॥ ४७५ ॥ नान्यत्र कुत्रचिद्भ्रामो, दृश्यते तस्य नैव हि । प्रत्ये-
कस्य समुल्लेखो, लक्षश कोटिशस्तथा ॥ ४७६ ॥ व्याख्यानस्य निबन्धस्य, जायते
रचना बहु । कोऽतन्तसुगुणान्वक्तु, प्रभो शक्नो भवेन्नर ॥ ४७७ ॥ अतोऽस्य,
लेखने शब्दद्विषयो न प्रपूर्यते । एतदर्थं केवल च, समुल्लेखनक कृतम् ॥ ४७८ ॥
कृत्वा चाशामह कुर्वे, दृष्टान्तैरेभिरन्वहम् । पाठका स्फुटरूपेण, ज्ञायेरन्सर्वथा
यथा ॥ ४७९ ॥ भगवाँश्च महावीरो, वर्धमानस्तथापर । शासनाधिपतिस्त्वद्वर्म्म
मूर्तिर्जिनेश्वर ॥ ४८० ॥ तीर्थङ्करो वीतराग, साक्षाद्वर्म्मप्रवर्तक । जगद्गुद्धार-
कश्चासीत्सन्मतिश्च स एव हि ॥ ४८१ ॥ सन्ति ससारगा सर्वे, समवसरणे
स्थिता । यदा मुन्योर्द्वयोस्तेजोलेखयथा च विर्हिसनम् ॥ ४८२ ॥ हातु तेजस्त्व-
देवाशु, भगवन्तमुपरि तदा । न क्षमो निर्घृणश्चास्य, गोशालस्य विशेषत ४८३
शत्रुभाव गतस्यापि, क्षमादृष्टि स्वभावत । कृता यैरादर्शरूपो, देवाधीशोऽ-
प्यसख्यया ॥ ४८४ ॥ दयादेव्या स्मारकोऽय, सन्देहो नात्र कस्यचित् ।
'धर्मस्य च समग्रस्य', लक्षण तत्र वर्तते ॥ ४८५ ॥ न वा पूर्णतया चेद, विचा-
रेण विभाव्यताम् । समग्रस्य च धर्मस्य, लक्षण प्रतिपादितम् ॥ ४८६ ॥ अथ यश-
सश्च समग्रस्य-भगवन्महावीरस्य, दिगन्तव्यापिनी शिवा । कीर्तिर्या वितता
लोके, तद्विषये निगद्यते ॥ ४८७ ॥ पारमार्थिकदृशा वक्तु, शक्यते चेदश पुन । न
केऽपि सन्ति ससारे, प्राणिना भगवद्गणै ॥ ४८८ ॥ मुग्धभावं न जायन्ते, न

जयन्ति । न तदुच्यते । मुदकम्ब जगन्नाथपि नृणां समुद्येन वै ॥ ४८९ ॥
 स्वयंपुनर्महावीरस्य नन्तत्परिजयम् । मुदकम्बेन तस्यपि सम्बैरत्नं प्रसूतिरे
 ॥ ४९० ॥ जगन्नाथस्य तत्त्वस्य पदार्थे तत्त्वविन्तकम् । ये ये प्रसिद्धा ध्येकेऽ-
 स्मिन्महाजुम्भामाविताः ॥ ४९१ ॥ यान् नाम्नास्त्रिंशन्निपते प्रयत्नयति सुपी-
 मतः । मयकन्महावीरस्यार्त्तजीवनस्यस्यम् ॥ ४९२ ॥ अरिघोषैश्चक्षुर्न वा,
 प्रमत्तः पठितो मुनिः । सृष्टीपत्रमिनिर्मोक्तं सम्बैरा तदसम्भवः ॥ ४९३ ॥
 एतन्मयेव ध्येयपदमिदं न महोदयेः । एतदसौ जनः भेदकवा सद्भिस्तत्त्वविद्
 ॥ ४९४ ॥ संसारे निरकथ्यसिद्धिं कथ्यन्तस्तथा निशेषतः । मयकन्महावीरस्य विजय-
 प्रतिपत्तयम् ॥ ४९५ ॥ जनेष्वन्तश्चतुस्तस्य वैशिष्ट्यसोपरेणकैः । जगन्मोक्षेत्वा-
 पित्ते ज्येष्ठैर्जगतां परमासीत् ॥ ४९६ ॥ तत्र धीवर्षमयस्य विजयं न हि
 दृश्यते । चिन्तं विविम्वरत्नत्वं सवैत्रैर्न विचार्य ॥ ४९७ ॥ साधारणतन्मयधीर्वा
 महत्त्वं न कथयत्यपि । परं मारुतवर्षस्य नाकतथैतिदृश्यते ॥ ४९८ ॥ महन्तो
 मनुज्य जगत्सोऽवत्वं वीरस्यमिमम् । देव केन प्रकारेण स्पृष्टकन्त्रे सुहृद्भिः
 ॥ ४९९ ॥ इति कर्त्तव्यतिरिक्तं न विद्यं जगत्पिठि सुदम् । विद्यां पूर्वा-
 ध्येयं वर्त्तमानविजयं न ॥ ५०० ॥ अरिते स्वादायकस्य सिद्धयन्तस्य प्रकाशकम् ।
 पठितं परमाधिक्यं जगन्नाथमावृणोति पुनः ॥ ५०१ ॥ पठ्यन्तस्य जगत्सो
 स्वयन्तीति निशेषतः । पाञ्चालैर्विपिकैर्ज्येष्ठैर्विपिकैश्चकवाप्य एवमेव ॥ ५०२ ॥
 तस्यपि महावीरस्य अरित्रे जीवन्तस्य हि । तस्य सत्पुत्रैश्चस्य विद्वद्भिर्यो जगु-
 र्भुक् ॥ ५०३ ॥ तथा किमिवमाका न न कर्तुं शक्यते मया । पञ्चास्यमाविशि-
 मन्मै वीरस्य विश्वम्भाषिण ॥ ५०४ ॥ प्रमादोऽवतन्मयस्य जगद्विजयं वा
 सुवा । प्रमुक्तमन्तप्रकाशतप्रकाशनेन संस्पृष्टम् ॥ ५०५ ॥ सुपाध्यायैर्ज्येष्ठैर्वि-
 श्वैर्न मुदकम्बतः । मयकन्तं ज्येष्ठार्त्तं सम्पन्ते कञ्चुमाकतः ॥ ५०६ ॥
 दृष्टान्तव्यर्थैर्वि तस्य समग्रपञ्चास्यं परम् । जगत्त्वं न महावीरे, परिपूर्वस्य-
 मय ॥ ५०७ ॥ श्रियाः समग्रपञ्चास्यः—जीवींश्च मयकन्मयीणे जगन्मयान्त-
 युवाः । सीमं पञ्चवरयेन्द्रप्रतिष्ठासौ श्रियाश्च न ॥ ५०८ ॥ त्रिपदात्स-
 यविज्ञानं दृष्टैर्न ज्ञापकाश्चम् । चतुर्वर्षपूर्वज्ञानं तस्मै धीमतेऽस्मान् न ॥ ५०९ ॥
 पूर्ववर्त्तुतेऽपरपातीर्न सुविधानं तम् । पञ्चवरं सुविपुलं, दृष्टवान्तरकम्ब-
 ॥ ५१० ॥ वल्लभतद्वाक्यस्यैव धैर्यं जगत्त्वं न रोहकः । पठेन्नरितयकम्ब-
 मयकन्तं पञ्चास्यके ॥ ५११ ॥ कृष्णोऽवतिसेनेन जगत्त्वं सप्तपठकैः । वि-

तन्मुक्तावसङ्ख्याना, प्राणिनां प्रेषके पतौ ॥ ५१२ ॥ मुक्तौ श्रिय समग्राया, लक्ष-
णेति समन्वये । निरूपणे तथाऽवश्य, यन्न कार्यो विशेषतः ॥ ५१३ ॥ यश्च
सङ्घपतेश्चापि, वसुसम्पत्तितो *रह । सम्पत्तिमन्त कृतवानिति जानीत ज्ञानत-
॥ ५१४ ॥ **वैराग्यस्य समग्रस्य**—चतुष्टयाऽनन्तसम्पत्प्रातिहार्याद्यनेकधा । धर्म-
सम्पत्सङ्घसम्पत्कीर्तिसम्पत्तथाऽपरा ॥ ५१५ ॥ अष्टैव प्रातिहार्याख्यासुरवैभव-
सम्पद । एतावन्यो यत्र सन्ति, भगवत्यखिलेश्वरे ॥ ५१६ ॥ तद्गार्हस्थ्योऽपि
वैराग्यसम्पत्तिरुपबृंहिता । तथाऽनासक्तिसम्पत्तिर्वैरीवर्ति स्म तत्र वै ॥ ५१७ ॥
[तदद्भुत चमत्कारं, को वा वर्णयितु क्षमः ॥] पुष्कल भोगमासाद्य, तत्रोत्पद्य स्वयं
प्रभु । पङ्कज पङ्कजमिव, पृथगेव विभाव्यते ॥ ५१८ ॥ सेयं तत्त्यागवैराग्यसम्पत्ति-
सिद्धिदायिनी । विद्योतते भगवति, वैराग्यस्येति लक्षणम् ॥ ५१९ ॥ **मोक्षस्याथ**
समग्रस्यापुनरावृत्तिरूपक । समन्वयो यथार्हं वै, जायते तन्निश्चयताम् ॥ ५२० ॥
आचाराङ्ग तथा व्याख्यासुप्रज्ञप्त्यादिरूपका । **आधारभूतेतिहासाच्च, सिद्धं**
तन्निर्विवादतः ॥ ५२१ ॥ महावीरभगवान् बीक्षादशात् पूर्वतोऽपि वा । पुद्गल-
स्यप्रवन्धेषु, पदार्थे वन्धने पुनः ॥ ५२२ ॥ भावसयतयुक्तोऽभूजापेक्षा विद्यते विमो ।
सर्वथा ते च मुक्त्यर्थ, सङ्घेष्टा सन्ति भावतः ॥ ५२३ ॥ सम्बन्धे चात्र चैता-
वत्कथन जातमल तथा । अनन्तचतुष्टयमाप्य, जात सिद्ध सकाधिक ॥ ५२४ ॥
जीवन्मुक्तोऽभवत्तत्र, विज्ञेयं तच्चरित्रकम् । प्राणिनस्तस्य शरण, समायाताश्च येऽ-
निगम ॥ ५२५ ॥ स्वयं तेभ्य सुमोक्षस्य, सम्प्रदायरहस्यकम् । स्वसमास्ते कृता-
स्तेन, तत्सहाशु निसेवनम् ॥ ५२६ ॥ मुक्तिमूलं परं स्थान, तदस्तीति विभावय ।
तत्र मोक्षसमग्रस्य, समन्वयप्रसक्तिः ॥ कथं प्रश्नावकाश स्यादित्य च बुध्यता
धिया ॥ ५२७ ॥ अतो भगवते **मोक्षसमग्रस्य समन्वय** । पष्ठमलक्षणस्याऽयं,
समन्वय इति स्फुटम् ॥ ५२८ ॥ **अयोपसंहारः**—एवमुक्तपडाख्यानाऽऽलक्ष-
णानां समन्वयात् । सिद्धो जातस्तु जगति, “वीरस्तु भगवान् स्वयम्” ॥ ५२९ ॥
अस्ति सर्व्वेश इत्ययं, समदर्शी च वीर्यवान् । हितैषी सर्व्वजीवानां, तथाप्तोऽ-
नन्तशक्तिमान् ॥ ५३० ॥ शास्ता सर्व्वं स एव स्याज्जगद्गुरुरिहार्तिह । अतस्त-
लक्षणं प्रोक्तं, निम्नगं तन्निबोधत ॥ ५३१ ॥ “गुकारस्त्वन्धकारस्तु, रुकारस्त्व-
न्निरोधक । अन्धकारविनाशेन, गुरुरित्यभिधीयते” ॥ अज्ञानं च गुणवन्द्य,

वीरस्तुति-परिशिष्ट नं० ७

॥ अथ वीरयोगतरङ्गः ॥

॥ मङ्गलाचरणम् ॥

योगाज्जानाति स्वात्मानं, योगः शान्तिं प्रयच्छति । योगान्मोक्षोऽमिसंयाति, योगाद्देशसमुन्नतिः ॥ योगान्निर्वैरतामेति, समाधिरचला भवेत् । योगेन समताऽऽयाति, तस्माद्योगात्मने नमः ॥ १ ॥ योगिनां सर्वतो मैत्री, योगी सम्मुदितां गतः । करुणान्वितो भवेद्योगी, योगे माध्यास्थ्यभावना ॥ २ ॥ योगशास्त्रे तथाऽन्यत्र, योगस्य प्रतिग्राहिता । तेन योगतरङ्गस्य व्याख्या पद्येन गीयते ॥ ३ ॥ योगेन भित्वा षट् चक्रं, वायु सस्थाप्य मूर्द्धनि । ब्रह्मरंध्रस्थकमले, सहस्रदलसदृते ॥ ४ ॥ स्वान्तमाकृष्य विषयाज्जलबुद्बुदसन्निभात् । सस्थाप्य ज्ञानतो वध्वा, ध्रुव ब्रह्मणि निष्कले ॥ ५ ॥ द्विविध कर्म सन्यस्य, योगी यात्यपुनर्भवम् । तस्माच्च योगमाहात्म्यं, वर्तते सर्वतोऽधिकम् ॥ ६ ॥ अतश्च योगशास्त्रस्य, महत्त्व वर्णितं बुधैः । तद्व्याख्यानं मयेदानीं, गीयतेऽभीष्टसिद्धये ॥ ७ ॥ योगो निर्मलचेतसा वितनुतेऽप्यष्टाङ्गसिद्धिं पुनर्योगाङ्गेन मनो नियम्य यतयो याता पद निर्भयम् । योगोऽज्ञानमयान्धकारतरणिर्योगाच्च चान्योऽपरस्तस्माद्योगमुपाश्रयन्त्वनुदिनं यो योगिनामिष्टद ॥ ८ ॥ ससारेऽत्र सुखं प्राप्य, हेयं दुःखमिति स्थितिः । इत्यनुसृत्य वाञ्छन्ति, सुखं प्रत्येकप्राणिनः ॥ ९ ॥ दुःखं तत्कारणं वेति, ते नेच्छन्ति कदाचन । तस्मात्सुखाप्तये योगः, सेवनीयः सुखार्थिभिः ॥ १० ॥ न ह्येतावद्धि मात्रेण, प्रत्युतैव सुखर्द्धये । नित्यं कुर्वन्त्युपायं ते, शतगो यन्त्रतो मुदा ॥ ११ ॥ तैरुपायैर्यदात्यन्तं, जायते सफला क्रिया । तदानन्तसुखावाप्तिं, लब्ध्वा यान्ति कृतार्थताम् ॥ १२ ॥ इत्यमत्वा सुखाप्त्यर्थं, सर्वसाधकसाधने । मुरयो धर्मो न चान्योस्ति, तस्माद्धर्ममुपाश्रयेत् ॥ १३ ॥ स च योगात्परो नान्यो, ज्ञातव्यो योगसाधकैः । एव धर्मो धारणीयः, सत्सुखाप्तिकरो यतः ॥ १४ ॥ योगतो लभ्यते स्वर्गोऽपवर्गश्च महात्मभिः । कथस्य चैधते कान्तिरुज्ज्वलात्मसुखोदया ॥ १५ ॥ वर्तमाने युगे चास्मिन्नेकमतवर्त्मनि । पार्तिवाजी सम्प्रदायसह्याडागच्छटोलका ॥ १६ ॥ वर्तन्ते ये च धर्मस्य, नामोपरिचलन्ति ते । तेऽमरशहीदना भूत्वा विहरन्ति यथेच्छया ॥ १७ ॥ योगसाधनतस्ते च, विमुखा निजशिष्यके । सुखसाधनदानार्थमयमर्थं प्रवक्ष्यामि ते ॥ १८ ॥

विरोधार्थं बहुविधाः । परम्परया विज्ञानं बोधयन्ति सद्यस्मिन् ॥ १९ ॥ तत्र
 परम्परानुसारैरेव सिध्यन्ति । कुर्वन्ति तत्राः क्रियाः चाप्यनर्तनैर्नैर्मुखा ॥ २० ॥
 अस्यां दृष्ट्या केचित्तु, कदाचित्तु चान्तरा । प्राप्तिनोदयस्य स्मृति मेवा
 विसं न मुनिवत् ॥ २१ ॥ अन्तोर्व- मुपशिष्टाद्यैर्मन्त्रापाहोदयी । मन्त्र-
 रिचमन्तो जीवाः सुखमिदृशये ॥ २२ ॥ एवं केचन च कुर्वन्ति सर्वैर्मन्त्र-
 मास्थित्य । एताः अक्षेप्येऽप्येवं न दूषयन्मन्त्रमुते ॥ २३ ॥ सुखं तत्त्वमन्त्रं
 तत्त्वमन्त्रं वे नामुच्यन्ते ते । मन्त्राणां तन्त्रान्तरोपदेशस्तत्रमिदं चास्मिन् ॥ २४ ॥
 एव प्रवर्तितं कर्म, तत्रैव सफलमिदमेव । समात्मकस्य सर्वस्य, सुखस्य साधनं
 बहु ॥ २५ ॥ सम्यक् प्राप्नुवन्त्येवं न वाचेति स्मृतम् । इत्थं दक्षमन्त्रं तत्रैव
 स्थितिं प्रतिबुद्धयन्ते ॥ २६ ॥ एवं हातुं स्थितिं च सुखं वाचनिकं पुनः ।
 सत्त्वस्य मन्त्रादौ, कर्तुं मन्त्रात्त्वमन्त्रम् ॥ २७ ॥ सत्त्वस्य मन्त्रो मे हि, सर्वोपरि
 विराजते । तत्राऽपि तत्रैव समानं चमत्कारकं पुनः ॥ २८ ॥ अस्ति सत्त्वमन्त्रं
 पुन्यं प्राप्यतं तद्गुणैर्मुच्यते । उपयोगे प्रयुज्यता सम्यक्त्वमेव तत्त्वम् ॥ २९ ॥
 मन्त्रमन्त्रेव मन्त्रमन्त्रमन्त्रमन्त्रं मन्त्रम् । योगवैद्यस्यं वस्तु, न कर्म हातुं
 क्वचित् ॥ ३० ॥ योगवैद्यस्यमन्त्रः कश्चिदपि महात्मना । इत्यन्तो विद्या-
 सत्त्वमन्त्रमेव स हि योगिनः ॥ ३१ ॥ कश्चिदपि मन्त्रो योगी संसारस्य भेदनाः ।
 मन्त्राः साधुवैद्यस्यैव योगोऽस्ति दुर्लभः ॥ ३२ ॥ एवं मन्त्रोऽपि मन्त्रं मन्त्रं
 योगमन्त्रम् । तन्त्रमन्त्रमन्त्रोऽप्येवः किञ्चिदपि महात्मना ॥ ३३ ॥ योगिनोऽप्य
 न मन्त्रं नारये योगधारकाः । परं प्रवाचकमन्त्रमन्त्रमन्त्रं योगिनोऽप्युता
 ॥ ३४ ॥ सुयोगमन्त्रमन्त्रं मित्रं समाधानेव वेत्तुः । अप्यत्र दृष्टं त्वेवं
 वैविध्यमिदं जनम् ॥ ३५ ॥ समाप्तमन्त्रं वेत्तुं सत्त्वमन्त्रमन्त्रमन्त्रम् । पर
 मन्त्रं कर्तुं मन्त्रं मन्त्रं मन्त्रं मन्त्रं ॥ ३६ ॥ वाच्यते तत्त्वमन्त्रं त्रैविधिति
 चानन्तु सत्त्वमन्त्रः । परन्तु कसमीयेऽस्ति तत्त्वमन्त्रं कसमी स्थितम् ॥ ३७ ॥
 अन्तरिक्षोऽस्मात्प्राप्तमन्त्रमन्त्रं सुखं परम् । येषां सत्त्वमन्त्रमन्त्रं सुखमन्त्रमन्त्रमन्त्रं
 ॥ ३८ ॥ योगसाधनमन्त्रं वेत्तुं योगी मन्त्रं मन्त्रः । वाच्यते योगिनो मन्त्रं
 मन्त्रं परमोक्तम् ॥ ३९ ॥ योगिनां तत्र मन्त्रं, सर्वसुखं महात्मना । तत्रैव
 मन्त्रोऽपि योगी इति मन्त्रमेव कर्तुं मन्त्रम् ॥ ४० ॥ मन्त्रमन्त्रमन्त्रमन्त्रमन्त्रं
 योगिनां मन्त्रं । इत्यपि च न मन्त्रं, योगी कश्चिन्मन्त्रमन्त्रः ॥ ४१ ॥ मन्त्रं
 योगी महात्मना सर्वे मन्त्रं मन्त्रं । मन्त्रमन्त्रमन्त्रमन्त्रमन्त्रं तत्र ॥ ४२ ॥

जीवादिसख्यां सख्यातुमुत्सुका ज्ञानिना वरा । तेभ्योऽप्यस्ति महान् योगी, तथा
 कर्मकरादपि ॥४३॥ अतोऽर्जुन ! भव त्व हि, योगी योगात्परो न हि । योगयुक्तो
 विशुद्धात्मेत्यादिश्लोकेन वर्णितम् ॥४४॥ श्रीमत्कृष्णेन महता, चार्जुनाय विदे मुहु ।
 तदाशयश्चेत्यमस्ति, ज्ञातव्यो योगवित्तमै ॥ ४५ ॥ आत्मजेतेन्द्रियाहर्ता, तथा
 भूतेषु भावना । स्थापनीया समा शश्वदिति शास्त्रमत सदा ॥ ४६ ॥ योगी जन
 कर्म कुर्वन्निष्कर्मैव न जायते । अर्थात् कर्मलेपनाच्च, न कदापि स लिप्यते ॥४७॥
 यथाऽम्भसि गतं पद्म, न स्पृशेत्तज्जल क्वचित् । तथैव योगसम्पन्ना, न लिम्पन्ति
 च कर्मभिः ॥ ४८ ॥ एवमेव च सम्प्रोक्त, जैनशास्त्रेऽपि न्यायत । [अग्नौ च मूल]
 चे त्यादिज्ञेय स्याद्वदक पुन ॥ ४९ ॥ मूलकर्माऽग्रकर्मणो, मेद ज्ञात्वा विवे-
 कत । एव ज्ञात्वा सुकर्माऽपि, निष्कर्मा साधको भवेत् ॥ ५० ॥ निष्कर्मकारिणा
 चेत्थ, न भवेच्च कदाचन । उपाध्युत्पातक चेति, लौकिक सर्वकर्म च ॥ ५१ ॥
 केवल दर्शनार्थाय, दृश्यते चेदृश क्वचित् । योगयुक्तात्मन काय, योगक्षेत्रस्य
 बाहकम् ॥ ५२ ॥ भवेदय च योगो हि, चिरकालात्समागत । प्रवर्तकश्चास्य
 योगस्यानादे ऋषभो जिन ॥ ५३ ॥ तीर्थकृतामादिभूत, श्रीमानृषभदेवक ।
 जिनराजोऽभवद्योगी योगिना प्रवरो मुनि ॥ ५४ ॥ मनोनिग्रहणाऽऽदेशो,
 निर्दिष्ट पूर्वमेव च । तेनाज्ञा च प्रदत्ताऽत्र, सर्वाधिक्येन ज्ञानत ॥ ५५ ॥
 बहुजीवनिकायाना, सन्मुख जगत परम् । दृष्टिमात्रेण यत्क्षोभ, मन प्राप्त च
 यन्मुहु ॥ ५६ ॥ भूत्वाऽक्षुब्ध पुनश्चात्मसमुच्च यत्प्रवर्तितम् । पुनस्तदेवानन्तं
 च, लब्ध्वा प्रलक्षमेव वा ॥ ५७ ॥ करोत्यनुभव तस्य, मनसोऽतो निरोधनम् ।
 कर्तव्य हि तदेवास्ति, योगो योगविदा मते ॥ ५८ ॥ इदमेव हि योगस्य, लक्षण
 प्रोक्तवानिति । पतजलिमुनिश्चापि, योगसूत्रेण जायताम् ॥ ५९ ॥ चित्तवृत्ति-
 निरोधारण्यो, योगश्चोक्त पुरातन । अत्युत्तमस्य योगस्य, पात्र हि स्त्रीनरादय
 ॥ ६० ॥ चतुर्वर्णाश्रमाणा च, लोकानामत्र चास्ति वै । अधिकारश्च योगस्य,
 साधनेनास्ति निर्णय ॥ ६१ ॥ योगेनैव यशस्तेजो, वर्धते योगिना मुहु । योग-
 तत्त्वरूपं च, मित्वोर्क्षं याति साधक ॥ ६२ ॥ निर्वाणपटमागस्य, जरामरणव-
 र्जित । अतोऽत्र निर्णयो नास्ति, योगे जातिमिदो मुवा ॥ ६३ ॥ जातिमेदात्मको
 मेदो, नावद्या प्रविचारणा । चाण्डालजातिसम्पन्नो, जनोऽपि योगवित्तम ॥ ६४ ॥
 भवितु शक्यते योगी, महात्माऽपि स्वतश्चरत । पञ्चविंशतिशतात्पूर्वं, हरिकेशी
 मुनीश्वर ॥ ६५ ॥ स च चाण्डालजातीयो, जातश्चेति तथाऽपि च । योगतो

तद्वद्वत्पुनं पर्व महात्मनां युक्तम् ॥ ६६ ॥ योगगङ्गां संभूतयेत्युच्यते मुनि-
 पुङ्गवैः । तदाद्यसोऽयं निष्ठेयवाण्याऽनुष्मत्समः ॥ ६७ ॥ हरिकेशी मुनिर्गोतः,
 सर्वोन्मै पदवीं गतः । तदाद्यस्यैव प्रोक्तं, “सर्वं तु [चेति] विस्तरं” ॥ ६८ ॥
 तद्वद्वत्पुनं च निष्ठेयो योगगङ्गाह्वयमुत्तमम् । प्रसन्नं दृश्यते नत्र यद्वि वासि-
 निचारणा ॥ ६९ ॥ हरिकेशी गोपी बाल्याम्भे ज्ञाया वासीप्रिष्ठेयत । परन्त-
 योगगङ्गां सर्वेनेत्रं पिबति च ॥ ७० ॥ तामसीहृतिपुष्पनां बोयसिद्धिं कदा-
 चन । ममिदं कदाचते तदाद्योयो योगविज्ञानस्यम् ॥ ७१ ॥ इतधीरादिकं निर्व-
 मोक्षं सखिकं धरम् । ममत्ता कृष्णचन्द्रेण गीताद्यमुष्मदीहृतम् ॥ ७२ ॥
 सखिचन्दनं जम्बूनं च रक्तकुं सुतु स्थिरम् । इदं मोक्षकामद्वारं सखिकं
 प्रियमात्मन ॥ ७३ ॥ आनुष्मवद्वत्पुङ्गवीनां सर्वं चयते यतः । परस्वविप्र-
 क्षयां ईश्वरीनां न कारयेत् ॥ ७४ ॥ तामसाणां पदार्थानुष्मत्सोयं कदापि न ।
 दृष्टान्तं च कटुं तीक्ष्णं न चाम्बं तिष्ठमोजनम् ॥ ७५ ॥ परिहरेदूरतो गोपी-
 न्द्रम संयोगसाधने ॥ ७६ ॥ रतवाचकस्यै हि नाधिकं वक्तुं नयेत् । प्रबोध्यं
 विद्या गोपीं शिन्मैव सम्यज्जेत् ॥ ७७ ॥ कम्पना चाम्बने चयते निवारणं
 प्रपद्यते । योगे निवारतो ब्रूवाति योगविद्यो हि ॥ ७८ ॥ बोयसाधक-
 इन्द्रां पुद्गलार्थं महात्मन्यम् । सन्ध्यासत्सर्वकिषां वासा तथा ततास्त्रिधां वतिः
 ॥ ७९ ॥ बोयसिद्धिं पवित्रे च त्वैकान्ते विधिर्यते । वेत्ते बोयसिद्धिं तिष्ठेदक-
 निरियम्भरे ॥ ८० ॥ एषान्तातिरिक्ते च स्वप्ने वैव प्रतिपद्यते । नत प्राचीक-
 वाळीन्य पुस्या बहोऽनु ॥ ८१ ॥ नत्रासन्ध्यासिद्धिं वृद्धा कदाप्युत्सासि-
 हृताः । पूर्वतादाहृदाभ्यापि तथा सुखदयः पुनः ॥ ८२ ॥ उज्ज्वलकन्दते
 बोयसाधकविप्रकिषाम् । नत्रासिद्धिं कदापि सन्ध्यासत्सर्वकिषां वासा ॥ ८३ ॥ महा-
 स्मर्गं दृष्टारवाऽकिषा पतिता मुनिः । दत्तावरणं वैव तत्र स्वार्थं प्रकम्पयेत्
 ॥ ८४ ॥ तत्र स्वप्ने निषत्तां चयत्यर्थं निहाय च । मजःस्थान्तं मवीचर्यं
 तत्रैव कस्यार्थं स्यम् ॥ ८५ ॥ नतसत्सर्वार्थं तेनामनुष्मत्सु सदा प्रियम् । ननुते
 राजमपने बमिपुके तथा पुनः ॥ ८६ ॥ तदापि नाप्यते तत्र मुक्तं नान्यत्र कर्हि
 विद् । नतन्ध्यातुम्बं पुष्टिमिन्द्रासिद्धिदेषके ॥ ८७ ॥ ईश्वरीयं विद्यामपरे पमने नव
 कम्पते । नान्यत्सर्वं कदापि कदाप्यनुष्मत्सु ॥ ८८ ॥ बोयसिद्धिं
 तेनैव स्वाप्नेषु चयनं धरम् । नारमैव कदापि नारमैव बोयसम्पते ॥ ८९ ॥ तथा
 नतपरस्यैव, म्पत्ते रमणीयके । नतसिद्ध्यापुके, नतस्यैव च मुनिस्वके ॥ ९० ॥

योगाभ्यासससिद्धिस्तत्रैव खलु जायते । यत्सुखं वीतरागस्य, मुनेरेकान्तवासिनः ।
तत्सुखं देवराजस्य, चक्रिणो न कदाचन ॥ ९१ ॥ नासनेन विना सिद्धिर्जायते
न रजोवृते । रह स्थाने चेदासनस्य, ज्ञेयमावश्यकं मुहु ॥ ९२ ॥ दर्मासनं प्रशस्तं
स्याद्योगिना च मुदे पुनः । कम्बलेन तदाच्छाद्य, सर्वथा योगधारकैः । एतादृशे
साधकानामासने शक्तिरुज्ज्वला । जायते ननु कायस्य, विद्युत्कोटिममप्रभा ॥ ९३ ॥
बुद्धिरत्युत्तमा वेति, नो विशेत्सूत्रकासने । तत्रासने साधनत्वे, योगो निष्फलता
व्रजेत् ॥ ९४ ॥ भगवत्यादिसूत्रेषु, प्रोक्तं दर्मासनं शुभम् । 'द्वयं संथारगं'
चेति, सूत्रार्थेनोपवर्णितम् ॥ ९५ ॥ गणधरस्य मुनेश्च, गौतमस्य तथा पुनः ।
केशिस्वामीत्यादिना च, स्वागतार्थं समाहितम् ॥ ९६ ॥ आगन्तुकेभ्यो नितरा,
सुदर्मासनमेव हि । प्रदत्तं चोपवेश्यार्थमित्येवं च तदासनम् ॥ ९७ ॥ प्रशस्तं
सर्वासनेभ्यो, सुदर्मासनमुच्चकैः । जैनानां च तथा रीतिरेषा दर्मासनार्पणे ॥ ९८ ॥
तदभावे प्रशस्तं स्यात्कम्बलासनमेव च । दर्मासनोपरिष्ठान्तु, कम्बलासनमिष्यते
॥ ९९ ॥ ततः पद्मासनं वद्ध्वा, मनसोऽप्यनुकूलतः । पुनरासनेदृशे च, साधनं
समुपविश्य च ॥ १०० ॥ साधयेच्छुद्धमनसा, योगयोगस्य सिद्धये । दिशि पूर्वं
चोत्तरे च, मुखं कृत्वा समभ्यसेत् ॥ १०१ ॥ तदेवोक्तं 'पुरत्थामिमुहे'
'सपलियंकनिसण्णया' इत्येव कथितं सर्वमासनं क्रमतो जिनैः ॥ १०२ ॥
कमलाख्ये वा पर्यङ्के, स्थित्वा चाप्युत्तमासने । मुखं पूर्वदिशि कृत्वा, वामहस्ते च
दक्षिणम् ॥ १०३ ॥ करं धृत्वा कटिं तद्वत्कण्ठे चैव च मस्तकम् । सदैकपक्षौ सस्थाप्य,
साधयेदप्रमादतः ॥ १०४ ॥ स्थाप्य स्मश्रुविभागेऽवो, हनौ स्वन्तर्गते पुनः ।
ईदृगासनमारूढो, योगी याति परं शमम् ॥ १०५ ॥ प्रातर्दिनान्ते च पुनर्निशाया,
पूर्वं परे यामये च काले । मध्याह्नवेलासुसमाहितं सन्, योगी सदाऽनेन मदास-
नेन ॥ १०६ ॥ करोतु योगस्य सुसाधनं वै, यथेकयामान्तमुत्तेन योगी । भूत्वा
स्थिरो जातु सदा सुशक्यस्तदा च ज्ञेया विजयोपलब्धिः ॥ १०७ ॥ जातासने
चासनसिद्धिरप्रा, विनासनाद्धिं विजयो न योगः । सिद्धयेत्यथो प्राणशरीरवृत्तौ, तदा
सुदृष्टौ विजयोऽपि लभ्यः ॥ १०८ ॥ प्राणेन्द्रिये वापि तनौ सुदृष्टौ, प्राप्नोति
योगी विजयं समन्तात् । सदेत्यमेव च विना न योगमात्मोपलब्धिर्भवतीति
ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥ अतो नितान्तं श्रमतो गुरोश्च, युक्तेर्विशेषेण च प्रापणीयः ।
जयोऽप्यजस्रं खलु स्वासनस्य, जानन्तु सर्वे मुनयो नितान्तम् ॥ ११० ॥ जितास-
नानन्तरमेव शश्वद्यमादिनियमादिजयोऽपि लभ्यः । जितासनानन्तरमाधकेन, सल-

[illegible]

॥ १२८ ॥ अयञ्च प्रयासो यदा वृद्धिमेति, प्रकृतिप्रत्येक पदार्थान्तरेऽपि, । तदा प्रेमवृद्धिः प्रयात्येव नून, तथा सृष्टिप्रत्येकमशेऽपि ज्ञेया ॥ १२९ ॥ मुदा वीतरागत्वमुत्कृष्टताया, प्रभावस्य स्याद्वर्तनं योगसिद्धौ । प्रयत्नोऽपि स्यादुत्कटत्वेन शश्वत्तदानीं मुहूर्तान्तमुत्थापनीय ॥ १३० ॥ ततः सृष्टिभागेऽपि स्याच्चेत्सुदृष्टि-सुखं स्वापयित्वा च तत्रैव सृष्टिः । स्थिरीभावमागत्य कायस्य स्वस्य, स्वपिण्डाद्विनि, सत्यं दुःखं पुनश्च ॥ १३१ ॥ मुहुः प्लायते तादृशावस्थया, सुखं साधके नाप्यते शीघ्रतः । प्रभुनाप्तो मुहुर्भावनानामक, जपः प्रेमतो योगजन्यः पुनः ॥ १३२ ॥ तदा प्रारमेतेच्छया शब्दकोष्धारणं ॐ नमो जापमेव जपेत् । अनेनार्हदेव भजे-त्प्रेमतः, सर्वकाले तदा ॐ पदं लुप्यते, पुनः शश्वदेव स्वयं नामतः ॥ १३३ ॥ ततश्चात्मनि प्रेमतश्चार्हति, प्रभावैकाकारासृष्टिस्ततः । स्वयं सक्षणं जायते प्रेमतो, यथा चावकाशः परं तत्त्वतः ॥ १३४ ॥ चलश्चोपशान्त्या भ्रमन्वा विशन्सदोत्तिष्ठ-मानः शयानोऽपि च । तथा जाग्रतो भुञ्जमानश्च तच्च ध्यानं कदाचित्सरेत्कायतः ॥ १३५ ॥ निशान्ते दिनान्ते च मध्याह्नके, निशाया सुयोगः क्रियामारमेतः ॥ सदाऽजापजाप जपेत्सस्मरजेकतो योगद्वारैव सद्भावना, दृढत्वं भवेद्योगतो नान्यतः ॥ १३६ ॥ जापमेव जपेत्प्रेमभावेन च, तथा हि द्वयं साधनं सर्वतो । मिलित्वा मनः शान्तभावः ब्रजेन्मनोऽश्वो भयकारको दुःखदः ॥ १३७ ॥ तथा साहसाधाररूपं भवेन्मनो रूपकाश्चस्तथा चेन्द्रियं, घोटकोऽस्ति बलिष्ठ इति ज्ञायतां, परं चेदृशेन प्रयासेन च ॥ १३८ ॥ ततो मत्तता याति तेषां बहिः । ततस्ते भवेयुः प्रशान्ताः पुनः ॥ ततश्चेदृशेन प्रकारेण च, भवेत्साधकानां विवेकान्विता ॥ १३९ ॥ तथैव च दृष्टिश्च सूक्ष्मा मुहुः, सहैवानयेदात्मिकानन्दकम् । इदं साधनं स्याच्च सन्तोषकहेतुस्तदा साधका स्वस्य च, प्रवृत्तिं निवृत्तिं च संपश्यतः ॥ १४० ॥ आत्मानं सारथिं विद्धि, शरीरं रथमेव तु । इन्द्रियाणि हयानाहुर्मनः प्रग्रहमेव च ॥ १४१ ॥ परावृत्य यत्राटकं बाह्यवृत्त्या, कृतं तच्च कुर्वन्तु वाऽभ्यन्तरीयाः । शुभं त्राटकं दृष्टितो योगसिद्धयै, भवेद्योगिना साधने सम्प्रवृत्तिः ॥ १४२ ॥ श्वासोच्छ्वासकयोर्दृष्टिः, पूर्वं स्थाप्या प्रयत्नतः । बहिर्याति यदा श्वासस्तदा 'सो' शब्द इर्यते ॥ १४३ ॥ जाते चाभ्यन्तरे शश्वदहः शब्दः स्वभावतः । जायते च द्वयो-र्योगे, 'सोह' मित्युपयुज्यते ॥ १४४ ॥ जापं विनैव ससिद्ध्येदजपाजापमुत्तमम् । तेनैवाथापवर्गस्य, प्राप्तिर्भवति योगिनाम् ॥ १४५ ॥ ध्यानेन तत्र सम्पश्येद्यदा श्वासोऽभिजन्यते । यत्र लीनो भवेच्छ्वासस्तत्र वृत्तिप्रयासतः ॥ १४६ ॥ स्थापये-

मुदे ॥ १६५ ॥ अन्ते च विन्दावतिनीमभाव, ब्रजेच सिद्ध प्रतिभाति योगी ।
 शान्तौ च नादानुभव च याति, विन्दोरपेक्षा तु विशेषनादे ॥ १६६ ॥ श्रीविन्दो-
 रवलोकनेऽनुदिवस जाते ततश्चैवते, शक्तियोगधिया ततश्च श्रवण नादस्य जज्ञ-
 न्यते । पश्चादात्मसुखं स्वय विलसति श्रीसाधकानां ततो, वैव शून्यगुहा निचद्ध-
 मनसा मुक्ति कराञ्जे स्थिता ॥ १६७ ॥ नादोऽनेकविधोऽस्ति शास्त्रविहित
 सश्रूयते योगिभिर्घण्टानादसमस्तथास्ति निनद शङ्खस्य वीणारव । वेणूतालरवश्च
 चक्रसदृश शाङ्कर्यादि शब्दस्तथा, एव विन्द्वलोकनादनुमुहूर्नाद समुत्पद्यते ॥ १६८ ॥
 योगामृतस्य पानेन, नादस्य श्रवणात्पुन । विन्दुदर्शनतो योगी, जरामरणवर्जित-
 ॥ १६९ ॥ नादानन्दे समुत्पन्ने, विन्दुर्गौणतमो भवेत् । नादस्य चाविशेषेण, जायते
 श्रवण मुहु ॥ १७० ॥ घनगर्जनतोऽन्यूनं, श्रूयते गर्जन बहु । दिव्यनादप्रभावे
 णाऽप्यन्ते योगी प्रलीयते ॥ १७१ ॥ नादे ध्वन्यनुभवस्य, सर्वाधिक्येन वर्धनम् ।
 तदा स्यात्साधकजनो, भ्रमणे चलने तथा ॥ १७२ ॥ उपविश्यासने चैव, स्थित
 सर्वक्रियासु च । नादानुभवमेवास्ति, नान्यो भाति विशेषत ॥ १७३ ॥ नादानु-
 भवतो लोके, सङ्गीतस्य प्रचारक । योगिभिश्च कृतोऽजस्रं, यथा नाद प्रियकर
 ॥ १७४ ॥ मुञ्चन्ति रोदन वाला, क्रोध मुञ्चन्ति पञ्चगा । मृगा प्राणान् विसु-
 ष्चन्ति, नास्ति नादसमो रसः ॥ १७५ ॥ साधकाना तथा लोके, सङ्गीतोऽति-
 प्रियकर । अत सङ्गीतगानेन, मनोभृत्वा सदैक्यताम् । साधक प्रब्रजेष्वाप्रे,
 शनैर्नून प्रयासत ॥ १७६ ॥ वस्तुतो नादो बाह्योऽभूत्सङ्गीतस्य प्रसाधने । बाह्य-
 नादस्य द्वारेणाऽभ्यन्तरो नादमेलनात् ॥ प्राप्तु च शक्यते योगी, नात्र कार्यं
 विचारणम् । यदा साधकजनो नादैर्दृष्टिमेति तथाप्रत ॥ १७८ ॥ तदा तस्य च
 यत्राऽभूत्तादोऽनुभवमेव हि । तदा भ्रमरगुहायां तु, शङ्खाकार- प्रतीयते ॥ १७९ ॥
 तदूर्ध्वं प्रेमभावेन, चैक शुद्ध- प्रदृश्यते । तस्य शिखरमध्ये तु, महानेको विरा-
 जते ॥ १८० ॥ ततश्चोर्ध्वं पश्येद्भ्रमरसुगुहा यत्र रवित, शशाङ्कादभेर्वाऽत्यधिक-
 बहुतेजोऽस्ति विततम् । तदा विन्दोर्नादश्रवणविलय याल्यनुदिन, सदा योगी
 लीनो भवति नितरां यत्र सुखत ॥ १८१ ॥ तस्य चानुभवं नित्य, कुर्याद्योगी
 विशेषत । प्रकाशकपदार्थोऽय, वर्तुलाकार इष्यते ॥ १८२ ॥ अघो मुखातपत्रेण,
 सम मम्प्राजते यत । छत्राकारमिद तद्वत्सहस्रदलसमृत्तम् ॥ १८३ ॥ सिद्धि-
 शिलारूपकेऽत्राऽजरामरणचक्रके । शिरोऽग्रभागलोकस्य, चाग्रभागोपरिस्थितम्
 ॥ १८४ ॥ अजरामरचक्रेऽत्र, वृत्तिलीनादनन्तरम् । साधकानामखण्ड चाऽ-

स्वयं स्वस्मिन्प्राजयते ॥ २०७ ॥ भावनोदयते शश्वत्सिद्धेऽपु प्रेमवर्धिनी । यदा
यदा प्रयासश्च, वर्धते च तदा तदा । आभ्यन्तरे विशेषेणानन्दस्य जागृतिर्भवेत्
॥ २०८ ॥ मूलाधारं समुद्वाह्य, चक्र चक्रान्तरं नयेत् । नाभ्या वक्ष स्थले कण्ठे,
त्रिकुल्यामलिगह्वरे ॥ २०९ ॥ शिखरस्थगुहान्ते च, ब्रह्मरन्ध्रे मेलयेत् ।
मित्वैव ब्रह्मरन्ध्रं च, योगी निर्वाणता व्रजेत् ॥ २१० ॥ न ह्येतावन्मात्रं हि,
प्रत्युत बाह्यतोऽपि वा । आनन्दस्यैवानुभवो, जायते नु क्षण पुन ॥ २११ ॥
पूर्णानन्दमयश्चान्ते, भूत्वा सर्वत्र भावना । ईश्वरे स्थापयेन्नित्यं, भूत्वा
प्रेमप्रयोगतः ॥ २१२ ॥ पश्येदहर्निश नित्यं, महानन्दो विक्रासने । वीतराग-
स्ततो याति, विज्ञेय योगवित्तमै ॥ २१३ ॥ पूर्वोक्तप्रकारेण, प्रमाणमनुसारतः ।
साधनार्थं स्वल्पमयी, प्रक्रिया कथितार्थिभिः ॥ २१४ ॥ एव विचारकरणा-
त्तथोक्तस्य प्रकारतः । मवेदलभ्यलभश्च, मननात्स्ररणादपि ॥ २१५ ॥ तथा-
ऽपरिमितं चेत्थ, सामर्थ्यं लभते मुहुः । अत्यन्तो योगविषयो, विशालो
गहनस्तथा ॥ २१६ ॥ विना गुरुपदध्यानाच्च कश्चिद्योगसाधकः । योग शिक्ष-
यितु योगी, न भवद्योगवित्तमम् ॥ २१७ ॥ योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो, मुनिभिस्तत्त्व-
दर्शिभिः । हठयोगो मन्त्रयोगो, लययोगस्तथैव च ॥ राजयोग इति ख्यात-
श्चतुर्धा योगसाधने ॥ २१८ ॥ यमो नियमश्चासन, प्राणायामस्तथा पुनः ।
प्रत्याहारो धारणा च, ध्यानं चैव समाधिकः ॥ २१९ ॥ स चैत्यष्टाङ्गयोगोऽस्ति,
विज्ञेयो मुनिभिर्मुदा । तत्रास्त्यपेक्षा चैकस्य, उत्तरोत्तरतः पृथक् ॥ २२० ॥
प्राणायामो बहुविधो, दृश्यते योगशास्त्रके । तदवान्तरमेदश्च, कथ्यते शास्त्रसम्मत-
॥ २२१ ॥ परन्तु तत्र मुख्योऽस्ति, पूरकः कुम्भकस्तथा । रेचको भक्षिकश्चैव,
प्राणायामोपयोगकम् ॥ २२२ ॥ प्राणायामसहायार्थं, नेतिर्धौतिश्च नौलिका ।
वस्ति कपालभातिश्च, गजकर्णालादिरस्ति च ॥ २२३ ॥ प्रक्रिया हठयोगस्य,
वक्ष्यन्ति पृथक् पृथक् । नासिकारन्ध्रतः सूत्रं, प्रवेशान्तर्वहिः पुनः ॥ २२४ ॥
मुखाग्निं सारयेद्वाह्यं, नेति सा कीर्यते बुधैः । वज्रमुत्तार्य जठरे, मलं निस्तार-
येद्बहिः ॥ २२५ ॥ धौतिं क्रियां च कथिता, योगे साहाय्यकारिणी । भ्रामगित्वा
नलं योगी, नित्यप्रति मुहुर्मुहुः ॥ नौलिक्रियेयं सम्प्रोक्ता, योगाभ्यासविशारदैः
॥ २२६ ॥ गुदास्थानगतं तद्वन्मलं सम्मार्जयेद्बहिः । वस्तीक्रियेति विज्ञेया, योग-
सिद्धिकरी मता ॥ २२७ ॥ कपालभातिर्विज्ञेया, गजकर्णात्तथैव च । हठयोगे
क्रियाधैता, योगविद्भिर्निर्दिशिता ॥ २२८ ॥ खेचर्येका महासुद्रा, सर्वसुद्रोत्तमा
वीर २३

मया । तथा ब्रह्मवर्षं प्रोक्तं, योगस्य भवनमस्मीति ॥ २२९ ॥ चैवरीति महासुप्त,
 महाब्रह्मवर्षे तथा । ब्रह्मसुप्तेति विराजन् मुद्राः प्रोक्ताः सुप्तवर्षे ॥ २३ ॥
 त्वय मुद्रा महाबोधीं गुरुरेव प्रसाधतः । गार्तुं धर्मोति बोधात्तो ज्ञान्वा भिद्यति
 सुप्तम् ॥ २३१ ॥ प्राधान्यामभिधातोऽपि कर्मतेऽनुभवस्य मुद्रा । वस्तुतोऽपि
 बोधोऽस्मिन् ज्ञातव्यमिति निक्षेपतः ॥ २३२ ॥ वतो ब्रह्ममहात्मने विराज
 विहासिभ्यः विना । संछारे बोधात्तो ज्ञानः पथा मोक्षाय निद्यते ॥ २३३ ॥
 यो योम कुरुते विस्वं, स याति परमास्थानम् । विर्मयं कर्मबन्धाच्च
 मुच्यते नात्र हर्षायाः ॥ २३४ ॥ इत्युक्तेषां सुखरेष ज्ञातव्यं मोक्षप्रक्रियाः ।
 अत्रमेवे ज्ञाना द्यते बहुप्रकटय मयै ॥ २३५ ॥ इत्यन्ते च तथाऽन्तऽपि
 कर्म तेषां सुखोदयः । मुद्रावर्यं तैस्तं बीजं पूर्वं तत्तत् ॥ २३६ ॥ मुद्रा-
 त्तर्कं चर्कं कुरुतुं कन्ते तेषां ज्ञातव्यम् । परमस्य च बोधोऽतो इत्युक्तेषां विर-
 म्भम् ॥ २३७ ॥ अपमिह शुक्लीर्कं ते भविष्यति सुखोदराः । कर्मं शुक्ल-
 मयं तेषामन्ते स्वात्मानं संछन् ॥ २३८ ॥ इत्यं वयं शुक्लीं भूयः अपिहोऽपि
 मयै मयत् । पापदुष्टान्धपुण्यसमा ज्ञानार्थं जगतीकते ॥ २३९ ॥ तत्र सर्वे
 हेतुः पूर्वपुण्यसत्तः । ज्ञानन्ते शुद्धिना पथादुद्धिनीऽपि मयम्भरः ॥ २४ ॥
 कर्तमाने पापबोध्यन्तापिबोऽपि तदा परम् । इत्यन्ते शुद्धिनीऽप्येवं ज्ञानम्भं तत्त-
 मिवयै ॥ २४१ ॥ कर्तमानो ज्ञानाः कैविल्यमिति बोधे सुखार्थिनः । निरन्ते
 शुक्लमोक्षरा परपुण्यमावतः ॥ २४२ ॥ निरन्तत्तं सुखस्यराः पुण्योदयमा-
 वतः । एवं शुक्लमावतौ च सुखोदकः प्रजापते ॥ शुक्लमोक्षमावतौ तु, शुक्लो-
 दकः स्यद्यते ॥ २४३ ॥ अतस्तं शुद्धिमावते भविष्यन्ति नरन्ततः । हेतुस्य-
 शुक्लान् ज्ञाने पुण्यदुष्टमिष्टपापिका ॥ २४४ ॥ कुरुमिह ज्ञानमिष्टमूर्धन्यपत्र-
 कतः । मुच्यन्ति तेषां पापार्थं कर्तमानै तथा पुनः ॥ २४५ ॥ पुण्योदयमावतौ
 च भविष्ये शुक्लमोक्षिका । सातव्यं शुक्लमोक्षार्थं तथा सुखमुपां भुक्तिः ॥ २४६ ॥
 तत्तं निरन्तत्तत्तं कर्तमाने च पापिका । भविष्येऽपि तथा तमिह निरन्तो-
 ऽपि निमीरव ॥ निरन्तोऽप्येतादृश्यापि ज्ञानाच्च पदो भुक्तिः । पूर्वपुण्य-
 वन शुद्धिस्तं बीजमुपावतः ॥ २४७ ॥ तेषां कर्ममन्त्रान्ते च, शुद्धिमे मनुष्याः
 पुनः । तद्वैरन्तवन्मात्रम्, यत्तं संवेष्टं वरम्भु वयं ॥ २४८ ॥ पापानुबन्धि-
 पापिनो ज्ञातव्यं ज्ञानमावतः । पूर्वपुण्यार्थितार्ता च, शुक्लार्ता मोक्षिनी-
 इत्य ॥ २४९ ॥ इदानीं कुरुते यत्तं ततोऽप्येवं भविष्यति । निरन्तरी
 निष्ठा, धातुऽप्येति ज्ञानावतः ॥ कर्तमानै शुद्धं शुद्धे, भविष्येऽपि पुनः तत्तम्

॥ २५० ॥ योगोऽनघो महत्तत्त्वप्रापकोऽस्त्यमरद्वयम् । तस्य सेवनमात्रेण, याति
योगी परम्पदम् ॥ २५१ ॥ भवितुं शक्यते चेत्थ, भूतकाले च ये नराः ।
गणिना सुखदातारो, बन्धयित्वाऽतिपुण्यकम् ॥ २५२ ॥ तेनात्र सुखमम्पन्ना,
पुण्यमेवाश्रयन्ति ते । भविष्येऽपि पुनस्तद्वत्पुण्यस्यैवानुबन्धनम् ॥ २५३ ॥ एताः
दृशजनस्यात्र, शास्त्रे पुण्यानुबन्धकृत् । पुण्यवान्कथ्यते लोके, पूर्वपुण्यप्रभावतः
॥ २५४ ॥ सुखी भूत्वा स चेदानीं, वर्तमाने करोति चेत् । पुण्य भविष्यकालेऽपि,
पश्चादपि सुखी भवेत् ॥ २५५ ॥ कर्मणा चतुष्टयं चेत्यमनुबन्धं भवत्यद । विज्ञे-
यश्चानुबन्धार्थो, बन्धनं शास्त्रसम्मतम् ॥ २५६ ॥ भुक्ते च तत्कल्मसे, शुभाशुमानु-
बन्धनैः । अस्त्येव च सुखीदानीमशुमेन च दुःखमाक् ॥ २५७ ॥ पापानु-
बन्धिपापश्च, पापानुबन्धिपुण्यकृत् । पुण्यानुबन्धिपापश्च, पुण्यानु-
बन्धिपुण्यवान् ॥ २५८ ॥ चतुर्विधं सुविज्ञेयमनुबन्धस्य साधकैः । समयेऽ-
त्र सुखं पश्चादग्रेऽपि सुखप्रापणम् ॥ २५९ ॥ इत्थं कर्मफलं दुःखमथवा सुखस-
म्भवं । परन्त्वव्याधिमोक्षस्य, सुखस्यापि कदाचन ॥ २६० ॥ समाप्तिर्न भवेच्चैव-
मध्यात्मिकसुखाप्तये । कायिके सुखमोगश्च, हेय सर्वत्र सर्वदा ॥ २६१ ॥
अर्थाच्चपुण्यपापानां, क्षयं नीत्वाऽऽत्मरूपके । स्थातव्यो मनसाऽग्रे च, कीदृशोऽ-
प्यनुबन्धनम् [न बन्धनीयो हेयश्च, नयविद्भिरिहोच्यते] ॥ २६२ ॥
यत्तालुमूलात्स्ववतेऽमृतं हि, योगी जनस्तत्पिबति प्रध्यानात् । तेनैव वृत्तिश्च तथा
विमुक्तिः, सञ्जायते योगिजनस्य नित्यम् ॥ २६३ ॥ बन्धव्योऽस्त्यनुबन्ध-
श्चेत्पुण्यस्यैवानुबन्धनम् । पापानुबन्धं नो कुर्याद्वेय एवास्ति सर्वदा
॥ २६४ ॥ कुत पुण्यानुबन्धस्य, बलादेव फलं भवेत् । यत् स्यात्कर्मनिर्जरा,
न पुनः कर्मसम्भव ॥ २६५ ॥ स्वतन्त्रतायाश्चैतद्धि, द्वितीयं द्वारमिष्यते ।
ज्ञात्वैव च विवेकेन, साध्यो योगश्च साधकैः ॥ २६६ ॥ योगान्नास्त्यपरः
कश्चिन्मुक्तिसिद्धिकरोऽधुना । तस्माद्योगमुपाश्रित्य, याति योगी
परम्पदम् ॥ २६७ ॥ योगः कल्पतरुर्विपत्तितरणिरज्ञाननाशोद्यतो, येन स्यात्
जराऽपमृत्युहरणयोगार्थिना दुःखहा । वृत्तिः स्यादचलाऽऽत्मनि प्रवितते यस्मा-
त्परा निर्मला, योगे निर्मलचेतसा हृदि मुहुर्मुक्तिश्च वा प्राजते ॥ २६८ ॥
योगो हि निर्मलादर्शो, यत्रात्मा च प्रदृश्यते । लोकस्वान्तर्गतं
चस्तु, निशामय गुरोर्मुखात् ॥ २६९ ॥

इति वीरयोगतरङ्गः समाप्तः ॥

मायार्थः—अनेक प्राणी सुखकी इच्छा प्रकट करता है, इतना ही नहीं बल्कि सुखकी प्राप्ति के लिये अनेक उपाय करता है । उन उपायोंसे जब वह सफ़ल हो जाता है और अनन्त सुखको पाता है तब वह सर्वथा कुतूहल भूता धमका जाता है । सुखको पाने के लिये अनेक साधनोंमें कभी सर्वश्रेष्ठ सुख साधन है । वर्तमान समयमें अनेक मत एवं वादोंकी सम्प्रदाय संघर्षा बहुत टोका पायी जाती है। जो धर्म के सम्प्रदाय बलवत् नजर आती हैं, वे सब सुख के साधन के विमुख बनकर अपने विचारोंको सुख के साधन प्राप्त करनेमें व्यग्र होती हैं । मात्र अपनी सम्प्रदाय की ओर के विचारों के लिये बहुत बहुत किताबें एवं कानून हैं । इन्हींके परस्पर के अनुसार अपने विचारोंको भी बताते रहते हैं और वे विचार भी इस परस्पर के बलवत् बल के अनुसार उन विचारोंको उनके हठानुसार धारण कर रहे रहते हैं । ऐसी स्थितिमें जो कवि, कवि सुख की इच्छा को प्रकट हैं उनके चन्तोष नहीं होता । चन्तोष व होनेसे ऐसे सम्प्रदायवादी लोगोंको सुख के साधन के लिये पूरा पसीवा एक करना पड़ता है । बहुत कुछ बूझ बूझ करनेपर भी सुख के सच्चे साधन समयपर मिलते हैं और वहीं भी मिलते । इस प्रकार उनकी इच्छा की स्थितिपर एक समझा या समझ है कि स्वामी सुख के वास्तविक और सच्चे साधनों के प्रचार करनेकी जगह के लिये पूरी आवश्यकता है ।

सुख के साधनोंमें योग सबसे आगे और अधिकतर चमत्कारी तथा सर्वमान्य साधन है । यदि इन साधनोंका शुद्धता द्वारा उपयोग किया जाय तो अवश्यमेव अल्प समयमें समाप्त अवकाश सुखकी प्राप्ति हो सकती है । योग एक ऐसी वस्तु है कि वह अपने आप नहीं सीखा जा सकता अतः किसी महत्त्वा योगनिष्ठ आत्मनिष्ठ पुत्र के द्वारा उसे सीखना चाहिये । आत्मनिष्ठ योगी मुख्य इस भारतमें सब जगह नहीं मिलते अतः सत्त प्रयास द्वारा योगियों की खोज करनी पड़ेगी परन्तु कभी योगियों से साधना ही नहीं बल्कि पूरा रहना चाहिये और किसी सच्चे योगीको खोजकर साधना साधना करनी चाहिये । एवं इतना करना रहे कि योगी साधना के लिये सदा सुख के लोभी भी नहीं प्राप्त कर सके परन्तु वह सदा सुख अपने पास और अपनी आत्मा ही है, और योग अन्तर्गतिके अन्तर्गत द्वारा ही बता

सकता है। जिस मनुष्यको सनातन सुख अभीष्ट हो उसे योगकी साधनामें लगाना चाहिये। योग और योगीकी महत्ता बड़ी ही ऊँची है। श्री गीता भगवतीमें श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है कि—

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

(अध्याय ६, श्लोक ४७)

भावार्थ—तपसादि क अनेक प्रकारके लम्बे-लम्बे तप करनेवालोंसे योगी बड़ा है। नय, निक्षेप, देवादिकी आयुष्यके भग (भागें) तथा जीवादिकी सख्याकी गणना करनेवाले वाचाल ज्ञानियोंसे भी योगी बड़ा है, आवश्यकादि कार्य करनेवालेसे भी योगी बहुत बड़ा है। अतः हे अर्जुन ! तू योगी बन ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

(गीता अध्याय ७, श्लोक ५)

भावार्थ—आत्म-विजेता, इन्द्रियजित् और सब भूतोंपर समभाव रखनेवाला योगी पुरुष कर्म करनेपर भी निष्कर्म समझा जाता है। अर्थात् कर्म लेपसे लिप्त नहीं होता ।

इसी प्रकार जैन-दर्शनमें भी कहा है कि—

“अगं च मूलं विलं च विगिं च धीरे ।

पलिच्छिन्दियाणं णिकम्मदंसी ॥”

(आचारांग) ।

अप्रकर्म और मूलकर्मके भेदको समझ कर विवेक द्वारा कर्म कर । इस प्रकार कर्म करनेपर वह साधक निष्कर्मा कहलाता है ।

अकम्मस्स ववहारो ण विज्झइ । कम्मणा उवाहि जायइ ॥

(आचारांग ३-१-३)

भावार्थ—निष्कर्मके जीवनमें उपाधि या उत्पात नहीं होता । इसी प्रकार लौकिक टीपटाप और दिखाव वनाव भी नहीं होता । इसका शरीर मात्र योग क्षेत्रका वाहन होता है, इत्यादि ।

यह योग जगत् के आखिरी चरण का रहा है, और इसके आदि प्रवर्तक आदिमान्य अर्थात् आदि तीर्थंकर श्रीनृपमदेवजी विमलान्न हो पये हैं। उन्होंने मगो निग्रहका आदेश सर्व प्रथम देकर यह दर्शाया है कि अविच्छन्न बहुतेरे बीबोंका अन्तर्गत अनुसूच इति द्वारा योग प्राप्त मन अशुभ्य होकर जगत् के सम्मुख प्रवर्तित होता है, और वह फिर अनन्त सुखका साधनकारण बनकर लक्ष्य अनुमान करता है अतः मन्त्र निरोध करना ही योग है। अथवा पदमन्त्रों में योगका मही लक्षण बताया है।

‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।’ ‘चित्तवृत्तिश्च निरोध करवा योग है।’

इस अत्युत्तम योगके पात्र की पुण्य या चारों वर्गके लोक हैं। योग साधनामें आदि मेरुकी कोई आवश्यकता नहीं है। आध्यात्म आदि ही योगी महात्म्य हो सकता है। १५ वन पूर्व हरिकेशी मुनि आदिके आत्मज्ञ के उपाधि योगके द्वारा महात्मा परको पा गये। यथा—

सोवायकुलसंभूतो, गुणुत्तरधरो मुनिः। (उत्तमवन्)

माचार्य—आत्मज्ञ कुम्भी अन्य केपर भी हरिकेशी मुनि एवं उनके वारणकरनेवाले मुनि के पुनः।

सकलं नु दीक्षत तपोमिसेसो न दीक्षत आर्षं विसेसु कोई।

सोबागपुत्रं हरिपुत्राह, अस्सेरिसा इति महाशुभागा ॥

(१७ उत्तमवन् १९)

‘योगका महारत्न आखिरी अन्ते प्रकटमें लीक पड़ रहा है जिसमें आदिकी कोई आवश्यकता निरोध नहीं है। हरिकेशयोगी आध्यात्म आदि है। परन्तु इसके योग चन्द्रिके सामने सबकी आँखें चौंधिया गई हैं।’

परन्तु सामने इतिवाक्योंसे योग साधना नहीं हो सकती। अतः योग विद्याके विज्ञानयोगी भी वृत्त तक आहुत मोक्षन आदि सात्विक आत्म-रूप उपयोग करना चाहिये। यथा—

आयुःसत्त्वबलरोग्यसुखप्रीतिनिर्धर्षना

रम्याः किम्बधाः किरा हृद्या भावनाः सात्विक प्रियाः।

(गीता लोक १७ अध्याय ८)

एतदुक्त निम्ना रीतिर इय आहार सात्विक कर्णोंको प्रिय है, क्योंकि इससे अशुभ्य इति वन आरोग्य एवं वीर प्रीतिकी इति होती है।

परन्तु अधिक मिरचें, अति तेल, अति खटाई आदि तामसी पदार्थोंका उपयोग कभी भी न करना चाहिये । इसके उपरान्त आवश्यकतासे अधिक न बोलकर अधिकांश मौन रहना चाहिये । निकम्मा वाग्व्यय करनेसे योगमें विकार आ जाता है । योग साधना करनेवाले महात्मा पुरुषके पाससे योगकी तालिका सीखकर उसकी साधना करनेके लिये एकान्त तथा पवित्र विजन प्रदेशमें जाना चाहिये । पहाड़, पर्वत आदि एकान्तप्रदेशके अतिरिक्त अन्य किसी स्थानमें जैसी चाहिये वैसी अच्छी रीतिसे योगकी साधना नहीं कर सकता । इसीलिये प्राचीन कालके पुरुष अनेक पहाड़ोंमें जहा नाना सात्विक वनस्पति होनेसे तथा बड़ा अनेक महात्माओंके शुद्ध रज कण होनेकी स्मृति रहनेसे, वातावरण भी एकान्त और पवित्र रहनेसे उस स्थलपर एकदम शान्त और अचंचल मन हो जाता है । अतः वह स्थान उनका मनपसंद है । बड़े राजमहल या धर्म स्थानमें जिस आनन्दका स्वप्नमें भी अनुभव न हुआ हो उस आनन्दका अनुभव कुछ और शिमले तथा इस तीर्थके वर्फानी पहाड़ोंमें जानेसे होता है । अतः योगीको किसी ऐसे ही प्रकारका स्थान पसन्द करना चाहिये । यदि कारणवश इन स्थानोंपर न जा सके तो जहा तक अपनी ही वस्तीमें रहता हो उसके आसपास किसी रमणीक वनस्पतिवाले उपवनको चुनना चाहिये, और वहीं योगाभ्यास करना चाहिये । धूलपर बैठकर योगकी साधना नहीं की जा सकती बल्कि बैठनेके लिये आसनकी भी आवश्यकता है ।

- योगियोंके लिये दर्भासन अत्युत्तम है, और दर्भासनपर कम्बलासन बिछाना चाहिये । दर्भासन तथा कम्बलासनमें साधकके शरीरकी विद्युत्-शक्तिको टिकाये रखनेकी शक्ति बड़ी ही उत्तम है । इसीलिये सूतके कपड़ेपर योगी अपने योगाभ्यासकी साधना न करे ।

भगवती आदि सूत्रोंमें भी कई स्थानोंपर दर्भासनका पाठ ही दिया गया है । यथा—

“दठमसंथारगं संथरइत्ता ।”

इसीकी पुष्टिके लिये उत्तराख्ययनमें केशी मुनि और गौतम गणधर जहा मिलते हैं वहा वे आगन्तुक मुनिका स्वागत “कुश तणाणिय” दर्भाके आसनसे करते हैं । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि—जैन जातिमें भी आदानप्रदानके प्रसङ्गमें पहले सर्वत्र दर्भासनका ही रिवाज था ।

दर्मासुतके लक्षणमें ब्रह्मसूत्र विद्यमाना चाहिये । द्वायसूत्रके ऊपर ब्रह्मसूत्र विद्याकर उपपर पद्यासनसे मग पतंग आसन क्रमा कर तथा स्थिर होकर पूर्व या उत्तरमें मुख करके बैठना चाहिये । सुषोमि पद्यासन क्रमाकर पूर्वमें मुख करना बताया है ।

“पुररथासिमुहे” सपत्निर्यकनिसण्ये”

पर्यन्तसूत्र या पद्यासनसे बैठकर पूर्वमें मुख रखने । पद्यासन लम्बकर बायें हाथकी हथेलीपर दाहिना हाथ सीधा रखकर कमर, गर्दन महाकन्ये एक पीछेमें रखकर बैठना चाहिये और दाहिनी ओर हथेलीसे चार तन्त्रके अन्तरपर रहने है । इस आसनके सवैरे शीत या मध्याह्नमें तथा रात्रिके पहले और पिछले पहरमें उत्तम अभ्यास करना चाहिये । एक पहर यदि आत्मसे स्थिर होकर बैठ सके तब सम्यो कि आसनपर निजब प्राप्तकर ही पाई है । आसनपर निजब पानेके बाद प्राण और शरीर तथा दृष्टिपर निजब पाना चाहिये । परन्तु आसनपर निजब पाने बिना बोध सिद्ध नहीं हो सकता । इसके विन्य आत्म साक्षात्कार अर्थात् सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती । अतः उत्तम प्रवास हाथ शुक्लमसे पाई हुई बुद्धिके अनुसार आसनपर बस पा केना चाहिये । आसनके अगमें बग और निजपर जीव प्राप्त करनी चाहिये ।

आसनको बीचनेके पद्यात् सायकचम अनेक प्रकारकी किनारें सीध सकता है । परन्तु आसनको बीचकर दृष्टिको बीचनेकी पूर्व आवश्यकता है । यदि जनक पहल अक्षय आकाश व नीचता है । उत्तम मेधोन्मेव दृष्टि हो जाती है । बोध परिभाषामें इसे ज्ञानक कहा जाता है । सुषोमि मी मेयो म्मेव दृष्टि होनेके कई जगह प्रमाण मिलते हैं ।

दृष्टिको बीचनेकेलिये या ज्ञानकसुषोमि सिद्धकरनेकेलिये सवैरे और धीमेमें सायकको बसैह आसनपर बैठकर अपनेसे तथा हृदयके अन्तर पर किसी स्त्रीकी पोछीको बनाकर रख देना चाहिये और अत बने कितनी नाडीपर दृष्टि जमावे रहो । बहुत समयके अनन्तर आँखमें पानी आनगा । आरंभमें आँख आनेपर ज्ञानक रोक देना चाहिये । चार वा आठ दिन तक आँखोंको पोछते रहना चाहिये और ज्ञानक आरंभ रखना चाहिये । प्रवास ऐसा करना चाहिये जिससे पक्षक बन्ध न हो सके और इस प्रवासमें कान्तिपूर्वक प्रति निज दृष्टि रखना चाहिये । जब एक जगह अधिक पक्षकको जीव बोधे तब

कई नवीन बातोंके अचरज साधकपुरुष स्वयं देखने लगेगा, और ज्यों ज्यों इससे भी अगाड़ी बढ़ेगा त्यों त्यों उस साधकको अलौकिक आनन्दकी अश्वशामें प्राप्ति होगी। ज्यों ज्यों दृष्टिको जीतता जायगा त्यों त्यों उसका मन शांत होता जायगा और दृष्टिके जयमें मनका भी जय होता है। अधिकतर आजकी भवोंपर दृष्टि रखना इसीलिये सूत्रोंमें भी बताया है।

“एग पोगलनिविद्विद्वि।” “एक पुद्गलपर दृष्टिकी स्थापना करे।”

इस प्रकार ध्यानकी प्रक्रियाएँ महात्मा पुरुषोंके पास सीखनी चाहिये। जब एक घंटा तक दृष्टिविजयका अभ्यास हो जाय तदनन्तर साधकको चाहिये कि दिनके पहले भागमें किसी सुन्दर पहाड़के शिखरपर या वृक्षकी चोटीपर दृष्टि जमाना चाहिये। रात्रिमें चान्द या शुक्र तथा मंगल तारेपर नजरको जमाना चाहिये। यह प्रयास ज्यों ज्यों बढ़ेगा त्यों त्यों प्रकृतिके प्रत्येक पदार्थकी ओर पवित्र प्रेम उत्पन्न होगा, और सृष्टिके प्रत्येक अंशमें वीतरागताका प्रकटीकरण होगा। परन्तु यह प्रयास भी एक घंटा तक रखना चाहिये इसके अनन्तर सृष्टिके चाहे जिस भागपर दृष्टि ढालोगे तब एकदम वह वहीं स्थिर हो जायगी, और शरीरके कोथलेमेंसे दुःख निकल कर भागेगा, इस कक्षापर पहुँचनेपर साधकको तुरन्त प्रभु नामका भावना नामक जाप परम प्रेम पूर्वक शुरू कर देना चाहिये। जापमें इच्छानुसार शब्दोच्चार या ‘नमो अरिहताण’ जपना चाहिये। परन्तु कुछ समयके पश्चात् नमो पद आपसे आप उड़ जायगा, और आत्मा अर्हन् प्रभुमें एकाकार हो जायगा। प्रति समय यथावसर पाकर हिलते, चलते, उठते, बैठते, सोते, जागते वह ध्यान दिमागसे न निकल सकेगा। साधक, सबेरे, मध्याह्न और रात्रिमें योगकी क्रियाका आरम्भ रखकर जाप जपते रहना आवश्यक है। एक ओरसे योग क्रिया द्वारा सद्भावनाकी दृढता और दूसरी ओरसे जाप, इन दो साधनोंके मिलनेसे मन एकदम शान्त हो जायगा। क्योंकि—“मणो साहसिओ भीमो, दुष्टस्सो।” मनरूपी घोड़ा साहसिक और भयकर दुष्ट है। “इन्द्रिय चंचल तुरगो” इन्द्रियोंके घोड़े अधिक बलवान् होते हैं, परन्तु इस प्रयाससे उनकी मस्ती निकल जाती है, और वे शान्तिमय हो जाते हैं। इस प्रकारके संयोगोंमें साधककी विवेक दृष्टिमें अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टि हो जायगी तथा साथ-साथ आनन्दकी वृद्धि भी। यह साधना सन्तोष जनक होनेपर साधकको अपने योगकी

दिखा बदल देनी चाहिये । अर्थात् जो श्राद्धक वसिष्ठिका किंवा चाय या
 वसके स्थापनपर अन्तर्हस्तिक श्राद्धक करना चाहिये । प्रथम आसोच्छ्वासमें
 इष्टि रखनी चाहिये । और जो आस बाहर आता है वह जो और
 अन्तर परत समान 'हं' का ऊपरती ही उच्चार होता है । तब दोनों मिश्रकर
 "सोऽहं" अन्वयात्पत्ति विना ही जपे होता रहता है उसपर ध्यान देना चाहिये ।
 अर्थात् आस कहाँसे उठता है और कहाँ आकर समा जाता है वहाँ तक उसका
 अन्तर इति रखनी चाहिये । इस प्रवाहसे एकत्रम धान्ति होने लगेगी
 और अन्तरके अन्तर्ममें उत्तरोत्तर रुद्धि होगी । विवरणमें सामान्य रीतिसे
 २१९ आसोच्छ्वास कहते हैं । उनमेंसे सप्तमोप विनाश एक आस भी न
 जाने देना चाहिये । 'सोऽहं' के व्यापक उत्तम प्रवाह होनेके पश्चात् सहज-
 वृत्ति कावर्तमें रहने लगती है । आत्मामें इस प्रकार अस्मक ध्यान सिद्ध होनेपर
 सावकको हृदयके मध्य भागकी वृत्ति स्थिर करनेका प्रयास करना चाहिये ।
 जब हृदयकी वृत्ति स्थिर होगी तब हृदयमेंसे अन्धैकिकधान्तिक कोट प्रकट
 हो जायगा । जिस धान्तिक सावकको जब तक इससे पहले किसीके पास
 अनुभव नहीं हुआ था । जब हृदयका ध्यान सिद्ध होता है तब नानीके एक
 रेखमें वृत्तिको स्थापन करे । वहाँकी सिद्धि होनेपर उसे पुनः हृदयमें के आस
 चाहिये और वहाँसे कंठके मध्यमें जा लगे । वामि हृदय और कंठमें धान्तिक
 अनुभव होनेपर ममोच्छ्वासों त्रिजुनी मयवर्तमें स्थापन करे । त्रिजुनी ध्यानका
 प्रवाह होनेपर और वहाँकी स्थिरवृत्ति होनेपर मधुरकी राज सिद्धिने एक
 मिश्रक आशात्कार होता है, और वह मिश्र अतिशय चमत्कार होता है ।
 मिश्रके दर्शन होनेपर सावकको अपार आनन्द मिश्रता है । वह मावमिश्रके
 दर्शन होनेपर सिद्धिना भी सावककी सेवामें उपस्थित हो जाती है । कपालमें
 अधिक मिश्रकी शक्ति हो जाती है । इसका कारण यह है कि वह स्वयं
 त्रिजुनीमें योक्त मिश्रके दर्शन ही हैं, और वह चाँची सिद्धि ही मिश्र
 दर्शनके रूपमें समझया गया है । मिश्र दर्शन होनेपर सावकको अन्धैकिक
 कावकी प्रप्ति होती है और अन्ध जरा मूलके विनाशकी तैयारी हो जाती है ।
 मिश्र दर्शन ही संकरक (आत्मार्थक) तीसरा नेत्र है । श्लोक अस्या
 चक्र ही है, और उसके समायतना दो नेत्र तो हैं ही और तीसरा मिश्र
 दर्शन हर अन्धकोचक प्रवाह द्वारा चमत्कृत है, मिश्र दर्शनके पश्चात् योमीकी

मृत्युका भय नहीं हो सकता, और साधकके सशय शक्तियोंका नाश हो जाता है। इसीको समझनेके लिये कहा जाता है कि शंकरका तीसरा नेत्र उघड़ आता है। तब सशय शक्तरूप विश्वका प्रलय हो जाता है।

त्रिकुटीमें विन्दु दर्शन होनेपर साधक ज्यों-ज्यों विशेष प्रयास करता है त्यों-त्यों वह विन्दु विशेष प्रकाशित होने लगता है, और अन्तमें साधक उस विन्दुमें इतना विलीन हो जाता है कि उस शान्तिमें उसे नादका अनुभव होने लगता है। तब विन्दुकी अपेक्षा नादमें विशेष आनन्द आनेसे विन्दु गौण होने लगजाता है, और नाद विशेषातिविशेष श्रवणगोचर होता है। नाद भी अनेक तरहका सुनाई पडने लगता है, और वह चक्की, सितार, सरंगी और नौवतखानेसे भी अधिक और उत्कृष्ट होता है। मेघकी गर्जनासे भी अधिक गर्जना सुनाई देने लगती है। अन्तमें दिव्य नादका अनुभव होनेपर साधक उस नादमें अत्यधिक लीन हो जाता है। इस प्वनिका अनुभव इतना अधिक बढ जाता है कि साधककी हिलने, चलने, उठने, बैठने आदिकी क्रियाओंमें भी नादका अनुसन्धान रहा करता है। **नादके अनुभवसे ही जगत्में संगीतका प्रचार योगी लोकोंने किया है।** जिस प्रकार नाद साधकको प्रिय है उसी भाँति जगत्कोभी संगीत प्रिय है। अतः संगीत (गुणगान) द्वारा मनको एकाम्र बनाकर साधकजन आगे बढ सकते हैं। वास्तवमें संगीत बाह्य नाद हो गया है, और इस बाह्य नाद द्वारा अभ्यन्तर नादको मिलाकर पाया जा सकता है। साधक जब नादमें और भी आगे बढता है, तब उसको नादका अनुभव जहा होता है वह अमर गुफाके ऊपर शंकुके आकारकी एक पोली प्रतीत होगी, और उस पोलके शिखरपर एक महान् प्रकाशवाले पदार्थका अनुभव होगा। यह प्रकाशमान पदार्थ गोलाकार और उलटे छत्रके आकारकी तरहका जान पड़ेगा। यह छत्राकार सहस्र दल कमल सिद्धशिला रूप अजरामर चक्र शिरके अग्रभागमें—लोकके अग्रभागपर है। इस अजरामर चक्रमें वृत्तिके विलीन होनेपर साधकको अखण्ड अलौकिक-मय आनन्दका अनुभव वर्धमान रूप होता है। वह आनन्द बढता भी इतना अधिक है कि साधक योगी उसमें एकदम लीन हो जाता है, और अलौकिक आनन्दका अनुभव अपने उस समस्त शरीरमें प्राप्त करता है अर्थात् स्वयं जो आनन्दरूप है उस अलौकिक आनन्द स्वरूपको स्वयं सर्वाङ्ग अनुभव करने

कमता है । इस अवस्थामें वह साधक कपड़े मिटकर सिद्ध, मोटी मिथैली महात्मा जीवन्मुक्त कहलाता है । उस योगीकी दृष्टि देखते जन्म स्वप्नपर बर्त पड़ा आती है वहाँ वहाँ वह असीमिक रिम्ब आनन्दका अनुभव करता है । जन्मस्थान स्वप्नस्थान राजस्थान जलिकस्थान पशुस्थान आकाश स्थान आदि जिन जिन स्थानोंपर उस महात्माकी दृष्टि होती है वहाँ वहाँ वह आनन्दका ही अनुभव करता है । सब जगह जगह कपड़े असीमिक अनुभव करनेसे हित भावकी प्रीति व रहनेसे वह नीतराय कहलाता है । ऐसा योगी पुरुष ही हठहस्त और सिद्ध है । ऐसे योगीके दर्शन भी जगत्को प्यार करते हैं ।

जिस प्रकार अन्धन्तराक्षि द्वारा हम बोबके सम्बन्धमें समझ सके हैं । उसी दृष्टिसे धातुरके भागमें बाँविके ऊपर स्थापन करनेमें जाता है, और जब इस प्रवासमें गामि और बाहुके बीचमें एक समकक्षिकाली तेजस्वी लकीर अर्द्धरूपसे दीखने लगे तब गामिसे दृष्टि हटाकर छातीके मध्य भागमें स्थापन करनी चाहिये और वहाँ भी जब इसी भाँति तेजस्वी लकीर अर्द्धरूपसे लगे तब नासिकके अग्रमें स्थापन करे । बाँवामें चिपुटीमें वहाँसे प्रसर गुरुमें होते हुए जगरामर चक्ररूप सिद्धिस्थितिमें और वहाँसे क्षरम-अनुभवमें पहुँचा जाता है ।

इस अनुभव मार्गमें मति है, वह एक महात्मा साधन है, मजिसे प्रेम प्रकट होता है और प्रेमके द्वारा भी आत्मार्थ साक्षात्कार हो सकता है । किसी साधकके श्वेकपर विचार करते-करते वंभीर तहमें बसर पड़ता है, और उसके द्वारा भी आगे बढ़ सकता है ।

एक ऐसी भी रीति है कि जिसमें पञ्चाशत्के बैठकर जो विचार आने लगते उससे बैठकर देखा करे, परन्तु विचारोंको जड़कने न दे । अन्वाचके प्रकट प्रकटसे विचारचार करने उन्नी पक्षमें लग जाती हैं और अन्तमें एकदम साम्त हो जाती हैं । विचारोंके साम्त होनेपर साधकको असीमिक अन्धन् रहने लगता है । तब अखिल निधपर विचार और उत्कृष्ट प्रेमकी दृष्टि हो जाती है । समाप्त भाग तो सबमें रहने लगता है । अपने आपमें ईश्वर भावका बरब होमे लगता है । ज्यों-ज्यों वह प्रयास करता है, ज्यों-ज्यों अन्तरमें आत्मन्की विशेष आपत्ति हो आगयी । इसका ही नहीं बल्कि बाहर भी उस जगह आनन्दका ही अनुभव होने लगता । और अन्तमें वह पूर्ण आनन्दमय

वन-जायगा। सब जगह ईश्वरभावको स्थापन करता हुआ अति प्रेममय वनकर, प्रेमकी दृष्टिसे विश्वका दिन रात अवलोकन करनेसे सहजानन्द प्रगट होता है, और वह वीतराग हो जाता है।

पहले कहे गये प्रमाणानुसार साधकोंके लिये थोड़ी सी प्रक्रियाएँ सक्षेपमें बताई गई हैं। इन्हें विचारकर तथा उसी प्रकार मनन करनेसे अवश्य अलभ्य लाभ होगा। तथा अपरिमित सामर्थ्य पा सकेगा। योगका विषय अत्यन्त विशाल और गहन है, और इसे गुरुगमकी साक्षी विना सीख भी नहीं सकता। हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग और राजयोग इस भाति योग चार प्रकारोंमें विभक्त है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योगके आठ अंग हैं, और इनमें प्रत्येकको उत्तरोत्तर एकको एककी अपेक्षा है। प्राणायाम कई प्रकारोंसे हो सकता है, परन्तु उनमें पूरक, कुम्भक और रेचक मुख्य हैं, भस्त्रिका आदि प्राणायाम भी उपयोगी हैं। प्राणायामको सहायता देनेके लिये नेति अर्थात् नाकमेंसे डोरा पिरोकर मुखद्वारसे निकालना; तथा घोती अर्थात् कपड़ेको पेटमें उतारकर मलका निकालना, नौली अर्थात् नलोंको घुमाकर फिराना, वस्ति यानी गुदासे मल साफ करना, तथा कपाल-भाति गजकरणी आदि हठयोगकी अनेक क्रियाएँ होती हैं। इसी प्रकार खेचरी-मुद्रा, महाबन्धमुद्रा, वज्रमुद्रा इत्यादि मुद्राएँ गुरुगमके विना न कर सकनेके कारण प्राणायाम आदि की वार्ते फिर बताई जायँगी, क्योंकि वे वस्तुएँ भी विशेष ज्ञेयरूप हैं। अतः उनको महात्मा पुरुषोंकी सगतिमें रहकर सीखना चाहिये। योगसे बढ़कर ससारमें कोई अन्य विद्या उत्तम नहीं है। जो पुरुष योगकी साधना करेंगे अन्तमें वे परमपदको पायेंगे, और कर्मोंसे मुक्त होंगे। अतः उनको कर्मवधके चार प्रकार समझना चाहिये जिनके ये प्रमेद हैं।

कर्मवन्धके ४ प्रकार और दुःख सुख

इस समय अनेक मनुष्य नाना पाप करते देखे जाते हैं तथापि वे सुखी क्यों हैं ?

उन्होंने पुण्यरूपी बीज बोये थे, इसीलिये आज वे उनके सुखरूप फलोंको खा रहे हैं, परन्तु इस समय अन्य जीवोंको दुःख देकर पापके बीज बोते हैं, इससे भविष्यमें इसके अनन्तर उनके फल उन्हें दुःखरूप होंगे। इस प्रकार जो मनुष्य सुखी होकर भी पापिष्ठ होता है वह मनुष्य

“पापानुबन्धी पुण्यवान्” समझा जाता है। इसीझिने कि इस समय पूर्वपुण्यके कारण सुखी है और वर्तमान पापके कारण भविष्यमें दुःखी होगा।

मित्रनेक मनुष्य जमीं होते हैं, जन्मे कार्य करते हैं, पुण्य भी करते हैं, तथापि दुःखित क्यों है ?

इसका कारण यह है कि पहले जब बीबोंने पाप करने से अतः वर्तमानमें दुःख मोचते हैं। इसीपर भी कुछ कार्य करते हुए इस समय पुण्य बाँध रहे हैं। अतः वे आगे सुखी होंगे। ऐसे मनुष्योंके कानमें ‘पुण्यानुबन्धी पापी’ कहा है। इसीझिने कि भूतकालके पापके कारण दुःख मोच रहे हैं परन्तु वे वर्तमानके पुण्य कार्यके द्वारा भविष्यमें सुख मोचेंगे।

तब क्या वर्तमान कालमें कोई मनुष्य दुःखको मोचता हो और उसे भविष्यमें भी दुःख मोचता पड़े क्या ऐसा भी कोई निबन्ध है ?

हाँ हाँ क्यों नहीं। बहुतसे मनुष्य पूर्वके पापके कारण इस समय दुःखोंको मोचते हैं। इसीपर भी इस समय अन्य बीबोंको दुःख पेटते हैं। तो वे अपने जन्मोंमें भी सुखी ही होंगे।

ऐसे मनुष्योंकी कानमें क्या चेष्टा बघाई है ?

वे ‘पापानुबन्धी पापी’ अर्थात् पूर्वजन्ममें पाप किया था उसका फल तो मोच रहे हैं, और इस समय पाप करते हैं। जन्मके उसका दुःखस्व फल भी मोचेंगे।

तब क्या यह भी हो सकता है कि इस समय सुखी हो और आगे भी सुखी हो रहे ?

हाँ यह भी हो सकता है। भूतकालमें जीवने अन्य प्राणियोंको सुख देकर पुण्य बाँधा है। वे अब सुखी हैं, और अब पुण्य बाँधकर भविष्यमें भी सुखी ही बनसकेंगे।

ऐसे पुरुषको कानमें क्या कहा है ?

इसे ‘पुण्यानुबन्धी पुण्यवान्’ कहा है। क्योंकि पहले पुण्य करनेसे अब सुखी है और वर्तमानमें पुण्य करता है। जिससे आगे भी सुख ही प्राप्त।

सार—जो कर्मोंके चार प्रकारके अनुबन्ध होते हैं अनुबन्ध का अर्थ यह है कि कर्मोंके चार प्रकारके अनुबन्ध होते हैं। अर्थात् अनुबन्ध होनेपर

अगाही सुखोंका उपभोग करेगा । अशुभ अनुवध हो तो अगाही दुःख भोगना पड़ेगा ।

(१) 'पापानुबंधी पाप' इस समय दुःख और पीछे भी दुःख ।

(२) 'पापानुबंधी पुण्य' इस समय सुख और पीछे दुःख ।

(३) 'पुण्यानुबंधी पाप' इस समय दुःख और फिर सुख ।

(४) 'पुण्यानुबंधी पुण्य' इस समय सुख और फिर भी सुख ।

इस प्रकारके कर्मोंसे या तो दुःख मिलता है या सुख मिलता है, परन्तु मोक्षके अव्यावाध सुख जो कि कभी समाप्त नहीं होते, ऐसा आत्मिक सुख पानेके अर्थ शारीरिक सुखोंका भोग छोड़ना चाहिये । अर्थात् पाप पुण्यका क्षय करके आत्मस्वरूपमें रहना सीखिये, और किसी भी प्रकारका अनुवध न बाधना चाहिये । यदि अनुबंध डालना हो तो पुण्यका ही बाधना चाहिये । पापका अनुवध तो बिल्कुल ही न डालना चाहिये क्योंकि पुण्यके अनुवधसे कुछ ऐसा बल प्राप्त करता है कि जिससे कर्मोंका क्षय भी कर सकता है ।

॥ अथाऽऽलोचनापुष्पाञ्जली योगस्य पुष्टये ॥

वीतरागोऽस्ति विज्ञानमयो गुरुवरोऽस्ति त्वम् । गुणागारोऽस्ति देवेश ! सदा भव्यावने रत ॥ १ ॥ इत्य ते स्मरणाजित्य, नरा यान्ति भवाम्बुधे । पार सुखेन श्रीवीर ! नान्योपायोऽस्ति भूतले ॥ २ ॥ शुभाऽऽनन्दस्य केलिस्त्वं, गुणोत्तमगृह जिन ! सुरासुरनरैस्त्व हि, सेव्योऽस्यवनिमण्डले ॥ ३ ॥ त्वदीये चरणाम्भोजे, मतिमें स्यादकामत । सर्वोच्चकोऽस्ति सर्वज्ञो, रक्ष ससार-सर्पत ॥ ४ ॥ महोदधि कलायुद्धेरादर्शस्त्व शुभस्य च । आचारस्याऽनव-द्यस्य, संसृतेर्दुःखमज्जक ॥ ५ ॥ वैद्यो लोकत्रयस्यैव, रक्षाकर ! जयोऽस्तु ते । श्रीशो जिनवरोऽस्ति त्व, कृपाकर ! दयानिधे ! ॥ ६ ॥ कर्मज्ञो जातसर्वज्ञ ! विज्ञप्तिमें त्वयि प्रभो ! वीतरागमयोऽस्ति त्व, दुर्वुद्धेर्मे निशामय ! ॥ ७ ॥ विज्ञोऽस्ति हे प्रभो ! देहि, वरं चाभयद शुभम् । पित्रोरग्रे शिशु स्पष्ट, नोच्चारयति किं पुन ॥ ८ ॥ मोदाय तस्य किं लीला, न भवेत्त्व विचारय । हे मन ! स्वमुत्त च, रीतिं चैव स्वकीयकीम् ॥ ९ ॥ नम्रो भूत्वा स्वयं प्रीतिं, विभो कुरु मुदाऽनिशम् । भवेऽस्मिन्नह शुद्धेन, मनसा दत्तवान्नु किम् ॥ १० ॥ दान किञ्चित्सदाचारो, ज्ञानं नैव तपश्च मे । पवित्र नो मनो मेऽल, कथमाराधये विभुम् ॥ ११ ॥ अद्यापि वासनाहानिर्न जाता पुद्गलेषु च । भ्रमान्मे

भ्रमस्य सिध्वा संसारकौ दयामिने । ॥ १२ ॥ कोष्ठाभिना प्रवर्ग्योऽर्थः, रिवा
 रानि ह्यमाश्रये । कोमोरोम सन्वद्यो वेदि मे ह्यवमेपयम् ॥ १३ ॥ अमि-
 म्मन्महप्रत्यक्षाद्वयवचतो ह्यहम् । आवते व शुरो । ह्यार्थं कथ्यवृत्तनेतस्य
 ॥ १४ ॥ अथलत्र मया निमित्तं कृतं परहितं निमो । कोकसागरमभस्य सुखं
 मे स्मरकर्म निज ॥ १५ ॥ मादधस्य धरसाय अर्तं वन्म सुमेव य ।
 मन्वतां पूर्तये कथमिवयेव । मवस्य य ॥ १६ ॥ वर्धनं य त्वया वर्त
 कमुच्यते निर्ममम् । सुखितो मवत्यचिते मयीने आवते कथम् ॥ १७ ॥
 आवन्वरसर्पममे म मवेत्तलवर्तवम् । ममाधि ह्यर्थं वज्रसर्पं जानीहि
 सन्निव । ॥ १८ ॥ दुर्कर्म य मया अर्तं सावरणं दयत्वर । भ्रममे बहुविधा
 आवते न विदुस्ते मयो मय ॥ १९ ॥ गहं मे ह्यमरकं य सदाऽऽत्मन्यप्रमा-
 कता । कलान्तिरमुपपन्न्य चरतीमि सुहृत्सु ॥ २० ॥ अकतो वयवनेव,
 वैराग्यं निवृत्तं मय । ह्यसमर्थे मये चार्तं वमेकैव न कथयन् ॥ २१ ॥
 मयीने रक्षनामे य निज वसति निर्ममम् । तवापि कथ्यो निजं ह्यवतिष्ठन्-
 नासक्य ॥ २२ ॥ तवापि विपरीतय आवतोऽर्थं तेन मे रतिः । ह्यस्मे प्रज
 पिते वैव आवते य महान्प्रमो । ॥ २३ ॥ प्रमणोऽपीवतेऽन्वसित् कवजीवो
 हि निजस्य । अतोऽर्थं चाकमो ज्येष्ठे सुखं कथं विचारय ॥ २४ ॥ सदाऽ
 न्वान्त्वमिवाऽर्थः, मन्वे कमुच्यनिर्ममम् । परवराग्निकेवैव आवते वेत्रे य
 वैकथ्ये ॥ २५ ॥ परविन्दारत्येव निज मे मस्मिन् शुरो । कथ्यवृत्तं मयमेऽय
 य चार्तं निमज्जं मयः ॥ २६ ॥ शुभा वै चाकिनी वैद्य तवैक्ये रतिपोऽर्थकः ।
 मत्प्रतिज्ञा तवावता कदापि य न तिष्ठति ॥ २७ ॥ करोमि प्रकटं दुर्गं
 कथं कीदां शुरोऽनुमा । त्वया तु ह्यवतां सर्वं वयत्कर्म दयामिने । ॥ २८ ॥
 शुरोवैवममस्मर्तं मया कथं य हे प्रमो । तवा सधस्यस्यवर्थं सिध्वा बुद्ध्या
 रितं परम् ॥ २९ ॥ दुर्कर्मनिरतो निजं दुस्वर्गो य तमेव हि । सिध्वात्पण्ड-
 संक्षिप्तमकर्म निजि मां शुरो । ॥ ३० ॥ मते प्रमो य मे गह इति वैद विवा
 शुरो । कथं सज्ज्या य त्वां देव । निमित्तं मयकथम् ॥ ३१ ॥ अहानर्कं य मे
 पापं ह्युपपन्नवधावहो । हाहाभरसावा अतोऽमेवेति मयि नो सुखम् ॥ ३२ ॥
 मयाकीकृत्यहमे मे कर्म वज्रवर्तवम् । वया चार्तं तवा सज्जं य प्यातः
 श्रीविनेयः ॥ ३३ ॥ अम्याकर्म मनोहारी ह्युपपिष्टुचमेवते । इति त्वमि
 परे कर्म मयो चार्तं वदन्निज मे ॥ ३४ ॥ सधस्यस्य य विद्वान्निधि

श्रुत्वापि नो भयम् । संसारतारकं श्रुत्वा, ज्ञात नो कारणं मया ॥ ३५ ॥ स्वाङ्गस्य
मयि नो भामो, जातेष्व सुमनोरम । गुणौघश्च मयि स्वामिन् । विमला नो रते-
कला ॥ ३६ ॥ प्रभुत्वं न च मे जात, स्वप्नेऽपि दृश्यता प्रभो ! तथापि गर्वसेवे-
शात्करिष्येऽह कथं हितम् ॥ ३७ ॥ प्रतिक्षणमायुर्हसते, मनस्तापो न यात्यसौ ।
दु खदा च जराऽवस्था, सम्पन्ना विपयादरात् ॥ ३८ ॥ निवर्तते न चाद्यापि,
तस्मात्त्वच्छरणागत । मेपजेच्छा मदीयाऽस्ति, धर्मवृत्तौ न मे मति ॥ ३९ ॥
मोहरूपप्रहाविष्टो, न शिष्टः कोऽपि चाधुना । चैतन्येन समाविष्टो, लभते पद-
मन्वयम् ॥ ४० ॥ इत्याद्यमन्यमानोऽहं, गुरो ! रक्षा मयि कुरु । सन्मुखे त्वं
मदीये हि, स्थितो दैन्यविमोचकः ॥ ४१ ॥ तथापि दीनवाक्यानि, शृणोमि तव
संज्ञिधौ । धिकारं मे दयागार ! मुधा मे जनन भवे ॥ ४२ ॥ जिनसेवा कृता
नैव, सविधिगृहसेवनम् । तथा कर्म कृतं धर्मपालनं न क्वचित्कृतम् ॥ ४३ ॥
दत्त नो दानमत्युग्र, न चित्ते स्मरण तव । केवल त्वयि सलभो, यथायोग्यं
निशामय ॥ ४४ ॥ नृदेह दुर्लभं प्राप्य, तन्नाशश्च मया कृत । यथैकाकी
नरोऽरण्ये, रोरवीति मुधा तथा ॥ ४५ ॥ अत्यक्षफलदातृत्वाद्धर्मं जैन शुभं
मेतम् । तत्र जाता च नो प्रीतिर्मदीया दुःखनाशिनी ॥ ४६ ॥ महामौर्ख्यं च मे
पश्य, यतो जातं भय मुहु । कल्पवृक्ष तथा कामदुधा प्राप्य द्वय मया ॥ ४७ ॥
सहसा दु खसमूह च, सहमानेन नाशितम् । दुर्लभ जन्म प्राप्याशु, न मया
साधितं तप ॥ ४८ ॥ रोगदु खे निरुद्धे नो, दृष्टौ च सुखभोगकौ । इति मे
ह्यपराध च, क्षमस्व, कृपया गुरो ! ॥ ४९ ॥ अपमृत्युमयापत्तिनाशार्थं न कृतं
क्वचित् । कान्ताजनसमासफो, धनादे सङ्ग्रह कृत ॥ ५० ॥ कारागृहसमा
नारी, नरकागारखलग्रहा । तत्रासक्तमनाश्वाह, न जिन ध्यातवान् पुनः ॥ ५१ ॥
नो साधितं च साधुत्व, सद्वृत्तिर्नो वृता मया । अनुल्ल नाजिता कीर्तिर्न परेषु
दया कृता ॥ ५२ ॥ परदु ख प्रहाणेच्छा, तथा दीनजने दया । स्वप्नेऽपि नोप-
कारश्च, कृतं न गुरुसेवनम् ॥ ५३ ॥ रत्नकल्पं नृजन्मादिप्राप्तीणजनसेवया ।
नष्टं जातं मुधा विद्वन् ! तद्रक्षस्वाधुना गुरो ! ॥ ५४ ॥ वैराग्ये च समायाते,
शास्त्रज्ञानं न जायते । कोपाविष्ट दुर्जनस्य, वाक्य मा सोढुमर्हसि ॥ ५५ ॥
आध्यात्मिकी च विद्या नो, नास्त्युत्तमकलाऽपि च । कथं भवान्धे. पारं च,
गमिष्यामि सुबोधय ॥ ५६ ॥ भवान्तरे चोत्तम कर्म, न कृत किञ्चिदुत्तमम् ।
जन्मान्तरे करिष्यामि, नास्त्याशा मे गुरो ! किल ॥ ५७ ॥ जिनदेवेदश चाहं,
वीर. २४

कष्टं न स्यात्कर्म न हि । शोचयो शो भगवन्मे कष्टः शीघ्रं प्रभवत ॥५८॥
 वरिष्ठं चनेकमिदं कर्म ॥५९॥ महाऽजय । महीयमवमवर्तं कृतं न गुणं ते महा
 प्रभो । ॥ ५९ ॥ अयमवमवर्तस्य प्रभवाति प्रभो । तुभम् । मार्गदर्शनित
 त्वं हि, मयोऽभिप्रेत्यवित्तप्य ॥ ६० ॥ तत्तयो वासि हे बन्ध । परो दुःख
 प्रवातका । दुरावस्थाग्रहे प्राप्य शो याचैऽप्यज्ञमावपि ॥ ६१ ॥ नर्तनोवा-
 द्यते कृतं कर्त्तुं त्वत्ते महापहम् । शिवशो वगतामीष्ट । प्रयत्नैर्वा प्रघातव
 ॥ ६२ ॥ सर्वदुःखप्रशमनं च हर । कर्त्तुं प्रयत्नम् । कश्चिन्मिद्विषये निते
 समुत्तरं ह्युपगुरौ ॥ ६३ ॥ कष्टकृताऽमिषे रज्ये मर्त्ये सुखमा भवेत् ।
 वतो वप्यज्यमोषे पारे वाक्यामि वज्रतः ॥ ६४ ॥ समित्यै पूजयन्तां च
 वित्तवृत्ते श्रमोदयः । प्रयत्नं करोमि सर्वज्ञ । येनान्यज्येवना भवेत् ॥ ६५ ॥
 वना वित्तप्रदायाः स्यात्तना दुःख महामते । कष्टद्वारं न मे वासि तथा पित्र-
 कन्दसम् ॥ ६६ ॥ हृष्टज्यो नरो यच्च स पठेद्विष्णुमन्त्रा । वैरोहोहंयुक्-
 तैक्ये वत्सरे निर्मिता शिवम् ॥ ६७ ॥ वीरस्तुतेरप्यन्तरा दीक्ष च पुण्य
 मिद्वया । उषिष्य चेत्यममञ्च वीरसङ्घस्य हृदये ॥ ६८ ॥ गुरुर्महीयोऽस्ति
 फकीरचन्द्रो कर्त्तुं मया कष्टमिदं पतञ्ज । शोच च कष्टम्य
 सुखिया करोमि ततोऽमरत्वं च भवेत्सुकृतं मे ॥ ६९ ॥

इति श्रीमज्जातपुत्रमहावीरकौमसङ्गीयमुनिश्रीफकीर-

चन्द्रजिह्विष्यपुण्यमिदुविरचिताऽपूर्वशान्तिदा-

ऽऽलोकना पुण्याब्धी समाप्ता ।

भगवान् महावीरकी वैराग्य भावना

हो निर्वेचना भव महावीर महावीर, हरदय हो क्यो पर एनेतकपीर
 महावीर । आत्मकी त्रिया स्वकी ततवीर महावीर अवरज्यकी जू इसकी
 ततवीर महावीर । आत्मके किए मकरिके करवीरितराकृत सुमिनेकेिए
 मतकए इसपरै हकीकत ॥ १ ॥ एक बार महावीर जूरा पर अवर आना
 इस हविए, वक्तव्य पना कन्वरी छावा । हर जोकेमकीरत का हुआ कबूते
 सफ़रा जेो जमली स्वकी इसी से छुटावा । वना मयना वित्त नामी

फुंदरतकी झलक थी, क्या जात थी जिस जातमें फितरतकी चमक थी ॥ २ ॥
 महसूस हुआ जब इसे दरपेश सफर है, मजिल है कडी राहमें गुमराही का
 का डर है । दुनिया जिसे कहते हैं वह एक खानए शर है, आराम कहां
 दर्दोमुसीबतका यह घर है । सोचा के यह क्या है के हू खुद में भी इसी
 में, नाफहमी से माखज हू राहते तल्बी में ॥ ३ ॥ जब गौर किया हस्तीए
 अशिया नज़र आई, दर असल अजब सैर सरापा नजर आई । बच्चोंका
 घरोंदा सा यह दुनिया नजर आई, मिट मिटके भी होती हुई पैदा नजर आई ।
 जौहरके अरजका नहीं कुछ ठीक ठिकाना, गिरगटकी तरह रंग बदलता है
 जमाना ॥ ४ ॥ **बेसवाती (अनित्यता)** हर रंगेजहा अस्लमें विजलीकी
 चमक है, जो शकल हवेदा है वह शोलेकी लपक है । गुंचोंकी चटक है न वह
 फूलोंकी महक है, एक हस्तीएमोहूमकी यों ही सी झलक है । पल भरमें न
 वह शकल न वह शान न सूरत, या वहमे नज़र आखने देखी थी जो मूरत
 ॥ ५ ॥ हर चीज के जिस चीजपै होनेका गुमा हो, बेहरकतो बेजान हो
 या साहिबेजा हो । एक शकल हो तस्वीर हो हस्तीका निशा हो, कमजोर
 हो शहजोर हो वातावोतवा हो । बच आए तो फिर जोर किसीका
 नहीं चलता, वह हुक्मेक़्जा है के जो टाले नहीं टलता ॥ ६ ॥ कहते
 हैं जवानी जिसे बचपनकी फना है, पीरी जिसे कहते हैं जवानीकी क़्जा है ।
 हर अहदमें एक छुफ है हर छुफ जुदा है, एक छुफमें सौ दर्द हैं हरदर्द
 सिवा हैं । फिर दर्द के राहत कोई कायम भी कहीं है, क्या है जिसे "है"
 कहिए के है भी तो नहीं है ॥ ७ ॥ **बेपनाही (अशरणता)** मादर
 पिदर व दुखनरो फज़िन्दो विरदार, याराने वफादार रफीकान दिलावर ।
 ओरंग कुलाहे मही सदकाने जवाहर, इन्सानोंकी फौजें हो के देवोंका हो
 लश्कर । होनी कमी टलती नहीं आपहुचे जब इज़ाम, हर सुबहके दामनसे
 है वावस्ता यहा शाम ॥ ८ ॥ कमजोर हो मजबूत हो वाशानो असर हो,
 सुफलिस हो गदा हो कोई या साहिबेज़र हो । जगी हो फिरंगी हो कोई रङ्के
 क़्मर हो, हो खारेनजर सवका के, मज़ूर नज़र हो । बच आया तो फिर नोए
 दिगर हो नहीं सकता, यमराजके पजेसे सफर हो नहीं सकता ॥ ९ ॥ मरता
 हे पिसर थापसे रोका नहीं जाता, मां रोती है दम बेटेका थामा नहीं जाता ।
 मुंह तकते हैं सब चाससे बोला नहीं जाता, माईसे भी माईको बचाया नहीं

जाता । तबभीर किसी तरह किसीकी नहीं बचती भीत ऐसी बन्ध है के
 वो हाथे नहीं रहती ॥ १ ॥ सदया कोई देता है के कुछ रोक्का हो
 पदता है अमक कोई के ताभीर हुआ ॥ कहता है ठीकीसे के कुछ
 ऐसी दया हो कुछ किसी पुरतसे कहीं हुक्मकला हो । होनी की मगर कोई
 हुआ है न दया दे जो होना है बाफिरको नहीं होके रहा है ॥ ११ ॥
 फिरतका तफाजा है के होकर ही छोया जो मिलने किया है उसे भोगेया
 सहेया । कुछ जर नहीं बाफिर को सुत कोई कहेया जिस ठगने वह
 जाता है दरीना वह कहेया । हाथी कोई बंदा है किसीका न बंधा है सम
 रह है बही केका जो जिसमे किया है ॥ १२ ॥ अज्ञतपये दुनिया
 (अज्ञातता) हर पर भी तो जिस बन्धे तमका न ठगने है । एतत जिसे
 कहते हैं मन्तर ही वह कम है । एक बारतु ली रंजो सुधीकतका दया है,
 और इसलिये कबों है फिर एक एक गुनह है । वह चीन है ! जो चीफ
 का सेवा नहीं होता जिस किसी वहां बनेवमका नहीं होया ॥ १३ ॥
 सुझिसको अघर पुन है के ऐसी नहीं बरसे करबार है सुकतर हमसे
 बीकतो करमें । एक बरकी एभीर है एक बीके बियरसे राहत न इसे
 है न उसे अठ पहारमें । एक आका तो फर्जन्दके अरमानमें बस है, औका-
 दकी फसरतसे कहीं नाफमें बस है ॥ १४ ॥ आराम समकला है कोई मकन्दे
 बुरको कन्धे लिए फिरता है कोई हुक्कोपिसर को । ऐसा है कोई कुरफते
 मंजूरनकरको तामीर करता है कोई गुनहोदरको । वह मेरा है मैं इसका
 हूं यह माय रहा है, कुछ बरके सामानको सुख अजल रहा है ॥ १५ ॥ जिस
 कोकसे रंजर है और लौक फिर्त है, कबोंमें जो बस है किसी अरमानका
 बू है । एतत जिसे कहते हैं वह एक समोछकू है हाक आपका मया
 फरतेमका से बन्ध है । एक आरतु एही हुई ली करवाई देहा आराम
 किसी फलसे मिलने नहीं पाता ॥ १६ ॥ दुनिया और बहम हमदर्दी
 (अम्यतबता) हर आत्मा दुनियामें अकेली है अकलये । पनेव तमपुत्र
 है मगर बंद अमाकते । मर मरके कहीं-कुछती है वह कैय हमकते एक कुलीकी
 कलती हुई जाती है अकलये । बीमारीमें आम्बु रही बरया ठगरीसे बर
 बरती है तो फली है हुक्का बकरीसे ॥ १७ ॥ एक छोटे तातुक हैं पकत
 एतत अज्ञत कहेकी सुहकत है सिधायीकी रिफाकत ॥ बीमारी हो या

मौत हो या दौरे मुसीबत, मुमकिन ही नहीं उसमें किसी गैर की शरकत ।
 मुंह तकते हैं हैरतसे मदद कर नहीं सकते, मा वाप भी बेटेके लिए मर
 नहीं सकते ॥१८॥ अलेहदगी बेइलायकी और तनहाई (एकत्वता)
 ये महलोमकां हमने जो तामीर किए हैं, यह ऐशका सामान के दम जिसपे
 दिए हैं । यह लालो गुहर औरोंसे जो छीन लिए हैं, औलाद के जिसके लिए
 मर-मरके जिए हैं । हम जायेंगे ये साथ न जायेंगे हमारे, ये हमसे जुदा हैं यहीं
 रह जायेंगे सारे ॥१९॥ यह रूप यह रंग और यह नकशा ये खत व खाल, है
 नूरके साचेमें ढला आइने तमसाल । गो रूहसे मखल्लत नज़र आता है फिल-
 हाल, लेकिन है जुदा जानसे यह जानका जजाल । यों आत्मा इस पैकरे-
 खाकी में बसा है, है आइनेमें अक्स मगर उससे जुदा है ॥ २० ॥ नापाकी
 और गिलाज़त [अशुचिता] यह पैकरेखाकी के हर इक जिसपे फिदा
 है, हर शक्सको मज़ूर नज़र जा से सिवा है । कुछ गोश्त है कुछ खून है
 वलगमसे भरा है, इक ज़रफे गिलाजत है जो शिल्लीसे ढका है । बोल और
 निजासतके सिवा खाक नहीं है, नापाक है इतना के कमी पाक नहीं है ॥२१॥
 मशहूरे जमाना हो जो हुक्मे नमकी से, दिल छीन लिया करता है जो शक्के-
 हसी से । उसके हो कोई जहम कटे जिस कहीं से, फुव्वारह छुटे पीपका
 और खूका वहीं से । देखे न नज़र आइनेवालोंकी पलटके, मक्खीके सिवा
 गैर कोई पास न फटके ॥ २२ ॥ आमद-ज़र्राते अमल [आस्रवता]
 कर देते हैं ज़र्राते अमल रूहको नाचार, फल देके ही टलते हैं ये अगयार
 सितमगार । गो कर्म हैं दो किसके बदकारो निकोकार, होना ही मगर इनका
 है सद वाइसे आज़ार । इक इक जुफ़ए रूहपे बैठे हैं हजारों, उठता है अगर
 एक तो आजावे हैं लाखों ॥ २३ ॥ जो टलता है वह खूब शलक अपनी
 दिखाके, गेजो गुज़बो किमसे बीवाना बनाके । ज़ुज़बो कशिसे ज़ुगे अमल हदसे
 चढाके, खुद छोडता है लाखके फर्दोंमें फँसाके । धधती है योंही रूह इस
 आमदसे अमलकी, गर्दिश नहीं मिटती के यह है रोज़ अजलकी ॥ २४ ॥
 सद्देवाव [संवरता] अब जब कमी इस मोहका कुछ ज़ोर घटा हो, खुश
 तालइसे दुश्मनेजा ज़ेर हुआ हो । उस बक्त कोई रहबरे हक़ राहनुमा हो,
 सय रूहका कुछ होश ठिकाने हो बजा हो । जाने ही न दे ध्यानको गैरोंकी
 फ़िजामें, रोके रविशेह्लमको खुद उसकी ज़ियामें ॥ २५ ॥ ज़र्राते अम-
 लका इख़राज [निर्जरा] काफ़ूर शबे कुफ़ हो मिटजाए जहालत, तावां

हो बुरेस्म बने नूरेसबाकत । कम्ह हो बगस्तोपि हो रिख गहनेरिबाकत सुधि
 सुमति सीक हो समतोष हो आदत । यह बारसे सरगस्तगी फिर आप ही दूक
 पारें बरते अमल कहेके सुखसे निकल्यारें ॥ २६ ॥ आसह भी बने बने
 नमक हूयने छय बाए, पैसे बने दम कुहन दुदमे कमबाए । ने मोह भी
 मरिबाक बग पूटने कमबाए, बर बारसा जपने ही बने छूटने कमबाए ।
 फिर अपना समाधा हो और अपनी ही बचर हो अग्नियारसे अग्नियारकी सोह
 बरसे हजर हो ॥ २७ ॥ आसिमे असबाब [संसार] यह बहां प्रभी
 जिसे सब कहते हैं संसार, कायम इकडे हैं यह एक बाबसर इसार । फाहक
 कोई इनक न कोई माकिसे सवार पैरा कभी होते हैं न मिटते हैं वे त्रि-
 सर । छ से कभी कम और सिध हो नहीं सकते बसते हैं निगडते हैं कृपा हो
 नहीं सकते ॥ २८ ॥ पांच इनमें हैं बेहोस तो इक साहिबे नरक पांच इनमें
 मकी एक मका फाती बगलक । चार इनमें सुरा रखे हैं बेसीस सदा पाक
 हो मिलते हैं आपसमें तो हो पाते हैं बापाक । इक मरह इक रुद जब
 हो जाते हैं मजहल खोली न सुख ऐसी निरुद लपटी है मजहल ॥ २९ ॥
 पांच ऐसे के जिन्की कोई रगत है न सरत एक ऐसा के हर हिस्से है यह
 बाइसे मजहल । कहते हैं बडे मादह सब नहके बडीरत जब रुदसे मिलता
 है तो यह होती है हजल । जो रुद तो वह जिन्का है और बंद नमक है जो
 पारें का के लिए सज्जाब अजक है ॥ ३० ॥ यह आँख गुमबीली यह अजर को
 लगी है यह सोय मजुर को चरे जमिक दिखनी है । मजुर परत सबको
 जो मजहलबनी है हर सरसेमिलक इन्दी दोनोसे बनी है । महजुर है
 इसो मजुरे रुद अजकसे बरकी हुई फिरली है गरीब अपन जमकसे ॥ ३१ ॥
 इन्तान भी दैवान भी और हरो परी भी यह जगन यह अजक यह
 पुरखी भी ली थी । गुमगानु ये और कोहने हर कान परी भी जो छत्रके है
 सामने छोटी भी ली भी जेमान भी जीकर भी अच्छे के नुरे हैं,
 जम्मे इन्दी हो के हैं के आँधोमें लुके हैं ॥ ३२ ॥ यह अजल दे दुनिया
 की यह आत्मकी इदीएत काबाकमें है डीस जवाहरकी मजहल हाँ तान
 बहुत दसक बहुत इसकी है गुमजल कहोके लिए है बही मीरान बनीबत ।
 ने इम बही आमा काजिब मजुरी है आसाह न नरगस्त है सर बेनबरी
 से ॥ ३३ ॥ हुसले इम सही की हुसपारी [बेधि मुसम] अजोके
 कभी दूब दिखना नहीं जाया बग आँख फिटी दिखते बगला बही जग ।

वेशकको अगकालमें लाया नहीं जाता, जुज कदफजमीरी उसे पाया नहीं जाता ।
 इन्कार मगर रूहकी हस्तीसे सूता है, हर शैको फुत्त इल्मने मालूम किया है
 ॥ ३४ ॥ होशो खिरदो इल्म फुक्त रूह की है जात, जुज रूह किसी और को
 हासिल नहीं ये बात । लिपटी है अजलसे जो उसे बदनी आफात, इनके ही
 सबब वहनी हुई फिरती है दिन रात । फिर भी सिफते जात कमी जा नहीं
 सकती, वे होशको होश और खिरद आ नहीं असकती ॥ ३५ ॥ सब जट हैं
 मगर आत्मा है ज्ञानका भटार, जो ज्ञान है और इल्म है चेतनका चमत्कार ।
 खुद इल्म भीमालूम का बाहोशो खवरदार, उस जातमें मुमकिन ही नहीं शर-
 कते अगियार । पुद्गलने मगर ज्ञानको आवरण किया है, खुद भूलने अपनी ये
 गिरफ्तारे बला है ॥ ३६ ॥ इक बार अगर भूल कोई इमकी मिटादे, शक
 आइनेमें इमकी कोई उसको दिवादे । खुद जातका इसकी इसे दीदार करादे,
 यह बद अमल काटसे फिर दममें उठादे । जायिदनो मुरदनकी बला इक
 आनमें टलजाए, आजाद हो जू इल्मकी वदिशसे निकल जाए ॥ ३७ ॥ दुनिया
 है अजब चश्म फुरेव आइना खाना, सौ बार यहा मिलके छुटा ऐशो
 खजाना । बार ऐसे वफादार के वेमिस्तो यगाना, वह हुन्नके जिस हुन्नका
 मुश्ताक जमाना । मिल जायें यह आसान है दुश्वार नहीं है, मुश्कल तो
 फुक्त जातका अपनी ही यकी है ॥ ३८ ॥ **रूहानियत या सिफते ज़ाति**
[धर्म] कहते हैं जिसे धर्म वह कुछ और नहीं है, वस जातका अपनी
 ही कफत इल्मोयकी है । लारेव है इसमें न चुना और चुनी है, सच ऐसा
 के रोशन सिफते मेहरेमवी है । मटकी है जो आपसे वही रूह है नाशाद,
 और सुहबते यकजाईसे है गैरकी वरवाद ॥ ३९ ॥ **परिणाम**—यह राजकी
 सूरत थी जो पावन्द हया थी, अब उठ गया पर्दा तो वही जल्वहनुमां
 थी । गो इल्म सरीहीकी अमी जू न ज़िया थी, लेकिन वरके दहरकी तफ-
 सीर तो वा थी । देखा तो इन ओराक पै यह साफ लिखा है, भूला है जो
 आपको वह कर्मसे वधा है ॥ ४० ॥ **भगवान् विचार**—भगवान् महावीर
 ये दर असल महावीर, मति-श्रुति-अवधिज्ञानकी-थी रूहमें तनवीर । पढते
 ही यह समझे वरके दहरकी तहरीर, है भूल खुद अपनी सबब जिल्लतो तह-
 कीर । सोचा के अब इस मोहको निर्मूल करूंगा, फिर जन्म न हो जिससे
 वह चारित्र धरूंगा ॥ ४१ ॥ हू ज्ञान फुक्त ज्ञानकी जू वनके रहूंगा, मे
 होश हू वेहोश का पावद न दूंगा । आजाद है फितरत मेरी आजाद वनूंगा ।

हूँ पाक तो सब गैरभी करकतसे बर्णूँगा । वह बात हूँ रखता हूँ मैं जो अपनी
 चपल में है अक्षरकिण्ठ भी न हर एक मेरी जिवा में ॥ ४२ ॥ वह है
 सिफ्ते जल मिटाई नहीं जाती पुत्रकसे किसी तरह बनाई नहीं जाती ।
 यौ जय ज्यों फिर गी सफाई नहीं जाती वह धाम वह एजाबदुमई नहीं
 जाती । इस पर मेरी हकीमें है एक छटक एक भावन्द, और ऐसा
 के बिचक्य कोई हमसर है न धामन्द ॥ ४३ ॥ बी मूक के वा महर्षि
 उमाकाए जहाँ मैं फिरता था सकलतो हजिस कायो जहाँ मैं । बाह्य
 था जो कृष्ण था इस बहिर्गिरि में यक्षकत भी मममय ही न था सरो
 जियोंमें । जाया है जो सब होख तो बेहोष न हूँच निद्रा हूँ निद्रा ही
 में मय्य रहूँ ॥ ४४ ॥ अक्षयतो तमकुङ्कु जो बकाहिर से निद्रा हर ।
 मिल समेत मजदूर न बन्धनतसे मामूर । वा कामए बरिदा ही सिफ्ते
 तसे पुरनूर जो हम बनावाय वा बस वा ली मूँदूर । करने को तसम्युर
 था जहिँसा भी बस भी किञ्चनस्य वह एक कद भी और उसमें सिफ्ते भी
 ॥ ४५ ॥ वह और जो वा थारे सुकृतिपुष्प कस्य वा सुकस्य जो लज्ज वा
 अजक से जो बस वा । कहरमें जो वा और वह कायोस हुम्न वा इस
 ज्ञानके छाबरमें कटार जवा हुमा वा । अक्षिज जो हुमा जाय तो जाय
 जायई ऐसी साक उसमें शक्यमे कनी जो भी न भी कैसी ॥ ४६ ॥ वह
 हस्य सरीसै वा बस एक ज्ञान वा केवल शूरवसा निरुक्त अक्षर हुम्न कर्मक
 बाह्य । हर सुलभ-सुलभ हर एक जाय न अक्षर के कतमें जवा भी न
 वा परी कोई हावक । सबैक हमारा हुए कदायमसे लुप वा जो आक्षिमे
 अस्वाय में वा जाय किया वा ॥ ४७ ॥ लज्ज कहरा सदा एक तसे पाकसे
 निरुद्धी भी कहरा जायक मपर काकसे निरुद्धी । वह काक भी बेहतर
 कही अफुलकसे निरुद्धी मसहूर बीहर अक्षिमे अक्षरकसे निरुद्धी ।
 शिखरह तसे हस्ताय भी करते ये सुलभ भी शिखरकसे जिवा भी वह
 हकीकतसे शक्य भी ॥ ४८ ॥ कहरा हर पुष्प बचकस्य वा कहर
 जोस शिखरेकमी जब कर्मवा पुनयेकमे सब बोध । हर राज जवा होयमा जाने
 कमा सन्तोष शिखरेमें छुके निधो नहर बोध सरी बोध । हाँ मेरे महावीर
 इस भावकसे छुके, इस अक्षय मायक हूँ इस अक्षकसे छुके ॥ ४९ ॥

(पुष्पीर मायक)

मङ्गलाचरणम् ।

सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः ।

यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम् ॥ १ ॥

रत्नत्रयपुरस्काराः, पञ्चापि परमेष्ठिनः ।

भव्यरत्नाकरानन्दं, कुर्वन्तु भुवनेन्दवः ॥ २ ॥

[अर्हन् परमेष्ठी] ॐ निखिलभुवनपतिविहितनिरतिशयसप-
र्यापरम्परस्य, परानपेक्ष्यापर्यायप्रवृत्तसमस्तार्थावलोकलोचनकेवलज्ञान-
साम्राज्यलाञ्छनपञ्चमहाकल्याणाष्टकमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंशदतिशय-
विराजितस्य, षोडशार्धलक्षणसहस्राकितदिव्यदेहमाहात्म्यस्य, द्वादश-
गुणप्रमुखमहामुनिमनःप्रणिधानसनिधीयमानपरमेश्वरपरमसर्वज्ञादिनाम-
सहस्रस्य, विरहितारिरजोरहःकुहकभावस्य, समवसरणसरोऽवतीर्णजग-
त्रयपुण्डरीकखण्डमार्तण्डमण्डलस्य, दुष्पाराजवजवीभावजलनिमज्ज-
न्तुजातहस्तावलम्बपरमागमस्य, भक्तिभरविनतविष्टपत्रयीपालमौलिमणि-
प्रभामोगनमोविजृम्भमाणचरणनक्षत्रनिकुरुम्बस्य, सरस्वतीवरप्रसादचि-
न्तामणेर्लक्ष्मीलतानिकेतकल्पानोकहस्य, कीर्तिपोतिकाप्रवर्धनिकामध्ये
नीरवीचिपरिचयखलीकारकारणामिधानपात्रमन्नप्रभावस्य, सौभाग्यसौर-
भसंपादनपारिजातप्रसवस्तवकस्य, सौरूप्योत्पत्तिमणिमकरिकाघटनवि-
कटाकारस्य, रत्नत्रयपुर.सरस्य, भगवतोऽर्हत्परमेष्ठिनो भूयो भूयः
स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

नरोरगसुराम्भोजविरोचनरुचिश्रियम् ।

आरोग्याय जिनाधीशं, करोम्यर्चनगोचरम् ॥ १ ॥

[सिद्धपरमेष्ठी] ॐ सहस्ररसमीचीनचार्त्तत्रयविचारगोचरोचित-
 हिताहितप्रविभागस्य, अत एव परनिरपेक्षतया स्वयमुब- सन्तिमन्नु-
 काफलमिव उपलादिष च कीचनमदेवात्मन- कारणविशेषोपसर्पण-
 बधावाविर्भूतमसिद्धबलविसृज्यतन्वात्मस्वभावात्मसमसहस्रकर्ममवधीरिह-
 न्यसंनिधिष्यवधानममवधिमयत्तसाध्यमवसितातिष्ठमसीमानमात्मस्वरूपै-
 कतिबन्धनमन्त-प्रकाशमध्यासितबन्तमनन्तदर्शनवैशेषविशेषसाक्षात्क-
 तसकलवस्तुसर्वस्वमनवसानमुत्तमोत्तममर्पयन्तवीर्यमचाक्षुषसूक्ष्मावमास-
 मस्तद्विधामिनिवेशावगाहमसमुपपदेशमपगतवाचापराकारसंकममतिवि-
 शुद्धत्वमावतया, निवृत्ताशेषधारीरुद्धारतया च, मनामुक्तपूर्वावसान्त-
 रमरूपरसगन्धद्वयस्पर्शमश्रोत्रमुवमाक्षिर शैलराजमाजपदविश्रमस्तुप- ७
 दान्तसकलसंसारदोषमसरं, परमात्मानमुपेयुषो गुरुणापि प्रतिपन्नगुरु-
 मात्मस्व रत्नत्रयपुर-सरस्व भगवत सिद्धपरमेष्ठिनो भूयो भूय- न्मृतिं
 करोमीति साहा अपि च—

प्रज्ञकर्मविनिर्मुक्ताष्टकर्मविवर्जितान् ।

यत्नतः संस्तुवे सिद्धान्, रत्नत्रयमहीपसः ॥ २ ॥

[आचार्यपरमेष्ठी] ॐ पूज्यतमस्य अदिगेतोतदिकुण्डलीकुण्ड-
 परम्परोपासमस्यैतिहरहस्यसारस्व, अथ्यमाध्यावविनिर्भागविनयनि-
 यमोपनयमादिक्रियाकाण्डनिष्पातपित्तस्व चातुर्वर्ष्यसंपन्नवर्षन्यपुरंवरत्न,
 द्विविचारमधमावधोपनविभूतैहिकन्यपेक्षासम्बन्धस्य, सकलकर्ममात्रमसम-
 यसमाचारविचारोचितवचनप्रपञ्चमरीचिविवक्षितानिसिद्धजनद्वारमिन्द-
 नीमिध्यात्वमोहान्धकारपटवस्य ज्ञानतपःप्रभावमकाशितचिन्तासन्त-
 क्षिप्यसम्पदाशेषमिव मुपनमुद्धर्तुमुच्यतस्य भगवतो रत्नत्रयस्य पुरःसर-
 स्वाचार्यपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्रष्टिं करोमीति साहा । अपि च—

विचार्य सर्वमैतिह्यमाचार्यकमुपेयुषः ।

आचार्यवर्य्यानर्चामि, सञ्चार्य्य हृदयाम्बुजे ॥ १ ॥

[उपाध्यायपरमेष्ठी] ॐ श्रीमद्भगवदर्हद्वदनारविन्दविनिर्गत्त-
द्वादशांगचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतपारावारपारङ्गमस्य, अपारसम्प-
रायारण्यविनिर्गमानुपसर्गमार्गणनिरतविनेयजनशरण्यस्य दुरन्तैकान्त-
वादमदमपीमलिनपरवादिकरिक्कण्ठीरवोत्कण्ठकण्ठारवायमाणप्रमाणनय-
निक्षेपानुयोगवाग्व्यतिकरस्य, श्रवणग्रहणावगाहनावधारणप्रयोगवाग्मि-
त्वकवित्वगमिकशक्तिविसापितविततनरनिलिम्पाम्बरचरचक्रवर्तिसीम-
न्तप्रीतपर्य्यस्तोत्तसन्नक्सौरमाधिवासितपादपीठोपकण्ठस्य व्रतविधानव-
द्यहृदयस्य भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्य उपाध्यायपरमेष्ठिनो भूयो भूयः
स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

अपास्तैकान्तवादीन्द्रानपरागमपारगान् ।

उपाध्यायानुपासेहमुपायाय श्रुताप्तये ॥ १ ॥

[सर्वसाधुपरमेष्ठी] ॐ विदितवेदितव्यस्य बाह्याभ्यन्तराचरण-
करणत्रयविशुद्धिप्रपथगापगाप्रवाहनिर्मूलितमनोजकुजकुटुम्बाडम्बरस्य
अमराम्बरचरनितम्बिनीकदम्बनदप्रादुर्भूतमदनमदमकरन्ददुर्दिनविनो-
दारविन्दचन्द्रायमाणोदितोदितव्रतव्रातापहसितार्वाचीयकामनचरित्रच्यु-
तविरश्चिविरोचनादिवैखानसरसस्य, अनेकशस्त्रिभुवनक्षोभविधायिभिर्म-
नोगोचरातिचरैराश्चर्य्यप्रभावभूमिभिरनवधारितविधानैस्तैर्मूलोत्तरगुण-
ग्रामणीभिस्तप प्रारम्भैः सकलैहिके सुखसाम्राज्यवरप्रदानावहितायाताव-
धीरितविसितोपनतवनदेवतालकालिकुलविलुप्यमानचरणसरसिरुहपरा-
गस्य निर्वाणपथनिष्ठितात्मनो रत्नत्रयस्य पुरःसरस्य भगवतो लोके सर्व-
साधुपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

योधापगाप्रराहेण, विष्यातानगवद्वयः ।

विष्याराप्योघ्रयः सन्तु, साप्यपोषाय साधवः ॥ १ ॥

[मम्यदर्शनम्] ॐ दिनविनागमविनयर्मविनोक्तजीवादित
 त्वायपारणद्वयविभूमितारितित्यामिनिवेगापिहामागु मम्यदित्त
 फापाहम्यावद्वयनकुमतातिज्ञस्योद्यसामु, ममसर्वेगानुकम्पाऽऽप्रक्षि
 ब्यस्तमसंभूतासु, स्थितिकरणोपगूढमवालास्यधम्यावनोपपरितोन्त्रवस-
 पर्व्यासु अनेकविद्वयविनोक्तनिवारिणभूमिकासु, मुहुनचतन्मात्रादपर
 म्यरागु हृन्कीटाविहारमपि च, यधिमर्गांन्महाभुमिनमप्योषिपरिचि-
 तमनेवमरतेरावतविदेहवर्षपरपञ्चवर्तिभूहामपि कुलदेवत, अमरेचत-
 मतिदेवतावतसकस्यवादीपतव, अम्बरचरलोकद्वयकमण्डन, अपवर्ग-
 पुरप्रवेगागप्यपप्यारमसान्तरणसत्यकारं, अनुत्तुष्टयदुर्धनपटदुर्विने
 प्वपि वन्तुषु, ज्योतिर्लोकदिगतिगर्तपातनमकाण्डमेदनमामनन्ति
 मनीषिजन्तस्य संसारपादपोष्ठेदप्रथमकारणस्य सकलमगलविभासिन
 पद्यपरमप्रिपुर सरस्व भगवत सम्पद्द्वयनरत्नस्य पुनः पुनः शुद्धि
 करामीति त्वादा । अपि च—

शुक्तिलह्मीलतामूर्तं, शुक्तिशीवहृदीवनम् ।

भक्तितोज्ज्वलामि सम्पदस्यं, शुक्तिचिन्तामणिप्रदम् ॥१॥

[मम्यज्ञानरत्नम्] ॐ यत्तिलिखुवनतार्तीयलोफने, आत्महि
 ताहिसविधेक्यावात्स्यावबोधसमासादितसमीचीनमात्रं, अधिगमसम्य-
 कस्वरतोत्पत्तिस्थान, अस्तिभक्तपि वसासु क्षेत्रज्ञत्वमात्रसाध्याम्यपरम
 स्पञ्छन अपि च यत्तिलिखानीमपि गदीन्नातपेतोमिः सम्यगुपाहितो-
 पयोगसमाजने पुनर्जिमजिदर्पण इव साक्षाद्भवन्ति ते ते भवैकसम्य
 तस्याः सम्यक्क्षेत्रसमयविधकर्षिजोऽपि भावाद्यस्यत्यधमनीबन्धमय

हेतुविहितविचित्रपरिणतिभिः, मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलैः पञ्च-
तयीमवस्थामवगाहमानस्य सकलमङ्गलविधायिन. पञ्चपरमेष्ठिपुरसरस्य
भगवतः सम्यग्ज्ञानरत्नस्य पौनःपुन्येनादरण करोमीति स्वाहा । अपि च—

नेत्रं हिताहितालोके, सूत्रं धीसौधसाधने ।

पात्रं पूजाविधेः कुर्वे, क्षेत्रं लक्ष्म्याः समागमे ॥ १ ॥

[सम्यक्चरित्रम्] ॐ यत्सकललोकालोकावलोकनप्रतिबन्ध-
कान्धकारविध्वसन, अनवद्यविद्यामन्दाकिनीधरं, अशेषसत्त्वोत्सवानन्द-
चन्द्रोदय, अखिलव्रतगुप्तिसमितिलतारामपुष्पाकरसमयं, अनल्पफल-
प्रदायितरु कल्पद्रुमप्रसवभूमिमस्योपशमसौमनस्यवृत्तिधैर्यप्रधानैरनु-
ष्टीयमानमुशन्ति सद्धीमना परमपदप्राप्तेः प्रथममिव सोपान, तस्य
पञ्चतयात्मनः सर्वक्रियोपशमानिशपावनस्य, सकलमङ्गलविधायिनः
पञ्चपरमेष्ठिपुर सरस्य भगवतः सम्यक्चरित्ररत्नस्य सम्यगवधारण करो-
मीति स्वाहा । अपि च—

धर्मयोगिनरेन्द्रस्य, कर्मवैरिजयार्जने ।

शर्मकृत्सर्वतत्वानां, धर्मधीर्वृत्तमाश्रये ॥ १ ॥

जिनसिद्धस्वरिदेशकसाधुश्रद्धानवोधरत्नानाम् ।

कृत्वाष्टतयीं स्मृतिं विदधामि ततः स्तवं युक्त्या ॥ २ ॥

अथ ममाक्रन्दनकाव्यम् ।

श्रीमद्वन्द्यपदारविन्दयुगलो ध्यानैकवेद्योऽस्ति यो, व्याप्त येन चरा-
चरात्मकमिदं क्षीरं यथा सर्पिषा । यद्भासा तरणिर्विभाति दहनश्चे-
न्दुर्निशान्धापहस्त वन्दे मनसा गिरा च शिरसा जैनेद्यमीश जिनम्

दत्त्वा नश्च महाव्रतादिनियमानष्टप्रवाक्याँस्तथा । संसारे जिनदेवधर्म-
तरणिं प्रादादथो सयमान्, त साधु सुखसागरं प्रतिपदं ध्यायन्त्वतिप्रे-
मतः ॥ ९ ॥ अहिंसा तथा सत्यमस्तेयमाहुर्महद्ब्रह्मचर्यं, सुनिर्वाणहे-
तुम् । यतस्तत्त्वबोधस्समुत्पद्यते च, ह्यतो, रक्षणीयाश्च ते भिक्षु-
वर्ये ॥ १० ॥ यस्यामोघात्मशक्तिं प्रबलगुणगणैर्नो प्रवक्तुं समर्था,
नास्माकं साधुबोधस्तदनु च कथने तत्स्वरूपस्य तत्त्वम् । तस्य
ज्योतिःप्रवाह प्रबलगुणकरं वक्तुमीशाः कथचिन्नो वा घाता-
ख्यशक्तौ मतिरपि सुतरा नेदृशी तादृशी च ॥ ११ ॥ श्राम-
प्यप्रतिपालनाय सुधिया जातावतारा वयं, कामक्रोधविमोहलोभमम-
तामानावरोधाशयाः । चेत. 'सधपदारविन्दयुगले जित्वेन्द्रियग्रा-
मक, ससारानृतभोगरोगशमने विद्यामये धार्य्यताम् ॥ १२ ॥
कामक्रोधविमर्दनेन च पुनर्लोभः समुत्पद्यते, तस्मान्मोहसमुद्भव. स्मृति-
हरो विज्ञाननाशस्तत । पश्चाद्धर्मविपर्ययोऽनृतमयी भोगैषणा
जायत, इत्थ दुःखमये विचित्रविषये जीवोऽनिग वध्यते ॥ १३ ॥
आदाविन्द्रियनिग्रहे च विषया नश्यन्त्यनायासतः, काये चारुपरिग्रहादि-
शमने ज्ञानोदयो भासते । पश्चात्कर्मसमुच्चयप्रणशन धर्मे प्रवृत्तिः
स्थिरा, तस्मादिन्द्रियसंयमे हि मुनिमिश्रेतः प्रदेय सदा ॥ १४ ॥
तच्छक्तेरात्मयोगात्सकलगुणमय. स्यात्प्रतापोदयश्च, तस्याग्रे चोत्थि-
तायाः प्रचलति नितरा वर्द्धमाना समस्ता. । जाते शीले महत्वे सक-
लगुणविधे. सुप्रवाह नियुज्य, वीर्य्य चान्तेऽवरोध कृतमतिविमलं
नो मन. शान्तिमत्त्वम् ॥ १५ ॥ चित्तं मे विमलायतं जिनवरे लग्नं
गुरोर्भावनात्, सेवाभाववलं च सयमवलं प्रोक्तृष्टमग्रेऽकरोत् । रक्ष्यं

संपन्नं प्रतापसहितं कार्यं सुवाक्यार्पणमीर्षाद्यन्नेवञ्च विप्रेतकर्मठं
 तत्वात्मकं धर्मताम् ॥ १९ ॥ वैयर्थ्येण क्षमया विमान्ति मुनयः कञ्चै
 र्यथाभ्याश्रया, सत्यासत्यविमर्शनेन विषयासक्तं मनः शाम्यति ।
 तच्छान्ते सकलेन्द्रियाणि विषमाच्छाम्यन्त्यसद्भाषनात्, साक्षात्कारतरं
 मधेयुदि पुनः रूपं परस्वात्मनः ॥ २० ॥ इत्यहस्यमिदं पवारणकरं
 स्नेहयुग्ममेतत्सा, सौम्या सञ्चारितानुयादिविच्छिन्नास्त्राभये स्वीयताम् ।
 चार्वाचारविचारसारपटवो येनास्तिकाऽपीष्टता, तस्मिन् ज्ञानमये जगत्स-
 मुदिनं सत्संप्रमैरन्विता ॥ २१ ॥ रुद्धं सर्वमनर्थकं मगधतः द्विसप्तकं
 मर्कटं, साधूनां प्रवक्ष्यारिनाशनकरं साध्वीगणानां तदा । तीक्ष्णं धारक-
 ण्यकादिधमनं तत्त्वानुरूपं महर्षीर्षं स्थापितवान् स्वल्पमविधितं सार्धं
 कथमेव कृतम् ॥ २२ ॥ उत्कासीनगुणानुरूपमभिषां बोधात्मिकीं
 नूतनां, संवे संलित्तिमेकतां सुमधुरां कृत्वा स्वधर्मादिभिः । बोध्यत्वं
 समये विभाव हृदये जाया यतो बोधिनः, सुबोद्धे वचने कुरुष्वन्-
 निष्ठं विद्यासमेव मुहुः ॥ २३ ॥ येनोद्यतकर्म च हिसकवत् पूर्णं
 त्वना सम्मुखो भूत्वा गह्वरं कृतं सुममस्त रुद्धं च मिथ्यावत् ॥
 शुद्धमात्रकमाविक्रमणममं संस्थाप्य तीर्थं शुभं, यतीर्षहरन्मम त्वं
 सुललितं सार्धकथमेवाकरोत् ॥ २४ ॥ तत्काले अनया स्वधर्मनिरता
 सद्धे सदा सम्मता भावैक्यस्य रसस्य पानमसङ्गत्पायितं प्रेम्ता ।
 भाषा विच्छिन्ना सुबोधजननी संस्थापित्वाऽमानता, वैयर्थ्यं क्षीर्यमया-
 वदम्य सुखं प्रधातिष्ठ मो हृदे ॥ २५ ॥ वैयर्थ्यदिर्बलपारणं च
 विषयासक्तन्द्रियाणां गण, रुद्धा योगतपोऽसिना च जगतो बन्ध महा-
 नर्थकम् । तु स्थापयकरे तमोऽपहरणे ज्ञाने मगो वीर्यता, स्थापितं

सकलेन्द्रियैः सह ततः शान्तं प्रयासं विना ॥ २३ ॥ पश्चाच्छान्ति-
 गत मनो न विषये लभं कदाचिद्वेत्पूर्वाचार्यवरैः सुसंयमरतैरित्येव-
 मुक्त पुरा । साधूना जगदन्तरायशमने मोक्षाप्तये साधन, हित्वाऽशा-
 न्तिकरान् समस्तविषयाश्चेतो गिरौ स्थाप्यताम् ॥ २४ ॥ कामिन्याः
 कनकात्कषायविषयाद्ये साधवो विम्यति, जीवात्राणकरादसत्यवचना-
 द्ज्ञानकृष्णोरगात् । स्वाद्वन्नाशनत. परिग्रहरतात्ते भव्यभावाशया, लोके
 भव्यजनानवन्ति सतत सद्बोधतत्त्वामृतै ॥ २५ ॥ तेजस्तस्य प्रकाशता
 गतमदो भव्याशयाना हृदि, काण्ड भीषणवत्त्वमत्र गहन संस्थापितं
 संयमे । जैनाचार्यवरैः परस्परमथो संस्थाप्य चैक्य बल, सयुक्ताखिल-
 शक्त्यमोघसहिता संघादिविद्युत्प्रभा ॥ २६ ॥ विद्युच्छक्तिरिवारविन्द-
 हृदये प्रोद्भासिता येन न., सङ्घे शक्तिमदोच्चयोऽतिकृपया जाता यतः
 श्वैकता । ता विस्मृत्य च मोहमानममताक्रान्ता वय दु खिनस्तामुद्भा-
 वयितुं मुहुर्यतिवरा यत्ने मनो धीयताम् ॥ २७ ॥ पूर्वाचार्यगणैः पर-
 स्परमदश्चैक्य सुसंस्थापित, शक्त्यानन्तप्रवाहसङ्घतडितः शक्ति. समु-
 त्पादिता । वीरं शासनमेव निम्नपतित येनोद्धृत शान्तित, पृतावन्नहि
 किन्तु शासनवरं सवर्द्धित न्यायत ॥ २८ ॥ योगासक्तधियो जिने-
 न्द्रमृदुलाम्भोजाग्निसेवारता, मिथ्यात्वादिनिरस्तसर्वविषया. कारुण्यवन्तो
 द्रयाम् । धृत्वा चेतसि वो निधाय च गुरोर्निर्द्वन्द्वपादाम्बुजं, व्याख्या-
 नाय निबन्धरूपममल ह्याकन्दनारख्य ब्रुवे ॥ २९ ॥ ॥ इति प्रस्ता-
 वना ॥ अद्याऽनद्यमयेक्षते च महती हानि समाजस्य च, भाष्यान्म-
 न्द्रमयादुतावरयुगाद्यच्छासनाख्य बलम् । क्षीणत्व प्रतिपद्यतेऽनुदिवसं
 न जायते कारण, द्वन्द्वारम्भान्निधौ न कष्टमधिक संवर्धते हानिकृत्
 ॥ ३० ॥ ईर्ष्याकारणतो न कोऽपि कमपि श्रुते न सम्मन्यते, दृष्टेद
 वीर २५

मतमेवकारकमिव चेतस्ततो धावति । विद्याऽपि हसते तवाप्यनमसो
 धर्मो विद्वसो भवेज्ज्यायान्यामविचारदुर्बलसो जाताऽप्युना बुध्यताम्
 ॥ ३१ ॥ अतोऽयं मतमेवमेवकवशावाचारमेवोऽपि च, संस्था
 त्रिस्तितोऽपि आत्मगणिक किं वर्णयामो वयम् । साम्प्रदायिकमेव
 वेषकरणावाचारमेवोऽपि च, ज्ञात्वैव क्षमसाधनेऽनुदिबसं धर्मे प्रवृ-
 त्तिमि ॥ ३२ ॥ ह्येव विषय च कस्य न मनसोद हितेच्छावतां,
 माभ्योत्पन्तमनन्तच्छासनवतां केवां मनस्तोक्तताम् । यावत्तत्परतया च
 हेति सुमहच्छब्दः समुत्पद्यते, अतो सत्त्वपि साधुचेतसि पुनर्नोत्पद्यते
 भावना ॥ ३३ ॥ सर्वैर्नित्यमहृदं न कुर्वते मत्प्रेमत्रान्तरे, सर्वेषां
 मनसा विचारकरणे नो मेवभावोऽप्युना । वासं नो कुर्वते परस्परमहो
 सम्प्रेमनैकतां, नान्येषां हिसमीहते शुभविद्या कश्चिद्वरः प्रेमतः ;
 इहा चोक्तक पद परजनस्वार्थं भवेयुर्वन्य ॥ ३४ ॥ केवां
 ज्ञानोपकल्पिर्मममति सुतरां गच्छि शिक्षोपकल्पिस्त्यक्तं सेवापि
 नित्यं निश्चयनिचरणाम्मोक्षयो साधुवर्त्य । सेवाकर्मापकारोऽप्यनि-
 जनहृदयात्कमदुस्यो गराणां, केषाविद्वैद्य जिन मतिदिनमस्तिष्ठ
 सम्मनूक विहिंसै ॥ ३५ ॥ योऽप्येषां धर्मक्षेपे प्रबलवत्कर्मभो धार-
 वित्वा प्रवृत्तः, प्राप्नु शिक्षाविभागे प्रचुरसम्बलं संविमर्तुं समर्थः ।
 सोऽनर्थं स्फोटयित्वा रिपुदण्डगहनं दग्धुमभिसरूपः, कार्यं तत्सापि
 नित्यं वितरति समये नागिमानमभोगः ॥ ३६ ॥ सम्मते विस्रब्ध
 गते च किमती सम्भावना दुर्बला, अतोऽहं पतितो मये च किमती
 चाभास्तसवेदना । यस्या मे महती पृथिव्यवनी कान्तप्रतिबुद्धावरा,
 हा किञ्चिद्वि मयि पक्षिगणन्य कार्ये प्रसिद्धे सति ॥ ३७ ॥ मान-
 कोपपरिग्रहोदयवशाद्धर्मक्षयो जायते, सखीणि जिनैवद्यासनवसे इति ।

समुत्पद्यते । तद्भासे च कलङ्कितं जिनमतं निष्ठा ततो भावना, तस्माद्दोष-
समुच्चयापनयने चित्तं समाधीयताम् ॥ ३८ ॥ अस्माकं यदि बोधमस्त्य-
वनतेर्मानापमानस्य च, पातस्यैव च वाऽवहेलनजनेर्जाता पराकाष्ठता ।
लब्धज्ञानवलेऽपि कुम्भश्रवसो निद्रालयाः शेरते, विद्युत्तेजसमग्निजं किमु
पुनर्भानूदये तिष्ठति ॥ ३९ ॥ अत्याचारसमुद्भवे च निखिलं नष्टं च
भव्यात्मनां, सर्वापारमयी क्रियापि विपुला नष्टा तथा भावना । शास्त्राणां
पठनं प्रणष्टमधिकं जैनावतारे मुनौ, किं कर्तव्यमतः परं मुनिवराः
सञ्चिन्तयध्वं हृदा ॥ ४० ॥ शिक्षार्थं बहुशो जनैर्विरचिताः पाठाल्याः
कालया, नो वा साधुगणैश्च विश्वविदितं सस्थापितं वा क्वचित् ।
विद्यापीठमनल्पकं यतिवराश्छान्ना पठेयुर्मुदा, ज्ञानार्थ्यासकरा नयन्ति
सकल धर्मादिकं श्रेयसे ॥ ४१ ॥ धर्मे नामिरुचिर्गुरौ न नियतिर्विद्या-
श्रमे नो मतिः, तत्सूत्रे पठनादरो न हि रतिः सङ्घे मुनीनां तथा ।
न्यायान्यायविचारणे न च गतिर्योगाश्रमे नादरः, श्रेयो नश्च कथं भवेत्
दनुदिनं चेतः परं क्षुभ्यति ॥ ४२ ॥ मोहेनाधिकतृष्णया च महति
सञ्जायते नः क्षतिः, वर्द्धन्ते ममतादयोऽहितकरा ज्ञानं ततः क्षीयते ।
तत्क्षीणे जिनधर्मशर्मं विलयं यास्यत्यथो भावना, निष्ठा सूत्रैः समुद्भवो
सुरगुरौ लोके कथं स्यात्स्थितिः ॥ ४३ ॥ रागद्वेषविवर्धनेन च मनो
न स्यात् स्थिरं चञ्चलं, तद्बोधानयनं विना न विषया शाम्यन्ति योगा-
श्रया । यावत्कर्मनिरोधनं न हि भवेत्तावत्कथं भावुकं, ज्ञात्वैव परि-
हृत्य रागविषयं साधं बलं सेव्यताम् ॥ ४४ ॥ गतेऽशान्तिमये वयं
निपतिता कश्चिद्वत्प्रबन्धो न हि, सर्वाधारजिनेश्वरोपकरणे नो विस्मृति-
योग्यता । दत्तं तेन ततोऽखिलं च विषयं सलब्धवन्तो मुदा, तत्सर्वं
कथमन्यथापहरणं कुर्वन्ति चान्ये नराः ॥ ४५ ॥ सामाजस्य संरक्षणं

न मरतामार्थनतामागमदेव चाम्युदयौऽपि मिश्रुज्वरा श्रुत्वा ह्यो
 रक्षयम् । संयुक्तेष्टबद्ध विना न हि भवेत् स्रवण नाम्नात्, संयुक्त-
 म्युदयप्रतापजम्भा वैक्यादिक माप्नुयात् ॥ ४९ ॥ पूर्वं देशमवेक्ष्यतां
 हि किम्प्रीमस्युजतिं प्राप्तवान्, सद्योऽप्यविद्यासिनो हि नितरां स्वार्थ-
 मिमाने रताः । सैवमेव बलेन सञ्जनन्त्या कुर्वन्ति निष्कण्ठकं, राज्यं
 कत्रधराभ्य भोगनिरताश्चैकाधिपत्ये स्थिताः ॥ ५० ॥ देशोऽस्मिन्
 दुरवस्थाय प्रतिदिनं दुःखिगता पश्यत, अत्रत्या विषयोपभोगनिरता
 ज्ञाता पराधीनताम् । ऐक्याभावरता न संयमकरा नो दुरवर्तेष्वथो,
 रागेर्ष्याक्षयस्त्युताश्च सुतरां विज्ञानशून्याश्चया ॥ ५१ ॥ दार्ष्ट्येण
 सुखेतरा जनपदा साहाय्यमाप्मान्यतः, दत्तं चान्यबलेन बलमनिर्ध-
 सन्वाप्यते दुःखतः । यस्यामोऽयमवर्धतां च महतीं मुग्धा पराधीनतां,
 बद्धाः शूलक्या क्व परवशाः स्वातन्त्र्यहीनास्तथा ॥ ५२ ॥ पूर्वस्था
 मनुजाः कृतप्रनिरता राज्यं न हन्त्यादिताः, मास्यहात्मकमुत्सर्गेन
 निबता सत्प्रमाणेन च । देव्य चाभिधाः स्वधर्मवित्त्वा विन्यस्त-
 सेवा परा, ज्ञात्वाैव समयादिकं न हि मवेक्ष्यात्वं कदापि न हि ॥ ५३ ॥
 आते वस्तुनि रोदनादिकरणं मित्यैव होषारण, पश्चात्पनिवेशने न
 हि पुनर्नेत्राहुपात शुभम् । सुद्वारादिभिश्चरन्त किं शुभं सर्वं व्यसीद
 स्ववेष्टीमप्रीरनिमानुशासनवरं चोत्पाप्यतां श्रीधरम् ॥ ५४ ॥ वीर
 ताप्यनुशासनानुसरणं सधैर्यता सेवम्, सूत्रागापमहोदयेभ्य तरण
 क्षमक्षियाराधनम् । कान्तायाप्यपराजयं विनयुनीं सेवार्पणं प्रेम्तः,
 सन्नेत्रामि शुभाश्विनामनुदिनं ज्ञेयकराप्स्यतः ॥ ५५ ॥ मृत्युपाव
 यत्तस्य वैक्यमुबलस्वोत्पापन कार्यतां, यथेकेन समाजकेन समये साम
 व्यभागा न हि । वीरत्वेन च बलरक्षकरणे श्रेष्ठः समानीयतां धार्म्य

निश्चयमाविधाय मनसः शुद्धिर्विधेया पुनः ॥ ५३ ॥ रागैश्चापि परि-
 ग्रहैरनुदिन मुक्त्वा भवन्त्वादरात्, सर्वानिष्टकैरैर्ममत्वबलिभिः सङ्गः
 प्रतित्यज्यताम् । स्वश्लाघाकरणे ममत्वकरणे दोषो महाज्ञायते, सर्व-
 स्माद्विषयान्मनोपहरण श्रेयस्करं स्यात्ततः ॥ ५४ ॥ शास्त्रे वस्त्रे शिष्य-
 वर्गे शरीरे, ग्रामे देशे श्रावके चान्यकार्ये । शोक मोह सम्परित्यज्य
 नैज, स्वायत्तायां नैव ग्राह्य कदाचित् ॥ ५५ ॥ बोधार्थं जनताहिताय
 सकलो ग्रन्थो मुदा ह्यर्प्यतां, न स्थाप्यो निकटे कदापि मनसो भार-
 दयं नित्यशः । त्यज्यन्ता प्रियवस्तुनोऽपि नितरा नो कार्यता सञ्चयो,
 नित्यैक वसनं निधाय सुखदं खे जीवने रक्षणम् ॥ ५६ ॥ ग्राह्यं
 मृष्मयमेव भाजनमथो नोऽनल्पमूल्यात्मक, चैक चाम्बरमेव धारणवरं
 नान्यन्महर्घं क्वचित् । धार्यो नान्यपरिग्रहश्च शयनं भूमिस्थले शोभनं,
 नो वाच्य परुषाक्षरं क्वचिदथो जातापमानैरपि ॥ ५७ ॥ नो मोक्त-
 व्यमनुत्तमं रसरसैर्युक्त सदन्न क्वचित्, गार्हस्थ्यैर्मनुजैर्न सङ्गतिरदः
 कार्या शुभाकाङ्क्षिभिः । स्थातव्य शुभगासनैः शमदमक्षान्त्यादिभिः
 संयुतैरेव जैनमुनिं समुन्नतपदारूढं भवेन्नान्यथा ॥ ५८ ॥ स्वातन्त्र्य
 समवाप्य चात्मनिहिता शक्तिः समाश्रीयता, चारित्रं च निरीहता सर-
 लता सत्य निवासं वने । एवं सयमता क्षमत्वमनिश सत्याग्रहत्वं तथा,
 इत्यादेर्वलमुद्विभाव्य सकलं स्वातन्त्र्यसञ्चिन्तनम् ॥ ५९ ॥ यत्रानन्त-
 सुखं भवत्यनुदिन तां पद्धतिं गच्छत, श्राद्धानां भवनं त्यजन्तु मुन-
 योऽरण्य गुहां चेच्छत । स्थित्वा तत्र सुसंयमं प्रकुरुत नान्योऽस्ति
 पन्थाऽपर, सर्वस्मिन् विषये भवन्तु निपुणाः पारंगताः स्युः पुनः
 ॥ ६० ॥ भगवद्दीरञ्जिनस्य जन्मभवनं नित्यं अमन्त्वाहिता, शीताघ-
 न्वितदेशमार्गपथिको भूत्वा महावेदना । सोढव्या च महोष्णदेशज-

नित बोष्पादिक वा सथा, सेव्य साधुजनस्य सप्तमस्तिक हेय गृहिणी-
 जने ॥ ६१ ॥ साध्वीस्त्रीगणसंगते न च पुनर्नो दर्शयेद्यानन्, संपत्तो-
 ष्टिके मनो मुहुरथो सन्दीपिता मेमत । सथाप्युत्ततशेखरे स्तिरयितुं
 यत्नेन संस्वीयतां, सन्तो भिक्षुवरा समावविषये सप्तीरव धार्यताम्
 ॥ ६२ ॥ स्वच्छ शैलमत उदुक्तविधिना स्वाध्यायनिष्कार्पण, तत्सुबोक्त
 विमर्शतत्त्वमन्त्र सप्तद्विताऽऽप्यायकम् । कर्तव्य प्रतिवासरं मुमुक्षो
 हित्वा कपायादिक, शास्त्रेऽन्यत्रमते (परसमये) सुबोधकरणे कस्मिन्
 सङ्गच्छिनि ॥ ६३ ॥ शास्त्रोक्तारकृतोऽनुरक्तमनसः प्रत्यन्तदेवप्रति,
 मा गन्तव्यमसत्करोष्य विषयाजो पित्तमप्य इदि । सच्चित्रैर्विस्सद्वृत्त
 तु धनिनां हेम सथा ब्रूतो, वप्याभ्येन समन्वित च पमसा त्याग्य
 सवन्नाशनम् ॥ ६४ ॥ शीतोष्णादिकबन्धतापसहनं मौन मित्यमाश्रय,
 नेन स्वाश्रयन्तोपकारमुत्तम वाक्य च धार्य इदि । गन्तव्य गहन मितौ न
 सिहित सत्कन्दरामन्दिरं, मोक्षक्य विरसादिक च शसन भूत्वा मद्यान्ति
 मुदा ॥ ६५ ॥ योग्याम्यासपरामर्शो गुरुवदाम्भोजार्चनासक्तधीः, द्वा-
 म्यासरतो वमादिसहितः सद्गाननासंयुतः । अस्त्रोपकणायको चित्त-
 महापद्मगन्तुर्गुरु, सङ्गच्छा परिपूर्णशान्तहृदयो योगप्रभमे वक्ष्यी
 ॥ ६६ ॥ नो वै वेषविधानमात्रकरणाच्छिष्यो भवेत्कहिंचिच्छिष्यन्त धर्मरतं
 गुणान्वितश्च सक्षिप्तमेहीक्षया । नाग्राशास्त्रविचारणोत्सुकमन्त्रस्त्यक्तपणो
 दुःसङ्गः, पताहमुपवचरो धृतिभिः शिष्योवभेयो गुरुः ॥ ६७ ॥
 हे भिक्षुप्रवरा मयाऽप्य समये सन्निवसते संश्रिति, ने केचिद् गृहिणो
 गृहादिरहिताभ्यामन्ति मष्टे धमे । दुःखार्ताश्च मुमुक्षवो हि भक्ता-
 मारत् पिपासाकुम्भ, नो कृत्वा च परीक्ष्य पुनरथो वीक्षां ववस्यात्-
 रात् ॥ ६८ ॥ तेभ्योऽभ्योम्यतरेभ्य वीक्षणगदो सन्दीवते वा हस्त-

दीक्षामात्रविधानकेन नियता मत्र प्रदत्ता मुदा । किञ्चिद्भा-
षणयुक्तिगक्तिसहिता भाषात्मिका दीयते, दशवैकालिकनन्दिसूत्रवि-
षय उत्तीर्णता चेद्भवेत् ॥ ६९ ॥ नो वैराग्यरतो विचारकर-
णेऽदक्षो न विद्यान्वितः, क्षिप्रं श्राद्धजनाय मोहकरणेऽविद्यावशः
सत्कथाम् । नो वा जैनमतानुसारचलनो भक्त्या विरक्त्या युतः, (नैवं
शिष्यगणोऽतिदीक्षणपरो नो भावशुद्धौ रतिः) अन्येभ्यो हठवञ्चनाय
नितरा शिष्योऽप्यनिष्टः स्मृतः ॥ ७० ॥ न्यायप्राकृतजन्यकाव्यविषयं
सच्छाब्दिकं वा पुनर्दद्याज्ज्ञानमनन्तरं सुमुनये शिष्याय दीक्षामपि ।
येन स्यात्समितौ सुयोग्यगणना लब्धप्रतिष्ठो भवेन्नो चेत्कर्म्मविगर्हितं
च भवता निन्दालयो जायते ॥ ७१ ॥ दृष्टेमा घटना बुधो हृदि
महत्कष्ट मनस्त्रोदद, हास्यं वा विदधाति रोदनमथो वाङ्मार्थमेवो
जनः । हीन योग्यतया जनो न मनुते सत्कारमातन्यते, जन्मान्धस्य
दिवाकरं प्रकथन नामात्यन्तप्रदम् ॥ ७२ ॥ ज्ञानं नैव विभाति यस्य
हृदयेऽज्ञानान्धकारापह, नो शिक्षा विशदा सता न मुखरो भूत्वाऽ-
न्यथा वञ्चनम् । लोकान् वञ्चयितुं करोति विविधा धृत्वा मुखे
वल्गिकां, जैनानां मतदूषणं प्रकुरुते न स्थापनीयो जनः ॥ ७३ ॥
साङ्गोपाङ्गतया च सूत्रविषये स्याद्वादज्ञाने तथा, छन्द शास्त्रसमन्वि-
तेऽन्यविषये ज्ञानं प्रदायाथवा । साधुभ्यश्च परीक्षणं सुनियतं सत्कार-
यित्वा पुनः, पश्चाद्दीर्घदानुसारवशतो दीक्षा प्रदेयाऽन्यथा ॥ ७४ ॥
व्याख्यानप्रतिभाप्रबन्धरचना शिक्षाप्रणाली ततो, धर्माख्यानपरं च
भाषणमयी सद्भावना जायते । ज्ञान न्यायकर-समस्तजनताकल्याण-
कृद्भाव्यतः, एवं रीतिमुपाश्रयेद्यदि मुनिर्धर्मप्रवाहोदय ॥ ७५ ॥ अर्ह-
द्वीरनिमित्तधर्मसरणीमाश्रित्य देशान्तरं, आन्त्वा विश्वहिताय धर्मतः

रणीं हिसापमात्मात्मिकाम् । वस्त्राऽनेकविधावस्त्रानपरं निधुमं बोधाभये,
 तिष्ठेतामिहैकमाद्यनपरा ध्याने परे निष्ठया ॥ ७६ ॥ देष्टुं च
 नयं सुसंयमरताः संसिद्धयामो मुदा, ताम्नाबूढमयाप्यव्यतिदिनं संस्य-
 रत्वाद्भक्तम् । मृत्वा च अमयं तु निष्कलमहो कुम्भो विरामः सदा,
 तेषां चर्णपरा मत्तनुकरणे ज्ञाता मधुसूतः ॥ ७७ ॥ निचं देष्टुं
 बन्धेक्यतां च युद्धिणो विश्वासमासाद्य च, शुष्माकं मनसा विना च
 सुतरां तिष्ठन्ति सेवाभये । ध्यात्वा च तथाविधोऽनपदोऽभ्युत्थापयन्
 सुतं, नोचेतिहस्तं पतन्ति बहुधा कृष्णस्त्रादुद्धते ॥ ७८ ॥
 मारत्वा भवने च पुस्तकचयं संस्थाप्य साधून्मातृद्रव्याकरणे प्रयत्न-
 कृतं स्रग्भिक्षेयं तथा । ब्रह्ममूषणयोर्मयेतरजनाः कुर्वन्ति स्वधर्मं,
 सूत्राणां चयनं सदा च मुनिभिः कर्तव्यमज्ञातये ॥ ७९ ॥ अर्द्ध-
 रसुयर्मरोषकरणं यत्पुस्तकं वर्तते, नो तद्व्यसक्तं च मुनिना लब्धे-
 यसे सर्वदा । नमः स्त्रीरसिर्बर्णेनादिविषयं तद्भूतस्तप्यतां, समादा-
 दिकसत्त्वमेव हितकृतं प्राञ्च शुभाकाङ्क्षिणि ॥ ८० ॥ येन ज्ञानवि-
 र्चनेन च भवतां सञ्जायते मोक्षस्योद्यमः च हितस्य बोधुदिकतं
 प्राञ्च बुधैः सत्यता । कृत्यैरनुवर्णनं च कथनं मावोऽस्ति यत्रासि
 वा हिसामात्परिग्रहप्रकथनं हेयं सदा साधुभिः ॥ ८१ ॥ तत्त्वानर्ह-
 करं सुसंयमहरं शास्त्रादिविषयेष्वं, न प्राञ्च मनसेदक्षं च यतिमियोगि
 च भिन्नप्रदम् । येनाप्यापनमर्ष्यधर्म्यधिकस्तत्त्वोपबन्धोदयस्तद् प्राञ्चं
 च ब्रह्मविषयं प्रकृततां योगार्थिनां श्रेयसे ॥ ८२ ॥ शुष्माकं परिष-
 टिकेयमवरा ब्रह्माससूत्रादिकं, मोहादिमन्त्राभ्युदधिकतरं ह्यु-
 ज्जीर्णस्ते । मेवावमुनिपातनं च नितरां कुर्वन्ति हे मिथुनाः ।
 पात्रे वाऽप्यवशम्भरे च ममता सन्धयतेऽयैर्नैसाध्यावप्यनिकं पर-

दिविषये मोह समुज्जृम्भते ॥ ८३ ॥ तत्किं हीर्नं हि जायते भगवतां
दीक्षार्थिना लोकतो, लोकानां च धनार्जनं परजनश्रेयस्करं ज्ञायताम् ।
युष्माकं परिरक्षितं गतपटं न श्रेयसे पुस्तकं, ज्ञात्वैवं ममता जहत्वं-
नुदिनं भव्यं भवेद्येन च ॥ ८४ ॥ विद्याध्यापनकार्यलुप्तमधिकं तत्रापि
पाठ्यक्रमो, हा वो हानिकरी विभाति कियती सख्या विरामस्य च ।
नोऽवस्था सुव्रतग्रहस्य नियता नो वा व्रतादेस्तथा, न स्वस्यापि गुरो-
र्विचारमननं कुर्वन्ति काऽन्यत्कथा ॥ ८५ ॥ यच्छास्त्राणि च पुस्त-
कानि पठने चोपक्रमात्पाठने, तानीर्षममतावशाद्बहिर्गृहे ग्रंथि विधा-
याग्रतः । नष्टप्रायगतानि विश्वजलधौ नोद्धाट्यन्त्यालसात्, शिष्येण
प्रतिवासरं च गुरवोऽन्योन्यं प्रयुध्यन्त्यतः ॥ ८६ ॥ वैरं भावगताः
परस्परमहो प्रेमोच्चकाधःपतन्, लोकान्तानि निजानि सकलपयन्
यान्त्या विनायासतः । ज्ञात्वेमां च दशां मदीयमनसि स्याद्दुःखसङ्गं
पुनर्जैनाचारसुशास्त्रतत्त्वमननात्स्वाध्यायवृद्धिर्भवेत् ॥ ८७ ॥ नीतिन्या-
यप्रमाणतत्त्वनिखिलात् सर्वं विरुद्धं मतं, कोऽपि प्रीतिपुरःसरं न कुरुते
कर्माखिलं सज्जनः । तेनाधःपतनं मतादिविहितं धर्माच्च यायान्सुहु-
स्तेनाऽहं च करोमि चिन्तनमहो धर्मस्य वृद्धिः कथम् ॥ ८८ ॥
शवालयगतौ यद्वत्सारमेयौ परस्परम् । युध्यन्तः साधवस्तद्वत्,
युध्यन्ति प्रीतिमन्तरा ॥ ८९ ॥ अतोऽस्माकं च साधुत्वं, गतं नास्त्यत्र
भावना । दुर्दशा कीदृशी जाता, स्वधर्मो निधनं गतः ॥ ८९ ॥
येनास्माकं वर्धते ज्ञानशक्तिर्यस्याधारात्नीतितत्त्वावबोधः । स्वाध्यायस्या-
मूल्यरत्नं वदन्ति, शान्तिर्दान्तिर्ज्ञानरूपे परेशे ॥ ९० ॥ तच्चेदानीं
नाशभावः प्रयाति, नो वा शुद्धिः सयमादेश्च प्राप्तिः । तद्वारा वा नैव
बौधो न भावस्तस्माच्छास्त्रं साधवोऽप्यात्मपार्श्वे ॥ ९१ ॥ तद्ब्रह्मन्थालो-

ककस्यापहेतोर्लोके धर्म्मप्राप्तये वै बहन्तु । येन स्वात्तो रक्ष्य सं-
 मादेन स्वाद्यानि कार्यसिद्धी मुनीषा ॥ ९२ ॥ सप्तास्तर्बान् मारती-
 रोहमप्ये, सन्तो प्रन्वान् स्वापयन्तु प्रयत्नात् । येन स्याद्वै सर्वलोके-
 पकारो, शालैव वै नो विज्जम् हि कर्मम् ॥ ९३ ॥ शुद्धस्फाटिक-
 वत्सरोमह्वयो विद्याकल्लवारिभिर्माम्यस्तापत्रयापहो गुणनिधि शिष्ये-
 श्चकामपद । यथेतादृशमावधारणकर स्वाधेयगुरुः क्षिप्रतः, शिष्या-
 रिष्टनिनाशनं च भवतास्तास्यत्र सन्वेदक ॥ ९४ ॥ एव मिष्टुवराभ्य
 शिष्यरचने श्रेष्ठप्रदा वा प्रया, यः कश्चिद्वदति प्रसीक्ष्यपरः स्वात्स-
 दीवेच्छया । कामात्पारदबद्धहिः प्रसरते वार्ता स्फुटानित्यतः, सुत्वा-
 ज्ञेकवरिष्ठसाधुचतुराः स्वास्यात्स्वरन्त्यम्बु च ॥ ९५ ॥ यत्नेनावम-
 द्विवो यदि यत्नेन स्वाद्धरः शिष्यकन्तस्यापि प्रमयेस्तुर्जीवनवरं श्येके
 च धन्यो जनः । जन्ते सिद्धिज्जन्तेऽन्तरस्वघटको दुर्वासना बर्द्धयेत्,
 नाशार्थं समये सुसंयमवमाजित्य यत्नते मुहुः ॥ ९६ ॥ संप्रहः पुस्त-
 कानां यो, दोषो क्वचित् तद्विषयम् । शिष्याणां करणे तद्वन्महान्
 दोषो हि जायते ॥ ९७ ॥ मातापित्रोर्बिनाहां च, व्यव दीक्षोत्सवे
 बहु । जपन्ययमपि कर्तुं, मेरवन्ति मुहुर्मुहुः ॥ ९८ ॥ मिश्रकः शिष्य-
 तृष्णातो, मष्टवन्ति धर्मकर्मतः । स्वगौरव प्रतं चापि, नाशयन्ति मुषा
 स्वतः ॥ ९९ ॥ रोगस्वासेममस्तीह, शान्तिं भीतामिनो वर ।
 महावीरस्य संप्रस्य, सेवा सर्वावसाधिनी ॥ १०० ॥ सम्प्रदायात्पुरो-
 धेन, संस्रमादेभ्य सेवनम् । गच्छन्नाद गुरोर्बाह, शिष्यत्वाद् विषयं
 येत् ॥ १ १ ॥ मारतस्यासिद्धसैकगुण्याचाप्यो भवेन्नुवम् । भूत्वा
 तस्यैव शिष्यास्तु, उपायां पात्मन्तु च ॥ १०२ ॥ यः कश्चिदीक्ष्य

प्राप्तुं, समीहेत मुदान्वितः । स्वदेशे सयमं दीक्षा, निर्वेदेन च धार-
येत् ॥ १०३ ॥ तदा व्यवस्था सन्मार्गं, गत्वोन्नतपदं ततः । गच्छेच्च
शिवसम्प्राप्तिः, सर्वेषां नो भविष्यति ॥ १०४ ॥ सङ्घे चैकं स्थाप-
नीयो गणेशः, सर्वानर्थान् वेदितुं यः समर्थः । येन स्यान्नः सम्प्रदा-
यानुरोधाद्धर्मे वृद्धिश्चिन्त्यतां भिक्षुवर्यैः ॥ १०५ ॥ कश्चित्समाजस्य
महत्पदास्पदं, विभर्तुमिच्छेत् किल तस्य वागुराम् । कर्तुं करे स्वस्य
सदेषणास्ति वा, प्रगृह्यता चेद्वरिवर्ति शक्तिः ॥ १०६ ॥ कश्चित्स्वयं
सर्वसमाजकार्यकर्ता तथा धारयिता बुभूषुः । तथा व्यवस्थापि समाज-
शक्तौ, स्वशक्तिमास्थापयितुं प्रवृत्तः ॥ १०७ ॥ कस्यापि चेच्छास्ति
समाजनेता, सदा भवेयं च सुशासकोऽपि । एतद्वितेच्छा च प्रवर्ध-
तेऽनिश, सर्वस्वमेवास्तु मयि प्रपन्ने, ॥ १०८ ॥ यदीदृशीच्छा परि-
वर्तते तदा, समाजलोपोऽपि भवेद्धि शीघ्रम् । इत्थं समाजस्य च
दुर्दशा भवेद्विचिन्त्यता जैनमुनिप्रवीणैः ॥ १०९ ॥ कृच्छ्रादाप्तपदो-
न्नतोद्धि पतनं निम्नं समाजस्य च, एवं गौरवनाशतां परिव्रजेत् सर्वे
भवेयुस्त्वरम् । दुःखार्ता जिनदेवभक्तिनिरता धर्मोऽपि नाशं व्रजेत्,
ज्ञात्वैव जिनशासनोऽनुदिवसं तद्रक्षणे स्वीयताम् ॥ ११० ॥ रोगो-
ऽनेन समाजमोगविषये वृद्धिगतो नित्यगः, साधूनामहमात्मिकाविकृ-
तितो नष्टाऽधुना सम्यक्ता । सर्वेषां हि महत्त्वतत्त्वविषये जातैषणां
सर्वतो, मानं चातपधावने निपतितं मिथ्यापलापो मिथः ॥ १११ ॥
भिक्षूणामभिमानभावमधिकं काषायसंसेविनामेतस्यापणमार्गभागविषये
जातं महर्घं ध्रुवम् । योग्यायोग्यविचारणापि विलयं याता समाजस्य
किं, तेनैवास्ति समाजकोऽपि नितरां पिष्टस्ततो धुण्णवत् ॥ ११२ ॥

कुसाग्रोगमयाद्भवन्तु मुनयश्चैतन्यमात्राः पुरः, सर्वेऽन्योन्यगताश्च लोम
 मुक्त्वावेकं गुरुं कुर्वताम् । सादृशं सफलागमैश्च हितहृत् सम्मान्यतां
 मेमता, निबिन्तां ममसा मुञ्चिन्मुनयो हिमां मयस्यां गताः ॥१११॥
 यो वीक्षास्त्रविरोऽप्यवा सुतपरो वा सचरित्रे रतो, यो वा भोगकरो
 समाभिनिरतश्च सेवयन्त्पावरात् । भक्तिं तत्र बहन्तु चैन्मुनय मेम्या
 तथाऽन्यैर्जनैः, मेमोत्पन्नमयैः सुपातसमयो कुर्वन्तु सङ्गमनाम् ॥११२॥
 ॥ इति ममाकान्दनकाव्यस्य पूर्वार्धं समाप्तम् ॥

ममाकान्दनकाव्यस्योत्तरार्धम् ।

नत्वा *जिनेन्द्रमवकम्प्य च तत्पदाब्ज, संसारस्तापत्रयतापहरं वरे
 प्यम् । आद्भोदमाय मुनिधर्मविषयैर्नाम, मत्स्या करोमि सरक च
 निबन्धमेतत् ॥ १ ॥ अये ! साधो ! वैवाह्यतमरक्षरीरश्च सुम्ना,
 महावीरं सेम्मान्बुबन्धनमाभिप्रसन्नमन् । मत्स्याधोषी पोतं विषमसूत-
 तृप्यापहरणं, मन्वन्ते नो कस्यचरिदकमुकमानकसमम् ॥ २ ॥
 भिक्षार्थिनो मुनिवराः समयेऽप्य कस्यचर्म्मोपदेशकरणे न च वृत्तपत्रैः ।
 तन्वन्ति लेखकरणाजिनपुच्छधर्मा, श्रीवर्षमानकल्पनाकनुमकीर्विम्
 ॥ ३ ॥ ममाकसंधं परिपक्तां दक्षां, नमन्ति तेषामुपकारवृत्तवा ।
 सुमाननीया शुभकृत्यशक्तयस्तथैव पाण्डुस्तिरथ कर्मा ॥ ४ ॥ उत्त-
 मसम्मोहमसुप्रबारे, सहायता पाप्मि सुवैव देया । सस्वप्नपारे निर-
 तैश्चपस्तिमिर्होऽभिमानादिपरिग्रहश्च ॥ ५ ॥ उत्तमसेवामनिर्घं विद-
 युर्वासत्त्वमादाय बदेपुरेवम् । मानापमाने म च तापहर्षी, कुर्वन्तु
 चैनाममबासिनश्च ॥ ६ ॥ नेच्छेयुरम्यत्र पद्म भगवन्, यो मानपत्रेऽ-

भिरुचिं विद्वद्भ्युः । लोकान्तरप्राप्तिनिमित्तभूतसज्ज्ञानकर्मादिकरा
भवन्तु ॥ ७ ॥ अत्रान्तरे मानवत्वं त्यजेयुः, सत्साधुसेवा नितरां
विशेषा । सत्त्वात्मिका वृत्तिमनूपसृत्य, मनश्च स्वाध्यायवले नियुज्य
॥ ८ ॥ स्वजीवनेनाद्यसमाजसेवा, रक्षिं गृहीत्वा परिरक्षणीया । निश्चित्य
चित्तेन समाजवृन्दे, साहाय्यदान करणीयमाशु ॥ ९ ॥ अथाभ्या-
ख्यानप्रहरणम् ॥ सन्दृश्यते भिक्षुवरा^१ मयाद्य, किञ्चिद्विकारान्वित-
साधुभावाः । तेषां च जाते परिवर्तनादिक, कुत्सान्वितं तेन विचार-
णीयम् ॥ १० ॥ दुष्टस्वभावान् कथयन्ति चान्यान्, कुर्वन्ति स्वस्यैव
प्रशसनं च । विद्वत्सु दोष परिभावयन्ति, गुण पिघायाथ गुण स्वकी-
यम् ॥ ११ ॥ प्रकाशयन्ते च स्वकीयदोष, पिघाय ते सयमिनः
वरिष्ठाः । निन्दन्ति ते दुष्कृतिनोऽभिमानात्समाजभाजः प्रवदन्त्य-
सिद्धान् ॥ १२ ॥ यदापहर्तुं वरिवर्तिं शक्तिस्तदेतरस्थान् गुणदिव्य-
संधान् । आच्छिद्य सिद्धप्रवरा भवेम, इति प्रजल्पन्ति विचारशून्याः
॥ १३ ॥ मदीयेऽत्र काये यदि शक्तिरग्रा, जगन्मात्रजातान् गुणा-
नाविच्छिद्य । स्वकीये तनौ स्थापयित्वा वरिष्ठो, भवेत् तदा सर्वतो
माननीयः ॥ १४ ॥ परन्त्वस्ति भव्यं न चेदृग् बल वा, न त्रिज्ञान-
शक्तिर्विधातुं कुतः स्यात् । परेषां च निन्दाभिधानं मुखेन, परं मन्यते
शाकपत्रादिकल्पम् ॥ १५ ॥ अयेऽन्यत्र निन्दे ! न लब्धं पदं ते,
विहाय स्थलं साधुसघे प्रवेशः । कृतस्ते न जाने सदा दूरतस्त्वा,
त्यजेयुर्जना मानवन्तो मनस्तः ॥ १६ ॥ अये पापिनि त्वत्कृते धर्म-
नाशे, भवेन्निष्पत्ताश्च नो धारयत्वम् । अतस्तैर्मुखं नीलवर्णं च नाश-
समाजाद्बहिस्त्व गता चेद्वरेण्यम् ॥ १७ ॥ अयेऽनिष्टभावे ! पिशाच-
स्वभावे ! सुनीनां समाजात्त्वमन्यत्र गच्छ । न भव्यं भवेत्तत्र समे-

छने च सुजाते सुरम्ये कुतस्तेऽय पासः ॥ १८ ॥ सदा सूर्यवर्मण
 ते न प्रवेशो, यम यश्चिन्ता शानिनोऽप्यसृष्टया । मुसं पश्यतेऽप्ये च
 समेष्टन नो, भविष्यत्यनायासतश्चाजमेरे ॥ १९ ॥ न यद्येऽतिरिक्तं
 समाधान्युनीनां, मनो मे प्रसक्तं समाश्रयसमे । अतो पारणीयं मन-
 स्तस्य सिद्धौ, यतो नो भवेद्दर्शनामो मुनीनां ॥ २० ॥ बर्यं पाव
 (सं) मोनान्मुदोद्यत्यप्यप्यामहे द्वादशाब्धान् सदा प्रेममावात् । अरप्ये
 निवासाय यत्न विषाय, तमावेकवर्षं मुहुपारणीयम् ॥ २१ ॥ सदा
 निर्मित पात्रमेकं सर्वेषु सुख पारणीयं गृहस्यै समं नो । क्वानिहि
 धेयाऽश्रुमा सङ्गतिश्च, दत्त प्रेषण वर्जनीय सर्वेषु ॥ २२ ॥ सुसाध-
 सिद्धेऽथ कर्तव्यमेव मिताहारमेकत्र काले वरीयः । मिस्त्रिणा च
 सांबत्सरं पञ्चवैक, वयं चास्त्रिणा साधवो यत्नतश्च ॥ २३ ॥ सदाऽऽ-
 चार्यवर्ष्याऽन्विष्यन्तां मुनीनां, बुधैको भवेच्छिष्यश्चिन्ताप्रदायी । त्वमे-
 युर्विचारे च य मेवपाद, करिष्यामहे ज्ञानविज्ञानवत्सम् ॥ २४ ॥
 अहो ज्ञानरूपेऽयं गङ्गाप्रवाहे, सदुस्ताहस्यकिं च कुर्मोऽतिवर्षात् ।
 समान्येऽयं सर्वे मिस्त्रिणा त्वदीयं बहिष्कारयेवं करिष्यामहे च ॥ २५ ॥
 वदा ते भवेन्मूढममोऽयं निन्दे ! कथं त्वं समाप्ते च तिष्ठेद्वेदेनः ।
 यदा ते श्रुतिस्त्वपिक्वाराज्येषेत्, तदा ते क यान् भवेद्बुद्धिं क्षिप्तम्
 ॥ २६ ॥ सुसम्पन्नस्य प्रसंगे बलेन, बहिष्कारमावो न आता
 क्वाकित् । स्मर ! त्वं सुख गावज्मेको त्वदीय, कक्षीय तदा मैव सन्द-
 र्शयामि ॥ २७ ॥ तदा मैव केनपि साकं वदामि, तदा मौनमाधाय
 तिष्ठामि शब्द । यदा वैमनस्य शरीराय मेऽयं, त्वमि निन्दनीये गते
 जैनसंघात् ॥ २८ ॥ यदा श्रोतुमुदिसदा ते मिवासीऽन्यथा त्वं प्रया-
 षीति संघान्मुनीनाम् । जगद्विस्तं नो विशिष्टं निन्दे ! निव-

तस्वै तूर्णं वने पर्वते वा ॥ २९ ॥ इतः पेपणं ते करिष्यन्ति
लोका, अतोऽन्यत्र गन्तव्यमेव विचार्य । न वा भद्रमत्राधि-
वासे वलिष्ठे, जगत्ते करिष्यत्यहोऽनादरं हि ॥ ३० ॥ भवद्भिः
मुखात्स्वाच्च त्याज्या वरिष्ठैस्तपस्यावलं सयमादेर्वलं च । तथा
संघसेवा वलं चात्मनोऽपि, भवेन्नष्टमेवं हि सर्वस्वनाशः ॥ ३१ ॥
मया निश्चय दीयतेऽद्य भवद्भिः, परित्यज्य निन्दा सकर्तव्यतां हि ।
तथेर्ष्याभय क्रोधमात्सर्यमेव, समाहृत्य धर्मं चरेयुर्विरक्तिम् ॥ ३२ ॥
[अथाऽपलापविषये] यदा कश्चिदायाति पार्श्वे स्वकीये, तमुत्थाप्य
हस्तेन चोद्ध्वं (हर्म्यं) नयन्ति । तथैकान्तगेहे च तेनैव वार्ताऽपलापं
प्रकुर्वन्ति मोदैः प्रमोदैः ॥ ३३ ॥ विनाज्ञानसम्पन्नमेकं स्वशिष्यं,
विधायाथवा द्वारपालं स्वकीयम् । विनोदेन कुर्वन्ति कार्यं विगर्हमहो
वर्तते कीदृशी साधुवृत्तिः ॥ ३४ ॥ मुखे चानने चक्षुषा चक्षुरेवं, तथा
कर्णके कर्णवृत्तिं निधाय । करोत्याहितः किञ्चिदात्मानुकूलमनिष्टप्रदां
सर्वनाशाय वार्ताम् ॥ ३५ ॥ निन्दा यस्य मुखेऽस्ति तापसजना-
सत्कर्मतो धर्मतो, अश्यत्यत्र च तस्य नश्यति तपो ज्ञानं पुनः
संयमः । तस्मात्ता परिहृत्य सयमपरैश्चित्तं समाजे मुहुः । सस्थाप्योत्त-
मकर्मसेवनपरैर्जैने मते दीयताम् ॥ ३६ ॥ यदैकस्मिन् स्थाने निव-
सति मुनिस्तत्र न परान् । समाजस्थान् साधून् न हि हितकरानाहित-
धियः ॥ निवासाहान् रागान्निजनिकटतो दूरयति च । तथा वार्तालाप-
तैः सह हृदा नैव कुरुते ॥ ३७ ॥ समानीतं तैश्च मधुरजलमन्नं न
मनुते । न वाऽऽतिथ्य तेषां न च किमपि सत्कारकरणम् ॥ परं चैवं
ज्ञात्वा परमतरताञ्छन्त्यहृदय । अहं वै पश्यामि व्रतमपि च तेषां
मतिहरन् ॥ ३८ ॥ यथा श्वाऽन्यश्चान् परमनिजकोपेन निकट ।

ममाय मत्प्राप्त किमपि न हि पाशु ममवतु ॥ विचार्येत्येव शब्दीकिं
 कस्मिन्नसा वूरयति च । मुनीनां संवेद्य भवति कस्यहो द्वेषममसा
 ॥ १९ ॥ मसमोऽयं इष्टा गदि भवति कश्चिन्मुनिवरस्तथाऽन्योन्य
 द्वेष विषममतिमोत्याय कुरुते ॥ पश्येयं नीतिन हि न हि न ज्ञाने
 कथमगात् । इत् मेष्टमगा कपिरपि कपोताय सुषिम ॥ २० ॥
 मिस्तिस्वेमेऽन्योन्य समयमनसा रक्षणमहो । सदा कुर्यन्त्यन्ये विषय
 सुखमोगेऽपि नितराम् ॥ सदाया वायन्ते इति मनसि निमित्त
 भवतो, (परं द्वेषा युक्ताः सुखगुणवन्तो मुनिवन्मा) विदुष्यन्त्या
 सत्त्वा विषयगुणमोगैकनिपुणाः ॥ २१ ॥ [अथ शान्तिकराष्टकम्]
 न वा साधुवृत्तिर्न वा कोपशान्तिर्न वा संयमादौ मृष्टिर्मुनीनाम् । न
 हि ज्ञानसिद्धिर्न विज्ञानवृद्धिः, कथं चैनसंवि निवृत्तिर्नानाम् ॥ २२ ॥
 गता संयमवृत्तिर्गताविचरोधो गतं ज्ञानमस्य गतं बुद्ध्यान्माम् । इष्टा-
 र्नीतिनामां मुनीनां मृष्टिः, सुखे शान्तके वायने शिष्यवर्गे ॥ २३ ॥
 गताऽऽप्यात्मविद्या गताऽऽनन्दवृत्तिर्गता भावमवृत्तिर्गता 'संयमि' ।
 गता मिष्टुत्वेवा गता बर्मवृद्धिर्गता शान्तमम्यां निवृत्तिः शुभा न ॥ २४ ॥
 गतं ज्ञानमस्य परं वैर्यरूप, भवतो नष्टतोऽतो मवेद्वर्महानि । कथं
 स्वाद्वबाम्मोधिपारं मुनीनां, विना सत्किमां चिन्त्यम्य ममस्तः ॥ २५ ॥
 सदा शिष्यलोमात्रमे नः मृष्टिर्न वा चिन्तन कोविदानां च सजे ।
 ज्ञानेकान्तसिद्धान्तस्ताभ्यायहीमा, मनोरोधने नो गतिर्वा कथं स्यात्
 ॥ २६ ॥ गता चैनसंवाद्या साधुभावाद्भूतो न्यायसिद्धान्तमन्यो विचारः ।
 सुसम्पत्त्वमानन्दकन्दार्थ नो, भूतं नैव विरे कदाचिन्मुनीन्मै
 ॥ २७ ॥ अज्ञाप्यायतोऽज्ञानवृद्धिमसत्ताद्भूतं ध्येयरूपं सुसम्पत्त्व
 कथम् । सदा चिन्त्यते केन मम्यं धर्मेष्टमगा येऽनीतिः । यथा संय-

साम्यम् ॥ ४८ ॥ न वाऽरण्यवासो न वा त्यागशक्तिर्न वा चावनं
 धर्मतत्त्वस्य शश्वत् । वरीवर्तिं चिन्तोदरार्थं सदैव, अतोऽहं तपाम्यात्त-
 भाव यतीशाः ! ॥ ४९ ॥ भजन्त्वाहिता देवदेवं जिनेश, यतो जायते
 दुःखमूलस्य भगः । तथा सवृतौ प्रेमभावो निवृत्तिर्भवांभोधितो
 ज्ञायतां साधुवृन्दैः ॥ ५० ॥ गता मोक्षप्राप्तिर्गता लब्धिशक्तिर्गता रे
 गता रे जिनेशस्य भक्तिः । मुनीनामिदानींतनानां प्रवृत्तिः, सुखे
 शायके चाशने शिष्यलोभे ॥ ५१ ॥ गत वस्तपो योगचर्यापि
 नास्ति, गतो ध्यानस्वाध्याययोगोऽपि दूरम् । गतः सूत्रपाठो गतं न्याय-
 सूत्रं, न स्याद्वादवादे रुचिर्वा कदाचित् ॥ ५२ ॥ गतोऽध्यात्मवादोऽ-
 ल्पितो जैनसंघो, गतं रे ! गतं रे ! गतं प्राकृतत्वम् । इदानींतनानां मुनीनां
 प्रवृत्तिः, सुखे शायके चाशने शिष्यलोभे ॥ ५३ ॥ [अथापाय-
 निवृत्तेरुपायः] रे चित्त ! चिन्तय जिनाम्बुजपादरेणु, पारं गमिष्यसि
 सुखेन यतो भवाब्धेः । शिष्यादयोऽन्यजनता न हि ते सहायाः,
 सर्वं विलोकय मुने ! मृगतृष्णिकाभम् ॥ ५४ ॥ संसारसागर-
 मगाधमगम्यपारं, श्रीमज्जिनेन्द्रचरणाम्बुजश्रद्धया वा । उल्लङ्घयिष्यति
 सुखेन च ते प्रयासस्तस्मात्कुरूप्व मुनिभक्तिमधौघहर्त्रीम् ॥ ५५ ॥
 सुखे दुःखे किञ्चिन्न भवति समाजान्तरमुने, सहायो रागान्धो निज-
 हठधरो द्वेषनिरतः । तथा विद्याभ्यासं प्रतिपदवमन् द्वेषमनिश,
 घृणा तद्वल्लोके निजमतिविरोधेन तनुते ॥ ५६ ॥ जना उच्चैर्हासं
 विदधति घृणापात्रमिति वो, न वा संघप्रीतिर्न च सहनिवासं
 प्रकुरुते । अतो मोहस्पर्द्धेर्निःखिलमतके नैव भवतां, सुजातं
 बन्धत्वं दृढतरसुरज्वा मुनिवरा ॥ ५७ ॥ यदा वृद्धिर्मोहावृत्तिरपि
 कथं शान्तिरधुना, न वा जाताशा न पुनरपि सहावासकरणे । निवृत्ते-

मोक्षस्य कथमस्ति लोकानुसरणे, विनाम्यैव सन्तः कुर्वन् धुन्यो मोक्ष-
 धमन्म् ॥ ५८ ॥ कुरीतीनां मासो भवति हि यः स्मरेत्पि तर्था-
 सहासात् पश्चादनुभवविज्ञानमभवत् । तदा मेम्याऽऽप्नोते सह-
 दमश्चमादेः सुकरण, ज्ञानाधारे ज्ञेने निवसति सदा विष्णुमयम् ॥ ५९ ॥
 स साम्योक्तये वा भवति सहासासस्य अनर्क, परं च शान्त्योक्तमपि
 तस्माद्दि फलम् । यदाऽभ्यासासक्त मुनिमपि वदन्त्यादितर्था-
 समं केन स्पर्शा निगमसङ्गताऽध्यात्मविदुषा ॥ ६० ॥ सुविद्या-
 ज्ञस्य यदि मनसि चिन्ताऽप्युदयते । तदा स्पर्शविनिर्निस्सिद्धिमुनिसपि
 विवसति । तदा विद्यात्मनो भवति मुनिश्चैरपि ता । मये विख्यातिः
 स्वान्निजनिजमताचारवशतः ॥ ६१ ॥ विद्या स्पर्शा न्यपि प्रसरति
 समुत्साहविषय । सहासासे वैवं न लगति मनश्चैव तया । विमान्तः
 स्वाध्याये न वसति मियो वृत्तिरचस्य । ततो विद्यात्मनो भवति विदुषा-
 मोदसहित ॥ ६२ ॥ सहाध्यायिनि वा सहासासिनि वा, विनाधीत-
 विद्याविनोदमचारः । सहाचारिणं चान्तरा नो विचारी, ततो न्य मये
 च्छास्त्रतत्वावबोध ॥ ६३ ॥ तथा गावलोको भवेच्छास्त्रार्थः, विना
 छन्दस्ते नैव पुहि प्रयाति । न काठिन्यक स्थायिमात्र तदैव, निर्द-
 चित्तमिच्छी मुहुश्चिन्तयन् ॥ ६४ ॥ तथाऽध्ययनतोऽभ्यासाद्विद्या-
 रात्ममुत्पद्यतेऽपूर्णशक्तिप्रवाहः । यदैकप्रवातो मिश्रित्वाऽस्तितर्था तदा
 यत्र मेपां प्रवक्षोऽधिकोऽस्ति ॥ ६५ ॥ मयीजोऽध्यासा वै विरोधापि
 कारी सहाचारिणे वा सहाध्यायिने च । सहासासिने वा मयीर्ज-
 करोति भवेत्तस्य सौख्य नितान्त मुनीनाम् ॥ ६६ ॥ स्वकीयेन तुल्य-
 य याम्य विद्याम्, समाजे समुद्योगना वै करोति । अतो मेदमात्र
 परित्यज्य शक्ति, स्वकीयां तथा योग्यतां सन्तुष्ट ॥ ६७ ॥

चरित्रं सुविद्या परस्मै ददातु, सुवक्तृत्वबोधोऽस्ति क्लेषां-विशेषः ।
तदा तत्कला चापि देया परस्मादयं नो विचारो हृदा धारणीयः ॥ ६८ ॥
स्वविद्या मया दीयते चेत्परस्मै, तदा तस्य लोके प्रतिष्ठाऽधिका स्यात् ।
तथा योग्यता वृद्धिरेव प्रयाति, विचारं च नैव कदाचित्करोतु ॥
(पठित्वा च विद्या प्रदानेऽधिका स्यात्) ॥ ६९ ॥ तदा ज्ञानवृद्धिश्चरि-
त्रप्रवृत्तिर्गिरिष्ठो जनेऽथो भवेस्त्व विचार्य्य । परस्मै कुरुष्वार्पणं स्वं
गुणानां, समाजे प्रवृत्तिर्विधेया सुखेन ॥ (तथाऽनन्यभावेन प्रीतिं
विधाय) ॥ ७० ॥ यथा यश्च यस्यै विधेते च भावं, तथैवेतरोऽपि
करोत्यात्मभावम् । धिया प्रेमभावो विचार्य्यैव कार्यो, यतोऽन्योन्यसं-
लन स्यात्सुसौम्यम् ॥ ७१ ॥ न याचे गुरोः पादसेवातिरिक्तं, विरक्तिं
तु वाऽऽध्यात्मविद्याप्रशक्तिम् । परं प्रेमतः साधुभाव प्रयाचे, समाजो-
न्नतिर्येन मे तद्विधेहि ॥ ७२ ॥ त्रिधा तापतप्तोऽहमस्मिन् भवाब्धौ,
कथ मे निवृत्तिर्भवेहु खरागे । अतो मेऽमिलापामिमा पूरयस्व, गुरो ?
त्वा दया मे विधायार्थ भावात् ॥ ७३ ॥ जीवन्मरणकरीं निधाय त्रि-
दामास्येऽनिश पट्टिका, काये चोल्लपटं विलुचितशिख कक्षे सितां
मार्जनीम् । विद्याशून्यमुखारविन्दहृदयः श्राद्धादिकैर्गीयते, लोकान्
शिक्षयितु सुवेशरचना यस्यास्ति तस्मै नमः ॥ ७४ ॥ उपर्युक्तमर्थं हृदा
धारयित्वा, सुविद्याविनोदे मनो धारणीयम् । न हास्य भवेत्ते सभायां
मुनीश ! यतो विद्यया सर्वमान्यो भवेस्त्वम् ॥ ७५ ॥ परं भावुकत्वं च
सद्वृत्तिरेव, सदाचारता चोच्चता भावनाया । तथैवोन्नतत्वं चरित्रस्य
भावि, जना प्रेमदृष्ट्या प्रतिष्ठा प्रकुर्य्यु ॥ ७६ ॥ प्रतिष्ठाऽपि ससारम-
ध्येऽधिका स्यात्समाजेऽपि विद्वान् भवेच्चोपदेष्टा । तथा वक्तृतादायको
अन्यकारः, सुजाते महावीरदेवस्य शिक्षाविभागेऽधिका चोन्नतेर्वर्धिका

स्मात् ॥ ७७ ॥ मयैकाचिदित्थं जने योग्यता च, तर्थां सक्तिमा-
 नोऽस्ति यस्मिन् विशेषः । प्रदेयस्तदान्ये नरे भक्तिस्तथा, सुविज्ञान-
 इन्द्रियतया शक्तिरुक्तिः ॥ ७८ ॥ लक्षकेत्याद्या योग्यतायां च विद्यो-
 पयोगस्तु बुद्धौ च संयुक्तवीर्ये । शुभं योजनीयं शुभं योजनीयं, तस्य
 सत्यं शंकां निराहृत्य छोके ॥ ७९ ॥ [अथ परोपकृतिः] शिक्षा-
 प्रेमभरा पवित्रहृदया भिक्षार्थिनो ध्यान्तो, ज्ञानन्तां प्रतिजीवकर्म-
 समये सम्स्यात्मबिन्दुं मुहुः । मत्तानन्तपरोपकारकरणे ह्यत्र भवन्त्या-
 दिता, सत्यं नैव कदापि विस्तृतिपत्रं कर्तव्यमेव बिन्दुः ॥ ८० ॥
 धर्मं मोक्षतिष्ठार्कगौरववशात्तान्यश्रोणे करः, येन स्वातुपकारकेऽनु-
 दिवसं स्नेकोपकारी भवेत् । न खान च कविप्रदेयमधुना मेदस्त-
 मावस्य च, सामाज्ये वितरन्तु कार्यपरतां ध्यात्वा ह्यत्र मिश्रकम् ॥ ८१ ॥
 साहाय्यं च भवेन्नान्तारमुदेऽन्योन्यं विचारेण च, सक्तौ स्वादुष्य-
 वत् विवरणादेकं विचारस्तथा । तन्नाह्यात्म्यवत् भविष्यति पुन-
 स्वादुक्तस्त्वेन हि, संयुक्तस्य वक्ष्यस्य वर्द्धमानो स्वात्तोऽन्योन्यासता
 ॥ ८२ ॥ एकस्वान्यसहायकोऽनुदिवसं मूला सहाय्यं कुरु, सान्ते
 वासकराय देयमनिकं नो वा विचारो मुने । विधैव च समाजके
 प्रसरति स्नेकोपकारसतो, ज्ञात्वा सर्वमिदं विचारनिरता श्रेयस्करा
 बुध्यताम् ॥ ८३ ॥ [अथाऽऽधुनिका सम्यक्त्वादानैरुक्तिः]
 कथान्तपत्रमेव च भिक्षुचारेणाधीनैनेषु च सम्यक्त्वं प्रविधाय याग-
 मिषतः शिष्यं सक्तीयं तथा । गर्तं पक्षपरं विनेतुमसतां रुद्धिर्विधिना
 गता । मीत्वा सार्द्धमिषं प्रहृष्टिरतुल्यं वात्या स्वरूपेण च ॥ ८४ ॥
 मूढोऽन्यमितीव शेषविषयाऽप्येवो मुनीन्धिरतो । वृक्षाणामिषं संहतेषु
 नितरां स्वाधेन ग्राह्यो मुहुः ॥ सम्यक्त्वस्य तन्नाह्यसंयविसंयु-

द्वाऽपि नोत्पद्यते । अन्यत्रापि न भक्तिभावसहितप्रेमोपकारादिकम्
 ॥ ८५ ॥ गुप्तिभावसहानुभूतिरपि च जजन्यते नो मुनौ, तस्यैव
 ग्रहणे सदा हि निरतो भक्तोऽपि दासोऽपि च । सम्यक्त्वस्य विता-
 ननोत्तरमदः सञ्जायते वा ततः, सम्यक्त्वाच्च तथास्तिकत्वमपि च
 माध्यस्थ्यकत्वं पुनः ॥ ८६ ॥ वैषम्यं च भवेद्यतोनुदिवस दूरं तथा
 निष्ठता, सत्वस्याऽप्यनुवर्तन सरलता चायाति सौजन्यता ॥ आत्मीय-
 त्वमथो गुणग्रहणता सत्यं सुसेवा परा । (ज्ञातव्य सफल मदीयसुमते !
 सम्यक्त्वकस्याधुना,) दृश्यन्ते प्रतिकूलता गुणगणा ज्ञातव्यमेवं बुधैः
 ॥ ८७ ॥ आत्मज्ञानपरायणाः सुजनतासक्ता जिनोपासकाः, काम-
 क्रोधविवर्जिताश्च शमतो रागादिशून्याशयाः । सज्ज्ञानाभिनिविष्टधर्म-
 रसिकाः सदानशीलानुगास्त्यक्तेर्षाश्च परोपकारनिरता जैना भवन्त्वी-
 दृशाः ॥ ८८ ॥ कालेऽस्मिन्नहि दर्शनस्य विषयः कण्ठी यथा स्याद्गुरो-
 रातङ्गो विषमत्वकस्य सुतरामाच्छादयत्याशु नः । भूकम्पोऽपि च
 पक्षपातविषये चायात्यनायासतो, रागद्वेषसमाजवृद्धिरतुला निन्दा तथा-
 न्यस्य च ॥ ८९ ॥ बीजारोपणकारकस्त्वमनसा सदृशने वा गुरुर्मक्तं
 स्वस्य च सेवक पुनरहो कृत्वा वदत्यादरात् ॥ पश्येतो वचने मदीय-
 रचने ध्यान कुरुष्वहितं, शिष्यस्त्वं मम साधकोऽस्मि च गुरुरद्या-
 वर्धि ज्ञायताम् ॥ ९० ॥ मत्तोऽन्य न हि मन्यतां गुरुवरं साधुर्वरो
 ज्ञायतां, सन्त्यन्ये यतिपार्श्वगाश्च भवता सन्दृश्यता ध्यानतः । नान्य-
 स्मिन्नमने शिरस्तव मया त्यक्तं मदीयानुगे, मत्पादास्त्रुजवन्दनं अति-
 दिन मक्त्या कुरु प्रेमतः ॥ ९१ ॥ व्याख्यानं न हि चेतस्य मुखतः
 संश्रूयतां वाक्चित्त्वक्षेत्रे न च दीयतां निवसन तेभ्यश्च नो स्थाप्यताम् ।
 चातुर्मास्यव्रत न तैरपि सह कर्तव्यमेव धिया । आनीय न च सोऽजितं

पुनरप्यो तेभ्यश्च देये कथित् ॥ ९२ ॥ नेह सर्वमपस्तुतिं कुर्वन्
 ज्ञेत्सर्गोऽपि न स्याद्भूतिधर्मं मोक्षपथं च नाकम्भवा सत्सैव पापौ
 स्विहम् । आनन्त्येवमहं शुभोऽस्मि निसिन्नावन्येऽपरा सन्ति च, ब्रह्मेय
 परिष्कारतामविरत स्याद्वन्धकारावृताः ॥ ९३ ॥ अस्त्यन्योऽपि महाब्रु
 भावविषय सन्ध्याभ्यर्चतां चित्ततः, सत्यमष्टप्रदक्षमन्यमुनिमिस्त्यक्त्वा च
 तत्स मुन । सम्पत्तय च प्रत्याय नैव कुर्वन्ते सर्वोत्पथ मानतः, केचि-
 त्सत्त्व समीपके च रहसि सन्निवसित्वा मुखा ॥ ९४ ॥ संन्यस्योत्तम
 ब्राह्मेय सदृशो नामाद्वितं पुच्छक । तीर्थस्नान स्वकीयपञ्चनिबन्धे
 संतिष्ठन्मते नम च ॥ यात्रार्थं च अनाः प्रयान्ति नितरां तेषां यथा
 बहवस्तद्वज्रैर्मतावसम्भन्यरा कुर्वन्ति कुत्सान्विता ॥ ९५ ॥ कठोरा
 लिङ्गबान्ध निन्दास्पर्शाया, प्रवृत्तेषु सत्तामते कुप्रवृत्तम् । ममत्वान्ध
 कारेण संछाद्वर्न स्यात्तथा रामश्लेषादिकम्भाममेतत् ॥ ९६ ॥ सम्पत्तय
 संयुक्तवत्ते च सम्पद् मन्वत्त्वमात्मातमितो विचिन्त्यम् । मर्वायसम्पत्तय
 कस्य मूलं, संछिद्यते कुत्सितया च रीत्या ॥ ९७ ॥ अतोऽस्य रोगस्य
 चिकित्सकत्वं, कर्तव्यमेवं कुम्भामणायाः । तदैकशेषस्य महं विषाद,
 धर्मं मयद्भारि च राक्षसा ॥ ९८ ॥ रोगो यमोत्पन्नतया करोति,
 विकारतामात्मवृत्तीमिकेऽन्त । महान्नर्भोऽभवतीति श्रेयं, पुद्गलमा-
 त्मकृद्दृष्टिमात्रा ॥ ९९ ॥ विषादो दोष परितः करोति, तथाऽनिष्टं
 पुच्छलिकेव दृष्टा । सञ्चर्तयन्त्यत्र विवर्द्धनं च, वैषम्यभावस्य निष्ठस्य
 योगिन् ॥ १०० ॥ स्वकीयजातस्य महाधिकारं, सप्तोदयैव स्वयं च
 सम्पत् । स्वकीयजातेन विनष्टि श्लोकाः, कुतश्च श्लोके मयिवेक
 मुद्रया ॥ १०१ ॥ गगन्ति सर्वे च बरावरं वा, विपारक्षारस्य
 करोति भावः । यावन्ति ते धान्यपरम्परातो, दूरं परं श्लोकावितं

वरिष्ठाः ॥ १०२ ॥ कृते चाभिमाने तपस्यावितागः, समाजोन्नतौ
जायते विघ्नसघः । अतश्चाभिमानं न वै धारणीयं, न वै धारणीयं न
वै धारणीयम् ॥ १०३ ॥ महापक्षपाताभिमानाभिभूताश्चरन्त्यात्मनः
कुपथा लोकगर्हाम् । समुत्पद्यते योगिनी मोहमाया, ततो व्यध्यते
तत्कृते भोगजाले ॥ १०४ ॥ मुनिजनहृदि भानुर्ज्ञानरूपी यदैति ।
सकलदुरितनाशो जायते चाप्रयासात् ॥ विकसति यदि पद्मं ज्ञान-
चारित्ररूप । भवति मनसि शान्त्योर्गसिद्धिस्ततः स्यात् ॥ १०५ ॥
गृहस्था न चास्मिन्महामोहजाले, निबद्ध त्वदीये, समर्था भवन्ति ।
महावीरसघे मिलित्वा च सर्वे, भवेयुश्च श्रद्धालवो जैनश्रद्धाः ॥ १०६ ॥
सदा सघसम्बन्धमात्रेण सर्व, स्वकीयं विदित्वा कुरुष्वाल्मरूपम् ।
[अथ शरीरसाहाय्यदानम्] यदा रोगयुक्तो भवेत्कोऽपि साधुः,
केचित्काश्चिदेव च देशान्तरस्थः ॥ १०७ ॥ न चेच्चानुकूल्यं जलं वायु-
रेव, न तेषां सुखाधायको देश एव । चिकित्सालयं नास्ति तद्देशमध्ये,
न चां साधनं किञ्चिदन्यं विदित्वा । तदा तत्र देशे विहारे प्रवृत्तैर्मुदा-
साधुवर्ग्यैश्च ही दोलिकायाम् ॥ १०८ ॥ समारोप्य वा स्कन्धमारोप-
यित्वा, समानीयतामन्यदेशेऽनुकूले । यदा सम्प्रदायस्य भेदो हि
छिन्नस्तदैव भवेन्नान्यथा वै शुभं स्यात् ॥ १०९ ॥ केचित्स्वार्थपरा-
यणाश्च मुनयः केचित्स्वकुक्षिभराः, सन्त्यन्ये श्रुतसञ्चयेऽपि निरर्ताः
केचित्स्वधर्मच्युताः ॥ विचारलसुवञ्चिताल्पमतयो मृदाश्च, केचिद्भुव,
केचित्साधनसारशून्यहृदयास्ते वै कथं पारगाः ॥ ११० ॥ मुनिः सेव-
नास्त्ये निजे धर्मवृद्धेर्मुहुश्चान्तरात्मातिपूतो विभाव्य । सुशय्यंभवैः
सूरिभिर्वर्णितं च, महत्त्वं भवे भव्यभावेन सिद्धः ॥ १११ ॥ ततस्तस्य
सम्बन्धभावो महान् हि, यतस्तेन सेवाख्यधर्म्मप्रचारः । मनाङ्गनाम

पुत्रो बनेनेव शुद्धो, मुक्ता कारितः साधुसेवापचार ॥ ११२ ॥ इव
 मावस्यं मवसो विद्याभ्यो, यदा सस्य सत्यस्य नाभो मुनीषा । गृही-
 तार एव कदा ग्राहकत्वानिहृता मवेसुष्य पकेन शुष्कात् ॥ ११३ ॥
 पुनः साधुसेवा मुक्तामेव कार्या, मुक्तेष्वपि चित्तेन वाचा विसृज्य ।
 तत्कर्म परं चेति मेव विद्वान्, ह्ययं रागद्वेषान्वितो मेदवातः ॥ (न वाऽ-
 न्यत्र मेदोऽयमेव विद्याभ्य, करोत्वज्ञता साधुसेवा मठस्तः) ॥ ११४ ॥
 वसुधैव कुटुम्बकमित्युक्तिश्चरितार्थता । कर्तव्यास्तिस्रमावेन, मन्त्रिर्कर्म-
 सिन्धुनि ॥ ११५ ॥ यद्वयं अवसो मितावरयुत यौपयकस्य वच-
 नोत्तरा इदमान्यकारहरण व्याख्यानमेतच्छुः । व्याख्यात उभया-
 गमादिबनितज्ञानेन्दुना मृपितो, वे शृण्वन्सुपदेशमेकमन्ता मोक्षन्
 विदुस्तान् मरान् ॥ ११६ ॥ व्याख्यानस्य सुगन्धमसि सिरसि मद्भि
 शुक्लपां मुहुर्मातुद्विबलेदय मुनिगजास्तावच्च व्याख्यानकम् । श्रद्धे
 म्यश्च मुखावयन्ति मनसा महता प्रयत्नेन च । ओत्तारं परिकल्प्यतेऽनु-
 दिवत्तं मेऽज्योपदेश शृणु ॥ ११७ ॥ यः कश्चित्परदेवगोऽपि
 चतुरो विद्वान् समयां महान् व्याख्यानं च कथा तदीवमुत्त-
 म्वाभ्या कथाचिह्न द्वि । ओत्तम्या च सर्वैश्च मेऽज्य मुत्ततः सन्नाम्यतां
 मेमत्, एव ते कथयन्ति साधुमिषुषा वे वास्तवार्थं गताः ॥ ११८ ॥
 देवान्तरागतः साधुः, सम्प्रदायेतरः पुनः । समाचारी ममिषा वा, मरेष्टे
 च समागतः ॥ ११९ ॥ मरमे श्री कथा कर्तुं समर्थो न च कृ-
 तात् । भिन्न मन्त्राभ्या किञ्चिन्नोत्रावितुमीश्वर ॥ १२० ॥ स्तुत्यस्य
 विचारोऽयं, मदेवान्तरयो मनेत् । तदर्थं न हि स्वादेवं, प्रतिष्ठा नैव
 चाम्य ॥ १२१ ॥ भावकार्या च सौमार्म, यथागन्तुकसाधनः ।
 मवाप्तिनः समाचान्ति, तेषां व्याख्यानशुचयम् ॥ १२२ ॥ ओत्तममव

कर्तव्यमिति निश्चीयते यदा । साम्प्रदायिकधर्मस्य, मोक्षस्य शुल्कदा-
यकाः ॥ १२३ ॥ कलहं कुर्वतेऽन्योन्यं, मत्क्षेत्रे स्थानके तथा ।
मदाम्नाये तथा लोके, देशान्तरागतो मुनिः ॥ १२४ ॥ व्याख्यानं न
हि कर्तुं च, समर्थो जायते क्वचित् । ममापमानं भवति, प्रतिष्ठाहानि-
रेव च ॥ १२५ ॥ यो वीतरागोऽस्ति मुनिर्विवेकी, स्वसाधनासक्तधि-
योऽपि रागात् । सोऽप्यन्यव्याख्यानवरातिदुःखं, प्राप्नोति तापं च
महद्विषयम् ॥ १२६ ॥ तथोदरं ताडयतीति दुःखाद्धा ! शब्दम-
त्रापि करोति नूनम् । न वा तपस्वी न च संयमी वै, न वास्ति जैना-
श्रितधर्मरूढ ॥ १२७ ॥ धिगस्तु न. कुत्र गतः स कालः, श्रीगौ-
तमः केशिमुनिश्च यत्र । परस्परं प्रेमसरित्प्रवाहो, बाह्यो महाधर्मरतैक-
तश्च ॥ १२८ ॥ क चाद्यकालीनगतः स साधुर्यश्चोपदेशे हि करोति
तापम् । श्रुत्वाऽन्यसाधोश्च न भाति चित्ते, श्रोताद्यं कुर्याच्च महत्त्व-
पापे ॥ १२९ ॥ श्रुतं त्वया चाद्य मतान्तरस्यसाधोर्मुखाद्धर्मविरुद्ध-
वाक्यम् । व्याख्यानरूपं च करोति शान्तिं, न ते भवेच्छ्रेय इति
अर्धार्य ॥ १३० ॥ श्रद्धानक नष्टमिति प्रघार्यं, तथास्तिकत्वं च गतं
भवेत्ते । अतो न साध्वन्तरतो सुधीशः न श्राव्यमेवं च वदन्ति सन्तः
॥ १३१ ॥ हे मिश्रुकाश्चेदृशरोगयोगान्नष्टा भवन्तश्च मृत. समाजः ।
तद्वेषरागाच्च महत्त्वहानिमुत्थापयन्तीति विचारणीयम् ॥ १३२ ॥
एवं न कर्तव्यमथो दया च, समाजसघे कुरुत प्रयत्नात् । प्रेमामिला-
पेऽभिरतश्च लोको, भवेच्च प्रेम्णा समतोपनद्धः ॥ १३३ ॥ सदैक्य-
भावे न बुभूषुरेव, यत्र स्थितास्तत्र विदेशगानाम् । आगन्तुकानां च
मुनीश्वराणां, देयं भवद्भिश्च निवासयोग्यम् ॥ १३४ ॥ सुस्थानकं
स्त्रीयसहाधिवासी, स्याद्येन भावेन कुरुष्वमेवम् । एकासने त्राप्युपविश्य

सुप्ता, शृण्वन्तु व्याख्यानमनेन्यमायात् ॥ १३५ ॥ पद्माद्वेन्तोऽपि
 सुप्तासनं वरं, तन्वन्तु यथाच सजोपदेशम् । कुर्वन्तु इदं च मञ्चास
 नस्य, सुप्तागतं चापि सदैव सुप्ता ॥ १३६ ॥ साध्यं सुप्तामेकमेव
 मुनयः सर्वे मिलित्वा हृदा । स्वाचार्यं परिकल्पयन्तु सुप्तिं विद्याच
 रित्रात्मकम् ॥ येन स्वाद्य समानकोलतिवत्ता शिक्षाविभागस्तथा ।
 सो वेददर्शविपर्ययस्य समयो आतोऽवधार्यं मुचै ॥ १३७ ॥
 संस्थाप्या किञ्च मारुतस्य अनता पोते च संयात्मके । सिद्धास्यं नगरं
 हृदारचरिता संस्थापयन्त्वादिताः ॥ एतावत्करणेन यतिः भवतां पार
 त्रिकं वैदिकं । सर्वं कार्यमवग्रमेव विपद्यासक्तं मनोहीयन्तम् ॥ १३८ ॥
 लावर्धं च जगद्भवन्तमधुना ज्ञानस्तु चात्मा पुनर्लोकं भवमभवेद्यतोऽ-
 नुविष्टं धारमानुसन्धानम् ॥ एव धर्मपरायणो यदि भवेत्ते/स्वाद्य
 कीर्तिं परा । तस्मात्संप्रविशर्पनाय भवतां स्वाध्यायश्चिन्तयामा ॥ १३९ ॥
 [अथ सुप्ताऽन्यर्थना] भवान् वीरपुत्रोऽस्ति सन्वात्मनूतिरहिंसा
 तपस्वान्वित सत्त्वमाही । तथा चात्मनोऽप्यन्तसुद्धारकोऽस्ति, पुनर्नि-
 सरायानुद्धरं करोति ॥ १४० ॥ मयनेन्नुर्ध्वोपरके वृत्तस्य, दिना
 वधित्वं कुर्वते तपसाद्य । अतस्तपसिप्रवरोऽस्ति कोके, प्रोपाधि-
 व्यर्थस्ति विचारणीयम् ॥ १४१ ॥ तत्सुष्ठो विश्वमिदं च जगन्मह
 च स्वस्वममतिर्न मेऽस्ति । तस्मानुभावोऽपि न सम्परोह, व्याख्यान
 क्षतेऽपि न मेऽस्ति शक्तिः ॥ १४२ ॥ प्रसिद्धश्चापि न चास्ति
 विद्वान्, किन्त्वस्तुतिस्तव व्यक्तोऽहम् । सद्भावतये विदधामि
 सेवां, तथाऽस्ति संयुक्तमवमित्यपी ॥ १४३ ॥ रागादिकुपे विही
 र्नामि मन्द, मतो यदि च्छिद्यतयाऽपमानम् । जगत्तं वा विस्मृतिरा-
 पराधस्तथा हि शुद्धान्तरमावनात् ॥ १४४ ॥ ज्ञानं विधेयमिदं

नुरागात्, समाप्तिमेतस्य हि संकरोमि । परन्तु प्रष्टुं यत्तत्ते मदीया,
बुद्धिः प्रसन्नोऽसि च पृच्छयते मया ॥ १४४ ॥ मदीयवार्ता कटु-
कास्ति किन्तु, लम्भा भवेन्नात्र विचारणीयम् । यदा मदीया कटुकास्ति
वाणी, जातव्यमेव च मदीयरोगाः ॥ १४५ ॥ शाम्यन्ति क्रद्वैपधि-
सेवनेन, शीघ्रं भवेद्रोगनिवृत्तिरेवम् । भुक्त्वा च कट्वैपधमुग्रतेजो,
रोगी ध्रुवं पावयतेऽतिशीघ्रम् ॥ १४६ ॥ तद्रोगशान्तिर्भवतीति ज्ञात्वा,
मदीयवार्तामपि संसहस्व । स्वकीयभावान्न हि रोद्धुमस्ति, शक्तिर्मदी-
येति विभावनीयम् ॥ १४७ ॥ महानुभावोऽस्ति च दुर्बलोऽसि,
तथाऽसमर्थोऽहमिति प्रधार्य । क्षमा विधेया च महात्मनस्तु, भवन्ति
क्षान्तेश्च सुभाजनानि ॥ १४८ ॥ गुरुर्मदीयोऽस्ति फकीरचन्द्रो, ज्ञानं
मया लब्धमिदं यतश्च । बोधं च लब्ध्वा सुक्रियां करोमि, ततोऽमरत्वं
च भवेत्स्फुटं मे ॥ १४९ ॥

इति ममाक्रन्दनकाव्यम् ॥

ज्ञातपुत्र-महावीरका सिद्धान्तः

(१) जगत्में दो द्रव्य मुख्य [substances] हैं, एक जीव [soul] दूसरा अजीव [non soul] । अजीवके पुद्गल [matter] धर्म [medium of motion to soul and matter] जीव और पुद्गलके, ज्वलनेमें सहकारी । अधर्म [medium of rest to soul and matter] जीव और पुद्गलके ठहरनेमें सहकारी । काल Time वर्तना लक्षण-वान् और आकाश Space स्थान देनेवाला । इस प्रकार पांच भेद हैं ।
(२) स्वभावकी अपेक्षा सब जीव समान और शुद्ध हैं, परन्तु अनादि-कालसे कर्मरूप पुद्गलोंके सम्बन्धसे वे अशुद्ध हैं, जिस प्रकार सोना खानसे मिट्टीमें मिला हुआ अशुद्ध निकलता है ।

(३) एक कर्ममण्डके कारण इस जीवको माना मोनिजोमें बनेक सद्ध भोमने पड़ते हैं और उसीके मङ्ग हो जानेपर वह जीव अनन्तकाल-अनन्त बसंत-अनन्तसुख और अनन्तसुखि स्थितिमें जो कि इसकी निजी सम्पत्ति है और जिसे सुखि कहते हैं वह प्राप्त करता है ।

(४) निराकुल्या अथवा सुख भोज्य सुखकी प्राप्ति इस जीवके अपने निजी पुस्त्यार्थके अविचारमें है किसीके पास माँगनेसे नहीं मिलता । ..

(५) पदार्थोंके वास्तविक वह सत्य अज्ञान [Right belief] सत्य ज्ञान [Right knowledge] और सत्य आचरण [Right conduct] ही पदार्थमें योज्यता साधन है ।

(६) वस्तुमें अनन्त बर्मात्मकी कल्याण ही उनके प्रत्येक कार्यका सहायसे प्रतिपादन करता है ।

(७) सत्य आचरणमें निम्नलिखित बातें धर्मित हैं, यथा—

[क] धीव मात्र पर एक करण, कभी किसीको लीरसे कष्ट न देना वचनसे छुट न कहना और मनसे छुट न विचारना ।

[ख] ब्रह्म-मान-माया-भोग और मत्सरआदि कथारक्षणसे आत्माको मज्जित न होने देना उसे इसके प्रतिपक्षी शुद्धिसे उदा पवित्र रखना ।

[ग] इन्द्रियों और मनको बल करना एवं सत्य संसारमें स्थित न होना ।

[घ] व्रतान्न क्षमा-मित्रीय-सरकता-शुक्लता-आवर-धीन-संयम-वस-साध ज्ञान ज्ञानवर्धि अथवा अथक कार्यको चारन करना ।

[च] मृदु-मोटी-कुडीक आदि निम्न कर्मोंसे बचना करना ।

(८) वह संसार सर्व सिद्ध अर्थात् अथवा अनन्त है इसका कर्तव्य कोई नहीं है ।

(९) आत्मा [soul] और परमात्मा [God] से केवल भिन्न और अभावका सिद्धेन है । जो आत्मा उपलब्धका भिन्न की ओरकर निरव अभावक हो जाता है उसे ही परमात्मा कहते हैं ।

(१०) ब्रह्म-जीव-सुख-मङ्गलका भिन्न मनुष्यका भिन्न भिन्न भिन्न भिन्न है ऐसे मनुष्यमात्रमें याज्ञिक और कृत भी नहीं है ।



शुद्धिपत्रम्

कृतेऽपि भूयसि सशोधनप्रयासे काश्चिदशुद्धयोऽवशिष्टा एवेति ता कृपया
अधोनिर्दिष्टसङ्केतानुसारं संशोध्यैव पठन्तु पाठयन्तु भव्यजनाः श्रावका मुनयश्चेति
सविनयमभ्यर्थयतेऽयं लघुतम पुष्पभिष्टु ॥

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१६	११	जैनतरमतावलम्बी	जैनेतरमतावलम्बी
१९	५	०	अनन्तशक्ति
२१	१५	सम्यग्दर्शनका	सम्यग्दर्शनकी
२८	४	मेल	मेल
२७	२३	भावन	भावना
३९	५	निशकसे	नि शकसे
४८	११	नखर	नखर
५१	२१	कार्माण	कार्मण
५२	२५	बुद्धिश्शक्तिने	बुद्धिशक्तिने
७३	१६	तेओ	ते
९०	११	कल्माषास्रवकारणम्	कल्मषास्रवकारणम्
९१	२२	पुरुषेष्वयि	पुरुषेष्वपि
१००	११	बहभी	बह भी
१००	२२	इनकि	इनकी
१०१	२	कि	की
१०३	२३	इत्यभिधानप्यदीपिका	इत्यभिधानप्यदीपिका
१०४	३	सवशदोम	सव शब्दोमे
१०५	२५	सेष्टे	सेष्ट
१०६	५	तेन	तेने
१०९	१०	धुनीका मताः	धुनिका

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्त्याः	अष्टशतम्	शतम्
"	६	श्रोत्रेषु	श्रोत्रेषु
"	११-	महावीरशतम्	महावीरशतम्
११३	१४-	शायमिश्रोहः	शायमिश्रोहः
११८	२१	इमानितः	इतिमावितः
"	२३	कनकपद्मनक्षत्र	कनकपद्मनक्षत्र
१२२	१६	वापराशुमर्क	वापराशुमर्क
१२७	१७	एतेर्षवैः	एतेर्षवैः
१३	९	र	र
"	१५	श्रीकृतनम्बम्	श्रीकृतनम्बम्
१३२	११	रक्षाक्षी	रक्षा क्षी
"	१७	क्षी	क्षी
१४२	१३	प्रतिष्ठा	प्रतीक्षर
१४४	२२	पक्षिणे	पक्षिणे
१४५	१२	भूमि	भूमि
१४६	१७	कनोक्षी	कनोक्षी
१५६	१	हसपर	हसपर
१८७	४	कनका	कनका
१९३	१	पूजनीय ।	पूजनीय ।
"	२	मार्गवत्पक्षी	मार्गवत्पक्षी
२	५	वन्द्यवत्पक्षी	वन्द्यवत्पक्षी
२ ७	१७	हृष्यार्थ	हृष्यार्थ
२२१	२५	माधवी	माधवी
२२९	१	पुनोष	पुनोष
"	६	हृषो	हृषो
२३६	१	जय	जय
२४०	८	तथाऽर्थ	तथाऽर्थ

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२४०	८	दि	न
२९२	२१	धर्मा	धर्म
२९४	३२	जिया	जीव ।
२९६	१२	निजा	निजा
"	१९	नक्ष्यति	नक्ष्यति
२९९	२०	रामस्येद्वा	रामस्येतद्वा
३०५	४	ऽश्नाति	ऽश्नाति
३१३	२४	दर्यते	दर्यते
३१८	२०	चेतना	चेतना
३१७	१७	खगन्	खगन्
३२०	१८	मश्रुते	मश्रुते
"	२२	ऐसा	ऐसे
३२९	२५	दीनाना	दीनाथ
"	२८	चलते	चलति
३३०	२७	क्षेदं	क्षेद
"	२९	शंकटान्	शंकटान्
३३१	१२	तेतिति	तेनेति
३३६	१९	प्रयागमण्डल	प्रयागमण्डले
३४१	१९	निसेवनम्	निवेशनम्
३४७	२९	मादिनियमादि	यमादिकानां वि
३४८	२८	जनोप्यु	जनैरु
३५३	१४	न भवेद्योगवित्तमम्	न भवेद्योगवित्तम्
३६९	२५	तद्रक्षस्वाधुनाशुरो !	रक्षमामधुना शुरं
३७०	९	जगज्जलाम्भोधे	जगज्जलाम्भोधे
"	१९	पुष्पाञ्जली	पुष्पाञ्जलि.
३७१	३१	विरदार	विरादर

